Reg. No. : N-1316/2014-15
Approved by UGC

ISSN 2394-2207
IIJ Impact Factor : 2.011
November 16 - April 2017
Vol. III, No. I

उन्मेष

Unmesh

An International Half Yearly
Refereed Research Journal
(Art and Humanities)

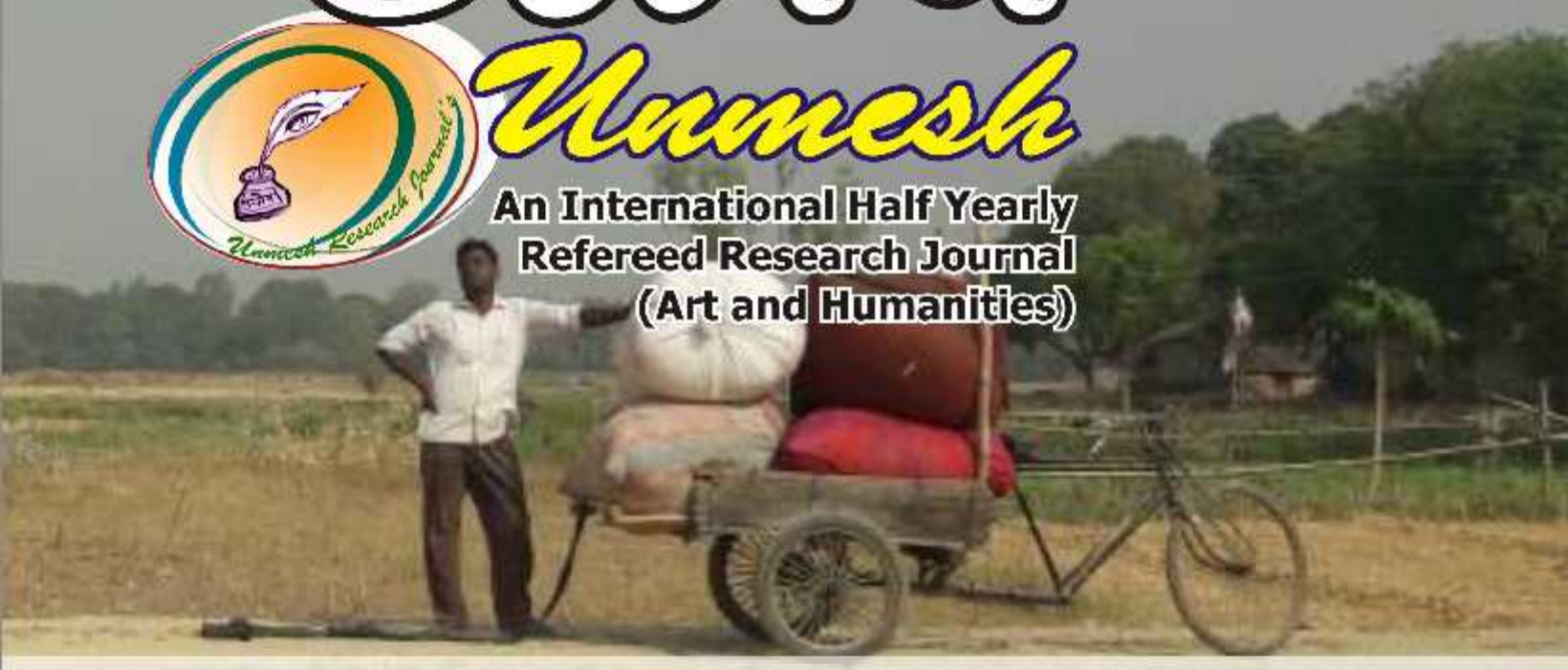

सम्पादकद्वय
डॉ० राधेश्याम मौर्य शिवेन्द्र कुमार मौर्य

प्रकाशक
जन सेवा एवं शोध शिक्षा संस्थान, प्रतापगढ़, उ०प्र०

Reg. No. : N-1316/2014-15
Approved by UGC

ISSN : 2394-2207
IIJ Impact Factor : 2.011

उन्मेष

Unmesh

An International Half Yearly Refereed Research Journal (Art & Humanities)

Vol. : 3 **No. 1** **November, 2016-April, 2017**

सम्पादकद्वय

डॉ० राधेश्याम मौर्य

शिवेन्द्र कुमार मौर्य

सह-सम्पादक

डॉ० मनोहर लाल

डॉ० अरविन्द कुमार

प्रकाशक

जन सेवा एवं शोध शिक्षा संस्थान, प्रतापगढ़-२३०००१ (उ०प्र०)

lj{kd&eMYk

M,0 pEik dekjh flag] प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
MkO chO,u0 flag] पूर्व निदेशक, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, उ0प्र0
M,0 gjh'kpUæ tk;lokYk] पूर्व विभागाध्यक्ष, हिन्दी विभाग, इविंग क्रिश्चियन महाविद्यालय, इलाहाबाद, उ0प्र0

lEiknd

M,0 jk/k';ke ek;] प्रवक्ता, जी0वी0आई0सी0, देल्हूपुर, प्रतापगढ़, उ0प्र0
f'koUn dekj ek;] शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

lg&lEiknd

MkO eukgj yky] असि0 प्रोफेसर, पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी
MkO vjfoUn dekj] हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

ÁcU/k&lEiknd

MkO lhrk jke flag] एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, समाजशास्त्र विभाग,
गणपत सहाय पी0जी0 कॉलेज, सुलतानपुर, उ0प्र0
M,0 fot ;] प्रवक्ता, जी0वी0आई0सी0 देल्हूपुर, प्रतापगढ़, उ0प्र0

vuokn lgk;d

leu yrk dekjh] शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

lEiknd&e.MYk

MkO d".k dekj dkf'kd % प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, जामिया मिलिया इस्लामिया विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
MkO fgjk'kh lkdh % एसो0 प्रोफेसर, डिपार्टमेंट ऑफ सोशल एजूकेशन, हिरोशिमा विश्वविद्यालय, जापान
M,0 Òj;kkYk % एसो0प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, उ0प्र0
MkO lhj dekj ikBd % असि0 प्रोफेसर, डी0ए0वी0 पी0जी0 कॉलेज, वाराणसी, उ0प्र0
M,0 ih;"kdkUr 'kekZ % एसो0 प्रोफेसर, प्राचीन इतिहास विभाग, एम0डी0पी0जी0 कॉलेज, प्रतापगढ़, उ0प्र0
MkO vfuy dekj ek;] % असि0 प्रोफेसर, विधि संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, उ0प्र0
M,0 vjfoUn dekj % असि0 प्रोफेसर, डॉ0 हरी सिंह गौर केन्द्रीय विश्वविद्यालय, सागर, मध्य प्रदेश
lUr"k dekj % विभागाध्यक्ष, संस्कृत विभाग, राजकीय महाविद्यालय, जक्खिनी, वाराणसी, उ0प्र0
egUæ flag ikloku % असि0 प्रोफेसर, राममनोहर लोहिया विधि विश्वविद्यालय, लखनऊ, उ0प्र0

ijke'k&e.My

डॉ0 प्रकाश चन्द्र तिवारी, तोशिको ईदाका, डॉ0 प्रचेतस, अशोक कुमार, अमित कुमार सिंह कुशवाहा, अंकिता चौधरी, सुशील कुमार

fof/k&ijke'k

Kku Ádk'k e0;] : पूर्व राज्य सूचनायुक्त, उ0प्र0
MkO vkn'k dekj : असि0 प्रोफेसर, विधि संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
lEikndh; lEid : जन सेवा एवं शोध शिक्षा संस्थान, सी–23, आवास विकास कालोनी
प्रतापगढ़–230001 (उ0प्र0) भारत
मो0– 08004802456, 09415627372
वेब साईटः unmeshjournal.com
ई–मेल : unmesh0110@gmail.com
shivendrakr.maurya@gmail.com

izdk'kd

tu lsok ,oa 'kks/k f'k{kk lLFkku] izrkix<] m0iz0

eæd

jkt xkfQDl] ch0,p0;0 jkM] yksdk] okjk.klh

मो0 : 09415842611 / 08081711954

u"V %& सम्पादन, संचालन–पूर्णतः अवैतनिक / अव्यवसायिक / अनियतकालीन। उन्मेष में प्रकाशित लेखकों के विचार उनके अपने हैं। लेखों एवं उद्धरणों से सम्बन्धित किसी भी वाद–विवाद के लिए लेखक की जिम्मेदारी स्वयं की होगी। सम्पादक, प्रकाशक एवं उन्मेष परिवार के किसी भी सदस्य की जिम्मेदारी नहीं होगी। किसी भी विवाद के लिए न्याय क्षेत्र प्रतापगढ़ होगा।

lEikndh;

साहित्य का जो सम्बन्ध समाज से है, वही राजनीति से भी है। साहित्य को यदि थोड़ी और सहूलियत दें तो यह कहा जा सकता है कि वह राजनीति से आगे की चीज है। शायद इसीलिए मुंशी प्रेमचन्द ने साहित्य को राजनीति के आगे चलने वाली मशाल कहा है, किन्तु साहित्य कभी–कभी राजनीति प्रेरित होता है। ऐसा साहित्य समाज के लिए मंगलकारी कम अमंगलकारी ज्यादा सिद्ध होता है। राजनीतिक मंचों से दिये जा रहे संबोधनों पर यदि दृष्टि डालें तो उसकी भाषिक बुनावट हलांकि साहित्यिक नहीं होती, फिर भी श्रोता के हृदय को छूने वाली अवश्य होती है। तो क्या साहित्य और पाठक तथा नेता और जनता के बीच कोई तादात्म्य स्थापित हो सकता हैं? यदि ऐसा होगा तो साहित्य और राजनीति की भाषा में क्या अन्तर रह जायेगा? जब इस बात पर हम गौर करते हैं तो दृष्टिगत होता है कि साहित्य संवदेना से जुड़ा सवाल है, जबकि राजनीति अवसर व लाभ से जुड़ा प्रसंग। इसलिए साहित्य और राजनीति का एक बारीकी अलगाव बना रहता है। जहाँ तक जुड़ाव का प्रश्न है तो साहित्य, राजनीति के मन बहलाने का एक जरिया मात्र है। लच्छेदार भाषण के बीच में दो शेर बूक देना या किसी साहित्यकार का कोई उद्धरण बांच देना साहित्य पर उपकार करना नहीं है, बल्कि उसका इस्तेमाल भर करना है। ऐसे में साहित्य को राजनीति से बचाना आवश्यक हो जाता है।

भाषा, साहित्य और राजनीति दोनों को प्रभावित करती रही है। भाषा का जो जितना बड़ा जादूगर होता है, वह लोगों को उतना ही अधिक प्रभावित करता है। साहित्यकार अपनी लेखनी से तथा राजनीतिज्ञ अपने वक्तृत्व से जन को अधिक आह्लादित करता है। दोनों में अंतर यह है कि एक का प्रभाव चिरकालिक होता है तथा दूसरे का अल्पकालिक। राजनीति, समाज का महत्वपूर्ण हस्तक्षेप हो गयी है। इस समय वह समाज को संचालित करने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रही है। मीडिया उसे गति प्रदान करने में सहायक सिद्ध हुई है। साहित्य अब हाशिए पर जाता दिखाई दे रहा है। राजनीतिक महत्वाकांक्षा में जनता के बीच बड़े–बड़े सपने बेचना आम बात हो गयी है और सपनों को खरीदना जनता की आदत होती जा रही है। इस बुरी लत से जनता को बचाना साहित्य का धर्म है।

पांच राज्यों उत्तर प्रदेश, उत्तराखंड, गोवा, मणिपुर, पंजाब में विधानसभा चुनाव 2017 अभी संपन्न हुआ है। इस चुनाव में नेताओं की आपसी बयानबाजी ने जनता का खूब मनोरंजन किया। कांग्रेस, सपा, बसपा को 'कसाब' घोषित करना, भाजपा को 'भारत जलाओ पार्टी' बताना, शमशान, कब्रिस्तान तथा गंगा मैया की कसम दिलाकर बिजली का तार छूने को प्रेरित करना आदि बातें जितनी हास्यास्पद लगीं, उतनी ही मनोरंजक भी। यहाँ तक कि गधे को भी राजनीति का शिकार बनाया गया। इस चुनाव में जिसने जितने बड़े सपने बेचे उसने उतनी बड़ी जीत हासिल की। नेताओं में चारों तरफ अफरा–तफरी का माहौल दिखा। वोटरों को घरों से निकलने के लिए अन्य नेताओं की तरह देश के मुखिया को भी गाँव–शहर की गलियों में घूमना पड़ा। मुझे अपनी ही लिखी कुछ पंक्तियां याद आ रही हैं–

fNNy lkxj dh xgjkbZ uki jgs gSa urk th
jktuhfr dk mYVk djd Hkkx jgs gSa urk thA
ykdr= dh jktuhfr us ne viuk fn[kyk;k gS
xkso&'kgj dh gj xfy;ksa esa ukp jgs gSa urk thA
p<h pukoh ljxehZ esa gdykr&rjykr gS
ipk >Bs oknksa dk tc ckp jgs gSa urk thA
[kn dk lkfcr djus esa lc viuk&viuk >ksd jgs
Hkjh lHkk esa ,d ntZ dk pki jgs gSa urk thA
djr&djr fnu Hkj jyh Fkddj pduk pj gS,
c<s cyksa ls ekbd ij gkQ jgs gSa urk thA

आतंकवाद और नक्सलवाद देश के लिए नासूर हो गया है। देश की सीमा से जुड़े भिन्न–भिन्न जगहों (पंपोर, बारमूला, पुंछ, राजौरी, कुपवाड़ा, पठानकोट आदि) पर हो रहे हमलों ने सीमाओं को असुरक्षित कर दिया है। आए दिन हो रहे हमलों के जवाब का अभी तक को स्थाई निराकरण नहीं हो सका है। सुकमा का नक्सली हमला देश के लिए हृदयविदारक रहा। आतंकवाद और नक्सलवाद जैसी घटनाओं पर यह कहना कि 'यह एक कायराना हरकत है, मैं इसकी बहुत कड़े शब्दों में निंदा करता हूँ या कि 'शहीदों का बलिदान व्यर्थ नहीं जायेगा' काफी नहीं हैं। इसके निदान के लिए कोई न कोई स्थाई हल खोजना होगा। 'उन्मेष' परिवार शहीदों के प्रति अपनी भावभीनी श्रद्धांजलि व्यक्त करता है। विदेशों में जारी भारतीयों पर हमले भी अभी थमे नहीं है। आस्ट्रेलिया, पोलैण्ड, अमेरिका आदि देशों में इधर कई घटनाएं सुनने में आई हैं।

मुस्लिम समुदाय में स्त्री अधिकारों को लेकर तीन तलाक का मुद्दा भी जोर पकड़ लिया है। पर्सनल लॉ से जुड़े इस मुद्दे पर मुस्लिम स्त्रियों ने उलेमाओं को कटघरे में खड़ा करते हुए अपनी स्पष्ट मांग रखी है। पुरूषों की तरह स्त्रियों को भी तीन तलाक का अधिकार प्राप्त हो, इसके लिए अब वे मुखर हो चली हैं। हाल ही में विधानसभा चुनाव व दिल्ली के नगर निगम चुनाव के परिणामों की घोषणा के पश्चात् कुछ राजनीतिक दलों द्वारा 'ईवीएम' की विश्वनीयता के खिलाफ आवाज़ उठाई गयी तथा उसके साथ छेड़छाड़ का आरोप लगाया गया। आम आदमी पार्टी के सौरभ भारद्वाज ने एक डेमो द्वारा यह बताने की कोशिश की कि ईवीएम के साथ कैसे छेड़–छाड़ सम्भव है, किन्तु चुनाव आयोग ने इसे मानने से इंकार कर दिया। यदि ऐसा संभव होता है तो लोकतंत्र के खिलाफ यह बहुत बड़ा धोखा होगा। अभी एक अप्रत्याशित परिणाम सुनने को मिला, वह है स्वच्छता रैंकिक में बनारस का यू.पी. में प्रथम स्थान पर आना। वैसे पूरे भारत में इंदौर को यह गौरव हासिल हुआ। हाल ही में बनारस जो घूमा हो या वहाँ रह रहा हो, रिपोर्ट वह बतायेगा कि अभी भी उसकी क्या स्थिति है? मीडिया की विश्वसनीयता और इस रैंकिक की विश्वसनीयता में बहुत ज्यादा अंतर नहीं है। खैर मुद्दे बहुत हैं, यहाँ कुछ संकेतों के साथ इतना ही पर्याप्त है।

'उन्मेष' पत्रिका का यह महत्वपूर्ण अंक प्रस्तुत है। विविध विषयों के समृद्ध शोध आलेख इसमें संग्रहीत हैं। जिन्होंने अपने शोध–आलेखों को भेजकर 'उन्मेष' के प्रति अपनी रूचि दिखाई है, उनके प्रति मैं हृदय से आभारी हूँ। 'उन्मेष' पत्रिका के सुव्यवस्थित टंकण एवं मुद्रण के लिए श्री राज मौर्य एवं श्री राहुल मौर्य का विशेष आभार।

दिनांक : 30 अप्रैल, 2017

Mk0 jk/k';ke ek;sZ
f'koUn dqekj ek;sZ

vuØef.kdk

- xxk teuh rgthc dh vtl/kkjk % inekor 1&4
  डॉ0 रामचन्द्र रजक
- je'kpUn 'kkg dh dFkk&lkfgR; e lLdfr 5&10
  पूजा पुण्डीर, डॉ0 मृदुल जोशी
- dk0;ykd e dk0;y{k.k rFkk dk0;Hkn ,d leh{kk 11&17
  मन मोहन मिश्र
- LoPN Hkkjr] LoLFk Hkkjr 18&20
  डॉ0 राधेश्याम मौर्य
- mPp f'k{kk dk futhdj.k vkj cktkjhdj.k
  n"ifj.kke d ifji{; e 21&24
  डॉ0 अनीता रानी कन्नौजिया
- Xykcy xko d nork vkj lÙkk foe'k 25&27
  डॉ0 जय प्रकाश पटेल, अन्जू सिंह पटेल
- dchjnkl % opkfjdh vkj lekt 28&31
  अवधेश कुमार
- vo/k dk lkLÑfrd ifjn'; 32&36
  दीपिका दूबे
- LFkkiR; Hkkjrh; bfrgkl dh >yd 37&43
  मनोज प्रजापति
- ykd dh vo/kkj.kk 44&47
  शिवेन्द्र कुमार मौर्य
- fgUnh miU;kl e ^vkfnoklh vfLerk* 48&55
  अंकिता चौधरी
- egkdfo Hkkl d m#Hk³xe dk ukV;'kkL=h; eY;kdu 56&59
  सन्तोष कुमार
- ikfy lkfgR; e ^'khy* ,d d'ky /ke 60&66
  उमेश कुमार यादव
- vkfnoklh lekt v©j o'ohdj.k 67&69
  सौरभ सिंह विक्रम
- Hkkjr dk Lok/khurk l?k"k vkj ^jxHkfe* 70&73
  मो0 आसिम अन्सारी
- ikfy lkfgR; e of.kr vk;k lR; % ,d fo'y"k.k 74&80
  सुनील कुमार
- fodkl vkj **Three-P** dh pukfr;k 81&84
  डॉ0 स्वामी नाथ तिवारी
- v/kj e efDrck/k % vkREkrÙo vkj lR; dh [kkt 85&88
  यशवन्त कुमार
- vk/kfudrkck/k vkj funk Qktyh dh uTe 89&94
  अशोक कुमार मौर्य

■ lkekftd ifjn`{; esa t;'kdj izlkn dk ukVd 95&98
वरूण कुमार पाल
■ egkdkYk % ekuoh; «kkslnh dk lp 99&101
सत्येन्द्र गोंड
■ dk'ky vk/kkfjr f'k{kk % ifjp;] ikjLifjd foe'k ,oa eY;kdu 102&103
पवन साहू
■ lkEinkf;drk dk f[kykQ vkf[kjh dyke 104&105
जितेन्द्र गुप्ता
■ Ckktkjokn lsa mith ubZ thou 'kSyh dk nh.k gS *jgu ij jX?k* 106&112
महेश प्रसाद राय
■ vydk ljkoxh dk dFkk lkfgR; 113&116
प्रीति सिंह
■ efäc¨/k dk lkfgR; esa dk0; gsrq ,oa fopkj/kkjk 117&119
डॉ0 कमलाकान्त यादव
■ /kqoLokfeuh ukVd esa o"kkfgd LorU=rk 120&122
शिवराम मौर्य
■ gfj'kdj ijlkbZ dk lkfgR; esa jktuhfr % ;FkkFkZ dk e¨p ij 123&128
मिथिलेश कुमार
■ vk/kfud fgUnh dfork esa jke dk0; ijEijk 129&132
रामाश्रय पटेल
■ f'kofl?g lsxj dk bfrgkl % o"kZ&lsxx.k dh nf"V ,oa egÙo 133&137
विन्ध्याचल यादव
■ x.¨'k'kdj fo|kFkhZ dh fuek.k&Òfe 138&140
अस्मिता तिवारी
■ fujkyk dk lkfgR; esa ukjh dk Lo:i 141&143
विकास चौरसिया
■ lRrk dk lp % fodkl ;k iyk;u 144&146
प्रिया भारतीया
■ Hkkjr esa jk"Vªh; psruk ,oa jk"Vªokn dk fodkl 147&150
डॉ. भुनेश्वर लाल साहू
■ jkx njckjh dk jkx 151&154
सुषमा
■ jk"Vªirk egkRekxk/kh dk nfyrksa dh ifr nf"Vdks.k ,d nk'kfud v/;;u 155&157
अभय कुमार सेठ, प्रो. अखिलेश्वर प्रसाद दुबे
■ ykd thou dk vfHk0;Dr djrk dcjh dk lfgR; 158&161
बिन्दु पटेल
■ Hkse.Myhdj.k dh lSLdfr vkj ledkyhu fgUnh miU;kl 162&165
नम्रता सिंह
■ vkfnoklh lkfgR; vkj vfLerk dk ladV 166&169
अजय कुमार चौधरी
■ vijk/k ihfM+r 0;fDr;ksa ds fy, ifrdj ,oa lkekftd U;k; dh vo/kkj.kk 170&176
कमलेश कुमार

■ uk;dRo dh vkbZuh esa >Bk&lp 177&180
सूर्य नाथ सिंह
■ vdh'ky fpUrk % ,d fo'ys"k.k 181&183
जय प्रकाश यादव
■ Hkkjr esa Hkfe lq/kkjpuk dk lekt'kkL=h; v/;;u 184&186
संजय भारती
■ jhfrdkyhu uhfr dfork ,oa nohnkl 187&189
पल्लवी मिश्रा
■ vkfndky lq Hkkjrh; lekt esa foKkiu dk cnyrk Lo:i % ,d 0;k[;k 190&192
अजय प्रकाश जायसवाल
■ Ykksd thou vkj lkfgR; 193&197
डॉ0 विजय कुमार रंजन
■ dk'kh esa ;{k iwtk dh ijEijk 198&199
डॉ0 उमाशंकर गुप्ता
■ iR;{k izek.k % dk'ehj 'kon'ku dk vkyksd esa 200&202
सर्वेश त्रिपाठी
■ tuokn vkj n/kukFk flag dk dFkk lkfgR; 203&206
प्रदीप जायसवाल
■ iwlkn dh lkUn;wi puruk 207&209
गोपाल यादव
■ yksd dykdkj ^fHk[kkjh Bkdqj* dk lq?k"k] fo'ks"k lanHkZ % ^l=/kkj* 210&214
रवीन्द्र कुमार यादव
■ egkRek xk/kh vkj bZlkbZ /keZ 215&217
श्रवण कुमार सिंह
■ cMyh dh nf"V esa fopkj vkj lr 218&220
सोनी कुमारी
■ Hkkjrh; Hkk"kkvksa esa i=dkfjrk dh 'kq:vkr vkj fgUnh i=dkfjrk 221&226
डॉ0 अमित कुमार सिंह कुशवाहा
■ vkuykbZu lekpkj i=ksa dh vUrorZLrq dk
;qok fo|kfFkZ;ksa ij izHkko
¼fgUnh v[kckjksa dk oc lsLdj.kksa dk lekpkj ,oa foKkiu ij vk/kkfjr v/;;u½ 227&232
प्रदीप कुमार
■ ifrek&ihB rFkk vfdr y[k 233&235
स्वतंत्र कुमार मौर्य
■ LokrU«;kUkj vk/kqfud xq tjkrh dfork dh çeq[k çofÙk;k¡ 236&240
समर विजय
■ dkek;uh vkj fgUnh vkykspuk 241&242
अवनीश कुमार पाण्डेय
■ vlk/;oh.kk esa fgUnh n'ku 243&245
गिरजेश कुमार
■ vtufc;r dh vkbZuh esa ubZ dgkuh 246&250
शिवानी सक्सेना

■ dPph dk dkuu % ,d fo'y"k.k 251&253
प्रियंका कुमारी मिश्रा

■ fgUnh uotkxj.k % ckyÑ".k HkkVV d fucU/kksa dh nfu;k 254&263
डॉ0 समीर कुमार पाठक

■ jk"Vª fuekZ.k esa ufrd f'k{kk dh Hkfedk % mPp f'k{kk d lanHkZ esa ,d voyksdu 264&268
डॉ0 अरूण कुमार, डॉ0 प्रतिभा शर्मा

■ **Changing Dynamics of Arms Race in South Asia** **269-271**
Utkarsh Upadhyaya

■ **Effectiveness of Guidance and Counseling for Coping with Stress** **272-275**
Dr. Priya Jaiswal

■ **A Study of the Hazards of The Support Systemrelated to the Successful & Unsuccessful Rural Micro Entrepreneurs (With Special Reference to Jashpur District of Chhattisgarh State)** **276-280**
Abhinav Mishra

■ **Understanding the Eastward Shift of Post Harappan Settlements from Indus Valley to the Ganga Vally** **281-283**
Shail Bala Mishra

■ **Institutions, Inequality and Economic Growth** **284-287**
Ravish Kumar Shukla

■ **Louis Dumont's "HOMO HIERARCHICUS" : An Analysis** **288-290**
Dr. Abhay pratap Singh

■ **Religion in the Making of 1857: A study** **291-293**
Capt. [DR]. Suresh Kumar Pathak

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

xxk teuh rgthc dh vtl/kkjk % inekor

MkO jkepUn jtd*

हिन्दी उर्दू की साझी विरासत, जाति, धर्म, सम्प्रदाय और भाषा में समन्वय संस्कृति का उदाहरण, मजहब एवं धर्म में एकता स्थापित करने वाली, हिन्दी साहित्य के प्रेममार्गी शाखा के मुस्लिम कवि मलिक मुहम्मद जायसी कृत 'पदमावत' हिन्दू–मुस्लिम के गंगा जमुनी तहजीब की एक अनुपम उपलब्धि है। मनुष्य–मनुष्य के बीच जो रागात्मक सम्बन्ध है वह उनके द्वारा व्यक्त हुआ है। अपने नित्य के जीवन में जिस हृदय–साम्य का अनुभव मनुष्य कभी–कभी करता है, उसकी अभिव्यंजना ही उनकी 'पदमावत' में है। डॉ0 हजारीप्रसाद द्विवेदी 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में लिखते हैं– ''जायसी आदि इन प्रेम कहानी के कवियों ने प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखाते हुए उन सामान्य जीवन–दशाओं को सामने रखा, जिनका मनुष्यमात्र के हृदय पर एक–सा प्रभाव दिखाई पड़ता है। हिन्दू और मुसलमान हृदय को आमने–सामने करके अजनबीपन मिटाने वालों में इन्हीं का नाम लेना पड़ेगा।''[1] उनका हृदय पूत भावनाओं और प्रेम की पीर से भरा था। जगत के सभी लोक भावों में उनकी समान दृष्टि थी। धार्मिक विचार अत्यंत उदार था। अपनी साधना पद्धति में जनसुलभ विचार और सब धर्मों से कुछ न कुछ अवश्य लिया। सूफी होने के बावजूद उनकी उपासना में सगुणोपासना की सी सहृदयहता भी थी। तत्कालीन जायसी ने अपनी साधना पद्धति के माध्यम से हिन्दू–मुस्लिम समाज के बीच समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की। हिन्दी उर्दू की सभी विरासत, जाति, सम्प्रदाय धर्म और भाषा आदि में समन्वय संस्कृति, महजब एक धर्म में एकता स्थापित करने वाले हिन्दी साहित्य में प्रेममार्गी शाखा के मुस्लिम कवि की कृति 'पदमावत' हिन्दू–मुस्लिम के गंगा–जमुनी तहजीब की अनुपम उपलब्धि है।

भारतीय इतिहास का 'मध्यकाल' धार्मिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक विसंगतियों का काल रहा है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह मुस्लिम शासन के प्रभाव एवं परिणाम का काल है। जिसका व्यापक प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा। हिन्दी साहित्य के हजार वर्षों के इतिहास में जायसी कृत 'पदमावत' जैसी कोई दूसरी रचना नहीं हुई जो तत्कालीन मानवीय संवेदना को अपनी कृति में बड़ी व्यापकता और समग्रता में व्यक्त किये हैं। वे मानवीय समता का प्रतिपादन किये हैं। जायसी अपने समय के इतिहास की त्रासदी को 'पदमावत' में पूरे यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया है। जायसी अपने समय के उन सभी धर्माओं को पीछे छोड़ दिये जो अपनी विशिष्टता के लिए जाने जाते हैं। अपनी सारी विद्रोह धर्मिता के बावजूद न तो कबीर पा सके, न अपनी सम्पूर्ण हृदयता के बावजूद सूरदास और न ही अपने समूचे पांडित्य और सर्वाभिनिवेशी दृष्टि के बावजूद गोस्वामी तुलसीदास। जायसी अपने समय के इतिहास से नहीं, अपने समय के सैकड़ों साल पहले जाकर एक तरह से मध्यकाल के समूचे मुस्लिम शासन के इतिहास को अपनी दृष्टि की परिधि में लिया, उससे टकराए और उसके यथार्थ को उसके समूचे रोमांच के साथ उभारा और उजागर किया। 'पदमावत' का एक बड़ा हिस्सा मध्यकाल के इतिहास से सीधे जायसी की मुठभेड़ है। प्रेममार्गी सूफी संतों ने सांस्कृतिक समन्वय का जो महत् प्रयास किया है, वह उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। इन सूफी संतों ने अपने हृदय का प्रसार जिस सीमा तक किया उससे स्पष्ट आभास मिलता है कि इनमें जातीय या साम्प्रदायिक संकीर्णता बिल्कुल न थी। ये सूफी मुसलमान जहाँ सूफी सिद्धान्तों के कायल थे, वहीं गोरखपंथी, रसायनी वेदान्ती हिन्दू साधुओं से भी प्रभावित थे। धर्म और दर्शन में समन्वय द्वारा सांस्कृतिक समन्वय का एक विशाल धरातल का निर्माण किया। हिन्दुओं में प्रचलित प्रेमाख्यानों के माध्यम से इन्होंने

*हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, उ0प्र0

लोक धर्म और लोक–संग्रह की दृष्टि को यथासम्भव विकसित किया। मानवीय प्रेम और शान्ति का संदेश भारतीय संस्कृति की मूल विशेषताओं को अभिव्यंजित किया। जायसी ने हिन्दू परिवार की ऐसी रीतियों और प्रथाओं का वर्णन किया है कि उन्हें जानकर परम प्रसन्नता का अनुभव होता है। यथा, नागमती के पातिव्रत का एक चित्र–

^^fxfj lenk lfl e?k jfo] lfg u ldfg og vkfxA
egEen lrh ljkfg,] tjk tk vl fi; ykfxA**[2]

जायसी ने प्रेम कहानी में सूफी साधना, वेदान्त, बौद्ध सिद्धनाथ, हठयोग, वैष्णव सभी का यथास्थान समुचित उपयोग किया। अपने महजब में दृढ़ रहकर भी तत्ववाद के जरिए उन्होंने दिखाया कि धर्मनिरपेक्ष हुआ जा सकता है। धर्म की रसात्मक अनुभूति के द्वारा सारतत्व को निचोड़कर यह संदेश दिया कि प्रेम से बढ़कर कुछ नहीं है–

^^rhu ykd pkng [k.M] lo ijk ekfg lf>A
lkeq NkfM fdN vkj u ykuk tk nwj[kk eu cf>A**[3]

वे अपना घर अपना वतन और अपने मुल्क को टूटने से बचाने की चिंता करते थे इसी चिंता में उन्होंने हृदय के धर्म और धर्म के हृदय प्रेम का उपदेश दिया जो लोगों के दिलों के अंधेरे को हटाकर ज्योति प्रदान करता है, दीपक की भाँति–

^^fg;k dh T;kfr nhi ;g l>k
;g tk nhi vf/k;kj Hkk c>kA**[4]

इस प्रकार जायसी लोक–जीवन और लोक तत्वों में सामंजस्य स्थापित कर मानव–मानव के बीच भी सामंजस्य व समरसता स्थापित करने का अथक प्रयास किया।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कहना है कि– ''इन भावुक और उदार मुसलमान हिन्दी और हिन्दू साहित्य से दूर न भागते, इनके अध्ययन का क्रम जारी रखते तो उनमें हिन्दुओं के प्रति सद्भाव की वह कमी न रह जाती, जो कभी–कभी दिखायी पड़ती है। हिन्दुओं ने फारसी और उर्दू के अभ्यास द्वारा मुसलमानों की जीवन कथाओं के प्रति अपने हृदय का सामंजस्य पूर्णरूप से स्थापित किया, पर खेद है कि मुसलमानों ने इसका सिलसिला बंद कर दिया। किसी जाति की जीवन कथाओं को बार–बार सामने लाना उसे जाति के प्रेम और सहानुभूति को प्राप्त करने का स्वाभाविक साधन है। 'पदमावत' की हस्तलिखित प्रतियाँ अधिकतर मुसलमानों के ही घरों में पाई गई हैं। इतना मैं अपने अनुभव से कहता हूँ कि जिन मुसलमानों के यहाँ यह पोथी देखी गई है, उन सबको मैंने विरोध से दूर और अत्यंत उदार पाया।''[5] इस प्रकार मध्यकाल में दो भिन्न संस्कृतियां आपस में जुड़ी हुई थी जिसको अनेक कवियों ने अपनी रचनाओं में दिखायी उनमें जायसी की 'पदमावत' अग्रणी है।

शिवकुमार मिश्र लिखते हैं– '''पदमावत' मसनबी शैली की प्रेमकथाओं में उपलब्ध रूढ़ियों और कथानक रूढ़ियों के पालन के साथ–साथ अपना सम्बंध भारतीय परंपरा की उन प्रेम कथाओं से भी जोड़ता है, जो यहाँ की अपनी चीज है और उनमें भी वे तमाम काव्य रूढ़ियाँ और कथानक रूढ़ियाँ मिलती हैं, जो मसनबी शैली की प्रेमकथाओं में हैं। ऐसा करने पर 'पदमावत' को समझने का एक प्रशस्त आधार मिलेगा और वह महज सूफी मुसलमानों द्वारा रचित प्रेमकथाओं के दायरे के बाहर भी परखा जा सकेगा।''[6] मध्ययुग के सत्ता–संघर्ष में हिन्दू–तुर्क संघर्ष सबसे भयानक है। मुसलमान के बीच का सत्ता संघर्ष भी कम खतरनाक नहीं था। परदेसी मुसलमान देसी मुसलमान को, हिन्दू को तलवार की धार पर उतार रहा है। देश में त्राहि–त्राहि मची थी। इसी बीच सूफी संत प्रेम मार्ग निकाल रहे हैं। न जाने कितने वर्षों से हिन्दू और मुसलमानों के बीच कट्टरपन व 'राम और रहीम' की श्रेष्ठता व भिन्नता, जायसी आदर व सम्मान से देखने लगे। इस प्रकार ''बहुत दिनों तक एक साथ रहते हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के सामने अपना–अपना हृदय खोलने लगे थे जिससे मनुष्यता के सामान्य भावों के प्रवाह में मग्न होने और मग्न करने का समय आ गया था। जनता की प्रवृत्ति भेद से अभेद की ओर हो चली थी। मुसलमान हिन्दुओं की राम कहानी सुनने को तैयार हो गए थे और हिन्दू मुसलमानों का दास्तान हमजा। नल दमयंती की

कथा मुसलमान जानने लगे थे और लैला मजनूँ की हिन्दू। ईश्वर तक पहुँचाने वाला मार्ग ढूँढ़ने की सलाह भी दोनों कभी–कभी साथ बैठकर करने लगे थे। इधर भक्ति मार्ग के आचार्य और महात्मा भगवत्प्रेम को सर्वोपरि ठहरा चुके थे और उधर सूफी महात्मा मुसलमानों की 'इश्क हकीकी' का सबक पढ़ाते आ रहे थे।''[7] इस तरह जायसी अपने समय में 'प्रेम की पीर' की कहानियों को लेकर 'पदमावत' की रचना की, जो हिन्दू घरों की थी। इनकी मधुरता और कोमलता का अनुभव करक के जायसी ने यह दिखाने का प्रयास किया कि एक ही गुप्त तार मनुष्य मात्र के हृदयों से होता हुआ गया है जिसे छूते ही मनुष्य सारे बाहरी रूप रंग के भेदों की ओर से ध्यान हटा एकत्व का अनुभव करने लगता है। पदमावत में जायसी सामान्य जीवन दशाओं को सामने रखा जिनका मनुष्य मात्र के हृदय पर एक सा प्रभाव दिखायी पड़ता है। हिन्दू हृदय और मुसलमान हृदय आमने–सामने करके अजनबीपन मिटाने वालो में इन्हीं का नाम लेना पड़ेगा। इन्होंने मुसलमान होकर हिन्दुओं की कहानियाँ हिन्दुओं की ही बोली में पूरी सहृदयता से कहकर उनके जीवन की मर्मस्पर्शनी अवस्थाओं के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामंजस्य दिखा दिया है। 'पदमावत' में वह पारस रूप है जो सच की दुनिया में देखना दुर्लभ है, किन्तु जायसी के पास वह पारस स्पर्श है जिससे एक लोककथा महाकाव्य में बदल गयी। यही वह पारसधर्मिता है जो प्रयाग की 'त्रिवेणी' का निर्माण करती है जिसमें हिन्दू–मुस्लिम की अलग–अलग धाराएं आपस में मिलकर एक हो जाती है। यही कारण है कि सामाजिक समरसता के क्षेत्र में पदमावत अद्वितीय महाकाव्य है। जायसी सूफी कवियों में से एक है उन्होंने (सूफी कवियों ने) तो प्रेम को अपनी साधना का मूल तत्व ही स्वीकार किया था। जायसी ने अपने 'पदमावत' में स्वीकार किया है कि यह जीवन प्रेम का ही खेल है यही उसका सार तत्व है–

^^egEen ckth ise dh T;ksa eki R;ksa [kyA
fry Qyfgj dh lx T;ksa gkbZ Qyk;y ryAA**[8]

प्रचलित लोककथा के आधार पर जायसी ने 'पदमावत' की रचना की है। कहना नहीं चाहिए कि इस प्रचलित लोककथा में महाकाव्य की व्यापकता और गहराई कवि की अपनी संवेदनाशीलता से है। ग्रंथ के अंत में जायसी कहते है कि–

^^egEen dfo ;g tksfj lqukokA lquk lks ihj ise dj ikokAA
tkjh ykbZ jdr dh ylbZA xkf< ihfr u;uUg ty HkbZAA**[9]

मानवीय जीवन को सरस और सृजनशील बनाने के लिए प्रेम की अधिक आवश्यकता होती है। जायसी अपने सामाजिक एवं मानवीय दायित्व के प्रति सजग और कर्तव्यनिष्ठ थे। युद्ध, हिंसा, धार्मिक विद्वेष, घृणा के युग में उन्होंने प्रेम की भावना को मानवीय एकता के मूलसूत्र के रूप में ग्रहण किया और अपनी रचनाओं के माध्यम से उसी को स्थापित किया। सामान्य मनुष्य धर्म के सच्चे अनुयायी अपने समय की दार्शनिक धार्मिक, और साम्प्रदायिक विरोधों को समाप्त करके समन्वय और सामंजस्य का उचित मार्ग भी सुझाते थे। जो आज भी भारतीय स्तर पर ही नहीं बल्कि विश्व स्तर पर प्रासंगिक है। आज भी विभिन्न स्वार्थों की टकराहट की अपेक्षा विश्वासों और आस्थाओं की टकराहट विश्व मानव के लिए अधिक संवेदनशील है। ''जायसी सूफी तथा भारतीय दार्शनिक एवं धार्मिक साधनाओं का समन्वित स्वरूप अंकित करते हुए हिन्दुओं और मुसलमानों के विरोध को खत्म करना चाहते थे।''[10] 'पदमावत' में जायसी सेक्युलर मानसिकता से हमारा साक्षात्कार कराते हैं। ''कथा के हिन्दू मुसलमान चरित्रों को उन्होंने बिना किसी भेदभाव के पेश किया है। हिन्दुओं के लोक–विश्वासों, उनकी रीतियों तथा आचार–विचारों, उनकी धार्मिक–आध्यात्मिक आस्थाओं को उन्होंने विषद रूप में, सहानुभूतिपूर्वक और भरपूर संवेदना के साथ चित्रित किया है।''[11] जिस प्रकार की समरसता स्थापित करने के लिए जायसी उद्धत हैं, वैसा अन्य कोई कवि नहीं है। अपनी पूरी संवेदना के साथ वे सेक्युलर समाज की आकांक्षा को प्राप्त करने में तत्पर है।

कृष्णदत्त पालीवाल का कहना है कि– ''सन्त–परम्परा के जायसी लोक–धर्म, लोक–मंगल के दृढ़ संस्थापक रहे हैं। हिन्दू–धर्म, इस्लाम, कर्मकाण्ड, धर्मशास्त्र, पुरोहितवाद–मुल्लावाद की रीति–नीति पर धावा बोलकर उन्होंने प्रेम से मानव–कल्याण का मार्ग सुझाया।''[12] जायसी अपने समाज और उसमें मौजूद सत्ता–संघर्ष को देख रहे थे। वे 'पदमावत' में लिखते हैं–

^^Nkj mBkb yhfUg ,d e|BhA
nhfUg mMk; fijfFkeh >|BhA**[13]

'पदमावत' की कथा केवल अलाउद्दीन, रतनसेन और पद्मिनी की व्यक्तिगत ट्रेजेडी नहीं है जिन शर्तों पर जायसी पर जायसी का समाज उलट–पटट रहा था, उसके चलते समूची पृथ्वी पृथ्वी के झूठी पड़ जाने की ट्रेजेडी है। वे समाज की उन सभी बुराइयों को दूर करना चाहते हैं जिससे समाज में वैमन्यस्ता पैदा होती है। उनका मानना है कि जब तक हिन्दू और मुस्लिम अपने–अपने जड़ संस्कारों से मुक्त नहीं होंगे तब तक समाज में भाई चारा की कल्पना करना व्यर्थ है। इसलिए जरूरी है कि उन सभी गंदी परम्पराओं और मान्यताओं को छोड़े जिनसे आपस में मतभेद पैदा है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि जायसी कृत 'पदमावत' मध्यकालीन हिन्दू–मुस्लिम संस्कृति के मध्य समन्वय व सामंजस्य गंगा–जमुनी तहजीब का अनुपम उदाहरण है। जिस प्रकार प्रयाग में मिलने के पूर्व गंगा और यमुना के नाम से अलग–अलग से जाना जाता है, उसी प्रकार 'पदमावत' की रचना के पूर्व हिन्दू और मुस्लिम दो अलग–अलग संस्कृति के रूप में थी किन्तु प्रयाग में जैसे गंगा और यमुना मिलकर एक हो गयी वैसे सूफी संतों के यहाँ हिन्दू–मुस्लिम संस्कृति में एकता हो जाती है। सिर्फ और सिर्फ भारतीय संस्कृति का ही नाम शेष बचता जैसा कि प्रयाग नाम विख्यात है। इस प्रकार प्रेममार्गी कवि जायसीकृत 'पदमावत' में गंगा यमुना तहजीब की अजस्रधारा प्रवाहित होकर जनकल्याण करती रहेगी।

I|nHki %

1. हिन्दी साहित्य की भूमिका, हजारीप्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण–2014, पृ0 62
2. जायसी ग्रंथावली, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, प्रथम ज्ञानपीठ संस्करण–2011, पृ0 131
3. वही, पृ0 120
4. वही, पृ0 138
5. त्रिवेणी, रामचन्द्र शुक्ल, संपादक कृष्णानंद, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, संस्करण संवत् 2059 वि0, पृ0 17
6. भक्ति आन्दोलन और भक्तिकाव्य, शिवकुमार मिश्र, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण–2012, पृ0 137
7. त्रिवेणी, रामचन्द्र शुक्ल, संपादक कृष्णानंद, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, संस्करण संवत् 2059 वि0, पृ0 15
8. जायसी ग्रंथावली, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, प्रथम ज्ञानपीठ संस्करण–2011, पृ0 21
9. वही, पृ0 247
10. जायसी ग्रंथावली, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, प्रथम ज्ञानपीठ संस्करण–2011, पृ0 23
11. भक्ति आन्दोलन और भक्तिकाव्य, शिवकुमार मिश्र, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण–2012, पृ0 124
12. भक्तिकाव्य से साक्षात्कार, कृष्णदत्त पालीवाल, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण–2007, पृ0 132
13. जायसी ग्रंथावली, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, प्रथम ज्ञानपीठ संस्करण–2011, पृ0 133

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

je'kpUn 'kkg d dFkk&lkfgR; e lLdfr

itk i.Mhj*
MkO eny tk'kh**

lLÑfr] vFk] ifjHkk"kk ,o Lo:i &संस्कृति शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत की 'कृ' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय और 'सम' उपसर्ग जोड़ने से हुई है। जिसका अर्थ है साफ या परिष्कृत करना। ^^lLÑfr lLdkj] ifj"dkj] 'k) vkpkj&fopkjk dh tud gA lLÑfr 'kCn dk 'kCn dk'k e ikIr vFk 'k)] lQkbZ] lLdkj] l/kkj] ekufld fodkl] l tkoV] lH;rk vkfn gA**1 'सर मोनियर विलियम्स' के अनुसार संस्कृत शब्द का अर्थ है– ^^r;kj djuk] jpuk ;k Ñfr lLdkj }kjk ifo= djuk] lidYi ;k i;Ru dk;Z dh lEiUurkA**2 संस्कृति अंग्रेजी शब्द कल्चर का पर्याय मानी जाती है। मनुष्य जो कुछ भी समाज से श्रेष्ठतम ग्रहण करता है वही संस्कृति बन जाती है। संस्कृति की व्यापकता, गहनता, विशिष्टता व परिष्कार प्रवृत्तियों ने इसे एक गूढ़ार्थ शब्द बना दिया है जिसे कुछ शब्दों या परिभाषाओं में नहीं बांधा जा सकता।

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार ^^lH;rk dk vkUrfjd iHkko lLÑfr gA lH;rk lekt dh ckg; 0;oLFkkvk dk uke gA lLÑfr 0;fDr d vUnj d fodkl dk uke gA**3

रामधारी सिंह दिनकर जी के शब्दों में ^^lLdfr ftnxh dk rjhdk g vkj ;g rjhdk lfn;k l tek gkdj ml lekt e Nk;k jgrk g ft le ge tUe yr gA blfy;s ftl lekt e ge ink g, g vFkok ftl lekt e ge feydj th jg g ;k jg jg g mldh lLÑfr gekjh lLÑfr gA ;|fi viu thou e ge tk lLdkj tek djr g og Hkh gekjh lLÑfr dk vx cu tkr g vkj eju d ckn ge vU; oLrvk d lkFk viuh lLÑfr dh fojkIr viuh lrkuk d fy, NkM tkr gA blfy;s lLÑfr og&pht ekuh tkrh g Tkk gekj lkj thou dk ck/k g, g rFkk ftldh jpuk vkj fodkl e vud lfn;k d vuHkok dk gkFk gA ;gh ugh lLÑfr gekjk ihNk tUe&tUekrj rd djrh gA**4

संस्कृति के संबंध में बाबू गुलाबराय के विचार इस प्रकार हैं। ^^tkrh; lLdkj gh lLÑfr gA**5

डा० रघुवंश के मत में ^^fdlh ;x fo'k"k e fdlh lekt d ifjo'k e tk dN fdlh {k= e fd;k x;k g] i;Ruk d ek/;e l tk miyfC/k;k g o lc pkg lkekftd fpUru vkj lkekftd ekU;rkvk d {k= e g vFkok lkfgR; dyk d {k= e gA mu lkjh miyfC/k;k dk lLÑfr ekur gA**6

श्री प्रभुदयाल मित्तल ने संस्कृति की अभिव्यक्ति इस प्रकार दी है– ^^lLÑfr fdlh Hkh n'k] tkfr ;k lekt dh vkRek gkrh gA ftle mDr n'k tkfr ;k lekt d fpru&euu] vkpkj&fopkj] jgu&lgu] ckyh&Hkk"kk] o'kHk"kk] dyk&dk'ky vkfn lHkh ckrk dk leko'k gkrk gA**7

डॉ० बलदेव प्रसाद मिश्र के शब्दों में ^^lLdfr vkj dN ugh thou e lkUn;Z d fuek.k vkj fodkl dh ifØ;k gA**8

---

*शोध छात्रा, हिन्दी, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखण्ड)
**असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखण्ड)

पाश्चात्य विचारक टेलर के अनुसार ^lLÑfr og lef"V g ft le Kku fo'okl] dyk] ufrd x.k] fjokt vkj lkekftd lnL; d :i e eu"; }kjk miyC/k dkbZ vU; lkeF;Z vkj vknr vkrh gA*9

ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी में कल्चर शब्द की परिभाषा इस प्रकार दी गई है–^eu dk f'k{k.k rFkk ifj"dj.k ftul :fp ,oa 0;kogkfjd vkpj.k dk fuekZ.k gksrk gA lLdfr d miknku gA lLdfr lH;rk dk ckf)d ik'o g ft ll ge lokRre d lkFk viuk lx LFkkfir djr gA*10

जान लुईस के अनुसार–^vkpkj&0;ogkj] iFkk,a] ekU;rk,a] nf"Vdk.k] Hkkouk,a vkj vU; lkekftd 0;ogkj vud rRoksa l iHkko xg.k djr gA ;s lc iR;sd lekt e lfuf'pr i)fr vkj ijEijk dk fuekZ.k djr gA og ijEijk lekt d lHkh 0;fDr;ksa dh Fkkrh gA bu lHkh iapfyr loZekU; 0;ogkj i)fr;ksa dk lef"V :i l lLÑfr dh lKk nh tkrh gA oxksZ vkj eu";ksa d ijLij lacU/k vkj budh leLr lkid{k 0;ogkj lkekU; :i l LohÑfr gksdj lLÑfr dk :i [kMk djr gA*11

जितने भी संस्कार या कार्यकलाप मानव समाज में जीवन पर्यन्त सिखाए जाते हैं वे सब मानव की संस्कृति के भीतर आते हैं तथा आने वाली पीढ़ियों को ये विरासत स्वरूप प्राप्त होते रहते हैं और संस्कृति जीवन्त बनी रहती है। सम्पूर्ण विश्व में भारतीय संस्कृति महान है। यहाँ विभिन्न सम्प्रदाय व जातियों के लोग अलग–अलग रहकर भी उनमें ऐक्य भाव बना रहता है।

lkLÑfrd io ,oa R;kgkj & रमेशचन्द्र शाह ने अपने कथा साहित्य में कुमाऊँ अंचल के रीति–रिवाज़ व परम्पराओं को जीवन्त अभिव्यक्ति दी है। किसी भी परिवेश की अपनी अलग विशिष्ट परम्पराएँ व रिवाज़ होते हैं, जो वहाँ की सांस्कृतिक धरोहार होते हैं और वे पीढ़ी दर पीढ़ी चलते रहते हैं। उपन्यास 'गोबर गणेश' में गिदारियाँ बहुत ही सुन्दर गीत गाती हैं। कुमाऊँ अचंल में जन्मदिन, विवाह व अन्य पूजा–पाठ के अवसरों पर इन्हीं को बुलाया जाता है। ^^'kdqu n 'kdqu n] dkt ;s vfr uhdk lk] jxhys ikVys vkpyh deyks dk ^Qy* fxnkfj;k xk jgh gA vkt fouk;d dk tUefnu gA fouk;d dk ;g 'kdqu[kj okyk xhr cgr gh vPNk yxrk gA tku bl xhr e] bldh /ku e gh D;k ckr g fd lqur&lqur vki l vki fouk;d dh vk[k McMck vkrh g --- vkj eu vthc lk gk tkrk gA**12

कुमाऊँ के ही अन्य प्रसिद्ध गोल्ल देवता का भी अत्यधिक महत्व है। जिनका मन्दिर चितई में है। विनायक का परीक्षा परिणाम आने की खुशी में उसकी माँ वहाँ जाने का प्रस्ताव रखती है। ^^ol ek u dgk Fkk fd fprbZ tku dk] fprbZ e xkYy nork gA xkYy nork dh gh lcl T;knk ekU;rk gA o ;gk d vkfn nork vkj uxj nork gA**13

यहाँ पर एक अन्य परम्परा चीर–मैया के पूजन की भी है जो होली के अवसर पर मानव निर्मित ही घर में स्थापित की जाती है। प्रायः देखा जाता है कि घर के बालक इसे बनाने में अधिक रूचि लेते हैं। ^^pyks ck/kk tYnh&tYnh yPNh drjuksa dk <j mBk ykrk gA yMdh 0;Lr gks tkrs gA yky] uhyh] ihyh gjh] lQn] dbZ jaxksa d diMksa dh drjuA gj Vguh ij] gj Quxh ij ,d jaxhu irdk----- vgen vk[k QkM lh<h ij cBk ;g dkrd n[k jgk gA etk vk x;kA vc le> e vk;k fd phj e;k D;ksa dgr gA phj e;k rks ;s vc gbZ fouk;dA tc re ykxksa u phj ck/k budkA**14 चीर मैया की मान्यता के साथ ही यहाँ कासार देवी का प्रसिद्ध मन्दिर भी है। कुमाऊँ के परिवेश में लोग अपनी पुरातन परम्पराओं को आज भी समर्पित भाव से निभाते हैं फिर वे छोटे अवसर ही क्यों न हों। मनुष्यों का धर्म में विश्वास बना रहता है, जो उनमें असीमित शक्ति व ऊर्जा का संचार करता है। कासार देवी की पूजा उपासना का बहुत ही सुन्दर वर्णन है।

^^,d cgr cMh pVVku d [kk[ky d vUnj ,d vkÑfr viu vki iRFkj ij f[kp xbZ g& ;gh v lyh dk lkj noh vkj ik"kk.k noh gA

ljkt mUg fl Unj piMrh g vkj mlh [kk[ky e ifM;k [kky d j[k nrh gA crk'k] iMh] ,d [kckuh vkj dN QyA fQj >ky e l 'kh'kh fudky d ry fn;s e mMydj viuh ckrh lyxk nrh g vkj gkFk tkMd ?kVuk d cy cB tkrh gA txu dkdk vkj fouk;d Hkh mldh udy djr gA ^^;k nsoh loHkr"k* 'kfDr:i.k lafLFkrk--- uerL;] ueLrL;s uerLr;s uek ue%---**15

शाह जी ने उपन्यास में अल्मोड़ा नगर के परिवेश के साथ उस अंचल की सांस्कृतिकता का भी गहरा विश्लेषण किया है। वर्तमान परिवेश को देखते हुए, रहन–सहन और आचार–विचार व व्यवहार को देखते हुए लेखक ने आधुनिक व बौद्धिक विचारों को अपने कथा–साहित्य में मुखरता से प्रस्तुत किया है। egkuxj] uxj ,oa xkeh lLÑfr & प्रत्येक क्षेत्र की अपनी भिन्न संस्कृति होती है जिससे वहाँ का रहन–सहन, आचार–विचार, व्यवहार, खान–पान, पूजा, तीर्थ, व्रत–उपासना इत्यादि का ज्ञान हम पाते हैं। जो व्यक्ति सुसंस्कृत होगा, वह चाहे महानगर, ग्राम या नगर कहीं का भी हो उसके हृदय में संकीर्णता नहीं होगी अपितु वह सहिष्णु होगा। वह गोरे–काले नाटे–लम्बे अमीर–गरीब इत्यादि में कोई भेदभाव नहीं करेगा, अपितु वह सभी को स्वयं सदृश देखेगा। सभ्य व्यक्ति किसी न किसी संस्कृति से अवश्य ही सम्पृक्त होता है। आज नगरों व गांवों पर भी महानगरीय संस्कृति का प्रभाव अवश्य देखा जा सकता है। महानगरों की आपाधापी व भाग दोड़ भरी जिंदगी की अपेक्षा नगरों में शान्तिपूर्ण वातावरण बना रहता है और यही व्यवस्था हमारे घरेलू जीवन में भी परिलक्षित होती है संस्कारित परिवारों में यदि कोई खाने के समय उपस्थित हो तो उसे खाना खिलाकर ही भेजा जाता है। 'किस्सा गुलाम' में जब भागीरथी कुंदन व उसके पिता जी से खाना खाने का निहोरा करती है तो उसके पिता उससे पूछते हैं – ^^D;k cuk;k Hkkxh rus\ lCth dN Fkh Hkh ?kj e\ gk&gk HkkxhjFkh rks ijh fyLV fxuk nrh g&HkV d Mcd] ikiM d uke vkj frfey dk jk;rk ----A**16

भारतीय परिवारों में आगुन्तकों को देवतुल्य समझा जाता है। जहाँ देवता उपस्थित हो वहाँ किसी भी भौतिक वस्तु की कोई आवश्यकता नहीं होती। अतः वहाँ सद्भावों की प्रबलता होती है।

कुंदन के मुहल्ले के ही लड़का–लड़की प्रेम में विवश होकर आत्म हत्या कर लेते हैं जो सबके लिये एक कौतुक है, तमाशा है। तो बालक कुंदन अपने पिता से जिज्ञासावश पूछता है और बताता भी है कि – ^^,d vkneh ckyd jgk Fkk& Mhe.kh dh Nkjh d fy;s tku ns nhA**17

स्थान विशेष की संकीर्ण मानसिकता के संकेतित करते हुए उसके पिता का कथन है कि ^^cl ekdh dh rkd e jgrs g fd dgha dN gks tk,] fdlh d ?kj e vkx yx tk,] fdlh dh cgw Qkyh [kk tk,] fdlh dk yMdk ?kj lHkkx tk,] vkREkgR;k] yVikV] nwj d ?kj dh cjckn --- lc budh fy, R;kgkj g] eyk gA**18

हमारी सामाजिक व्यवस्था ही कुछ इस प्रकार की है कि एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति का दुःख देखकर कोई सहानुभूति नहीं होती, उसके हृदय में वह स्पंदन नहीं होता जो होना चाहिए बल्कि इस तरह की घटनाएँ वर्षों तक चर्चा का विषय बनी रहती है। जो आज अमुक व्यक्ति के साथ घटित हो रहा है। वह भविष्य में किसी के साथ भी घटित हो सकता है। आवश्यकता है विचारों में बौद्धिकता का समावेश करने की। कुंदन के पिता नारायण राम इस सम्बन्ध में विनायक को समझाते हैं कि ^^;g ise ugha gR;k g vkRek dh gR;kA ;g lepk nfu;k iMh iRFkj l yxk d vkleku d xg u{k=k rd lc ise ij gh rks fVdk gvk g] exj bl ise dk n[ku dk vk[k pkfg, vk[kA cPpk ljh[kh fuehyrk pkfg,A fu;e dk dkbZ ugha n[krk vfu;e dk gj dkbZ n[krk g vkj ml cMh cgknjh dk dke le>rk gA blesa dku lh cgknjh gA ejnk dh uxjh g uk blh rjg tkxrh gA**19

उपन्यास 'पुनर्वास' में हमे ग्रामीण संस्कृति की झलक मिलती है। व्यक्ति ऊँचे पद पर पहुँच कर भी अपनी जन्म भूमि को नहीं भूलता। स्नेह की डोर उसे ताउम्र बांधे रखती है। प्रो0 दीनानाथ अपने बालपन को याद कर रोमांचित हो उठते हैं। ^^vlyh lq[k ;s ogh gkrk Fkk ?kj d nork Fkku eA dku

dgrk Fkk Hkyk nhuk dk mrdh lcg mBu dk\ **xxx** dk ;gh rk f[kMdh gokA ljt dk mxr n[kuk viuh f[kMdh ij dlk jkekpdkjh vuHko gkrk Fkk mu fnukA jkt&jkt ogh n"; n[kuk vkj jkt mlh rjg jkekfpr gkukA**[20]

भारतीय संस्कृति में सहोदर रिश्तों को अत्यन्त ही महत्व दिया जाता है। प्रो० दीनानाथ अपने तीन भाइयों में सबसे बड़े हैं। गांव जाने पर परिवार में उनका पूरा आदर सत्कार किया जाता है। सम्बन्धों में सहजता बनाये रखना मझला भाई अपना परम कर्तव्य समझता है। वह छोटे को समझाता है कि – ^^Hkkbl lkgc tk dgr gS lkp le> dj gh dgr gSA mudh bPNk dk vknj djuk gekjk Qt gSA e>yk cM Hkkbl dk HkDr FkkA ;s HkDr rks NkVs yky Hkh de ugh FksA exj NkVs gkus dj dkj.k cpiu l gh tjk eg yx FksA fgUnh e vki&vki djr gS, lglk igkMh e r&rMkd ij mrj vkr FksA**[21]

संस्कारों से ही मनुष्य मर्यादित रहता है। यही हमारी भारतीय संस्कृति की महानता है। जिसे हम सम्बन्धों में भी सहजतापूर्वक देख सकते हैं।

'विनायक' उपन्यास में कुमाऊँनी संस्कृति को अत्यधिक महत्व के साथ दर्शाया गया है। विनायक अपने परिवार को भी उस संस्कृति का परिचय कराना चाहते हैं जहाँ उनका बचपन बीता है। आज नई पीढ़ी अपने एक अलग ही कल्चर में जीने लगी है उसे उतना लगाव नहीं रह गया जो विरासत में मिली संस्कृति से होना चाहिए। संस्कृति में ही हमारे जीवन प्राण बसते हैं। तो विनायक की यह चिन्ता स्वाभाविक ही है। ^^dl gj fnu] gj ekg] gj _r ,d yxkrkj pyu okyk mRlo g] vu"Bku gSA e mUgs fn[kkuk pkgrk g gj pkVh ij fojk teku nfo;k vkj gj ?kkVh e cl 'kdj egknoA pn rjk&ejk fnu dgk l 'k: gkrk Fkk\ ?kj d norkFkku l vkrh ?kVh dh vkokt l gh uk\ ej ?kj e nork Fkku ugh gSA pn&dl gkxk\ —— vkj pn e> yxrk g fd ft ld cpiu e norkFkku dh txg [kkyh jg xb g mld Hkhrj ge'kk&ge'kk d fy, ,d [kk[ky jg tkrk gkxk ft l Hkjuk cgr ef'dy] exj cgn t :jh gSA**[22]

किसी भी परिवेश की संस्कृति अत्यधिक महत्वपूर्ण होती है। जो हमें विरासत में प्राप्त होती है। ये ही संस्कृति व परम्पराएँ व्यक्ति को जीवन में सम्बल प्रदान करती हैं। यदि हमें अपनी आत्मिक और आर्थिक उन्नति करनी है तो हमें अवश्य ही अपनी जो भी संस्कृति हो उसका अनुसरण करना चाहिए इसी संदर्भ में लेखक का मन्तव्य स्पष्ट है कि ^^pn e pkgrk g budk Hkh irk py budh dlh D;k fojklr g ft le budk fgLlk dkbl ugh ekj ldrk vkj ft l egt ftnk j[kuk gh ugh] vkx c<kuk Hkh budk /ke gSA pn] /ke j{kfr jf{kr--- gekj ij[k tk dg x, ;gh dg x,\ ;g lkjh tek ith rEgkj fy,] rEg rEgkj thou lxke e enn nu dh fy;s gh gSA**[23] स्पष्ट है कि संस्कृति ही जीवन है इसके बिना जीवन निष्प्राण सा प्रतीत होगा।

शाह जी के कहानी संग्रह 'जंगल में आग' की कहानी 'पक्ष' में नगरीय संस्कृति को उभारा गया है। कहानी में पति–पत्नी में तनाव को दिखाया गया है। जो हमारी आपाधापी भरी जिंदगी की देन है। अब यतीन को लगने लगा है कि उसकी पत्नी मनोरमा को भी नौकरी करनी चाहिए। महानगरों की संस्कृति का प्रभाव ही नगरों पर भी पड़ता है। पति–पत्नी दोनो का ही व्यवसायी होना समय की मांग है। यही मनमुटाव दोनो के मध्य चल रहा है। ^^ml oDr re dgk x;s FksA tc eu viuh rjQ l bPNk tkfgj dh FkhA rEg ejh lgr dh ugh viuh lHkhr dh fpUrk Fkh] viu LokfHkeku dh fpUrk FkhA vc D;k ugh gkrh\ e> ugh djuh ukdjh&QkdjhA lcdk Bdk D;k eu gh y j[kk gSA**[24]

महानगरीय संस्कृति का प्रभाव अवश्य ही देखा जा सकता है। समकालीनता के परिदृश्य में मध्यमवर्गीय परिवार की स्थिति का अत्यंत ही सटीक वर्णन है। आज व्यक्ति हर तरह से साधन सम्पन्न रहना चाहता है। इसके लिए वह जी तोड़ मेहनत करने के लिये तत्पर रहता है। वही इस व्यस्तता से व आपाधापी से ऊब कर वह सुकून की तलाश में है।

इसी ऊब से व्यथित यतीन सोचता है कि ^^vc Hkh lky e ,d ckj yEch NVVh yidj ?kj tkrk gh gA ml yxrk g og X;kjg eghu ukdjh blfy, djrk g fd ,d eghuk ?kj ij jg ldA ?kj] ;ku tgk ml dh ek gA ogk ml ;gk dk lc dN Hky tkrk gA ;g ukdjh] ;s lxh&lkFkh] ;s 'kgj] ;g fnup;k lc dN ,d nLkLolu dh rjg >M tkrk gA**25

शाह जी की कहानियों में संस्कृति का प्रभाव प्रत्येक परिस्थिति में दिखता है। कुमाऊँ के प्राकृतिक सौन्दर्य के साथ संस्कृति का बढ़िया मेल है। 'मुहल्ले का रावण' कहानी संग्रह की 'उत्तरकाण्ड' कहानी में जब चरित नायक अपने पिता की मृत्यु के बाद घर पर आता है तो घर का वातावरण उसे सामान्य दिनों की ही तरह प्रतीत होता है। पिता के न होने पर भी वह उन्हें अपने हृदय में स्थापित मानता है। अपने साथ प्रत्येक प्राकृतिक उपादान को वह अनुभव करता है। ^^njokt d lkeu fBBd&fBBd gh ml tl fdlh u idM dj ijk ?kek fn;kA ,d {k.k dk ml viuh vk[kk ij fo'okl gh ugh gvkA ljt dk xkyk L;kgh noh d dU/k ij <yd vk;k Fkk vkj pk[kEck] f='kyk uUnk noh --- dh pkfV;k ;gk l ogk rd fi?ky lku dh rjg >yeyk jgh Fkh] &?kj d norkFkku e lcg&lcg ek tdj pedk, g, pkuh] ihry vkj rkc d norkvk dh rjgA**26

इसी संग्रह की कहानी 'मुहल्ले का रावण' में हमें सांस्कृतिक एकता का परिचय मिलता है। भारतीय संस्कृति विभिन्न धर्मों व जातियों की संस्कृति है। अनेक धर्मों के लोग यहाँ मिलजुलकर सद्भाव से रहते हैं। एक दूसरे के धार्मिक व सांस्कृतिक आयोजनों में वे बढ़–चढ़कर शिरकत करते हैं। कहानी के नायक कादिर मियाँ मुस्लिम होते हुए भी हिन्दू धर्म के प्रति विशेष स्नेहभाव रखते हैं। प्रतिवर्ष दशहरे पर फूँकने के लिए रावण भी उन्हीं के द्वारा बनाया जाता है। हमारे कथावाचक का कथन है कि ^^egj.e d fnuk e dkfnj fe;k Vkfi;k flyuk cn dj nr Fk vkj feBkb dk [kkepk yxkr FkA tUek"Veh d fnuk e tk i.kjh dk i.kn curk Fkk og e>s cgn i.ln Fkk vkj ;g egj.e okyh fEkBkb Hkh e>s o.k gh Lokn nr Fkh&cfYd dkfnj fe;k d gkFk dh cuh og T;knk gh Lokfn"V gkr FkhA**27

उत्तराखण्ड के कुमाऊँ अंचल की प्राकृतिक सौन्दर्य के साथ जो सांस्कृतिक परिवेश की छाप दिखाई पड़ती है वह निश्चित ही वहाँ के रहन–सहन व खान पान को परिलक्षित करती है। कथाकार का अपनी संस्कृति से अत्यधिक गहरा जुड़ाव है। जो उनकी संवेदनात्मक अनुभूति का परिचायक है। कौन सी गली से किस–किस प्रकार की गंध या महक आती है। यह वर्णन करने में उनकी संवेदनशीलता बेजोड़ है। इसी संग्रह की 'उसका सच' कहानी में प्राकृतिक सौन्दर्य के साथ संस्कृति का यही संगम हम देखते हैं। ^^eky jkM l feyku okyh iNok xyh vkj ckuMh noh dh vkj [kyu okyh&lcg rMd gh ck tkj dk /ki l ugyk nu okyh&ijok xyh Hkh vkdj feyrh FkhA ijok xyh l ikjkfgR; vkj lxhr dh rFkk iNok xyh l nhokuxh BkV&ckV vkj gk ckYehfd;k d Mkyk dh Hkh egd vkrh FkhA bu nkuk l dgh T;knk cgr Hkhrj rd jph jgu okyh ,d nljh nfu;k x/kk dh FkhA egkc vkj dydfr;k ikuk dh] phM vkj jkeck l dh] fgl ky&fdyekM dh] fuxky vkj fHkyekM dh] uhc vkM&nkfMe dh] vkV dh tych vkj ry dh cnh dhA**28

उपन्यास 'गोबर गणेश' में भी हमें धार्मिक सहिष्णुता दिखाई पड़ती है। जब विनायक व उसके मुस्लिम मित्र भी स्नेह व सद्भाव से साथ रहते हैं। मुस्लिम धर्म के व्यक्तियों को अन्य धर्म के व्यक्तियों के साथ भाईचारा व आपसी प्रेम व मेलजोल रखने के लिये जो विशेष प्रयत्न करने पडते हैं उन्हें लेखक ने बड़े ही मनोयोग से प्रस्तुत किया है। इसी प्रसंगवश विनायक अपने मित्र लच्छू को बताता है कि ^^ek crkrh g fd ;s tyfc;k mud ?kj l ugh lh/k cukjh gyokb dh ndku l vkrh gA o ykx viu fgUn iMkfl;k d fy;s vyx l feBkb dk vkMj nr gA ugh rk fgUn ykx mudk Nvk dls [kk,x**29

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि रमेशचन्द्र शाह के कथा–साहित्य को पढ़कर कुमाऊँ की संस्कृति को भली–भाँति समझ सकते हैं। संस्कृति ही व्यक्तियों के आचार–व्यवहार को बताती है। जिसके माध्यम से हम किसी भी क्षेत्र के रीति–रिवाज़, पर्व व त्योहार इत्यादि को भली–भाँति जानते हैं।

InHkl %

1. संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, पृ0–844
2. ए–संस्कृत–इंगलिश डिक्शनरी, सर मोनियर विलियम्स, पृ0–120–21
3. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, विचार एवं वितर्क, प्रकाशन साहित्य भवन, इलाहाबाद 1969, पृ0–181
4. डॉ0 रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय पृ0–653 लोकभारती प्रकाशन, 15ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद, सन् 2002
5. बाबू गुलाबराय, भारतीय संस्कृति की रूपरेखा, साहित्य प्रकाशन मंदिर, ग्वालियर, पृ0–01
6. उद्धृतांश, ज्ञानप्रकाश शर्मा, हिन्दी की हास्य व्यंग्यमयी कविता का सांस्कृतिक विवेचन, अनुराधा प्रकाशन, मेरठ, 1956, पृ0–48
7. प्रभुदयाल मित्तल, ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास, पृ0–83, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1966 ई0
8. बलदेव मिश्र, भारतीय संस्कृति, पृ0–11
9. पी0बी0 टेलर, प्रीमिटिव कल्चर, पृ0–01
10. ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी, पृ0–156
11. उद्धृतांश, ज्ञानप्रकाश शर्मा, हिन्दी की हास्य व्यंग्यमयी कविता का सांस्कृतिक विवेचन, पृ0–47
12. रमेशचन्द्र शाह, गोबर गणेश, राजकमल प्रकाशन, प्रा0लि0, 1–बी0 नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली–110002 पृ0– 70
13. वहीं, पृ0–128
14. वहीं, पृ0–110
15. वहीं, पृ0–142
16. रमेशचन्द्र शाह, किस्सा गुलाम, वाणी प्रकाशन, 21–ए, दरियागंज, नई दिल्ली–110002 पृ–95
17. वहीं, पृ0–73
18. वहीं, पृ0–73
19. वहीं, पृ0–74
20. रमेशचन्द्रशाह, पुर्नवास, वाग्देवी, प्रकाशन, बीकानेर (राजस्थान), पृ0–14
21. वहीं, पृ0–41
22. रमेशचन्द्र शाह, विनायक, राजकमल प्रकाशन, प्रा0लि0, 1–बी0 नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली–110002, पृ0–40
23. वही, पृ0–41
24. रमेशचन्द्र शाह, जंगल में आग (कहानी संग्रह), अयोध्याकाण्ड, वाणी प्रकाशन, 21–ए, दरियागंज, नई दिल्ली–110002 पृ–54
25. वहीं, पृ0–55
26. रमेशचन्द्र शाह, मुहल्ले का रावण (कहानी संग्रह), मकर सक्रान्ति, वाणी प्रकाशन, 21–ए, दरियागंज, नई दिल्ली–110002 पृ–77
27. वहीं, पृ0 38
28. वहीं, पृ0 44
29. रमेशचन्द्र शाह, गोबर गणेश, राजकमल प्रकाशन, प्रा0लि0, 1–बी0 नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली–110002, पृ0–89

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

dk0;kykd e: dk0;y{k.k rFkk dk0;Hkn ,d leh{kk

eu ekgu feJ*

काव्यशास्त्रीय परम्परा मे काव्यालोक परवर्ती रचना है, हरिप्रसाद विरचित ''काव्यालोक'' की हस्तलिखित पाण्डुलिपि महाराजा सवाईमान सिंह द्वितीय म्यूजियम, सिटी पैलेस जयपुर में उपलब्ध है। काव्यालोक की रचना हरिप्रसाद ने सं0 1784 में की।

काव्यालोक एक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है। इसमें कुल सात प्रकाश हैं, जिनमें पूर्ण निरूपित अलंकारशास्त्र के विषयों का विवेचन किया गया है। सामान्यतः इसमें काव्य का लक्षण, प्रयोजन, भेद, हेतु, शब्द शक्तियाँ, ध्वनि, रस, गुण, दोष और अलंकारों का निरूपण है। ''काव्यालोक'' में कुल 84 पत्रों में से 43 पत्रों में अन्य विषयों का विवेचन है, शेष 41 पत्रों में केवल अलंकारों का निरूपण किया गया है। कृतियों का प्रारम्भ करते हुए प्रथम पत्र पर भी अलंकार अर्थालंकार–निरूपण पत्र–84 लिखा है, इससे स्पष्ट है कि अर्थालंकारो का विवेचन करना कृतिकार का प्रमुख उद्देश्य है।

मम्मट और पण्डितराज जगन्नाथ के अतिरिक्त रूद्रट, वामन, अप्पयदीक्षित, भोजराज, विश्वनाथ आदि अन्य काव्यशास्त्रकारों का भी स्थल–स्थल पर उल्लेख किया गया है। स्वयं हरि प्रसाद के शब्दों में उनकी यह कृति माधुकरी भिक्षा के समान है–

b;a ek/kdjhfHk{kk leuk'k% lekgrkA
okykuk rf"V;a xoka u eukxfi fo|rAA[1]

dk0;kd&if"idk

''काव्यलोक'' एक परिनिष्ठित विद्वान् के विषद् काव्यशास्त्रीय अध्ययन का प्रतिफल है, जिसमें अभिनवगुप्त, रूद्रट, वामन, भोजराज, मम्मट; विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित, पण्डितराज जगन्नाथ आदि विद्वानों का उल्लेख ही नहीं, प्रत्युत् उनके अभिमतों का स्वतंत्र दृष्टि से विवेचन और मौलिक निरूपण भी है, अष्टोत्तर शतमणि माला के सुधी प्रणेता श्री रामार्थ के इस विनम्र शिष्य ने पूर्ववर्ती प्रायः सभी महान् लेखकों के ग्रन्थ पुष्पों से याचक मधुकर की भाँति ज्ञानमधु का पान किया। फिर ग्रन्थ के रूप में साहित्य जगत् को समर्पित कर दिया। इस समर्पण में कहीं भी ज्ञान का गर्व नहीं है, न मौलिकता का दम्भ।

ikpha:fnxkfnra okna fo|xiLrknokgreA
l³{kk.k u fdfpnU;dfnr xoa.k roUe;kAA[2]

dk0;kd&if"idk %

कवि ही सृष्टा है, भारतीय ही भारती है भाषा ही उसकी वाणी है शास्त्र ही विशाल जंगल है, उसमें परिभ्रमण करना ही खेद है, तथा काव्य ही काव्यवृक्ष है।

lohtL; doLr= ljlifrHkk³ja%A
dkj.ka o;f"kLrL; peRdkj ijkRenq%AA
ljlk ;k ifrHkk l ,oa³dj
rL; dk0;L; on"k% dkj.ke

eyikB fVIi.kh

काव्यालोक में काव्य का लक्षण निम्न है–

*शोध छात्र– इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

ykdkÙkjkgykndk;%'kCn% dk0;eA

लोकोत्तर आह्लाद उत्पन्न करने वाले अर्थ से युक्त शब्द काव्य है। लोकोत्तर को स्पष्ट करते हुए वृत्ति में लिखा है–

सुख के अतिशय का कारण चमत्कार विशेष ही लोकोत्तरता (अलौकिकता) है।

हरिप्रसाद ने केवल शब्द को काव्य माना है। लक्षण को स्पष्ट करते हुए उन्होंने वृत्ति में बताया है–

^^lo;Fkk fof'k"V 'kCn fu"Bso dk0;RofeR;Fk%**

सर्वथा विशिष्ट शब्दनिष्ठ ही काव्य है। यह शब्द एक विशिष्टिता लिए हुए है कि वह (शब्द) अलौकिक अह्लाद उत्पन्न करने वाले अर्थ से युक्त है।

साहित्यशास्त्र के आद्य आलंकारिक 'भामह' ने शब्द और अर्थ के सहभाव को काव्य कहा है।

^^'kCnkFkkS lfgrkS dk0;e*[4]

'दण्डी' ने शरीरं तावदिष्टार्थव्यवछिन्ना पदावली'' लिखकर इष्ट (हृदयाह्लाहक) अर्थ से युक्त पदावली (शब्द और अर्थ) को काव्य का शरीर बताया है।

^^'kjhjrkofn"VkFkZ;ofNUuk inkoyh**[5]

वामन ने रीति को काव्य की आत्मा मानते हुए भी गुण और अलंकार से संस्कृत शब्द और अर्थ के लिए काव्य शब्द का प्रयोग किया है।

dk0;'kCnk·;s xq.kky³dkj lLdr;k% 'kCnkFkkS ;ksoksir[6]

रूद्रट ने भी शब्द और अर्थ को काव्य माना–

uuq 'kCnkFkkS dk0;e**[7] रूद्रटकृत काव्यालंकार 2, 1

ध्वनि को काव्य की आत्मा मानने वाले आनन्दवर्धन ने भी ''काव्य को शब्दार्थ शरीर वाला माना है''

शबnkFkS'kjhjUrkor· dk0;e· lâ;âs;kgykfn 'kCnkFke;Roso dk0;y{k.ke**[8]

कुन्तक के अनुसार काव्य लक्षण इस प्रकार है–

'kCnkFkkS lfgrkS oØdfo0;kikj'kkfyfuA

cU/k0;ofLFkrkS dk0;s rf}nkgykndkfjf.kAA[9]

काव्य–मर्मज्ञों के लिए आह्लाददायक, कवि–व्यापार वक्रता से युक्त रचना में व्यवस्थित शब्द और अर्थ मिलकर काव्य है।

मम्मट् के अनुसार दोष–रहित, गुणयुक्त, सामान्यतः अलंकार–सहित, किन्तु कहीं–कहीं अलंकार रहित भी शब्द और अर्थ काव्य है–

^^rnnks"kkS 'kCnkFkkS lx.kkSouy³dfr iqu% DokfiA*[10]

विश्वनाथ ने रसात्मक वाक्य को काव्य माना है–

^^okD;s jlkRedS dk0;e**[11]

पंडितराज जगन्नाथ ने भी काव्य लक्षण बताया है–

je.kh;kFkZ ifrikndS 'kCnS dk0;eA[12]

रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है। लक्षण मे प्रयुक्त ''रमणीयता'' शब्द को स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया है, कि जिसके ज्ञान से अलौकिक आह्लाद प्राप्त होता है। वह अर्थ रमणीय होता है। लोकोत्तर आनन्द को उत्पन्न करने वाले ज्ञान की गोचरता ही रमणीयता है।

भारतीय काव्यशास्त्र में निरूपित उपर्युक्त काव्यलक्षणों से स्पष्ट है, कि भामह से लेकर विश्वनाथ तक प्रायः शब्द और अर्थ को काव्य माना गया है। पण्डितराज जगन्नाथ में किंचित भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए केवल शब्द को काव्य माना है। ''काव्यलोक'' में प्रस्तुत काव्य–लक्षण ''रसगङ्गाधर'' के सदृश है। रसगङ्गाधर में रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है और काव्यालोक में अलौकिक आह्लाद को उत्पन्न करने वाला शब्द काव्य है। 'रमणीय' शब्द भी अलौकिक आह्लाद को ही प्रतिपादित करने वाला है।

इसी प्रकार आचार्य विश्वनाथ ने अनेक तर्क वितर्कों का आधार लेकर मम्मट् के काव्य लक्षण का खण्डन किया है। 'काव्यलोक' में उसी विवेचन का सङ्क्षिप्ततः प्रस्तुत करते हुए मम्मट् के काव्य लक्षण पर आरोप किया गया है। हरिप्रसाद ने विश्वनाथ के ''काव्यं रसात्मक'' तथा वामन के ''रीतिरात्मा काव्यश्प'' पर भी आक्षेप किया है तथा ''लोकोत्तरराह्लादकार्थः शब्दः काव्यम्'' को काव्य लक्षण के रूप में प्रस्तुत किया गया।

निम्न पंक्ति स्पष्ट रूप से भामह की ओर संकेत कर रही है। भामह के इस लक्षण में आये हुए ''सहितौ'' पद की कोई व्याख्या नहीं की गयी थी। इस कमी को पूरा करने का प्रयास ''दण्डी'' ने किया है। इस प्रकार भामह और दण्डी दोनों के काव्य के शरीर तथा अलंकारों की चिन्ता की है। पर उसकी आत्मा का विचार नहीं किया है।

vkpk;Z okeu dk dk0; y{k.k %

आचार्य वामन ने दण्डी के बाद अपना लक्षण बताया है। वामन ने भामह और दण्डी के उक्त काव्य–शरीर में प्राणप्रतिष्ठा करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने काव्य के शरीर की चिन्ता न करके उसके आत्मा का अनुसंधान करने का प्रयत्न किया है। ^^jhfrjkRek dk0;L;**[13]

यह वामन का प्रसिद्ध सूत्र है तथा वे ''रीति'' को काव्य की ''आत्मा'' मानते हैं और ''काव्यग्राह्यमलंकारात्'' ''सौन्दर्यमूलंकार'' आदि सूत्रों में काव्य के सौन्दर्याधयक अलंकारों को काव्य की ग्राह्यता एवं उपादेयता का प्रयोजक मानते हैं।

vkpk;Z vkuUno/kuu dk dk0; y{k.k %

भामह और दण्डी ने काव्य के शरीर की चर्चा की थी इसलिए आत्मा का कोई प्रश्न उनके सामने न था। वामन ने 'रीतिरात्मा काव्यस्य' लिखकर काव्य की 'आत्मा' क्या है इसका एक नया प्रश्न उठा दिया है। इसलिए उन्होंने ''ध्वनि'' को काव्य की आत्मा माना है और वह भी अपने मत से ही नहीं, अपितु प्राचीन अलिखित परम्परा के आधार पर वे 'ध्वनि' को ही काव्य की आत्मा मानने के पक्ष में है। इस विषय में कुछ लोगों ने विप्रतिपत्ति उत्पन्न कर दी थी, उन्हीं के निराकरण के लिए उन्हें ध्वन्यालोक ग्रन्थ लिखने की आवश्यकता पड़ी।

dk0;L;kRek /ofufjfr c/k% ;% lekEukrhi
LrL;kHkkoi txnqjhi HkkDrekgLreU;
dfpnokpk fLFkrefo"k;s rÙoepLrnh;
rqu ce% lân;eu%ihr;s rRLo:iesAA[14]

इस प्रकार से आनन्दवर्धनाचार्य के मत से ध्वनि ही काव्य का जीवनध्यापक तत्त्व है। उसके बिना सुन्दर शब्द और अर्थ भी निर्जीव देह के समान त्याज्य हैं। ध्वनि रूप आत्मा की प्रतिष्ठा होने पर ही शब्दर्थ काव्य होते हैं।

vkpk;Z dqUrd dk dk0; y{k.k %

वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक ने इन सब की अपेक्षा अधिक विस्तारपूर्वक और अधिक स्पष्ट रूप से काव्य का लक्षण करने का प्रयत्न किया है।

'kCnkFkkS lfgrkS oØdfo0;kikjk'kkfyfu]
cU/k0;ofLFkrkS dk0;s rf}nkgykndkfjf.kAA[15]

इस प्रकार कुन्तक ने मानो पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के काव्य–लक्षणों का निचोड़ अपने इस लक्षण में समाविष्ट कर दिया है। फिर भी अभी उनकी तृप्ति नहीं हुई है। क्योंकि 'सहितौ पद का स्पष्टीकरण न भामह के लक्षण में हुआ था और न यहाँ हुआ है। अतएव शब्द और अर्थ के इस ''साहित्य' का स्पष्टीकरण करते हुए लिखते है–

'kCnkFkkS lfgrkoo ifrhrkS LQqjr% lnkA
lfgrkfofr rkoo fdeiho fo/kh;rsAA

fo'oukFk dk dk0;y{k.k %

साहत्यिदर्पणकार विश्वनाथ 'रसात्मक वाक्य' को काव्य मानते हैं। ''वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'' यह उनका काव्य लक्षण है।

vkpk;l eEeV d dk0;&y{k.k dh fo'k"krk %

काव्य प्रकाशकार मम्मट् का ''तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनःक्वापि'' यह काव्य–लक्षण अन्य लक्षणों की अपेक्षा अधिक परिभाषित है। कुन्तक ने जिस बात को कई कारिकाओं में कहा है। मम्मट ने इस आधी कारिका में ही उसको समाविष्ट कर दिया है। उसके साथ ही 'अदोषौ' तथा ''सगुणौ'' पद जोड़कर उन्होंने काव्यलक्षण का नया दृष्टिकोण भी उपस्थित किया है। जिसका प्राचीन लक्षणों में इतना स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया था।

काव्य का यह चिन्तन सत्य पुराने से और नये से नये आलोचकों द्वारा निर्धारित की गई सभी काव्य परिभाषाओं में समाया हुआ है। इसलिए अब यह आवश्यक हो जाता है कि काव्य का स्वरूप समझने के लिए संस्कृत के पुरातन आचार्य भरतमुनि से लेकर आज तक के कुछ प्रमुख–प्रमुख काव्य–समर्थकों के इस सम्बन्ध में विचार प्रस्तुत किया जाता है।

vkpk;l Hkjreqfu&

e/kqyfyrinkk<;l xq<'kCnkFkZghu
tuinl[kcks/;l ;fDreqUuh0R;;ikT;eA
cgqdjrjekxl lfU/k&lU/kkuiDrl
Hkofr txfr ;kX;l ukVdl i{kdk.keAA[16]

इसकी रचना सरल और कोमल ललित पदों से की जाती है, इसमें शब्दों का अर्थ दुरूह नहीं होता है, यह लोगों को आसानी से समझ में आ जाता है। रसों का प्रवाह होता है। कथावस्तु की सन्धियों का संयोग रहा करता है।

vkpk;l Hkkeg&

'kCnkFkkS lfgrk dk0;e----------[17]

आचार्य भामह का कहना है कि शब्द अर्थ मिलकर ही काव्य बनता है।

vkpk;l n.Mh&

^^'kjhjl rkofn"VkFk0;ofPNUuk inkoyhA**[18]

अभीप्सित तथा मनोरम अर्थ से विभूषित शब्दावली ही काव्य का शरीर है।

vkpk;l okeu %

dk0;lxkg;eydkjkr----------dk0;'kCnk·;l

गुणालंकारसंस्कृतयेः शब्दार्थयोर्वर्वते। भक्त्या तु शब्दार्थ मात्रवचनोऽथ ग्राहयते। काव्यालंकार सूत्रवृत्ति–अधिकरा अध्याय सूत्रवृत्ति।[19]

यहाँ काव्य शब्द, गुण तथा अलंकार से सम्पृप्त शब्द तथा अर्थ के लिए प्रयुक्त किया गया है। लक्षणा से यह केवल शब्द और अर्थ का ही बोधक है।

vkpk;l Hkkt &

funk"k xq.koRdk0;eydkjl jy[3]dreA
jlkfUor dfo% dhfrl ikfr p foUnfrAA[20]

दोषों से रहित और गुणों से भरपूर तथा अलंकारों से युक्त एवं रस से सराबोरर काव्य का निर्माण करके कवि संसार में कीर्ति और प्रसन्नता को प्राप्त करता है।

vkpk;l gepUnl %

vnk"kkS lxq.kkS lkydkjkS p 'kCnkFkkS dk0;eA[21]

दोषों रहित तथा गुणों व अलंकारों से युक्त, शब्द और अर्थ को काव्य कहते हैं।

vkpk;Z t ;no&

funk"kk y{k.korh ljhfrx|.kHkf"krkA
ykjjlfudofÙkofDrdk0;ukeHkkdA[22]

दोषो रहित अक्षरसंहिता आदि लक्षणों से युक्त, रीतियों और गुणों से विभूषित अलंकारों से अलंकृत तथा वृत्तियों से युक्त वाक्य को काव्य कहा जाता है।

dk0; y{k.k ,d leh{kk %

अब निर्दिष्टस्वरूप जिसका स्वरूप पहले वर्णित किया जा चुका है, ऐसे काव्य का लक्षण कहते है–

ykdkÙkjkgykndkFk% 'kCn% dk0;eA**

लोकोत्तर आह्लाद उत्पन्न करने वाले अर्थ से उक्त शब्द काव्य है।

vkpk;Z eEeV d dk0;&y{k.k ij vk{ki %

आचार्य मम्मट न दोष–रहित, गुणों से युक्त, कहीं–कहीं अलंकार से रहित शब्द और अर्थ काव्य कहा जाता है। इत्यादि वाक्यों में भी दोष रहित शब्दार्थ गुण और अलंकार से युक्त होने के वाक्यों में भी काव्य कहा जाने लगेगा। ''सगुणौ'' सगुणौसा यह विशेषण भी युक्तियुक्त उत्पन्न नहीं है।

vkpk;Z fo'oukFk d dk0;y{k.k ij vk{ki&

आचार्य विश्वनाथ जी ने यहाँ पर उदाहरण दिया। जैसे–

^^jlkRed okD; dk0; gA**

यहाँ पर वह काव्य लक्षण भी उचित नहीं है क्योंकि तब तो ''गोपीभिः सह विहरति हरिः'' इत्यादि वाक्यों को भी काव्य कहना होगा और नदी–वेण, बन्दर, निपतन बाल–क्रीडाएँ आदि महाकवि द्वारा किये जाने वाले वर्णनों की परम्परा में काव्यता बाधित हो जायेगी।

vkpk;Z okeu ij vk{ki %

आचार्य वामन ने भी यहाँ पर अपना उदाहरण देते हुए विचार व्यक्त किया है।

^^dk0; dh vkRek jhfr gA**

वामन का यह कथन भी रीति के बाह्यगुण दोनों के कारण ग्राह्य नहीं है। इसलिए उचित ही कहा गया है कि लोकोत्तरत्त्व आह्लाद को उत्पन्न करने वाले अर्थ से विशिष्टि शब्द काव्य है। लोको नृस्तत्त्व का अभिप्राय है सुखतिशय के कारण चमत्कार – विशेष 'अत्यधिक सुख को उत्पन्न करने वाला विशिष्ट चमत्कार ही लोकोत्तरत्व है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि काव्यालोक में भिन्न आचार्यों का विचार विमर्श करने पर मालूम होता है कि सभी आचार्यों का मत लगभग एक सा है तथा आचार्यों के मत का उदाहरण देते हुए समीक्षा की गई है। वे सब ने अपना–अपना मत बताया है।

dk0; Hkn& काव्यलोक में काव्य के तीन भेद बताए गए है–

1. उत्तम काव्य–
2. मध्यम काव्य–
3. अधम काव्य–

1- mÙke dk0;& ^mÙke /ofuof'k"V;A*

ध्वनि का वैशिष्ट्य होने पर उत्तम काव्य होता है। यहाँ ध्वनि का अभिप्राय है– व्यङ्ग्य। जब वाच्य की उपेक्षा व्यङ्ग्य अधिक चमत्कार युक्त होता है तो उत्तम काव्य कहलाता है। अर्थात् वाच्य की अपेक्षा व्यङ्य के अधिक चमत्कार युक्त होने पर उत्तम काव्य होता है।

vkxrk% le dkl|ekop;kFk uUnuUnu fogkou·fLeuA
vEcn% LQfjr lEifr fpÙk Hkkfo fd x|: tuL; u fone%AA

यहाँ पर वाच्य से श्रीकृष्ण के भावी सम्मिलन को छिपाने, रूप व्यङ्ग्य की विशिष्टता होने से उत्तम काव्य है। जैसे–

^fi;ikf.kryn/kkjokyk âfn eUn rnokfn lkjHkuA
njQ\Yyljk:gk ;nrTToyuLif'k fook/k;r iz;kf{kAA**

e/;e dk0;& ध्वनि के मध्यम होने पर व्यङ्ग्य–चमत्कार और वाच्य चमत्कार के समानाधिकरण होने पर, व्यंङ्ग्यार्थ के वाच्य से अधिक चमत्कारी न होने, वह मध्यम–काव्य होता है– उदाहरण–

^e/;erPp e/;;eA**
^v= vfo|ekUk·fi lqjrpkrfj ifjHkkf"krkuqjkxfr
'k;peRdkj% l³dqrxeukoykdquo o.;:i okP; eRdfrtBjfuyhu%A**

कदम्ब की सुन्दर गेंद, हाथ में लिए तरूण मणि (तरूण श्रेष्ठ) नायक को प्रथम बार देखकर लज्जित मुखवाली तरूणी (नायिका) के मुख की विवर्णता उसके उचित भाव को प्रकट कर रही है। जैसे–

^djdfyrdnEc dUrdL; iFkefujh{k.k yf{krkuuk;k%A
idV;fr foo.kr'o Hkkoa r:.ke.k:fpr rrLr:";k%AA**

v/ke dk0;&

''काव्यलोक'' में अधम काव्य का उदाहरण इस प्रकार से दिया गया है। जैसे–

v/ke ukFk ofp«;k fdUrq 'kCnid xkpjeAA सूत्र 27

शब्दों की विचित्रता मात्र दिखाना अधम काव्य है मम्मट के उदाहरण रूप में अर्थचित्र और शब्दचित्र के ''विनिर्गतं मानदभात्ममन्दिरात्'' तथा ''स्वच्छन्दोच्छलदच्छ'' इत्यादि श्लोक दिये हैं। इन दोनों उदाहरणों में तारतम्य उपलब्ध होने से शब्द और अर्थ का सम–प्रधान्य होने थे। ये मध्यम–काव्य के ही उदाहरण है।

ठीक इसी प्रकार उत्तम, मध्यम और अधम के तीन प्रकार का काव्य होता है। कुछ लोग उत्तमोत्तम और अधमाधम भेद भी मानते हैं। परन्तु ये भेद काव्य के इन्हीं भेदों के अन्तर्गत आ जाते हैं, इसलिए उनका विवेचन यहाँ करना उचित नहीं है। संस्कृत आचार्यों में ध्वनि–सिद्धान्त की स्थापना से पूर्व तथा उत्तर युग में काव्य वर्गीकरण पर कुछ भिन्न दृष्टिकोण पाया जाता है। आनन्दवर्धन के पूर्व भामह, दण्डी, वामन आदि आचार्यों ने काव्य वाह्यरूप शैली, विषय, भाषा आदि का आश्रय लेकर काव्य वर्गीकरण किया। काव्यालोककार हरिप्रसाद ने इस प्रकार का वर्गीकरण नहीं किया।

आनन्दवर्धन तथा मम्मट ने काव्य के तीन भेद जो काव्यालोककार ने भी स्वीकार किया है। इनमें से उत्तम और मध्यम काव्य का स्वरूप समान ही है, परन्तु अधम काव्य में विभिन्नता है। आनन्दवर्धन और मम्मट ने शब्द वैचित्र्य और अर्थ वैचित्र्य से अधम काव्य माना है। परन्तु हरिप्रसाद ने केवल शब्दों की विचित्रता होने पर अधम काव्य कहा है। मम्मट द्वारा प्रस्तुत अधम काव्य के उदाहरणों को हरिप्रसाद ने मध्यम–काव्य के उदाहरण माने हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य के 4 भेद किये हैं, परन्तु हरिप्रसाद के तीन ही भेद मानते हैं। उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि कुछ लोग काव्य का उत्त्मोत्तम या अधमाधम भी मानते हैं, परन्तु इन भेदों का अन्तर्भाव उत्तम, मध्यम और अधम इन तीनों काव्य भेदों में ही हो जाता है।

महर्षि मनु का कहना है–

vdkeL; fØ;k dkfpn n';rs ug dgfpRrA
;|f) d:rs fdfpRÙkÙkRdkeL; pf"VreAA**

महर्षि मनु के अनुसार संसार में जो कुछ भी किया जाता है। वह कामनामूलक होता है। बिना कामना के कोई भी कार्य नहीं होता। जब अध्यवसायी पुरूष एक प्रकार से किसी उद्देश्य में असफल होता है, तो वह किसी दूसरे प्रकार से उसकी पूर्ति के लिए तत्पर हो जाता है। तो वह कठिन से कठिन उद्देश्य में संलग्न रहता है, तो किसी न किसी उपाय को खोज ही लेता है। इसी शक्ति को समीक्षकों ने 'प्रतिभा' कहा, जो स्वाभाविक तथा उत्पाद्य भेद से दो प्रकार की मानी गई। स्वाभाविक प्रतिभाजन्य कविता से योग्यतानुसार प्रयोजनों की सिद्धि होती है, इस सम्बन्ध में पर्याप्त अनुशीलन हुआ।

i:Kk uouokUe"k'kkfyuh i:frHkk erkA
rnuqi:k.kukT thono.kukfuiq.k% dfo%AA

कवि काव्य उस शब्दार्थमयी रचना को कहते हैं जो लोकोत्तर हो और नियमतः चमत्कार की संचारिका हो। क्योंकि काव्य के भेद और अर्थ संसार के पदार्थो की भाँति अनित्य नहीं होते। वे अमर तथा लोकोत्तर होते है। अतः उनमें चमत्कार अर्थात् अनिर्वचनीय आनन्द का होना स्वाभाविक है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि काव्य लक्षण के सौन्दर्य में शब्दार्थवादी आचार्य काव्य को शब्द प्रथा अर्थ से व्यासजयवृन्ति से सम्बन्धित मानते हैं। उनका मत है कि काव्य को केवल शब्दनिष्ठ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि बहुत से शब्द निरर्थक भी होते हैं। शब्दार्थवादी आचार्यो में भामह, रूद्रट, मम्मट, वाग्भट्ट, हेमचन्द्र ताथा जयदेव आदि ने ''शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'' के आधार पर शब्द और अर्थ को समान महत्त्व प्रदान किया है।

एक मात्र शब्द को ही काव्य मानने वाले आचार्य ''औत्पत्तिकस्न्तु शब्दस्यार्थिन सम्बन्धः'' इस मीमांसा सूत्र से काव्य को शब्दनिष्ठ कहने पर भी लक्षण से उसमें अर्थ का सन्निवेश स्वीकार करते हुए शब्द और अर्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध निश्चित करते हैं तथा काव्य के शब्द निष्ठ कहने से उसकी अर्थनिष्ठता स्वयं प्रकट करती है या हो जाती है।

निष्कर्षतः यहां पर यह कहा जा सकता है कि हरिप्रसाद कृत काव्यालोक में विभिन्न विद्वानों ने अपने–अपने मतों का वर्णन किया है और उसी वर्णन को शब्दों में समाहित करने का प्रयास किया है।

lUnHkZ %

1. काव्यालोक– पुष्पिका मूलपाठ टिप्पणी
2. काव्यलोक–पुष्पिका–मूलपाठ टिप्पणी
3. काव्यलोक–पुष्पिका–मूलपाठ टिप्पणी
4. रूद्रट् काव्यालंकार– 1, 16
5. काव्यादर्श–1, 10/2
6. काव्यसूत्र– 1,1,1 की वृत्ति
7. रूद्रट् काव्यालंकार– 2, 1
8. ध्यन्यालोक–1,1 की वृत्ति, पृष्ठ–5
9. वक्रोक्तिजीवित– 1, पृष्ठ–3
10. काव्यप्रकाश– 1,4
11. साहित्यदर्पण–1,3
12. रसगंगाधर– पृष्ठ 10
13. काव्यालंकारसूत्र– 1,2,61
14. ध्यन्यालोक–1,1,1
15. वक्रोक्ति– 1–16, 17
16. नाट्यशास्त्र अध्याय–16, कारिका 124
17. नाट्यशास्त्र–काव्यालंकार 1/16
18. काव्यादर्श–परिच्छेद कारिका 10
19. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति– अधिकरण अध्याय सूत्रवृत्ति
20. सरस्वतीकण्ठाभरण– परिच्छेद कारिका 2
21. काव्यानुशासन– निर्णयसागर प्रकाशन, 1934 पृष्ठ 19
22. चन्द्रालोक–मयूष, कारिका, 7

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

LoPN Hkkjr] LoLFk Hkkjr

MkW jk/k';ke ek;;*

महात्मा गाँधी जब 1915 में दक्षिण अफ्रीका से भारत लौटे थे तो उन्होंने आजाद भारत के साथ एक स्वच्छ भारत का सपना देखा था। जब उन्होंने पहली बार भारत को जानने के लिए यात्रा की तो उन्हें देश में जगह –जगह अस्वच्छता का आलम देख बहुत दुःख हुआ था। तब वह अपने भाषणों में स्वच्छता पर विशेष जोर देते थे। देश आजाद हो गया लेकिन गाँधी जी का स्वच्छ भारत सपना अब तक सही मायनों में पूरा नहीं हो सका। पिछले वर्ष प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी की अगुवाई वाली सरकार ने देश को फिर से स्वच्छ और साफ–सुथरा करने का बीड़ा उठाया। उन्होंने महात्मा गाँधी के जन्म दिन दो अक्टूबर, 2014 को 'स्वच्छ भारत' मिशन की शुरुआत की। उनका उद्देश्य अगले पाँच वर्षों में देश की तस्वीर 'स्वच्छ भारत' में बदल देने की है। इरादा ये है वर्ष 2019 में जब हम महात्मा गाँधी की 150वीं वर्षगांठ मना रहे हों तो देश की स्वच्छ और उजली तस्वीर के साथ ही सही मायनों में उन्हें श्रद्धांजलि दे सकें। इतने कम समय में ही 'स्वच्छ भारत' मिशन आकार लेता हुआ लग रहा है तथा इससे जुड़ी योजनाएं लागू हो रही हैं। योजनाओं को अन्तिम रूप दिया जा रहा है। स्वच्छता को लेकर जागरुकता का ऐसा माहौल बनने लगा है, जिसकी वाकई इस देश को जरूरत है।

पिछले दिनों स्वच्छ भारत अभियान पर मुख्यमंत्रियों की एक समिति आंध्रप्रदेश के मुख्यमंत्री चन्द्रबाबू नायडू की अध्यक्षता में गठित की गई थी, जो जून के आखिर तक अपनी रिपोर्ट सरकार को सौंप देगी। इसके बाद सही वर्षों में इस अभियान को स्पष्टता और मजबूती के साथ बढ़ता हुआ देखा जा सकेगा। ये समिति अभियान में निजी क्षेत्र के शामिल होने और संस्थागत तंत्र खड़ा करने पर सुझाव देने के साथ ही विभिन्न पहलुओं पर काम कर रही है। जून के आखिर तक रिपोर्ट देने से पहले कई और बैठकों की भी सम्भावना है। हालांकि ये समिति पहले ही नीति आयोग के मुख्य कार्यकारी अधिकारी की अगुआई में एक कार्यसमूह गठित कर चुकी है, जो स्वच्छ भारत अभियान पर वैकल्पिक उपायों और बेहतर तकनीक प्रदर्शित करने वाले बेहतर कार्य प्रणाली से सम्बन्धित जानकारी जुटाएगा। कार्य समूह और समिति रिपोर्ट तैयार करने के पहले कुछ क्षेत्रों का दौरा भी करेंगे।

स्वच्छ भारत अभियान का अर्थ केवल साफ सुथरे परिवेश से ही नहीं, बल्कि नागरिकों की सहभागिता से अधिक–से–अधिक पेड़ लगाने, कचरा मुक्त वातावरण बनाने, शौचालय की सुविधा उपलब्ध कराकर स्वच्छ भारत का निर्माण करने से भी है। देश में पर्यटन को बढ़ावा देने के लिए स्वच्छ भारत का निर्माण बहुत जरूरी है। आप खुद देखते होंगे कि अस्वच्छ भारत की तस्वीरें प्रायः भारतीयों के लिए शर्मिंदगी का कारण बन जाती हैं, इसलिए स्वच्छ भारत के निर्माण एवं देश की छवि सुधारने का यही सही समय और अवसर है। जब स्वच्छता सम्बन्धी बातें आदतों में शामिल हो जाएंगी तो बदलाव भी खुद–ब–खुद ही दिखने लगेगा।

वित्तमंत्री श्री अरुण जेटली ने वर्ष 2015–16 में आम बजट में इसके लिए खास प्रावधान किया है। इसमें ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों तथा विद्यालय परिसर में स्वच्छ भारत अभियान के माध्यम से स्वच्छता सम्बन्धी सुविधाओं में सुधार के लिए स्वच्छ भारत कोष की स्थापना की गई है। स्वच्छता सम्बन्धी सुविधाओं में सुधार करने और गंगा नदी के संरक्षण के राष्ट्रीय प्रयासों में जनसाधारण की भागीदारी को बढ़ाने के लिए अधिनियम की धारा 80(6) में संशोधन का प्रस्ताव है। इस उपबन्ध का भी प्रस्ताव है कि

*प्रवक्ता, जी0वी0 आई0सी देल्हूपुर, प्रतापगढ़, उ0प्र0

स्वच्छ भारत कोष में किसी दाता द्वारा दिए गए दान और स्वच्छ गंगा निधि में घरेलू दाताओं द्वारा किए गए दान की कुल राशि पर कोई कर नहीं लगेगा। हालांकि कम्पनी अधिनियम 2013 की धारा 135 की उपधारा (5) के अधीन निगमित सामाजिक दायित्व के लिए खर्च की गई कोई राशि दाता की कुल आय से कटौती के योग्य नहीं होगी। स्वच्छ भारत कोष और स्वच्छ गंगा निधि के महत्त्व पूर विचार करते हुए अधिनियम की धारा 10(23ग) में संशोधन का प्रस्ताव किया गया है जिससे स्वच्छ भारत कोष और स्वच्छ गंगा निधि की आय को आयकर से छूट दी जा सके। ये संशोधन 1 अप्रैल, 2015 से प्रभावी हो गए हैं। इस तरह से देखें तो सरकार भारत को स्वच्छ रखने, शहरों और हमारे परिवेश को बेहतर रखने के पक्के इरादे के साथ बढ़ती हुई लग रही है। साथ ही सरकार कुछ सेवाओं पर एक से दो प्रतिशत शेष पर भी विचार कर रही हैं ताकि स्वच्छता अभियान के लिए एक बड़ा कोष एकत्र हो पाए।

केन्द्रीय शहरी विकास मंत्रालय ने स्वच्छ भारत मिशन के क्रियान्वयन का मूल्यांकन तीन अप्रैल, 2015 को जारी किया। इसके अनुसार वर्ष 2014–15 के दौरान गुजरात स्वच्छ भारत मिशन को लागू करने में देश के सभी राज्यों एवं केन्द्र शासित प्रदेशों में सबसे आगे रहा। स्वच्छ भारत मिशन के तहत वर्ष 2014–15 में कुल 270069 घरों में बने शौचालयों में से 60 प्रतिशत यानी 165376 शौचालय अकेले गुजरात में बने। दूसरे स्थान पर मध्य प्रदेश रहा जहॉ 4697 शौचालयों का निर्माण हुआ जबकि तीसरे स्थान पर कर्नाटक रहा।

ठोस कचरा प्रबन्धन को भी प्रोत्साहित करने में गुजरात अन्य राज्यों की तुलना में आगे रहा। इसने राज्य के 195 में से 120 शहरों की नगरपालिकाओं के ठोस कचरे का संग्रह करके उसे निपटान स्थल पर पहुँचाने में 100 प्रतिशत सफलता हासिल की। इसके बाद ओडिशा के 107 शहरों और कर्नाटक के 47 शहरों में यह काम हुआ। कुल 4041 वैधानिक शहरों में से 328 में ही नगरपालिकाओं के कचरे का 100 प्रतिशत संग्रह हुआ और उसे निपटान स्थल तक ले जाया गया।

पाँच वर्ष के स्वच्छता मिशन के तहत 62009 करोड़ रूपये खर्च करने का प्रावधान किया गया है। इसके तहत घरों में 1.04 करोड़ शौचालयों, 2.51 लाख सामुदायिक शौचालय सीटों और 2.55 लाख सार्वजनिक शौचालय सीटों का निर्माण किया जाना है। इसके तहत 37 करोड़ शहरी लोगों को ठोस कचरा प्रबन्धन में सहायता दी जाएगी।

अभियान का उद्देश्य पाँच वर्षों में भारत को खुले में शौच से मुक्त देश बनाना है। अभियान के तहत देश में लगभग 11 करोड़ 11 लाख शौचालयों के निर्माण के लिए एक लाख चौंतीस हजार करोड़ रूपये खर्च किए जाएंगे। बड़े पैमाने पर प्रौद्योगिकी का उपयोग कर ग्रामीण भारत में कचरे का इस्तेमाल उसे पूंजी का रूप देते हुए जैव उर्वरक और ऊर्जा के विभिन्न रूपों में परिवर्तित करने के लिए किया जाएगा। अभियान को युद्ध स्तर पर प्रारम्भ कर ग्रामीण आबादी और स्कूल शिक्षकों और छात्रों के बड़े वर्गों के अलावा प्रत्येक स्तर पर इस प्रयास में देश भर की ग्रामीण पंचायत, पंचायत समिति और जिला परिषद को भी इससे जोड़ना है।

बदलाव कुछ हद तक दिखने लगा है। रेलवे स्टेशन से लेकर सरकारी संस्थानों और सार्वजनिक स्थानों पर ये दिखाई देता है। रेलवे प्लेटफार्म न केवल ज्यादा साफ सुथरे हुए हैं बल्कि लम्बी दूरी की ट्रेनों में साफ–सफाई पर खास ध्यान दिया जाने लगा है। इसके लिए एक मोबाइल सेवा भी शुरू की गई है। रेलवे में इसके लिए नया विभाग भी स्थापित किया जाएगा, जो स्टेशनों और गाड़ियों की सफाई के लिए एकीकृत सफाई विभाग के रूप में काम करेगा, जिसमें प्रोफेशनल एजेंसियों की सेवाएं ली जाएगी और कर्मचारियों को साफ–सफाई का नवीनतम पद्धति से प्रशिक्षण दिया जाएगा। इसी के मद्देनजर रेलवे अपने 650 स्टेशनों पर शौचालय बनवाने जा रहा है। अब तक स्टेशनों पर 17387 जैव शौचालय लगाए गए है।

राष्ट्रीय सूचना केन्द्र के साथ मिलकर पेयजल एवं स्वच्छता मंत्रालय ने एक मोबाइल आधारित एप्लीकेशन लांच किया है। इससे स्वच्छ भारत अभियान को मजबूती मिलेगी। फिलहाल यह सेवा केवल एंड्रायड धारकों को ही उपलब्ध है। इस सेवा का ऑफलाइन संस्करण भी मौजूद है। इस एप की मदद

से उपयोगकर्ता घरेलू शौचालय की तस्वीरें अपलोड कर सकते हैं। जीपीएस की मदद से उन्हें टेग भी कर सकते है। लाभार्थी का विवरण उसके अक्षांश और देशांतर के साथ एसबीएम सर्वर में सहेज कर रखा जा सकता है।

वाराणसी में तीन–चार दशक बाद लोगों ने महाशमशान तीर्थ यानी मणिकर्णिका घाट की अन्तिम सीढ़ियों तक साफ–सुथरा देखा। अब, जब स्वच्छता अभियान शुरू हुआ तो वाराणसी ने खुद को पीछे नहीं रखा। ये शहर प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी का संसदीय क्षेत्र भी है। यहां की सफाई को लेकर वह खुद व्यक्तिगत रूचि ले रहे हैं। उन्होंने इसके लिए सूरत के नौसाड़ी सांसद सीआर पाटिल को बतौर दूत बनारस भेजा है। चुपचाप सफाई की रणनीति बनी। दोनों जगहों पर कार्यकर्ताओं की तीन–चार सदस्यीय टीमें बनाकर सफाई व्यवस्था की निगरानी का जिम्मा सौंपा गया। 15 फरवरी को सफाई की शुरूआत हुई फिर कुछ दिनों के भीतर ही लोगों ने मणिकार्णिका घाट का कायाकल्प होते देखा। इस सफाई में केवल वाराणसी ही नहीं बल्कि यहां आने वाले विदेशी लोगों ने भी योगदान दिया।

तकनीक की तरक्की का प्रभाव हर जगह नजर आता है। जो स्वच्छता अभियान में भी दिख रहा है। अमृतसर में एक ऐसा साफ्टवेयर विकसित किया गया है जो कूड़ादान भर जाने ता तुरन्त सूचना एसएमएस के जरिए मोबाइल पर भेजता है। यहीं नहीं इसके जरिए कूड़ेदान के टूटने से लेकर चोरी होने तक की हर खबर भी एसएमएस से तुरन्त मिलेगी।

गंगा में प्रदूषण रोकने के लिए सरकार ने निर्मल गंगा सहभागिता कार्यक्रम के रूप में पहल की है। इसके तहत केन्द्र सरकार गंगा किनारे की 118 नगर पंचायतों, नगरपालिकाओं और नगर निगमों के साथ मिलकर कार्यक्रम चलाएगी। इस पहल की खास बात यह है कि इसके तहत बेरोजगार युवाओं को रोजगार देकर गंगा के किनारों पर गंदगी रोकने के काम में लगाया जाएगा।

निर्मल गंगा सहभागिता के तहत 118 स्थानीय निकाय घाटों के आस–पास साफ–सफाई सुनिश्चित करने व गंगा में गिरने वाले नालों पर नजर रखने का काम करेंगे। साथ ही गंगा के किनारे 500 मीटर क्षेत्र के बिल्कुल स्वच्छ रखा जाएगा और वहां किसी भी तरह का कूड़ा गिराने की इजाजत नहीं होगी। जल संसाधन मंत्रालय ने गंगा को स्वच्छ बनाने के लिए आस्ट्रेलिया के साथ जर्मनी, चीन, नेपाल और बांग्लादेश से सहयोग के लिए बातचीत की है। कई ने तकनीकी सहायता देने का भी वादा किया है।

साथ ही राष्ट्रीय गंगा नदी बेसिन प्राधिकरण की पहल पर गंगा को निर्मल बनाने के लिए गंगावाहिनी का भी गठन होगा। इसकी चार बटालियनें होंगी। हर बटालियन का नेतृत्व सैनिक अधिकारी करेंगे। हर बटालियन में 350 से 500 जवान होंगे। इसकी शुरूआत कानपुर, वाराणसी और इलाहाबाद में की जाएगी। इसमें पूर्व सैनिकों के साथ छात्र, मछुआरे, नाविक, आईटी पेशेवर, एनसीसी व स्काउट गाइड के कैडेट्स शामिल होंगे। इस निगरानी तंत्र के लिए 75 करोड़ रूपये खर्च होंगे।

यदि भारत के प्रत्येक घर में शौचालय हो जाता है और कूड़ा निपटारों की व्यवस्था सही ढंग से हो जाती है तो आधी बीमारियॉ स्वयं दूर हो जायेंगी। इसकी पहल सरकार के अतिरिक्त हम सभी लोगों को करने की आवश्यकता है। जिससे हम स्वच्छ भारत के द्वारा स्वस्थ भारत का निर्माण कर सकें।

I UnHk%

1. कुरूक्षेत्र मासिक पत्रिका जुलाई–2015 पृष्ठ 37
2. विज्ञान प्रगति, प्रकाशन विभाग सूचना और प्रसारण मन्त्रालय, पटियाला हाउस नई दिल्ली,जून 2016
3. डा0 बी0के0 राव एवं डॉ0 बी0पी0 राव, पर्यावरण एवं पारिस्थितिकी पृष्ठ–259
4. डॉ0 अनिरूद्ध प्रसाद एवं चन्द्रसेन प्रताप सिंह पर्यावरण एवं पर्यावरण संरक्षण विधि की रूपरेखा, सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन, पृष्ठ–36
5. विज्ञान प्रगति, प्रकाशन विभाग सूचना और प्रसारण मन्त्रालय, पटियाला हाउस नई दिल्ली, मई, 2015 पृष्ठ–17
6– आनन्द पार्थ सारथी, एनिमल एण्ड राइट्स, फ्रान्टलाइन पृष्ठ–51

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

mPp f'k{kk dk futhdj.k vkj ckt kjhdj.k n"ifj.kke d ifji{; e

MkO vuhrk jkuh dUukft ;k*

उच्च शिक्षा का उद्देश्य सदैव ही मानव जाति को उच्च से उच्चतर तथा उच्चतर से उच्चतम पथ की ओर अग्रसर करने का रहा है। शिक्षा वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय प्रगति के लिये ही नहीं बल्कि सभ्यता और संस्कृति के विकास के लिये भी अपरिहार्य है। विभिन्न कालों में इसके स्वरूप में परिवर्तन होता रहा है। शिक्षा सदैव से एक महत्वपूर्ण क्षेत्र रहा है।

शिक्षा किसी भी राष्ट्र की मेरूदण्ड होती है वह भूतकाल की उपलब्धियों तथा वर्तमान परिस्थितियों का संधिस्थल भी है, जिससे भविष्य की रूपरेखा तैयार होती है। शिक्षा के द्वारा ही मनुष्य और पशु में अन्तर समझाया जाता है। शिक्षा के आभाव में मानव विकास सम्भव नहीं है, शिक्षा अर्थात् सीखना मनुष्य के पैदा होने से जीवन पर्यन्त रहता है। शिक्षा की अव्यवस्था के कारण ही अधिकांश वातावरण प्रदूषित हो रहा है और यह इसलिए है क्योंकि आर्थिक असमानता हेतु आय ही जिम्मेदार होगी जो इस विरोध को जन्म देती है, जिसका जिम्मेदार खासोआम व्यक्ति है।

आज के भूमण्डलीकरण के दौर में शिक्षा का स्वरूप निरन्तर चिन्तनीय है। कम से कम शिक्षा का निजीकरण, शिक्षा के उस परम्परागत स्वरूप से कदापि मेल नहीं खाता, जिसमें सबके लिए सस्ती व सुलभ शिक्षा की बात की जाती है। निजीकरण के चलते शिक्षा न केवल काम आम आदमी की पहुंच से दूर हो गई है, वरन् इस प्रणाली में इसके आधार सतम्भ शिक्षकों का आर्थिक दोहन भी तीव्रता से हुआ है। आधुनिक शिक्षा में व्यवसायिक प्रतिस्पर्द्धा तथा भौतिक विकास के अंकुर विद्यमान है किन्तु मूल्य संरक्षित व संस्कारपरक शिक्षा का अभाव सा प्रतीत होता है, जिसमे सुधार अपेक्षित है। गुणात्मकता व मूल्यपरकता जैसे तत्व ही शिक्षा है... यथार्थ स्वरूप व वास्तविक लक्ष्य ही प्रमुख कसौटी है।

शिक्षा सिर्फ आजीविका कमाने का साधन नहीं है, बल्कि विचारों की पाठशाला है। यह आत्मजीवन की दीक्षा है, एक प्रशिक्षण है, जिसमें व्यक्ति सत्य का संधान कर सके। शिक्षा केवल वस्तुओं अथवा विभिन्न विषयों का ज्ञान मात्र नहीं है। यदि अर्थ को यहीं तक सीमित मान लिया जाये तो वह अज्ञान से कुछ ही अधिक हो सकता है। वर्तमान शिक्षा का चहुमुखी विकास हो रहा है। शिक्षा में तकनीकी सूचना, तकनीकी, विज्ञान की विविध शाखाओं के प्रवेश से नई क्रान्ति घटित हुई है।

उच्च शिक्षा आज विश्व आकर्षक का केन्द्र बिन्दु है। आज प्रत्येक व्यक्ति उच्चशिक्षा प्राप्त करना चाहता है। उच्च शिक्षा आज मात्र एक देश की संस्कृति, साहित्य, ज्ञान–विज्ञान और भाषा आदि के आदान–प्रदान का एकमात्र सशक्त साधन है जो हमें विश्व नागरिक बनाने की सहायता करता है। यदि हम उच्च शिक्षा की बात करते हैं तो जहां दुनिया नई शताब्दी के दरवाजे में प्रवेश कर अपना दूसरा कदम रख चुकी है वहीं भारतीय उच्च शिक्षा की अब तक की कहानी बढ़ते आंकड़ों एवं गिरते स्तर की अजब दास्तान है। भारत में उच्च शिक्षा की समस्या विकट है देश के नवनिर्माण में उच्चशिक्षा का दायित्व सर्वोपरि है।

शिक्षा एक व्यापक शब्द है जिसे किसी व्यवसाय विशेष की सीमाओं में बाधा नहीं जा सकता, शिक्षा के क्षेत्र में वर्तमान में जो प्रक्रियाएं और अवधारणायें तेज़ी से पनपी हैं उनमें शिक्षा निजीकरण, शिक्षा का बाजारीकरण शिक्षा का वाणिज्यीकरण आदि विशेष उल्लेखनीय है।

*असिस्टेन्ट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, राजकीय महिला स्नातकोत्तर, महाविद्यालय, रामपुर उ0प्र0।

आज के भूमण्डीयकरण के दौर में शिक्षा का स्वरूप निरन्तर चिन्तनीय है। निजीकरण के चलते शिक्षा न केवल आम आदमी की पहुंच से दूर हो गई है, बल्कि इस प्रणाली में इसके आधार पर शिक्षकों का आर्थिक दोहन भी हुआ है।

स्वामी विवेकानंद ने ठीक ही कहा है कि– ''मानव को अपने जीवन की इच्छाओं का संयो... होकर अवधारणाओं का प्रकट होना, जिससे मानवीयता का विकास हो, यहीं शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य है।'' इसी शिक्षा में सभी समस्याओं का समाधान है। प्राचीनकाल में शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति का चारित्रिक दृढ़ता प्रदान करने के साथ ही सामज को प्रगति के पथ पर लाना तथा समाज में दंड एवं पुरस्कार की व्यवस्था करके सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखना था।

आधुनिक शिक्षा में व्यवसायिक प्रतिस्पर्द्धा तथा भौतिक विकास के अंकुर तो विद्यमान हैं, किन्तु मूल्य संक्षिप्त व संस्कारपरक शिक्षा का अभाव सा प्रतीत होता है, जिसमें सुधार अपेक्षित है। उच्च शिक्षा में निजीकरण होने से विद्यालयों एवं महाविद्यालयों की गुणवत्ता के प्रति जागरूकता, दूरदर्शिता तथा आर्थिक एवं प्राद्योगिकीय स्थानीय–प्रान्तीय राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय स्तरों पर होने वाले तीव्रगामी आर्थिक व प्राद्यौगिकीय विकास के प्रति लोगों में जागरूकता आयी है। निजी उच्च शिक्षण संस्थायें नियमावली का अनुपालन छात्रों से फीस लेने में तो किया जाता है, किन्तु प्राध्यापकों की नियुक्ति उनके वेतन, प्रयोगशाला, वाचनालय आदि की व्यवस्था में नियमों का पालन नहीं किया जाता है। ऐसी स्थिति में उच्च शिक्षा की गुणवत्ता दिन–प्रतिदिन गिर रही है।

उच्च शिक्षा के निजीकरण से ऐसे लोगों का अनावश्यक हस्तक्षेप इस क्षेत्र में बढ़ा है, जिसके कारण सम्पूर्ण शिक्षा व्यवस्था अपने मूल उद्देश्य को प्राप्त करने से वंचित है। इन्दिरा गांधी ने कहा था, ''शिक्षा, मनुष्य को बन्धन से मुक्त कराती है और आज के युग में तो यह लौह तंत्र की भावना का आधार भी है।''[1]

वर्तमान व्यवस्था में शिक्षा विशेषकर उच्च शिक्षा भी वस्तु है जिसे लाभ के लिये प्रयुक्त किया जाता है इसीलिये शिक्षा का निवेश और उपभोग के संदर्भ में देखा जाता है। व्यक्तिगत संगठनों, औद्योगिक घरानों आदि ने भी शिक्षा दाताओं के रूप में अपने को उच्च शिक्षा से जोड़ लिया है। देश में उच्च शिक्षा का निजीकरण होने के बाद एक तरफ शिक्षा महंगी हो गई और दूसरी तरफ नये शिक्षा माफियाओं का जन्म हुआ है।

उच्च शिक्षा आज बहस का सबसे ज्वलंत मुद्दा है। योजना आयोग का कहना है कि विश्वविद्यालयों को केवल सरकारी अनुदान के भरोसे रहने के बजाये अपने पैरों पर खड़ा होने की कोशिश करनी चाहिए, अर्थात सार्वजनिक फंडिग के बजाये निजी फंडिंग। उच्चशिक्षा का निजीकरण होने से इसका दुष्परिणाम यह भी है कि गरीब और मध्यम वर्ग की पहुंच से बाहर हो जायेगी। इस पर अभिजात्य वर्ग का कब्जा हो जायेगा एवं इन परिसरों के दरवाजे प्रतिभाशाली निर्धन व मध्यमवर्गीय छात्रों के लिए हमेशा को बंद हो जायेंगे। सरकार उच्च शिक्षा को निजी क्षेत्र को सौंपकर अपनी जिम्मेदारी से बचना चाहती है। इस सरकारी नीति से उच्च शिक्षा का बहुत नुकसान होगा। सार्वजनिक क्षेत्र के विश्वविद्यालयों के मलबे पर निजी शैक्षणिक संस्थान कुकुरमुत्तों की तरह उग आए हैं, जिनका मकसद सिर्फ और सिर्फ मुनाफा कमाना है। विदेशी विश्वविद्यालयों के आने से स्थिति कोढ़ में खाज की तरह हो जायेगी क्योंकि मुनाफा कमाने के इरादे से आ रहे विदेशी संस्थान देशी शिक्षण संस्थानों के योग्य और अनुभवी अध्यापकों को मोटी पगार पर रख लेंगे, जिससे शिक्षकों की कमी का पहले ही सामना कर रहे देशी संस्थानों का स्तर और गिर जायेगा। ऐसे में वेतन और अन्य सुविधाओं में बढ़ोत्तरी के लिए उन्हें छात्रों की फीस भी बढ़ानी होगी, नतीजतन, उच्च शिक्षा गरीब और मध्यम वर्ग के छात्रों के लिए दूर की कौड़ी होगी। उच्च शिक्षा में नए फीस ढांचे का मामला सबसे ऊपर है। तब भारी जेबों वाले गिने–चुने लोग ही इसे खरीद सकेंगे।[2]

उच्चशिक्षा में लगे निजी क्षेत्र का उद्देश्य लाभ अधिक तभी को नीति को अपनाना है और समाज के गरीब लोगों एवं शिक्षा की गुणवत्ता पर ध्यान नहीं दिया जाता, बल्कि संख्यात्मक निष्पादन पर अधिक ध्यान केन्द्रित किया जाता है।

यह कहा जाता है कि निजीकरण में प्रतिस्पर्द्धा के चलते गुणवत्ता में सुधार होता है। उपभोक्ताओं को उच्च प्राद्योगिकी का लाभ कम दामों में मिलता है और विकास में प्रक्रिया तेज होती है। बेशक सरकारी महकमों में व्याप्त भ्रष्टाचार व लालफीताशाही पर अंकुश लगाया जाना चाहिए, लेकिन निजीकरण इसका समाधान नहीं है। निजी शिक्षण संस्थानों में धन कुबेरों के बच्चों को बीस–तीस लाख रूपये लेकर मेडिकल कॉलेजों में प्रवेश मिल रहा है। यहां न कोई गुणवत्ता है और न ही कोई प्रतिस्पर्द्धा। यहां योग्यता नहीं, पैसा ही सबकुछ है। ये निजी शिक्षण संस्थान, अंततः कमाई का ज़रिया बन चुके हैं। इनमें आधारभूत सुविधाओं से लेकर योग्य शिक्षकों तक का आभाव है। निजीकरण कुलीनता का हित पोषक है। कुल मिलाकर यह निजीकरण लूट व भ्रष्टाचार को कानूनी जामा पहना रहा है। शिक्षा अब मिशन नहीं बलिक व्यवसाय बन गई है। बड़े–बड़े पूंजीपति राजनीतिज्ञ और नौकरशाह शिक्षा के व्यवसायीकरण में कूद पड़े हैं। उच्च शिक्षा की कीमतें निरंतर बढ़ रही हैं तथा शिक्षा के वास्तविक मूल्य के वास्तविक मूल्य रसातल को जा रहे हैं। उच्च शिक्षा के गिरते स्तर पर विश्व बैंक ने एक ताज़ा सर्वेक्षण में कहा है कि भारत में हर साल एक करोड़ से ज़्यादा युवा ग्रेजुएट की डिग्री हासिल करते हैं, लेकिन उनमें से 90 फीसदी नौकरी के लायक नहीं होते हैं। एक ओर बेरोज़गारी की लंबी कतारें हैं तो दूसरी ओर कम्पनियों को योग्य कर्मचारी नहीं मिल रहे हैं, आज़ादी के कई वर्षों बाद भी हम अपनी जरूरतों के अनुसार श्रम शक्ति तैयर करने में असफल हो रहे हैं। इसका मुख्य कारण उच्च शिक्षा पर लगातार घटता सरकारी खर्च, पुराने पाठयक्रम, रिक्त पद और शिक्षकों का अभाव व घटिया स्तर के निजी संस्थान हैं। इससे भी पहले जरूरी है विश्व विद्यालयों के पाठ्क्रम में बदलाव ताकि वे उद्योग की जरूरतों के अनुसार व्यवसायिक शिक्षण दे सकें।[3]

उच्च शिक्षा के क्षेत्र में यदि हम बाते करें तो यह तथ्य सामने आता है कि आज उच्च शिक्षा का अंतर्राष्ट्रीयकरण हो गया है। बढ़ते हुए नेटवर्क ने आज विद्यार्थी के समक्ष माध्यमिक शिक्षा के बाद बहुत से पाठ्यक्रम रख दिये है जिन्हें वह अपनी मर्ज़ी से अपने भविष्य एवं रूचि के अनुरूप चुन सकता है। आज विद्यार्थी आनलाईन अपने पाठ्यक्रम चुन सकता है तथा उन्हें कहीं भी पूरा कर सकता है। नई तकनीकों ने अध्यापन का तरीका बदल दिया है। स्तरीय पाठ्यक्रमों में व्याख्यान इंटनेट के माध्यम से सुने जा सकते हैं और आज कक्षाओं का उपयोग आपसी बहस और छोटी–छोटी संगोष्ठियों के लिए होने लगा है। नेटवर्क का जाल इतना फैल चुका है कि हर छोटे से छोटा डाटा भी इंटरनेट पर मिल जाता है और विद्यार्थी तथा विशेषज्ञ भी इन डाटा का उपयोग अपनी नई खोजो में करते हैं।[4]

दूसरी परिकल्पना में उच्च शिक्षा मूल रूप में जनता के द्वारा दिये जाने वाले पैसे पर निर्भर है। उच्च शिक्षण संस्थान यद्यपि स्वतंत्र रूप से कार्य कर रहे हैं फिर भी उनके बजट का बहुत सा भाग जनता द्वारा दिये जाने वाले पैसे पर निर्भर है। बार–बार ट्यूशन फीस बढ़ा कर, अपनी खोजों का पेटेन्ट करा कर तथा उद्योग समूहों से समझौते कर उच्च शिक्षण संस्थाओं ने अपने लिए धन की व्यवस्था की है।

अधिकांश विश्वविद्यालयों के अपने निजी संसाधन हैं जैसे विद्यार्थियों की ट्यूशन फीस तथा व्यापारिक और निजी संस्थानों से प्राप्त वित्तीय सहायता। छात्र और उसका परिवार अपने अध्ययन हेतु एक बड़ी निश्चित धनराशि खर्च करता है। इसके लिए विभिन्न शिक्षा ऋण भी उपलब्ध कराये जा रहे हैं।[5]

भारत के विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों में छात्रों के समग्र विकास के लिए विविध पाठ्यक्रम चल रहे हैं। प्रयास यही है कि इन पाठयक्रमों से छात्र–छात्रायें लाभान्वित हों किन्तु इस दृष्टि से इच्छित सफलता नहीं मिल पा रही है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का प्रयास है कि भारत के सभी विश्वविद्यालयों में समान पाठ्यक्रम प्रारम्भ किये जाएं किन्तु वह भी सफलता की सीढ़ी नहीं चढ़ पा रहा हैं। केन्द्र सरकार का मानव संसाधन मंत्रालय, उच्चशिक्षा में सार्थक बदलाव की बातें निरन्तर करता आ रहा है किन्तु वह भी अपने प्रयासों में किसी सीमा तक सफल नहीं हो रहा है। सार्थक परिवर्तन के लिए केन्द्र व राज्यों में तालमेल नहीं बन पा रहा है। राजनीतिक परिधियां परस्पर विचार–विमर्श एवं निर्णय तक पहुंचने का अवसर प्रदान नहीं करने दे रही।[6]

उच्च शिक्षा का मार्ग अब स्पष्ट रूप से व्यवसायीकरण की ओर उन्मुख हो रहा है। अधिकांश प्रदेशों के शासन तंत्र अपनी असमथताओं के कारण नए कोर्सों तथा महाविद्यालयों के खोलने की स्वीकृति

केवल स्ववित्त पोषित योजना के अन्तर्गत ही प्रदान कर रहे हैं। ऐसे मान्यता प्राप्त संस्थान शिक्षा की गुणवत्ता की ओर भी ध्यान दे रहे होंगे। किन्तु उनकी संख्या नगण्य ही है। आज सभी के सामने चिन्ता का विषय है कि शिक्षा में गुणवत्ता न होने से उच्च शिक्षा का स्तर निरन्तर नीचे की ओर खिसक रहा है। यदि समय रहते इस ओर ध्यान नहीं दिया गया तो निश्चित ही उच्च शिक्षा में शून्य ही दिखाई देगा। जहां सर्व–शिक्षा के लिए महाविद्यालयों का खोला जाना आवश्यक प्रतीत हो रहा है वहीं की गुणवत्ता के लिए भी आवश्यक दिशा निर्देश लागू कराना नितान्त आवश्यक हो गया है।[7]

अन्त में उपर्युक्त आधार पर यह कहा जा सकता है कि उच्च शिक्षा में बढ़ता निजीकरण देश के हित में हो सकता है, किन्तु देश की जनता का इसके द्वारा शोषण हो रहा है तथा इसके साथ ही उच्च शिक्षा की गुणवत्ता में ह्रास राष्ट्र के भविष्य को भी प्रभावित कर सकता है। उच्च शिक्षा का महत्व और मांग जिस रफ्तार से बढ़ रहा है, उसी रफ्तार से शैक्षिक स्तर भी प्रभावित हो रहा है। सरकारी नियंत्रण और राजनैतिक दबाव, शिक्षा के परिणाम स्वरूप उच्च शिक्षा अपने दोक्षित.... लक्ष्य की ओर अग्रसर नहीं हो पा रही है।

ज्ञान के विस्तार तथा बढ़ती जनसंख्या के मध्य असंतुलन पैदा हो रहा है। आज आवश्यकता है कि उच्च शिक्षा के विकास के मार्ग में अवरोध उत्पन्न करने वाली समस्याओं के समाधान हेतु कुछ कठोर कदम उठाये जाये। राष्ट्र और जनता के कल्याण हेतु आवश्यक है कि विश्वविद्यालय अपने दायित्व का समुचित निर्वाह करते रहें तथा साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि उच्च शिक्षा का व्यवसायीकरण किसी भी विकासशील राष्ट्र के लिए अभिशाप है, क्योंकि इससे निजीकरण को बढ़ावा मिला है, जिसमें उच्च शिक्षा की गुणवत्ता को प्रभावित किया है तथा बेरोजगारी की संख्या में वृद्धि हुई है। बदलते परिवेश में उच्च शिक्षा को सामयिक बनाने हेतु उसकी पुनर्समीक्षा अनिवार्य है।

lanHkh %

1. अग्रवाल ओ.पी., अवध नवीन हिन्दी निबन्ध, पृ0 76, 77
2. भटनागर सुरेश (1979–80) आधुनिक भारतीय शिक्षा और उसकी समस्यायें, लायल बुक डिपो, मेरठ।
3. वही, पृ0 94–95
4. विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग, शिक्षा मंत्रालय, नई दिल्ली, 1949
5. वही, पृ0 64
6. इण्डिया टूडे, दिसम्बर 2010
7. प्रतियोगिता दर्पण मई 2008
8. समाचार पत्र।

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

Xykcy xko d nork vkj lÙkk foe'k

MkO t; idk'k iVy*
vUt flg iVy**

पृथ्वी पर अनेक जीव–जन्तु एवं पेड़–पौधे हैं। इनमें मनुष्य सर्वाधिक बुद्धिमान प्राणी है। वह अपनी बुद्धि के सहारे समस्त जीव–जन्तु एवं पेड़–पौधों का उपभोग करता है, सभी पर प्रभाव स्थापित किया है। इतने पर भी मनुष्य में प्रभाव की इच्छाएँ समाप्त नहीं हुई हैं। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य पर प्रभाव स्थापित करने के लिए हमेशा तत्पर रहता है। यह प्रभाव सत्ता का परिचायक है। सत्ता के सन्दर्भ में विष्णु प्रभाकर ने लिखा है– ''सत्ता की प्रकृति आक्रमणशील और आधिपत्य जमाने वाली है। सत्ता स्थायी भी नहीं होती। निरन्तर परिवर्तित और स्थानान्तरित होती रहती है। ऐसी स्थिति में उससे जुड़ी व्यवस्था अवसरवादी और क्रय–विक्रय की राजनीति तथा नाना रूप शोषण करने की प्रकृति का शिकार हो जाती है।''[1] यहाँ कहा जा सकता है कि सत्ता वह अधिकार या शक्ति है, जिससे बढ़कर कोई और शक्ति या अधिकार न हो अर्थात् सामान्य जनमानस पर अपना प्रभाव थोपना सत्ता कहा जा सकता है। समाज की सत्तात्मक प्रवृत्ति जानने के लिए संचार, गोष्ठी, साहित्य आदि में से किसी न किसी का सहारा लेना पड़ता है। इनमें साहित्य को विशेष स्थान प्राप्त है। वह स्थायी एवं प्रामाणिक होता है। हमारे हिन्दी साहित्य के विविध विधाओं में सत्तात्मक प्रवृत्ति का विस्तृत वर्णन है। इनमें उपन्यास विधा सर्वाधिक प्रशंसनीय है। हिन्दी उपन्यासकारों ने सत्ता के सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों पक्षों का चित्रण किया है। इन उपन्यासकारों में रणेन्द्र का नाम आदर से लिया जाता है। रणेन्द्र का उपन्यास ग्लोबल गाँव के देवता पूर्णतः सत्ता केन्द्रित है। इस उपन्यास में राजनीतिक एवं आर्थिक पहलुओं पर विशेष ध्यान रखा गया है। लेखक रणेन्द्र ने खनन क्षेत्र में हो रहे भ्रष्टाचार को उजागर करने का प्रयास किया है। यह आर्थिक सत्ता की ओर इंगित करता है।

उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' में एक ओर खनिज सम्पदा से फल–फूल रही ऐश्वर्य युक्त एवं भोगमय प्रवृत्ति के लोग हैं तो दूसरी ओर मूल निवासियों की नारकीय दुनिया है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ बॉक्साइड निकालकर भूमि को वैसे ही खुला छोड़ देती हैं ''छिटपुट जंगल; बाकी खाली दूर–दूर तक फैले उजाड़ बंजर से खेत। बीच–बीच में बॉक्साइड की खुली मैदानें। जहाँ से बॉक्साइड निकाले जा चुके थे वे गड्ढ़े भी मुँह बाये पड़े थे। मानो धरती माँ के चेहरे पर चेचक के बड़े–बड़े धब्बे हो।''[2] लेखक ने बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के वादा खिलाफी का वर्णन किया है। ये कम्पनियाँ सौदा करते समय पर्यावरण एवं मूल निवासियों के पूर्ण सुरक्षा की गारण्टी लेती हैं परन्तु बहुमूल्य रत्न निकालते ही स्वयं को दूर कर लेती हैं। ''अब एग्रीमेंट की पहली शर्त है कि बॉक्साइड निकालकर गड्ढ़ा भरना है, तो बीसों साल से क्यों नहीं हो रहा यह काम? हमें तो लगता है कि जानबूझकर सरकार भी मटिया रही है। चाहती है, पाट पर आबादी जितना खत्म हो बॉक्साइड निकालने में उतनी ही आसानी होगी।''[3]

रणेन्द्र ने ग्लोबल गाँव के देवता उपन्यास झारखण्ड के कोयला बीघा क्षेत्र के भौंरापाट को केन्द्र में रखकर लिखा है। यहाँ के मूल निवासियों को असुर की संज्ञा दी है। असुर का अभिप्राय राक्षस से न होकर जनजातीय समुदाय से है। लेखक ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि असुर को शैतानी प्रवृत्तियों से जोड़ना गलत है। असुर बलवान पुरुष होता है। इन बलवान लोगों पर धोखे से सत्ता स्थापित की जा

*इलाहाबाद, उ0प्र0
**शोध छात्रा–हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

सकती है। असुर परिश्रमी एवं ईमानदार होते हैं। उन्हें धोखा देकर सरकार एवं कम्पनियाँ उनकी जमीन का बहुमूल्य रत्न निकाल रही है। ''छोटे–छोटे सभी खदान मालिकों का एक ही रवैया। लीज की भूमि पर कम, वन विभाग, गैर मजरूआ जमीन, असुर रैयत की जमीन से ज्यादा खनन किया करते। अवैध खनन खुलेआम वर्षों से जारी था। रूमझुम और बलवान दा का घूम घूमकर समझाना काम नहीं आता और न कलेक्टर–एस0पी0 को आवेदन लिखना।''[4]

लेखक ने उपन्यास में असुर संस्कृति को नष्ट होते दिखाया है। राजनीतिक एवं प्रशासनिक व्यक्ति अपराधियों से मिलकर ग्रामीण सभ्यता को नष्ट कर रहे हैं। उपन्यास ग्लोबल गाँव के देवता का कथा–नायक अर्थात् कहानी का वक्ता मास्टर की दुर्गम पहाड़ी एवं जंगलों के बीच अध्यापक की नियुक्ति होती है। नियुक्ति पूर्व ही स्थानान्तरण चाहता है। इसके लिए वह क्षेत्रीय विधायक से मिलता है अर्थात् लेखक ने उपन्यास की शुरूआत राजनीति से ही करता है। उपन्यास में ग्रामीण बैंक, सरकारी स्वास्थ्य केन्द्र, प्रखण्ड विकास कार्यालय के भ्रष्टाचार का वर्णन है। इससे अत्यधिक धन एकत्रित करने का भाव दिखाया गया है। उपन्यासकार ने एक ओर भ्रष्टाचार के सहारे भोगवादी संस्कृति का वर्णन किया है तो दूसरी तरफ गरीबी एवं भुखमरी का चित्रण करने में कंजूसी नहीं बरती है। अधिकांश ऐसे परिवारों का वर्णन किया है कि उनके खेतों में साल भर भोजन के लिए अन्न नहीं होता है। वे जंगलों पर आश्रित रहते थे। ''इस इलाके के लगभग सभी गाँवों में ऐसे साल भर अनाज उगा पाने वाले दो–चार परिवार होते। अधिकांश परिवारों के पास इतनी जमीन होती ही नहीं कि साल भर खाने के लिए मक्का भी मिल सके। जिस घर में मजूरी खटने वाले हाथ रहते वे तो खान–खदान में खटकर पेट पाल लेते, किन्तु जिन घरों में खटने लायक समाँग नहीं होता उस घर का पेट तो जंगल ही पालता''[5] रणेन्द्र ने कोयल बीघा क्षेत्र के भौंरापाट की मूल निवासियों के संस्कृति की तुलना अन्य देशों की संस्कृतियों से की है। उपन्यास में रेड इण्डियन जातियों के संघर्ष का भी दस्तावेज है। वहाँ की प्राचीन संस्कृति की तुलना असुर संस्कृति से किया है।

ग्लोबल गाँव के देवता में दो संस्कृतियों का सीधा टकराव है। उपभोगवादी संस्कृति परम्परावादी संस्कृति पर प्रभाव स्थापित कर रही है। उपभोगवादी संस्कृति के पास अत्याधुनिक तकनीक थी, जिसके सहारे वे परम्परावादी संस्कृति को पराजित कर देते हैं। ''चाहे विजयी जाति कोई हो, पराजित के प्रति एक ही भाव रखती है, वह है घृणा। युद्ध में विजय उसे मिलती है जो ज्यादा हिंसक, ज्यादा बर्बर और ज्यादा कुशल–प्रशिक्षित हत्यारा होता है।''[6] यहाँ लेखक सफलता को सर्वोच्च दिखाता है। सफलता का मार्ग चाहे हिंसक ही क्यों न हो। इतिहास गवाह है कि जब दो जातियों में संघर्ष होता है तो विजयी जाति के सम्बन्ध में अच्छा लिखा जाता है। उसकी सफलता का गुणगान किया जाता है। परन्तु निष्पक्ष साहित्यकार पराजित जातियों के प्रति भी प्रेम एवं वेदना का भाव रखता है। उपन्यास ग्लोबल गाँव के देवता में भी रणेन्द्र ने कमजोर एवं पराजित जाति अर्थात् मूल निवासियों के प्रति आत्मीय भाव रखते हुए सही चित्रण किया है। भौंरापाट की मूल निवासी ईमानदारी एवं कर्मठता से अपने अस्तित्व को बचाए रखने के लिए संघर्ष करते हैं। यह संघर्ष व्यक्तिगत न होकर सामूहिक होता है। असुर संस्कृति के पास अत्याधुनिक हथियार नहीं है। इस कारण संगठित होना उनकी मजबूरी है। पराजित जातियों के समूहपरक संघर्ष के सम्बन्ध में डॉ0 पुरूषोत्तम सत्यप्रेमी ने लिखा है– ''आज का सजग एवं सचेत मनुष्य जब दासता की मनोवृत्ति से उबरने के लिए पाखण्ड को उखाड़ने के लिए, सामाजिक अन्याय और आतातायी स्थिति के विरूद्ध लड़ने के लिए प्रयत्नशील होता है और अपने सामाजिक सम्मान, बन्धुता एवं समानता के अधिकारों के प्रति सजग–सचेत रहकर संघर्षरत होता है। तब उसका यह संघर्ष व्यक्ति विशेष का संघर्ष न होकर समूह विशेष का संघर्ष हो जाता है।''[7] इसी सामूहिक संघर्ष को नया रूप दिया गया है। उपन्यास में खनन क्षेत्र की छोटी–छोटी विभिन्न जातियों को एकत्रित किया गया है। ''लड़ाई अकेले जीती नहीं जा सकती। यह केवल लालचन के चाचा के पाँच एकड़ का सवाल नहीं है, इस सवाल को अन्य सवालों से जोड़ना होगा। पाट पर जो रोज तमाशा हो रहा है। अवैध खनन के लिए पाँच–दस असुरों को रोज फुसलाया जाता है। हर उपाय से उनकी जमीन हथियायी जाती है। बॉक्साइड निकाल–निकालकर मौत की खाइयाँ छोड़ी जा रही है। इन सब सवालों को जोड़िये, तभी असुरों के साथ उराँव, खेखार, सदान सब आपकी लड़ाई में जुटेगें।''[8] उपन्यास में कई छोटी जातियाँ मिलकर नवसृजित धनाढ्य वर्ग से संघर्ष करती हैं। यह नव धनाढ्यवर्ग स्वयं के लाभ के लिए असुरों की मूलभूत आवश्यकता पर भी ध्यान नहीं देते हैं। असुरों को संस्कृतिविहीन, भाषाविहीन, साहित्यविहीन एवं धर्मविहीन सिद्ध करते हैं। असुरों के साथ पशुवत व्यवहार करते हैं। नवधनाढ्य वर्ग स्वयं फूल

एवं पार्कों से लदी हरी–भरी खूबसूरत कॉलोनी में रहते हैं। उनके विद्यालय में आधुनिक तकनीक से शिक्षण कार्य होता है। नवधनाढ्य वर्ग के लिए अलग बाजार, क्लब घर, पुस्तकालय, योग केन्द्र, खेल का मैदान आदि था। नवधनाढ्य वर्ग के रहन–सहन देखकर ही असुर संस्कृति के लोग डरते थे। उपन्यासकार ने पाठकों को सोचने के लिए मजबूर किया कि धनाढ्यवर्ग के पास असीमित धन कहाँ से आया? वे खनन क्षेत्र के मूल निवासियों के अधिकारों का हनन किया। भौंरापाट क्षेत्र की खनिज सम्पदा पर वहाँ के मूल निवासियों का अधिकार था। यह सम्पत्ति असुरों की प्रगति के लिए प्रयोग की जानी थी। इससे असुरों के सामाजिक, शैक्षिक, आर्थिक विकास के लिए कार्य होना था। नवधनाढ्य वर्ग खनन क्षेत्र में सरकार एवं प्रशासन के साथ मिलकर खनिजों पर अवैध कब्जा किया। राजनेताओं एवं प्रशासनिक अधिकारियों को उपभोग के लिए धन एवं लड़की पेश किया जाता था। ''रखनियों की जवान बेटियों का भी भरपूर इस्तेमाल करता। किसको थाना के बड़ा बाबू से सटाना है, किसको बी0डी0ओ0 साहब के लिए बचाना है और कौन विधायक के नाइट हाल्ट में गोड़ दबाएगी? सबका हिसाब–किताब बुढ़वा रखता।''[9] यहाँ लेखक असुर स्त्रियों के शोषण को दिखाया है। नवधनाढ्य वर्ग अपने प्रभाव बढ़ाने एवं भोग विलास के लिए मानवीय एवं भौतिक सभी का उपयोग करना चाहता है।

रणेन्द्र ने समाज के नव सामन्त वर्ग के शोषण को सामने रखा है। ''सामन्त वर्ग वह पूँजीपति वर्ग होता है जो श्रमिक और कृषक से धन वसूलकर शासक वर्ग तक पहुँचाता है।''[10] नव सामन्त प्रशासनिक एवं राजनैतिक रूप से सामने आ रहा है। भ्रष्टाचार ऐसे वर्ग को बढ़ने का पूरा अवसर दे रहा है। उपन्यासकार ने ऐसे नए वर्ग को खनिज सम्पदा का शोषक बताया है। रणेन्द्र ऐसे पूँजीपति की अपेक्षा मजदूरों एवं किसानों की सहायता की बात करते हैं। उनका उपन्यास ग्लोबल गाँव के देवता नवधनाढ्य वर्ग के विरूद्ध है। साधारण जन एवं मूल निवासियों को अपना अधिकार मिलना चाहिए। पूँजीपतियों के विरूद्ध 27 फरवरी 1933 ई0 को जागरण में प्रेमचन्द ने लिखा था– ''जब तक सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार रहेगा तब तक मानव समाज का उद्धार नहीं हो सकता। मजदूरों के काम घटाइए, बेकारों को गुजारा दीजिए, जमीदारों और पूँजीपतियों के अधिकारों को घटाइए, मजदूरों एवं किसानों के स्वत्वों को बढ़ाइए, सिक्के का मूल्य घटाइए।''[11]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि हिन्दी उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' खनन क्षेत्र को केन्द्र में रखकर लिखा है। उपन्यासकार ने भारत की खनिज सम्पदा पर कुछ सीमित व्यक्तियों के अवैध अधिकार का वर्णन किया है। वे खनिज सम्पदा का उपयोग स्वयं के सुख–सुविधाओं की वृद्धि में लगाते हैं। खनिज सम्पदा को निकालने में अनियमितता होती है। इस अनियमितता के जिम्मेदार सरकार एवं प्रशासन भी है। इन्हीं की मिलीभगत से खनन क्षेत्र की दुर्गति होती है। जमीन की खुदाई करके खाली छोड़ दी जाती है। खनन में निकले बहुरत्न लेकर कचड़ा उपजाऊ जमीन पर फेंक दिया जाता है। इससे खनन सम्पदा के साथ–साथ कृषि का भी नुकसान होता है। रणेन्द्र ने नवधनाढ्य वर्ग का चित्रण किया है। यह नवधनाढ्य वर्ग खनन क्षेत्र के निवासियों का उपयोग करता है। उनके शारीरिक श्रम, स्त्री, सम्पदा आदि से स्वयं के लिए भौतिक सुख–सविधाओं को एकत्रित करता है। उपन्यास में मूल निवासियों को असुर नाम दिया गया है। असुर का तात्पर्य बलवान पुरुष है। इन्हीं बलवान जातियों पर नवधनाढ्य भ्रष्टाचार के सहारे सत्ता स्थापित किया है।

lUnHkZ %

1. विष्णु प्रभाकर– ''संस्कृति क्या है?'' सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली (2007), पृ0 84
2. रणेन्द्र– 'ग्लोबल गाँव के देवता', भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (2014), पृ0 09
3. वही, पृ0 14
4. वही, पृ0 27
5. वही, पृ0 24
6. वही, पृ0 42
7. डॉ0 मौहम्मद अबीरउद्दीन– 'दलित चेतना और भारतीय समाज', अंकित पब्लिकेशन्स, दिल्ली (2011), पृ0 145
8. रणेन्द्र– 'ग्लोबल गाँव के देवता' भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (2014), पृ0 48
9. वही, पृ0 36
10. डॉ0 मोहम्मद फिरोज खाँ– 'मुस्लिम मानस और हिन्दी उपन्यास' मंगल प्रकाशन, दिल्ली (2004), पृ0 39
11. चन्द्रबली सिंह– 'लोक दृष्टि और हिन्दी साहित्य', अरुणोदय प्रकाशन, दिल्ली (1992), पृ0 138

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

dchjnkl % o|pkfjdh vk|j lekt

vo/k'k d|ekj*

भारतीय आध्यात्मिक चिंतनधारा से ओत–प्रोत कबीरदास को चिरकाल तक भुलाया नहीं जा सकता है। मध्यकाल की पन्द्रहवीं शताब्दी से लेकर आज इक्कीसवीं शताब्दी तक कबीर जीवन्त हैं। समाज का कोई व्यक्ति जब–जब निराश हुआ है तो उस निराशा में उसे कबीर याद आते हैं। ''कबीर का सम्पूर्ण साहित्य मानव मूल्यों की व्याख्या करता है। कबीर के काव्य को पढ़ते समय यह बोध होता है कि भारतीय मुनि परम्परा में एक विलक्षण, मेधावी और जबरदस्त स्मृति के व्यक्ति में जो आध्यात्मिक अनुभव और मूल्य विषयक संस्कार सहज ही में ग्रहण किये हों, वे कबीर ने किये थे। कबीर ने किसी परम्परा का अनुसरण उस प्रकार नहीं किया जिस प्रकार अन्य कवियों ने। इस अर्थ में उनकी धर्म–साधना सामूहिक और परम्परा पुष्ट नहीं थी, स्वंयभूता थी।''[1]

कबीर आज भले ही समाज में नहीं हैं, लेकिन उनका कबीरत्व आज समाज में संविधान के रूप में विद्यमान है। कबीर के विचार हर युग में प्रासंगिक थे और चिरकाल तक आगे भी रहेंगे। कबीरदास का जन्म काशी में लहरतारा तालाब के पास ज्येष्ठ शुक्ल पूर्णिमा संवत् 1455 को स्वीकार किया जाता है। इस सम्बन्ध में कबीरपंथियों द्वारा कहा भी गया है कि–

^^pkfng lk ipiu lkyHk,] pæokj ,d BkBB,A
tB lnh cjlk;r dk ijueklh frFk çxVHk,AA
?ku xjt nkfefu nedcn cj"k >j ykx x,A
ygj rkykc e dey f[kyrg dchj Hkkuçd VHk,AA**[2]

इनके जन्म और कुल को लेकर विद्वानों द्वारा मतभेद है। सच कहा जाय तो कबीरदास मुसलमान होकर भी असल में मुसलमान नहीं थे, हिन्दू होकर भी हिन्दू नहीं थे, वे संत होकर भी संत नहीं थे एवं योगी होकर भी वे योगी नहीं थे। कबीरदास अनपढ़ थे, इनको अकादमिक ज्ञान नहीं था लेकिन लोकजीवन का यथार्थ ज्ञान उन्हें संतों सत्संग से मिला था। वे खुद कहते हैं कि 'मसिकागद छूयो नहीं, कलम गही नहिं हाथ।'

कबीरदास ने भारतीय आध्यात्म, धर्म, परम्पराओं और सामाजिक मान्यताओं का मंथन किया तथा अपने तार्किक ज्ञान एवं अनुभव के आधार पर भारतीय समाज के लोगों को रूढ़िगत परम्पराओं से निकालने का प्रयास करते रहे। इनकी सारी विचारधारा भारतीय आध्यात्म के सभी पक्षों को समेटे हुए है। जैसे– शंकराचार्य के अद्वैत मत, सिद्धों, नाथों की भक्ति परम्परा एवं सूफियों की प्रेम भावना आदि को अपनी वैचारिकी में समेटकर समाज को निर्गुण ब्रह्म (राम) के रूप को प्रस्तुत किये हैं। कबीर के राम, अयोध या के राजा के दशरथ के पुत्र अर्थात दाशरथी राम नहीं हैं। इसकी पुष्टि वे खुद इस दोहे में करते हैं कि 'दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना। राम नाम का मरम है आना।।' कबीर के राम निर्गुण–निराकार परब्रह्म हैं, जो समस्त जगत में विद्यमान हैं। उन्होंने ने कहा है कि–

^^fujx.k jke tigj Hkkbvfcxfr dh xfr y[kh u tkbAA
pkfj on tkdl|e'r ijkuk uk0;kdjuk ejeu tkukAA^^[3]

कबीरदास हंस की भाँति दूध में से पानी को अलग कर लेते थे अर्थात सभी धर्मों, सम्प्रदायों से अच्छे गुणों को निकालकर एक नवीन विचारधारा का जन्म देते हैं। इनके विचारों में भावात्मक रहस्यवाद

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, डॉ0 हरीसिंह गौर केन्द्रीय विश्वविद्यालय, सागर, म0प्र0

की झलक मिलती है, जो सूफियों के सत्संग से मिली थी। ये परमात्मा को स्वामी के रूप में मानते थे। कबीरदास ने ''भारतीय बह्मवाद के साथ सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद, हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद और वैष्णवों के अहिंसावाद तथा प्रपत्तिवाद का मेल करके अपना पंथ खड़ा किया।''[4] उनके विचारों में ये सभी अवयव स्पष्ट रूप से दिखायी देते हैं। कबीरदास का आविर्भाव जिस युग में हुआ, वह घोर राजनीतिक उथल–पुथल तथा संक्रमणकालीन समय था। इस काल में विदेशी धर्म और भारतीय धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों की बाढ़–सी आ गयी थी। सभी धर्मावलम्बी अपने–अपने धर्म को श्रेष्ठ और दूसरों के धर्म को नीचा बता रहे थे। समाज में चारों ओर धर्म, सम्प्रदाय एवं जाति का संघर्ष चल रहा था। लम्बे अरसे के बाद भी आज भारत की वही स्थिति है, जो मध्यकाल में कबीर के समय में थी। उनके समय में आज तक लेकर भारतीय समाज में कोई खास परिवर्तन दिखायी नहीं पड़ता है। जो समस्याएँ तब थी, उससे थोड़ी–सी हटकर और एक नये रूप में धर्म की लड़ाई छिड़ी हुई है। कबीर ने जिस लड़ाई की शुरूआत की थी, वह अभी खत्म नहीं हुई है। हालांकि समाज में इन्हीं सब चीजों को लेकर लोकतंत्र की हार और जीत का खेल खेला जा रहा है। आज कबीर समाज में नहीं हैं, लेकिन वैचारिकी समाज में आज भी जिन्दा और भविष्य में भी रहेगी।

कबीरदास ने आध्यात्मिक जागृति के साथ–साथ सामाजिक रूढियों और वर्जनाओं को तोड़कर सामाजिक समरसता की स्थापना में महत्वपूर्ण योगदान दिये। इनके अनुसार आत्मा, परमात्मा का अंश है, जिसकी परिणति एक दूसरे के मिलने में है। ब्रह्म ही जगत् में एक मात्र सत्ता है, इसके अतिरिक्त संसार में कुछ भी नहीं है। जो कुछ है वह ब्रह्म ही है। ब्रह्म से ही सबकी उत्पत्ति हुई है और फिर उसी में सब लीन हो जाते हैं। उन्होंने स्पष्ट किया कि सभी का जन्म एक ही तरह से होता है, चाहे वह ब्राह्मण हो या शूद्र, हिन्दू हो या मुसलमान सबका उद्‌गम स्थल एक ही है। सबकी उत्पत्ति एक ही परम तत्त्व से हुई है। अतः वर्ण–अवर्ण का विचार ही गलत है। इस सम्बन्ध में यह साखी अति प्रसिद्ध है। जैसे–

^^ikuh gh r| fge Hk;k] fge gkb x;k fcykbA
tk| d|N Fkk lkbi Hk;k] vc d|N dgk u tkbAA**[5]

कबीरदास के काव्य में जितनी प्रेमाभक्ति मिलती है, उतनी ही सामाजिकता भी दृष्टिगोचर होती है। हालाँकि हमें इस विवाद में नहीं पड़ना चाहिए कि कबीरदास कवि थे, भक्त थे या समाज सुधारक। वस्तुतः वे रूहानियत की उच्चावस्था को प्राप्त एक ऐसे संवेदनशील संत कवि थे, जो दूसरों की पीड़ा को न केवल पहचानते थे, अपितु स्वयं अनुभव भी करते थे। इसलिए भले ही उनकी वाणी किसी सामाजिक आंदोलन के लिए न हो, परन्तु वह मनुष्य व समाज के परिष्कार के लिए अवश्य थी। कबीरदास में एक गहरी संवेदनशीलता है, जिसका प्रयोग उन्होंने प्राकृत–जन्य के दुःखों को दूर करने के लिए भगवान बुद्ध की तरह समाज सेवा का आजीवन बीड़ा उठाया।

समाज में व्याप्त अंधविश्वास, पाखण्ड और रूढ़िवादी परम्पराओं को स्वीकार नहीं करते, बल्कि वैचारिक संवेदना के स्तर पर निर्भय होकर सत्य की स्थापना पर जोर देते थे। सामाजिक वर्ण–व्यवस्था, जाति–पाति, ऊँच–नीच एवं छुआछूत की कुत्सित व्यवस्था ने सदियों से भारतीय समाज को गर्त में ढकेलता गया, जिसके कारण इंसानियत के बीच भेदभाव की खाई अत्यधिक गहरी हुई है। कबीरदास ने अपने विचारों से समाज को इंसानियत का पाठ पढ़ाने का अनूठा प्रयास किया है। उनका मानना है कि जन्म से कोई ब्राह्मण और शूद्र नहीं होता अथवा हिन्दू या मुसलमान नहीं होता है। समाज में ये सारे विभाजन कृत्रिम हैं, जो कि मनुष्यों द्वारा बनाये गये हैं। ये वैज्ञानिक ढंग से तर्कपूर्वक इन बातों का खण्डन करते हुए जन्मजात भेदभाव को दूर करने का प्रयास करते हैं। जैसे–

^^tk| r| ckHku cHkuh tk;kA rk| vku ckV gk D;k| ufg| vk;kA
tk| r| r|jd r|jfduh tk;kA rk| Hkhrj [kruk D;k| u djk;kAA**[6]

मध्यकाल में अवतारवाद, मूर्तिपूजा, तीर्थाटन, छापा–तिलक आदि का बोलबाला था और वे इन सभी का घोर विरोध करते थे और कर्मकाण्ड को पाखंड के ही अंतर्गत मानते थे, क्योंकि परमात्मा की भक्ति का सम्बन्ध मन से है, मन की भक्ति तन को स्वयं ही अपने अनुकूल बना देगी। यह सर्वविदित है

कि उस समय समाज में मूर्तियाँ मन्दिरों में कैद थीं, जहाँ शूद्रों का प्रवेश नितान्त वर्जित था। ऐसी स्थिति में कबीर ने लोगों को मूर्ति–पूजा के भ्रमजाल से निकालकर स्पष्ट कहा कि पत्थर की मूर्ति पूजा से यदि भगवान मिलता है तो मैं पूरे पहाड़ को पूजना श्रेष्ठ समझता हूँ। मूर्ति से भली तो पत्थर की बनी वह चक्की है जिससे आटा पीसा जाता है और उससे संसार का भरण–पोषण होता है। कबीरदास कहते हैं कि पूजा–पाठ तो एक भ्रम है, ईश्वर की भक्ति तो मन की पवित्रता से की जाती है। उन्होंने कहा है कि ''जप तप पूजा अरचा जोतिग जग बौराना।''[7]

मानव जीवन में संतोष ही सुख का मूल कारण है। मानवीय इच्छाओं का एक दायरा होना चाहिए। इसकी अधिकता हमें दुख की ओर ले जाती है, यही जीवन की कड़वी सच्चाई है, जिसे नकारा नहीं जा सकता। इस सम्बन्ध में कहा भी गया है कि 'सॉईं इतना दीजिए, जामै कुटुम्ब समाय। मैं भी भूखा न रहूँ, साधु न भूखा जाय।' कबीरदास ने लोकजीवन के माध्यम से जीवन के अर्थ को समझाने का प्रयास किये हैं और कहते हैं कि यह संसार नश्वर है। यह संसार कागज की पुड़िया के समान है। इसमें मानव जीवन अधिक समय तक टिकने वाला नहीं है। हम लोगों को बस सतगुरू का ही एक सहारा है। जिसके मार्गदर्शन में मानव जीवन सार्थक हो सकता है। इस सम्बन्ध कबीरदास कहते हैं कि–

^^jguk ufg n:l fojkuk g'A
;g l:lkj dkxn dh ifM+;k] cn iM+ ?kyy tkuk g'A
;g l:lkj dkV dh ckMh] my>&iy> efj tkuk g'A
;g l:lkj >kM+ vk >k[kj] vkx yx cfj tkuk g'A
dgr dchj l:uk Hkkbl lk/kk] lrx: uke fBdkuk g'A**[8]

कबीरदास स्वतंत्र प्रकृति के मनुष्य थे तथा उच्चता और नीचता का सम्बन्ध उन्होंने व्यवसाय से नहीं जोड़ा। उनके अनुसार व्यवसाय कोई छोटा या बड़ा नहीं होता है और न कोई जाति बड़ी होती है और न छोटी। अपने पेशे को लेकर कभी भी संकोच नहीं किये और स्वयं जुलाहे का व्यवसाय करते रहे। वे उन ज्ञानियों में से नहीं थे, जो पेट भरने के लिए, समाज के ऊपर निर्भर रहते थे। वे परिश्रम का महत्व जानते थे और अपने जीवन–यापन करने के लिए खुद मेहनत करते थे। वास्तव में कबीर महान संत थे। ''वे जन्म से विद्रोही, प्रकृति से समाज–सुधारक, कारणों से प्रेरित हो कर धर्म–सुधारक, प्रगतिशील दार्शनिक और आवश्यकतानुसार कवि थे। उनके व्यक्तित्व का पूरा–पूरा प्रतिबिम्ब उनके साहित्य में विद्यमान है।''[9]

निष्कर्षतः कबीरदास का वैचारिक बोध वैज्ञानिक और प्रासंगिक है। समाज में उनके तर्कों को नजर अंदाज नहीं किया जा सकता है, क्योंकि कबीर एक व्यक्ति ही नहीं, अपितु एक विचारधारा भी है। इनकी विचारधारा से समाज में मानवीय मूल्यों की नवीन प्रतिष्ठा स्थापित हुई। ये धैर्य, सहिष्णुता, कर्मयोग, गुरु का सम्मान, प्रेम, मानवता, आत्मा की पवित्रता, दीन–दुखियों की सेवा, नैतिकता के पालन को मानवीय कर्तव्य माना। कबीरदास सच्चे अर्थों में कर्मयोगी थे और अन्य संतों की तरह घर पलायन न करके समाज के बीच में रहकर गृहस्थ के रूप में कर्मयोगी बनकर समाज को शिक्षित किया तथा अपने समय के क्रान्तिकारी प्रवक्ता थे। आडम्बरों, कुरीतियों, जड़ता, मूढ़ता एवं अंधविश्वासों का तर्कपूर्ण खण्डन किया। समाज में रूढ़िवादी परम्परा, आडम्बर और पाखण्ड को यथार्थ के धरातल पर खारिज किया। सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक बुराइयों पर चोट करके सांस्कृतिक पुनर्जागरण का पहला उद्घोष मध्यकाल में कबीरदास ने किया था और इस परम्परा को समय–समय पर अनेक लोगों ने नये रूप से धार देते गये। समाज में स्त्रियों के प्रति मानवीय समानता का निर्वहन करते हुए विधवा विवाह की प्रथा को चलाने वाले कबीरवादी परम्परा में राजामोहन राय ने महत्वपूर्ण कदम उठाया तथा अनेक रूपों में दयानन्द सरस्वती, महात्मा गांधी तथा बाबा साहेब भीमराव अम्बेडकर ने संविधान के रूप में शास्त्रीय रूप प्रदान कर दिया। कबीर एक संत कवि ही नहीं महान् विचारक भी हैं, जो अपने समय और समाज की समस्याओं से सीधा विरोध करते हैं। तत्कालीन सामाजिक–धार्मिक अन्तर्विरोधों को एक चुनौती के रूप में देखते हैं एवं उनका तर्कपूर्ण समाधान भी देते हैं। उनकी वाणी में विवेकजन्य करुणा है, क्योंकि वह

बुद्ध की तरह समाज को दुःखों के बंधन से मुक्ति दिलाना चाहते हैं। इसलिए कबीरदास के विचारों में सामाजिक आडम्बरों का त्याग तथा आध्यात्मिक धरातल पर प्रेम–पंथ की ओर चलने का आग्रह भी करते हैं। आज समाज में इंसानियत का पतन हो रहा है। व्यक्ति दिनों–दिन निर्मम होता जा रहा है। ऐसी अवस्था में कबीर की वैचारिकी हमें समाज में जीवन जीने की एक राह प्रदान करती है।

lUnHkZ %

1. विचारों का इतिहास, डॉ. बृजेश कुमार श्रीवास्तव, एस.बी.पी.डी. पब्लिशिंग हाउस, 3/20 बी, निकट तुलसी सिनेमा, आगरा–मथुरा बाईपास रोड, आगरा–282002, चतुर्थ संशोधित संस्करण 2010, पृ. 133
2. कबीर ग्रंथावली, डॉ. श्याम सुन्दरदास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, 26 वाँ संस्करण, संवत 2070 वि., पृ. 13
3. कबीर ग्रंथावली, डॉ. श्याम सुन्दरदास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, 26 वाँ संस्करण, संवत 2070 वि., पृ. 81
4. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, विजय प्रकाशन मन्दिर प्रा. लि., सी. के. 15/43, सुड़िया, वाराणसी–221001, संस्करण 2014, पृ. 66
5. कबीर ग्रंथावली, डॉ. श्याम सुन्दरदास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, 26 वाँ संस्करण, संवत 2070 वि., पृ. 25
6. कबीर ग्रंथावली, डॉ. श्याम सुन्दरदास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, 26 वाँ संस्करण, संवत 2070 वि., पृ. 35
7. कबीर ग्रंथावली, डॉ. श्याम सुन्दरदास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, 26 वाँ संस्करण, संवत 2070 वि., पृ. 27
8. कबीर, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी–ग्रंथ–रत्नाकर कार्यालय, मुम्बई, प्रथम संस्करण मार्च 1942, पृ. 283
9. हिन्दी साहित्य का इतिहास, संपादक डॉ. नगेन्द्र, मयूर पेपरबैक्स, ए–95, सेक्टर–5, नोएडा–201301, सैंतालीसवाँ पुनर्मुद्रण संस्करण 2014, पृ. 120

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

vo/k dk lkLÑfrd ifjn`';

nhfidk nc*

अवध क्षेत्र भारत का एक सुप्रसिद्ध अंचल है। प्राचीन काल में इसे 'कोसल' महाकोसल कहा जाता था, मध्यकाल में 'सूबा–ए–औध' कहा गया। ब्रिटिश काल में यूनाइटेड प्राविंसेज ऑफ आगरा एण्ड अवध बनाया गया, उसका संक्षिप्तीकरण हुआ– यू0पी0 के रूप में जो उत्तर प्रदेश का वाचक बना हुआ है। तात्पर्य यह है कि अवध कभी एक समूचा राष्ट्र थो, कभी स्वतंत्र सूबा था और कभी संयुक्त राज्य था। आज वह उत्तर प्रदेश का एक विशिष्ट अंचल है, जिसमें लगभग दो दर्जन जिले शामिल हैं।

अवध के सांस्कृतिक परिदृश्य की बात की जाय तो वर्तमान में लखनऊ और फैजाबाद मण्डल के जिन जिलों को 'अवध' कहा जाता है, वे अवध का सांस्कृतिक स्वरूप बोध कराने की दृष्टि से अपर्याप्त हैं। वस्तुतः गंगा–युमना की घाटी और सरयू के आस–पास का समतल क्षेत्र अवध है, जिसे प्राचीनकाल में कोसल और मुस्लिम शासन काल में 'अवध' या 'औध' नाम से जाना गया। यह दोआब अर्थात् गंगा–यमुना और सरयू का (अन्तर्वेदी) क्षेत्र भारत का हृदय प्रदेश है। यहाँ द्रविड़, ईरानी, पवन (ग्रीक) पल्लव, शक, कुषाण, हूण, मुसलमान और यूरोप की न जाने कितनी जातियों की जनपरम्पराओं द्वारा एक समेकित अवध संस्कृति का विकास हुआ है। प्रागैतिहासिक काल में अवध क्षेत्र में निषाद अथवा शबर संस्कृति का विस्तार हुआ था, निषादों का मुख्य केन्द्र गंगा– सरयू की इसी घाटी में था। निषाद, भर, पासी, थारू यानि आदिम जाति के लोग इसी निषाद–संस्कृति के अवशेष हैं। शालि (चावल) सभ्यता का प्रसार निषादों की सबसे बड़ी विशेषता थी। निषादों के बाद सिंधु, गंगा– यमुना और सरयू घाटी में भूमध्यसागर के तटवासी मनुष्यों के कई समूह (सुमेर, बाबुली) आदि यहाँ आये। उनकी संस्कृति दजला–फरात की घाटी में ईरानी मूल के लोगों के साहचर्य में ढली थी। उनकी संस्कृति मूल रूप में समन्वित संस्कृति थी। यहाँ आकर उसका नये सिरे से समन्वय हुआ। इसे द्रविड़–संस्कृति कहते थे। उस काल में भारत और मेसोपोटामिया (बाबुल और सुमेर) के बीच काफी सांस्कृतिक आदान–प्रदान था। तात्पर्य है कि प्रागैतिहासिक काल में इस प्रदेश में एक समन्वयात्मक जीवन पद्धति थी।

अवध का अपना सांस्कृतिक इतिहास सही अर्थों में आर्यों के साथ प्रारम्भ होता है। यह सर्वमान्य है कि आर्यों का मुख्य केन्द्र सप्तसिन्धु प्रदेश में स्थापित था, किन्तु आर्य संस्कृति का पूर्ण विकास मध्यदेश यानि गंगा–यमुना और सरयू की घाटी में तथा विशेष रूप से अवध क्षेत्र में हुआ, जिससे प्रारम्भ में कोसल कहा जाता था। अवध का बैसवाड़ा क्षेत्र मध्यदेश का केन्द्रीय स्थल था। आर्यों को यहां बसने के लिए काफी संघर्ष करना पड़ा। आर्यों की इस विजय के बाद भी विजयों और विजित संस्कृतियों का संघर्ष चलता रहा। बहुत समय तक आर्यों ने कृष्णा, अनासा, दास, दस्यु, असुर आदि कहकर विजितों के प्रति घृणा का भाव प्रकट किया किन्तु बाद में उन्हें अपना लिया। दोनो संस्कृतियों के सम्मिलित दाय से भारतीय संस्कृति की आधार शिला निर्मित हुई। यही समन्वयात्मक संस्कृति सम्प्रति अवध के जन–जीवन में बसी है। चूँकि मध्यदेश होने के कारण यहाँ चारों दिशाओं से आने वाली संस्कृतियों का सुन्दर समाहार हुआ, इसलिए उन सबकी अलग–अलग इकाइयाँ इस क्षेत्र में विद्यमान है। यहाँ का अपना कोई प्रान्तीय या क्षेत्रीय स्वरूप नही बन पाया है, इसीलिए बंगाली, पंजाबी गुजराती, मराठी, मारवाड़ी, सिंधी जैसे शब्दों के तर्ज पर कोई शब्द नहीं बन पाया। किसी भी विचारधारा या जीवन शैली के प्रति कभी कोई कट्टरता,

*शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

जड़ मोह या उग्र बौद्धिक प्रतिक्रिया यहाँ नही दिखाई पड़ी। इस क्षेत्र की जीवन पद्धति निरंतर विकसनशील तथा परिवर्तन पूर्ण रही है।

संस्कृति के विभिन्न पक्षों में से यदि धर्म व अध्यात्म की बात की जाय तो यहाँ अनेक महान परंपराएं प्रचलित हैं। विभिन्न देवी–देवता, अनेकानेक सम्प्रदाय, मठ, अखाड़े, तीर्थ स्थान व उच्च कोटि की आध्यात्मिक परम्पराएं यहां विद्यमान हैं। वैष्णव, बौद्ध, जैन, मुस्लिम, सूफी, सिख आदि संप्रदायों से संबंधित अनेक महत्वपूर्ण स्थल है। हिन्दू धर्म से संबंधित सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थल अयोध्या जो कि श्रीराम की जन्मस्थली है, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विख्यात है। इस नगरी का प्रथम उल्लेख ह्वेनसांग ने 'अथुते' नाम से किया था, स्कन्दपुराण के अनुसार अयोध्या का आकार मत्स्य के समान है। सरयू के किनारे निर्मित घाट, मुख्यतः गुप्तार घाट, भरत कुण्ड, साथ ही रामकथा, से जुड़े स्थल जैसे जन्मभूमि मंदिर कनक भवन, नन्दी ग्राम, हनुमान गढ़ी दीर्घकाल से सुर्खियों में है।

हिन्दू धर्म के प्रतिष्ठापक आयामों का विश्लेषण करते हुए डेनियलगोल्ड इस शहर के बारे में कहते हैं कि – ''अयोध्या..... किसी तरह तीर्थस्थलों में होने वाली निहायत धंधेबाजी से बच निकला है, इसी कारण वहाँ अफरा–तफरी और मोल–तोल का माहौल नहीं दिखता। पारम्परिक हिन्दू जीवन पर अनुसंध ाान के अभ्यस्त किसी भी शोधकर्ता को यह शहर असामान्य रूप से शांत लगेगा। उसे तीर्थयात्री और नागरिक रोजमर्रा का कामकाज बिना किसी उत्तेजना के निबटाते हुए दिखेंगे। 1980 और 1981 में मैं कई बार अयोध्या गया केवल एक बार ऐसा हुआ कि मुझे धार्मिक टकराव की उत्तेजित परिस्थिति में फंसाने का प्रयास हुआ पर इसमें वहाँ के किसी पंडे पुजारी का हाथ तो नही था।''

नैमिषारण्य–मिश्रित सीतापुर में गोमती तट पर स्थित है, मिश्रित में महर्षि दधीचि ने वृत्तासुर के वध हेतु वज्र बनाने के लिए अपने अस्थिपंजर का दान कर दिया था। यहाँ पर स्थित चक्रतीर्थ, श्री ललिता मंदिर, व्यास गद्दी आदि का बड़ा माहात्म्य है।

प्रयाग गंगा, यमुना और सरस्वती के तट पर स्थित प्रयाग को तीर्थराज माना जाता है, यहाँ आयोजित महाकुम्भ के कारण यह नगर विश्व प्रसिद्ध हो गया है, यहाँ के दर्शनीय स्थलों में कल्प वृक्ष, शंकर विमान मण्डप, वेणी माधव मंदिर, आनंद, भवन व आजाद पार्क इत्यादि है।

श्रावस्ती पूर्वी उत्तर प्रदेश में सहेट नाम से प्रसिद्ध इस स्थान में अनेक बौद्ध मंदिर और कई तीर्थंकरों के साधना केन्द्र रहे हैं। यहाँ अंगुलिमाल से संबंधित कुछ अवशेष भी द्रष्टव्य है। कौशाम्बी उदयन वासव दत्ता की राजधानी और जैन तीर्थंकर ऋषभ देव और पारसनाथ के कारण प्रसिद्ध है। अवध के इन स्थानों का सामरिक दृष्टि से बड़ा महत्व है।

जन–चेतना की बात की जाय तो अवध का आम आदमी लोक–परलोक, प्रारब्ध और पुरूषार्थ, संघर्ष और आनन्द, पूर्वजन्म, पुनर्जन्म तर्क, श्रद्धा, समष्टि–व्यष्टि के प्रति मिला–जुला भाव रखता है। तपोवन पद्धति, गुरूकुल प्रणाली, आरण्यक संस्कृति और विचार मंथन प्रक्रिया यहाँ बहुत चली है। मात्र नैमिषारण्य में 88 हजार सूतों ने दीर्घ काल तक विचार सत्र चलाकर वेदों पुराणों के माध्यम से जीवन–तत्व की खोज की।

यह क्षेत्र संयुक्त परिवार प्रथा, ग्रामीण व्यवस्था तथा कृषि संस्कृति का प्रदेश रहा है। पुरोहित प्रथा और पंचायत प्रणाली का यह अनुयायी रहा है। यहाँ का आम नागरिक पारिवारिक मर्यादा बोध, मातृत्व, वात्सल्य, भाईचारा आदि का कायल है। आभिजात्य उसके संस्कारों में बसा हुआ है।

यहाँ की जीवन शैली में यहां की भाषा, साहित्य, पारम्परिक संगीत और वास्तु कला की विशिष्ट भूमिका है। यहां इस्लाम और हिन्दुओं में भावैक्य स्थापित करने वाले सूफी कवियों की लम्बी परपंरा चली है। उनकी परंपरा में आज भी लखनऊ, देवा, बहराइच, जौनपुर, इलाहाबाद आदि विभिन्न स्थानों के दरगाहों में हिन्दू मुस्लिम लोग प्रार्थना करते हैं, इस समन्वय का प्रभाव हमारी वास्तु कला पर दिखता है। यह साम्प्रदायिक समन्वय संगीत के क्षेत्र में भी विद्यमान है। यहाँ के कलाकारों ने वीणा, पखावज, सितार, तबला, ठुमरी और गजल का विकास किया। हिन्दुस्तानी संगीत में ख्याल के अलावा, अनेक नयी प्रवृत्तियाँ उभरी। कथक नृत्य को मंदिरों की उपासना से जोड़ा गया। दूसरी और लखनऊ घराने के कथक में भावानुभव के रंग भरे गये, दोनों को मिलाकर हिन्दुस्तानी संगीत को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया।

आधुनिक युग के संगीतज्ञों में भातखंडे, बेगम अख्तर, रसूलन बाई, मोती बाई, अनूप जलोटा, किशनजी, पागल बाबा, कुमकुम घर आदि ने इस क्षेत्र की गौरव वृद्धि की है। कथक गुरूओं में बिन्दादीन, अच्छन, लच्छु, शम्भू और बिरजू महाराज की बहुत बड़ी देन है, यहां हिन्दुस्तानी के अनेक घराने प्रचलित हुए हैं। इनसे जुड़े हुए अनेक प्रमुख कलावन्त हैं– करीम खां, फैयाज, मुश्ताक, हुसैन, बजीर खाँ, रामदास, कण्डे महाराज, विलायत खाँ आदि।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अपने सांस्कृतिक परिदृश्य में यह बहुत ही उन्नत क्षेत्र रहा है। अवध क्षेत्र की संस्कृति पर बात करते समय यहाँ पर लगने वाले मेलों पर चर्चा अति आवश्यक है। अवध क्षेत्र में समय–समय पर मेले लगते रहते हैं, जैसे– कुम्भ मेला परिक्रमा (14 कोसी) मेला, रामनवमी, मेला, देवी पाटन का मेला, बिसवां का सूफी मेला, गोविद साहब मेला, लोधेश्वर का महादेव मेला, उस्त्र सैयद मसूद गाजी की दरगाह, (बहराइच) गोलागोकर नाथ (लखीमपुर) का मेला, बांगरमऊ (उन्नाव) का मेला, देवी हिंगला का मेला, दादरा, अमेठी (शारदीय नवरात्र), पौष मेला, पसका, सूकर खेत, गोण्डा, सूर्य कुण्ड का मेला (अयोध्या), भादों बड़ा मंगल का मेला (हरदोई), झूलनोत्सव मेला, श्रावण शुक्ल 3 से 15 (अयोध्या), भरत कुण्ड मेला (अयोध्या) एवं मिर्जापुर का जुतिया मेला इत्यादि। इसके अलावा शीतलाष्टमी, नागपंचमी, हरितालिका, छठ, सकट चौथ, मकर संक्रान्ति होली, दीपावली, अनंतचतुर्दशी, देवोत्थानी, गणेश चतुर्दशी, बट सावित्री आदि त्यौहारों पर, साथ ही सूर्य और चन्द्रग्रहण के अवसर पर बड़े–बड़े मेले आयोजित होते हैं। मुस्लिम त्यौहारों में रमजान, ईद, बारावफात, बकरीद, चहल्लुम मुहर्रम आदि पर यहाँ पर भारी भीड़ होती है। पिछले दशकों में पर्यटन विभाग द्वारा कुछ प्रमुख उत्सवों पर विशिष्ट मेलों का शुभारम्भ किया गया है जैसे – लखनऊ महोत्सव, इलाहाबाद का प्रयाग महोत्सव, मगहर का कबीर मेला, चित्रकूट का रामायण मेला आदि। इन मेलों मे कुछ बड़े प्रसिद्ध पशु मेले है, जैसेः– रानी का पशुमेला आदि। मेलों के बाद बात आती है लोकगीतों की। लोकगीत समाज की अमूल्य निधि है, ये एक जगह के गीत नही हैं, एक ही संस्कृति के गीत नही है, और न ही इनका उद्भव किसी अभिप्राय से हुआ है। लोकगीतों की प्रत्येक पंक्ति के प्रत्येक शब्द में हमारे समाज के विविध क्रियाकलापों, विभिन्न अवस्थाओं, प्राकृतिक गतिविधियों तथा सामूहिक रूपरेखा, जीवन के द्वन्द्व, आशा–निराशा, राजनीतिक चेतना, हर्ष, उल्लास, लय, छन्द और ध्वनि का हृदयग्राही रूप देखने को मिलता है। अवध क्षेत्र में संस्कार गीत, ऋतु गीत एवं जातीय गीत आदि विभिन्न तरह के गीत गाये जाते हैं। संस्कार गीतों में, जन्म में संबंधित सोहर चूड़ा–कर्म से संबंधित कठुला, झलरिया एवं विवाह से संबंधित गारी, सेहरा आदि। ऋतु गीतों में फागुन, होरी, फाग, चैती, विरहा आदि। जातीय गीतों में कहरवा, धोबिया आदि के गीत।

धार्मिक गीतों में पद, भजन कीर्तन, निर्गुन, भगत, लहचारी आदि और श्रम गीतों में सोहनी, जँतसार आदि, श्रम गीतों में रोपनी–गीत भी प्रसिद्ध है, ये गीत कथानक युक्त होते है। औरते खेतों में पौधे बिठाती हैं और अपनी व्यथा को गीतों में गाकर अन्तःकरण के बोझ को हल्का करती हैं। प्रस्तुत रोपनी गीत में बहू ससुराल में अपने प्रति हुए दुर्व्यवहारों को खेत रोपते समय गीत के माध्यम से गाकर अपने मन का बोझ हल्का करती है–

^^xkcj dk [kbpk yd fudjh tk cfguh
Hkb;k nvkj g Bk< j
xkcjk dk ck> Mkfj ymVh tk cfguh
jk;&jk; Hkb;k l HkVk gk jke
ubgj Hkb;k ekj Ne d'ky g]
ubgj dk gky lukvk gk jke
ubgj cfguh lcgh d'ky g] cfguh d'ky yu vk; gk jke
pkn lj t vblh cfguh e cg;k
tfj tfj Hkb g dk;fy;k gk jke**

जाति गीतों में अहीरों के गीतों के उदाहरण दृष्टव्य हैं–

^^egxh d: ekj: fcjgk fclfj x;k
Hkfy xb: d tjh /keki
nf[k d: xkjh dk t:cuk
vc mB: u dj:tok ek ihjA**

अहीरों का मुख्य गीत विरहा और लोरकी है, इस विरहा में आज की बढ़ती हुई मंहगाई की कटु आलोचना की गई है।

अवधी क्षेत्र में विभिन्न प्रकार की लोक गाथाएं प्रचलित हैं। इस क्षेत्र में खुनखुनिया, ढोला कुंवर, चनैनी, गोपीचंद भरथरी, सरवन, रसोलिया, आल्हा, बिदेसिया आदि गाथाओं को कभी एकल गाया जाता है कभी सामूहिक रूप में। खुनखुनिया गायक यादव वीर राजाओं की शौर्य गाथाओं को अपने समाज में गाते रहे हैं। चनैनी लोरिकी पर आधारित है जो मिर्जापुर की तरफ प्रचलित है, गोपी चंद भरथरी गोरखपंथी जोगी चिकारे और सारंगी पर गाते हैं। यहाँ की अन्य लोक गाथाओं में बिहुला सोरठी, शोभा नयकवा–बंजारा, थोंदी परसू, जाहरवीर, कुसमा, चन्द्रवली, धबइया, ऊभनदेव आदि स्मरणीय हैं। कई स्थानों पर इनके संरक्षण व प्रशिक्षण के केन्द्र खोले गये हैं, जैसे– संगीत नाटक अकादमी उत्तर मध्य क्षेत्र सांस्कृतिक केन्द्र इत्यादि। यहाँ पर कुछ गीत अभिनयपूर्वक गाये जाते हैं जैसे– स्वांग लावनी, ख्याल, पतुरिया नृत्य, रहसधारी, झूमर आदि। अवध क्षेत्र की कथक परम्परा में शम्भू महाराज लच्छू, बिरजू, कोदऊ आदि को विशेष ख्याति मिली और गजल गायकी में मुश्तरी बाई, बेगम अख्तर तथा भातखण्डे जी को। शास्त्रीय गायन के अन्तर्गत यहाँ राग पीलू, केदार, सारंग, भैरवी, दीपक राग, आसावरी, दिलावर, रामकली, यमन, मालकौस, दादरा, ध्रुपद, तीनताल ख्याल, कथक व रहस को बढ़ावा दिया गया है। यहाँ की वादन कला में मृदंग व पखावज प्रसिद्ध है। अयोध्या की गायकी का अपना महत्व है। वहाँ के प्रमुख गायक, वादक, नर्तक हैं– बाबा धनुषधारी, रामकुमार दास व पागल दास। प्रयाग की संगीत कला भी ऐतिहासिक महत्व की है। वहाँ की 'प्रयाग समिति' इस दृष्टि से विचारणीय है कानपुर लावनी गायकी का बहुत बड़ा केन्द्र रहा है, नौटंकी कलाकार अधिकतर कानपुर से जुड़े रहे हैं जैसे – नरगिस, मोना, बबीता, हीरामुनि, रानी, पान कुँवर, तुलसी, हुस्नबानो, मुन्नीबाई, रीता, लक्ष्मी, सुरइया आदि। अवध के प्रमुख गायक हैं – अच्छन बाई, अल्ला रक्खा, अतुल प्रसाद सेन, अनूप जलोटा, गुलाब बाई, तलत महमूद, नौशाद अली, बेगम अख्तर, मालिनी अवस्थी, रीता गांगुली व विष्णु नारायण भातखंडे इत्यादि।

संगीत कला में वाद्य कला का महत्वपूर्ण स्थान होता है। यहाँ के प्रमुख वाद्य यंत्र हैं– ढोल, रणभेरी, तुरही, दुंदुभी, सितार, हारमोनियम, तबला, करताल, सारंगी, शहनाई, मंजीरा, वीणा, जोगीड़ा, गिटार, ताशा व रोशन चौकी इत्यादि।

अवध क्षेत्र के विभिन्न नगरों व ग्रामों में रंगकर्म से जुड़े हुए कलाकारों की भरमार है, इनमें से कुछ रंगकर्मी लेखक अभिनेता और निदेशक के रूप में सक्रिय हैं और कुछ रंग सज्जा, प्रसाधन इत्यादि से। रंगकर्म से जुड़े कलाकार हैं– अनिल रस्तोगी, ऊर्मिल थपलियाल, अमृतलाल नागर, उपेन्द्रनाथ अश्क रमई काका, चन्द्रमणि पाण्डेय, नसीरूद्दीन शाह, वाजिद अली शाह इत्यादि। अवध क्षेत्र में रंगमंच से जुड़ी अनेक संस्थाएं हैं जैसे– अन्तर्राष्ट्रीय नाट्य परिषद् (लखनऊ, अयोध्या शोध संस्थान, उ0प्र0 संगीत नाटक अकादमी (लखनऊ) किसलय प्रयाग कथक कला केन्द्र (लखनऊ) नटराजम (फैजाबाद), नाट्य भारती (लखनऊ) इत्यादि। अवध क्षेत्र का हिन्दी, उर्दू फिल्मों से बड़ा पुराना संबंध है, अवधांचल के अनेक कलाकार पटकथा लेखन, गीत सृजन, गायन, फिल्मी अभिनय से जुड़े रहे हैं अभिषेक बच्चन, अमिताभ बच्चन, अनुपम खेर, आमिर खान, अनुष्का शर्मा, अनूप जलोटा, जावेद अख्तर, नौशाद, जया बच्चन, कैफी आजमी, बिरजू महाराज, सपना अवस्थी मजरूह सुलतानपुरी, कुमुद नागर, नादिरा बब्बर इत्यादि कलाकार अवधांचल से जुड़े रहे हैं। इधर लखनऊ को फिल्म सिटी बनाने का प्रयास किया जा रहा है, प्रदेश सरकार के फिल्मबंधु में वृत्तचित्र बनाने हेतु एक प्रभाग कार्यरत है।

निष्कर्ष यह है कि फिल्म क्षेत्र में इस अंचल की विशिष्ट देन रही है। ललित कलाओं में चित्रकला का बड़ा महत्व है, अवध क्षेत्र की स्त्रियों का यह विश्वास है कि उनके द्वारा आलेखित चित्र मांगल्य के

प्रतीक हैं अवध की चित्रकारी चौक, भित्ति चित्र, छाप, चित्रसारी प्रमुख हैं। आधुनिक चित्रकला से प्रभावित होकर यहां के कलाकारों ने कई शैलियों को अपनाया है, जैसे मीनिऐचर, जलरंग, म्यूरल, ग्राफिक्स, पेस्टलकला, लैंडस्केप, पोर्ट्रेट, ऐचिंग, ऐक्रेलिक, कोलोग्राफी इत्यादि। अवधांचल के प्रमुख चित्रकारों में असित कुमार, जयकृष्ण अग्रवाल, काली चरण वर्मा, पी0सी0 लिटिल, ललित मोहन सेन, विश्वनाथ खन्ना, वीरेश्वर सेन इत्यादि है। अवध की चित्रकला परम्परा सर्वथा विशिष्ट है।

स्थापत्य कला की बात की जाय तो अवध क्षेत्र के कलावशेषों, दुर्ग, भवन, घाट, मंदिर आदि में इस कला के उत्तम नमूने देखने को मिलते हैं। इसका युगानुरूप सौन्दर्यांकन लोक साहित्य में भी हुआ है। उदाहरणार्थ नगर निर्माण कला का सौन्दर्य निम्नांकित पंक्तियों में अवलोकनीय है–

^^Åpk uxj vtk/;k
Nk;k gk gjk gjk ckl
Åpk uxj ijh ikVu
xfMxk gk >.Mk fulku
Nkoh jke mrjk A**

अवध के स्थापत्य को मुख्य रूप से इन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है– मठ–मंदिर, मस्जिद, इमामबाड़े, किला, महल, आवासीम, भवन, स्मारक एवं पार्क घाट इत्यादि। मंदिरों में कबीर पंथी मंदिर, नबी नगर मंदिर, कनक भवन (अयोध्या), वेणी माधव मंदिर, पत्थर मंदिर, नेपाली मंदिर, भरत हनुमान मिलन मंदिर, राधा–कृष्ण मंदिर एवं हनुमान गढ़ी प्रसिद्ध है।

अवध में जगह–जगह कई किले पाये जाते हैं। यहाँ के मुख्य किले हैं– अमेठी दुर्ग, इलाहाबाद किला, डलमऊ का किला, नानाराव किला, जौनपुर का किला, बरेली का किला, रोहिताश्व दुर्ग एवं लक्ष्मण किला इत्यादि। इस अंचल के स्मारक व मकबरे भी उल्लेखनीय हैं– अम्बेडकर स्मारक, बहू बेगम का मकबरा (फैजाबाद), शाहमीना की मजार (लखनऊ), तुलसी स्मारक भवन (अयोध्या) एवं सआदत अली का मकबरा (लखनऊ) प्रसिद्ध है। आवासीय भवनों में आनन्द भवन (इलाहाबाद), खुर्शीद महल (लखनऊ), तारावाली कोठी (लखनऊ), मोती महल (लखनऊ), रेजीडेंसी (लखनऊ), फरहत बक्स की कोठी (लखनऊ) दिलकुशा पैलेस (लखनऊ) प्रसिद्ध है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि विभिन्न कलाओं में भी अवध क्षेत्र हमेशा अग्रगण्य रहा है।

शाम–ए–अवध जैसी खूबसूरत शाम पूरी दुनिया में कहीं नही है। एक दौर था जब अवध के नवाब शाम–ए–अवध का खूबसूरत अक्स गोमती के पानी में देखने रोजाना उसके किनारे आया करते थे, लखनऊ में गोमती के किनारे अब नवाबी दौर उतने खूबसूरत तो नही हैं लेकिन ये इमारते जरूर उस दौर की याद दिलाती है।

स्पष्ट है कि अवध की अभिजन संस्कृति, दरबारी नफासत, ग्रामीण जीवन की सोधी महक और अर्द्धनारीश्वर सृजनशीलता का मिला जुला नतीजा हैं।

lUnHk%

1. अवध संस्कृति विश्वकोश (खण्ड–एक) प्रो0 सूर्यप्रसाद दीक्षित, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2016, पृष्ठ संख्या–80।
2. अवध संस्कृति संस्कृति विश्वकोश (खण्ड–दो) प्रो0 सूर्य प्रसाद दीक्षित, वाणी प्रकाशन 2016, पृष्ठ संख्या 101,102,105,106,107,136,137,252,253,256।
3. राष्ट्रवाद का अयोध्या काण्ड रामजन्मभूमि आन्दोलन और आत्मभय की राजनीति, अनुवादक–अभय कुमार दूबे।
4. अवध के लोकगीत और शिल्य सौदर्य, पृष्ठ सं.– 142, 143, 155।

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

LFkkiR; Hkkjrh; bfrgkl dh >yd

eukt itkifr*

जब भी हम किसी भी पर्यटन स्थल, सड़क पर पुराने भवन को देखते हैं, तो उसकी आकृति, बनावट और साज–सज्जा के आधार पर उसकी काल गणना करने का प्रयास करते हैं। यदि काल गणना जैसे गम्भीर प्रश्न पर हम केन्द्रित न हो पाएं तो उसके स्थापत्य आकर्षण से स्वयं को रोक नहीं पाते। सामान्य जनमानस में स्थापत्य के प्रति इस दृष्टिकोण के अतिरिक्त किसी अन्य जिज्ञासा का पनपना एक अपवाद ही हो सकता है। कई बार तो केवल स्थापत्य से ही इतिहास का निर्माण होता है और इसकी एक कड़ी बन जाती है। स्थापत्य में इतिहास और इतिहास में स्थापत्य दोनों लगभग एक समान स्थिति हैं। स्थापत्य में इतिहास का अर्थ है कि किसी भवन का निर्माण किसने और कब करवाया? इस निर्माण की क्या आवश्यकता आ गयी? स्थापत्य में प्रयुक्त निर्माण सामग्री एवं निर्माण स्थल यह सब इतिहास के आयाम है। जबकि इतिहास में स्थापत्य का अर्थ है कि उस विशेष समय, अमुक व्यक्ति, अमुक क्षेत्र की जानकारी स्थापत्य के द्वारा हो जाती है।

स्थापत्य का क्षेत्र भी बड़ा व्यापक और विस्तार वाला होता है। जिसके अनेक पहलू और दृष्टिकोण होते हैं। इन पर जितना सूक्ष्म कार्य किया जाता है उस पर उतने अधिक निष्कर्ष एवं परिणाम सामने आते हैं। इन निष्कर्षों को एक श्रृंखला में लगाकर इतिहास की सही व्याख्या की जा सकती है। कई बार तो स्थापत्य ने ही इतिहास को पहली बार लोगों की दृष्टि में लाने का काम किया है। स्थापत्य के अपने कुछ नियम और विशेषताएँ होती है, जिससे हम इतिहास को जानने में समर्थ हो सकते हैं। किसी भी संस्कृति और सभ्यता का भौतिक पक्ष ही स्थापत्य द्वारा नहीं दिखता अपितु कुछ सूक्ष्म संकेत भी स्थापत्य प्रदान करता है। सभ्यता का स्थायित्व और समृद्धि भी स्थापत्य को प्रमाणित करता है। सिन्धु घाटी सभ्यता ने अपने क्षेत्र में स्थापत्य को इस प्रकार से सुनियोजित रूप दिया था कि, यह अनुमान लगाना सरल हो जाता है कि इस चरण में समृद्धि और स्थायित्व दोनों ही आ चुके थे। स्थापत्य के द्वारा कुछ सूक्ष्म विषय पर प्रकाश पड़ता है–

1. सभ्यता / संस्कृति का स्थायित्व
2. सभ्यता / संस्कृति की समृद्धि
3. सभ्यता / संस्कृति की शक्ति
4. सभ्यता / संस्कृति का विस्तार
5. सभ्यता / संस्कृति का समन्वित रूप

स्थापत्य के द्वारा स्थूल विषय पर भी विचार किया जा सकता है। जिसमें स्थापत्य में प्रयुक्त सामग्री उसका प्राप्ति स्थल। स्थापत्य में किन आयामों का प्रयोग किया गया जिसमें निर्माण की तकनीकी एवं विषय समाहित होते हैं। स्थापत्य के इन सूक्ष्म और स्थूल विषयों पर हम एक विश्लेषणात्मक दृष्टि से विचार करने का प्रयास करेंगे। यह किसी भी इतिहास में एक मान्य नियम की तरह कार्य करता है कुछ अपवादों को छोड़ दें तो किसी भी देश के लिए स्थापत्य उसका भौतिक पक्ष है। किसी भी इतिहास को सही प्रकार से जानने के लिए उसके स्थापत्य को जानना आवश्यक होता है। स्थापत्य के द्वारा हम इतिहास के रचनात्मक दृष्टिकोण को भी जान पाने में सक्षम है। इतिहास के संचालन में कई विचार एक साथ काम करते हैं। इन विचारों को हम विविध आयाम मे रख कर कैसे देखें? इसकी दृष्टि हमें स्थापत्य

*शोध छात्र, इतिहास विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

से ही प्राप्त होती है। विश्व के अनेक देशों के स्थापत्य ने आज के इतिहास को कई मार्ग दिखाए हैं कि आप इतिहास को किस प्रकार से समझ सकते हैं। चीन की विशाल दीवार, गीजा के पिरामिड आज विश्व धरोहर की श्रेणी मे आते हैं। आप कल्पना कर सकते हैं कि इन इतिहास चिन्हों ने हमें आज भी किस प्रकार से इनके विषय पर विचार करने के लिए केन्द्रित कर दिया। किस प्रकार से इन विशाल स्थापत्य चिन्हों का निर्माण उस समय करवाया गया है। आज के तकनीकी युग में भी हम इस प्रकार की कालजयी स्थापत्य कृति का निर्माण हमारे लिए चुनौती है। तब उस समय इनका निर्माण न केवल उनकी श्रेष्ठ रचनात्मकता का परिचायक है, बल्कि सामूहिक समपर्ण को भी दृष्टांकित करता है। इसी प्रकार के विविध उदाहरण आपको विश्व के प्रत्येक कोने में प्राप्त हो जायेंगे।

भारत भी अपनी विशेष ऐतिहासिक स्थापत्य छवि को बनाये रखने में सफल रहा, बल्कि कई मानक भी इसी की देन हैं। भारतीय इतिहास में हम स्थापत्य को कब से खोजे यह कोई महत्वपूर्ण प्रश्न नहीं है क्योंकि मानव उत्पत्ति के साथ ही उसकी रचनात्मकता भी स्वयं ही उत्पत्य होती है। इसी के प्रमाण हमे पाषाण काल से प्राप्त होने लगते हैं। उस समय स्थापत्य चिन्हों के रूप में हमें आदिमानव द्वारा प्रयुक्त हथियारों के अवशेष मिलते हैं, जो स्थापत्य के प्रारम्भिक साक्ष्य माने जा सकते हैं। जिनमें हस्तकुठार, चापर, कुदार है। यह प्रमुखतः पाषाण से ही निर्मित हुए हैं। समय में परिवर्तन के साथ इनके स्वरूप और भार में क्रमिक परिवर्तन देखने को मिलता है। मध्यपाषाण काल मे यही पाषाण उपकरण आकृति और भार में छोटे और हल्के होने लगते हैं। सभ्यता के विकास क्रम से ही मानव बुद्धि का विकास भी सम्बद्ध है। इसी कारण इतिहास के विविध स्तरों पर हम स्थापत्य के क्रमिक परिवर्तन को देख और समझ सकते हैं।

भारतीय इतिहास को समझने के लिए भी स्थापत्य को आधार बनाना गलत नहीं होगा। जब 1826 में रेल विकास का कार्य चल रहा था। तब सिन्धु सभ्यता के अवशेष स्थापत्य के रूप में ही प्राप्त हुए थे। इन स्थापत्य साक्ष्यों का अध्ययन और विश्लेषण करने के बाद ही यह ज्ञात हुआ कि भारतीय इतिहास क्रम में विश्व के प्राचीनतम स्थलों में से एक है। इस उपलब्धि को भारतीय इतिहासकारों ने विशेष स्थान प्रदान किया। आज यह स्थापित सत्य है कि सिन्धु स्थापत्य वास्तव में उस काल की प्रखर विज्ञान तकनीकी और कौशल का अद्‌भुत प्रमाण है। जिसके साक्ष्य भारतीय उपमहाद्वीप के बड़े क्षेत्र में प्राप्त हुए हैं। इस सभ्यता के स्थापत्य के लगभग सभी आयाम हमें स्मारक के रूप में ज्ञान और संदेश प्रदान कर रहे है। जिसमें गृह निर्माण प्रणाली, नगर नियोजन प्रणाली, स्थापत्य में प्रयुक्त सामग्री, मूर्ति, सिक्के, घरेलू वस्तुएँ, आभूषण आदि के बहुतायत तथ्य प्राप्त होते हैं। इन प्राप्त स्थापत्य साक्ष्यों की व्याख्या करने पर यह ज्ञात हो जाता है। कि नगर सभ्यता ने लगातार भारतीय इतिहास को किस प्रकार समृद्ध किया। इस समृद्ध परम्परा को स्थापत्य ने प्रमाणित भी कर दिया है। जिसमें हड़प्पा, मोहनजोदड़ो, अरिकामेडु, लोथल, रंगपुर, कालीबंगा स्थलों से स्थापत्य के जो भी प्रमाण मिले हैं और भविष्य में प्राप्त होंगे, उसने भारतीय इतिहास की व्याख्या करने में अपना अप्रतिम योगदान प्रदान किया। इन स्थापत्य साक्ष्यों के आधार पर यह कहना गलत नहीं होगा कि, सिन्धु वासियों की नगर प्रणाली किसी भी स्थिति में समकालीन मिस्र, मेसोपोटामिया, सीरिया आदि संस्कृतियों से भी उन्नत स्थिति में थी। नगर–नियोजन इस प्रकार किया गया है कि आज की नगर प्रणाली भी उसके समक्ष कमतर ही लगती है। नगर के बीचो–बीच चारों तरफ सड़कों का चौथरफा जाल सा बुना गया। इससे वातानुकूल की स्थिति तो बनती ही है साथ ही नगर में किसी भी मार्ग से प्रवेश पर आप प्रत्येक आवास तक अपनी उपस्थिति को सुलभ कर सकते है। भारतीय इतिहास को स्थापत्य ने कई बार नये आधार प्रदान किये हैं। बुर्जहोम से प्राप्त गर्त आवास इसका प्रमाण है। आदमगढ़, भीमबैठका से गुफा आवास के साक्ष्य प्राप्त होते हैं। जिसमें भित्ति–चित्रण का भी अंकन है। प्राचीन भारतीय स्थापत्य पर प्रकाश डालने का प्रथम कार्य ऋग्वेद द्वारा किया जाता है। जिसमें सहस्र स्तम्भों वाले बहुमंजिला भवन का उल्लेख प्राप्त होता है। वैदिक साहित्य में आवासीय भवनों के लिए दम, गृह, दुरोण आदि शब्दों का प्रयोग किया है। इस काल के स्थापत्य अंक हमें प्राप्त नही हुए। इसका सबसे बड़ा कारण यह बताया जाता है कि ये भवन काष्ठ निर्मित ही थे, जिसके प्रमाण मौसम और पर्यावरण के साथ समाप्त हो गए। इसके अवशेष समय के साथ ही गर्त में समा गए। शब्दों के आधार पर ही हम

वैदिक काल के स्थापत्य के प्रमाण को खोजने का प्रयास करते हैं। लगभग छठी शताब्दी ई0 पू0 के समय तक स्थापत्य के विशेष साक्ष्य प्राप्त नही होते हैं। पूर्व में ही इस पर प्रकाश डाला जा चुका है।

उत्तर प्रदेश के अतरंजीखेड़ा से हमें इस प्रकार के साक्ष्य प्राप्त होते हैं कि लगभग 1000 ई0 पू0 में स्थायी आवास की संस्कृति विकसित होने लगी थी। यहाँ से ही एक मंदिर अवशेष भी प्राप्त होता है। जहाँ पाँच शिवलिंग स्थापित थे। इस काल के स्थापत्य ने यह प्रमाणित कर दिया है कि वैदिक काल में मंदिर का निर्माण होने लगा था। छठी शताब्दी ई0 पू0 ही सोलह महाजनपद और दस गणराज्यों के नाम हमें बौद्ध ग्रन्थ अंगुत्तरनिकाय से प्राप्त होते हैं।[1] इन षोडस महाजनपदों से हमे स्थापत्य के प्रबल प्रमाण भले प्राप्त न होते हो परन्तु इन भौगोलिक स्थलों की प्राप्ति भी स्थापत्य की ही श्रेणी में आती है। इनका व्याप्ती स्थान और विस्तार ने भारतीय प्राचीन इतिहास निर्माण में अपनी महती भूमिका का निर्वहन किया है। सूक्ष्म और स्थूल दोनों ही रूपों में देखने पर यह ज्ञात होता है कि सिन्धु घाटी सभ्यता के बाद स्थापत्य के विस्तृत और स्थायी प्रमाण हमें मौर्य काल से ही प्राप्त होने प्रारम्भ होते हैं। बीच की अवधि में प्रमाण न प्राप्त होने के अधिकांश कारण स्पष्ट भी हो चुके हैं। मौर्य काल में स्थापत्य का रूप और स्वभाव दोनों से ही स्पष्ट होता है कि मौर्य काल किस कारण से अपना प्रभाव इस ओर छोड़ने में सफल रहा। मौर्य शासकों का कार्यकाल जब प्रारम्भ होता है तब तक भारतीय उपमहाद्वीप की अस्थिरता लगभग स्थिर होने लगी थी। मौर्य शासकों ने प्रयास किया कि जिस क्षेत्र से भारत को वाह्य आक्रमण का भय रहता था। उसी उत्तर पश्चिमी क्षेत्र से मैत्रीपूर्ण पारिवारिक सम्बन्ध बनाने का सफल प्रयास किया। इस कारण मौर्य स्थापत्य पर यूनानी प्रभाव भी दिखता है। मेगस्थनीज के अनुसार मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य का पाटिलपुत्र स्थित राजमहल नगर के मध्य में स्थित विशालता और सुन्दरता मे सबसे बढ़कर था। इनके स्तम्भों पर स्वर्ण अंगूरीबेल और चाँदी के पक्षी शोभा बढ़ाते थे। वह एशिया के सूसा और इकबताना के जगप्रसिद्ध राजभवनो को भी मात करता था।[2]

जिन एशिया के देशों का वर्णन मेगस्थनीज करता है, वह यूनान से ही सम्बद्ध रहे है। विशालता स्थापत्य की भव्यता और विशिष्टता को दर्शाती है। अन्य यूनानी लेखक भी मौर्य काल के स्थापत्य का वर्णन करते हैं। उपरोक्त तथ्य की व्याख्या यूनानी लेखक स्ट्रैबो भी करता है। पटना में कुम्रहार से विशाल काष्ठ भवन की प्राप्ति हुई जिसे प्रकाश में लाने का श्रेय स्पूनर महोदय को है।[3]

मौर्य शासकों में चन्द्रगुप्त के बाद अशोक का प्रभाव और भी अधिक रहा। अशोक के स्थापत्य चिन्ह में गुहा–विहार, स्तम्भ, स्तूप की भूमिका अधिक रही। चन्द्रगुप्त की भांति अशोक ने भी महाराजप्रसाद का निर्माण करवाया। जिसका वर्णन 500 ई0 में आने वाले चीनी यात्री फाह्यान ने किया और कहा कि इतने भव्य, सुन्दर, उत्कृष्ठ, विशाल भवन का निर्माण मनुष्य नहीं कर सकते, बल्कि यह तो मायावी राक्षसों की कृति लगती है। 7वीं सदी में आने वाले चीनी यात्री ह्वेनसांग तक यह भवन ध्वंसावशेष हो चुका था।[4]

अशोक के बाद के निर्मित सांची और भरहुत के स्तूपों पर उत्कीर्ण चित्रों में देवसभा, राजप्रसाद आदि का अंकन एवं उसमें दृश्यांकित सामग्री से ज्ञात होता है कि ईंट, पत्थर और लकड़ी का प्रयोग इस काल के स्थापत्य में किया जाता था। दुर्गम मार्ग एवं यातायात की सुगमता न होने के कारण स्थानीय सामग्री का ही प्रयोग इस काल के स्थापत्य में मिलता है।[5]

मौर्य काल के स्थापत्य में स्तूप के अस्तित्व को भी स्थान दिया गया है। इन स्तूपों का प्रमाण हमें वैदिक साहित्य से ही प्राप्त होने लगता है। ऋग्वेद मे स्तूप शब्द का उल्लेख मिलता है। इस शब्द का भाव स्पष्ट भले न हो परन्तु शब्द की प्राप्ति से यह ज्ञात होता है, कि अवश्य ही इस प्रकार की संकल्पना का विकास होने लगा था। बाद में स्थापत्य की यह संकल्पना पूर्ण रूप से बौद्ध धर्म के साथ जुड़ गयी। बौद्ध विचार से जुड़ने के बाद से स्तूप स्थापत्य पूर्ण रूप इसी का प्रतीक बन गया और बौद्ध धर्म को जानने का स्तूप एक प्रमुख भौतिक आयाम बन गया। महापरिनिर्वाणसुत्त से ज्ञात होता है कि अशोक ने 84000 स्तूपों का निर्माण करवाया।[6]

बौद्ध स्तूपों में स्थापत्य के जो बिम्ब दिखते हैं वह उस समय के इतिहास को परिभाषित करने में सक्षम हैं। जिसमे भरहुत, सांची, अमरावती, मणिक्याल, नगरहार से प्राप्त स्तूपों ने एक मानक का निर्माण किया।[7]

इन स्तूप निर्माण में प्रयुक्त स्थापत्य को हम आधुनिक काल के कई भवनों में भी देख सकते हैं। समय के साथ इनके निर्माण मे भी एक अन्तर दिख जाता है जो इतिहास के स्तर को रेखांकित करता है। यह एक सामान्य है कि इतिहास काल और राजवंशों के अनुसार स्थापत्य में भी अन्तर और विशेषता देखने को मिल जाती है। इस दृष्टि से भी इतिहास में स्थापत्य का महत्व होता है। इसी क्रम में स्थापत्य के अन्य आयाम से भी इतिहास को समझने मे मदद मिलती है। गुहा स्थापत्य किसी भी इतिहास का प्राचीनतम् साक्ष्य रहा है क्योंकि यह प्राकृतिक रूप से ही निर्मित रहे हैं। इनका प्रयोग करने वालों ने समय और परिस्थितियों के अनुसार इसमें परिवर्तन करते चले गए। मौर्य शासक अशोक और दशरथ ने बराबर और नार्गाजुनी गुफाओं को काट कर आजीवक सम्प्रदाय के लिए आवास बनवाये थे। सुदामा गुफा, लोमश ऋषि गुफा, विश्व झोपड़ी इस काल की प्रमुख गुहा स्थापत्य के प्रमाण है। इन गुहाओं मे छत और प्रवेश द्वार विशेष आकर्षण के साथ ही निर्मित किए गए हैं। इनमें स्तंभो की शृंखला इस प्रकार बनाई गई है कि लगता है, कि कोई स्तंभ पंक्ति ही निर्मित की गई है।[8]

उदयगिरि और खण्डगिरि का निर्माण खारवेल नामक जैन शासक ने किया था जिसमें अलग–अलग करके कई विविध गुहाओं का निर्माण भी करवाया गया। इन गुहाओं में हिन्दू–जैन धर्म का ही मिश्रण नहीं दिखता अपितु दोनों विचारों के स्थापत्य का मिश्रण दिखता है। अर्थात् इन गुहाओं में मन्दिर स्थापत्य का भी प्रभाव दिखने लगा था।[9]

स्थापत्य के द्वारा इतना तो दिख जाता है कि शासक का दृष्टिकोण क्या था। इसी कारण विभिन्न शासकों के बीच स्थापत्य निर्माण में वैचारिक अन्तर भी दिखने लगते हैं। मौर्य काल मे जहाँ स्थापत्य शासकों के वैभव और प्रभाव को परिलक्षित करती है, जबकि शुंग काल तक आते–आते शासन के केन्द्र में सामान्य व्यक्ति भी आने लगा। परिणामतः जनमानस की संस्कृति को स्थापत्य में स्थान मिलने लगता है। स्थापत्य में सैनिक, जनमानस और उनके आराध्यों का अंकन इसके प्रमाण हैं। विशेष तथ्य यह भी है कि अशोक के समय ही सत्ता का झुकाव जनता की ओर होने लगा था। भारत की समावेशी संस्कृति ने इसे और भी प्रेरित किया। इसी जन भावना को हम सिन्धु सभ्यता के स्थापत्य में भी देखते हैं।

स्थापत्य में जिस जनमानस का प्रयोग होता है उसी के आधार पर इतिहास की व्याख्या समाजवादी पद्धति पर की जा सकती है। इसी तथ्य को ध्यान में रख कर कई मार्क्सवादी लेखक गुप्त काल को स्वर्ण काल नहीं मानते। उनका कहना है कि जब तक भारत में समान्तीय विचार को जीवित रखने के लिए समाज के सबसे सामान्य व्यक्ति को महत्व नहीं दिया जायेगा तब तक इतिहास स्वर्ण काल के मानक पर स्वयं को स्थित नहीं रख पायेगा। खास काल की उपलब्धियों को केवल इस कारण ही श्रेष्ठ नहीं माना जा सकता, बल्कि साधारण व्यक्ति की उपलब्धि को श्रेष्ठता के स्तर पर लाने वाला काल ही स्वर्ण काल हो सकता है।

उपरोक्त तथ्यों को किसी भी स्तर पर नकार नहीं सकते फिर भी इतिहास में स्थापत्य के महत्व और प्रभाव के आधार पर इतिहास की व्याख्या को भी नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता है। इसी कारण विवादों के बाद भी इतिहास में स्थापत्य का प्रभाव और महत्व दोनों ही यथावत् बना हुआ है। समय और शासक के बदलने पर स्थापत्य में परिवर्तन भी दृष्टिगोचर होता रहा है। समय के परिवर्तन के साथ ही स्थापत्य के स्वरूप में भी परिवर्तन देखने को मिलता है। मौर्य काल के बाद कुषाण काल में विशेष रूप से स्थापत्य एक प्रमुख आधार का रूप लेने लगा था। इसी कारण कुषाण काल मे अगिलस नामक स्थापत्यकार का नाम प्राप्त होता है। स्वयं कुषाण काल के प्रसिद्व शासक कनिष्क ने कनिष्कपुर और सिरकप नामक नगर का निर्माण क्रमशः काश्मीर और तक्षशिला में करवाया।[10]

कुषाण काल में मूर्ति कला ने एक नया आयाम धारण किया जिसमे गंधार और मथुरा शैली का प्रचलन बहुत व्यापक स्तर पर रहा। इन दोनों ही मूर्ति शैली में भारतीय एवं यूनानी प्रभाव का मिश्रण भी

दिखता है। इस प्रमाण से यह सिद्ध हो जाता है कि स्थापत्य के द्वारा समन्वय की संस्कृति को बढ़ावा मिलता है। इतिहास में काल अर्थात् समय का प्रभाव सभी को आवेशित करता है। विश्व के पड़ोसी देश आपसी विचार और संस्कृति का तालमेल भी करते थे। यह एक प्रकार से समासिकता का सन्देश तो देती ही थी, साथ ही दो विचारों और विविधताओं के बीच आपसी तालमेल को भी स्थापित करने में सहयोग प्रदान करती थी। गन्धार शैली पर यूनानी प्रभाव अधिक परिलक्षित होता है क्योंकि यह उत्तर– पश्चिम सीमा पर स्थित होने के कारण यूनान के अधिक समीप था जबकि मथुरा शैली पर भारतीय प्रभाव और विचारों का प्रभुत्व था। एक तथ्य यह भी है कि स्थापत्य मानव विचारों का भौतिक पक्ष है जिससे हम यह जानने में समर्थ होते हैं कि हम किस आधार और दृष्टिकोण पर विचार करते थे। कुषाण काल ने भारत और यूरोपीय विचारों के बीच एक सेतु का काम किया। सम्पूर्ण भारतीय इतिहास को पुनः एक नये कलेवर के साथ लोगों के समक्ष प्रस्तुत किया। स्थापत्य इतिहास के इन आयामों को सूक्ष्मता और स्थूलता के आधार पर स्पष्ट करता है।

स्थापत्य श्रेणी में गुप्त काल का विशेष योगदान है। मन्दिर स्थापत्य ने एक नये कलेवर का गठन करके इतिहास को पहचान दी। भारतीय इतिहास में गुप्त काल से ही मन्दिर का निर्माण प्रारम्भ होता है। मन्दिर की संकल्पना कब भारत में आयी इसके विषय में कुछ साहित्यिक तथ्य प्राप्त होते हैं। शतपथ ब्राह्मण और आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में यज्ञशाला का वर्णन आता है। यही यज्ञशाला आगे चलकर मन्दिर वास्तु का रूप लेने लगता है। ऋग्वेद की एक ऋचा में यज्ञसद्व का उल्लेख है। देवायतन, देवगृह, देव स्थान, देवकुल आदि अनेक शब्द ब्राह्मणों, सूत्रों, रामायण में प्रयुक्त हुए हैं।[11]

गुप्तकाल के मन्दिर ऊँचे चबूतरे पर होते थे। मन्दिर पर शिखर गुप्त काल की अपनी शीर्ष विशेषता है। देवकक्ष जहॉ देवता विराजमान होते थे उसे गर्भगृह कहा जाता था। मन्दिर के प्रवेश द्वार को कलायुक्त किया जाता था। जैसे कि बौद्व स्तूप निर्माण के समय तोरण द्वार का निर्माण किया जाता था। गुप्त काल में वैदिक देवताओं को मूर्त रूप दिया गया। इसी कारण प्रवेश द्वार पर गंगा–यमुना की विशेष प्रतिमाओं का भी निर्माण होता था। मन्दिर निर्माण में पकी ईटों का प्रयोग भी गुप्त काल में होने लगा था। उ0 प्र0 के कानपुर का भीतरगांव एवं झारखण्ड के रायपुर के सिरपुर का लक्ष्मण मन्दिर ईंटो से ही निर्मित है। इसी प्रकार उ0 प्र0 के ललितपुर के देवगढ़ का दशावतार मन्दिर शिखर मन्दिर का प्रथम उदाहरण है।[12] गुप्तकाल से प्रारम्भ हुई मन्दिर निर्माण की प्रक्रिया गुप्तोत्तर काल तक जारी रही। यह क्रम भारत की विभिन्न दिशाओं उत्तर, दक्षिण पूर्व और पश्चिम मे भी चलती रही। शासकों ने अपने वैभव और शक्ति का प्रदर्शन मन्दिर निर्माण में दिखाया। इस काल में शासक के धर्म को ही राजकीय धर्म स्वीकार कर इस पर अपना ध्यान केन्द्रित रखा गया। शासक विशेष के अनुसार ही मन्दिर निर्माण प्रक्रिया में विविधता देखने को मिलती है। इस विविधता में स्थानीय प्रभाव भी जुड़ते गये। वास्तु विधा से संबन्धित वृहत्संहिता प्राचीनतम शास्त्र है। जिसमें नागर शैली और द्रविड़ शैली का ही उल्लेख है। जबकि मानसार, मयमत, कश्यप– शिल्प, तंत्रसमुच्चय जैसे परवर्ती शास्त्रों में नागर, द्रविण के साथ ही बेसर शैली का भी उल्लेख मिलता है। मन्दिर निर्माण की इन तीन शैलियों को क्षेत्र आधार पर भी वर्गीकृत कर सकते हैं। नागर शैली उत्तरापथ से लेकर विन्ध्य क्षेत्र तक व्याप्त थी। द्रविण शैली के मन्दिरों की व्याप्ति दक्षिण भारत में कृष्णा नदी से कन्याकुमारी तक था। बेसर शैली, नागर और द्रविण शैली का मिश्रित रूप है। जिनका क्षेत्र विन्ध्य से कृष्णा नदी नदी तक था।[13] इन मंदिर शैलियों की अपनी विशेषता भी है तभी इनकी अलग–अलग पहचान है। नागर शैली मंदिर वर्गाकार रूप में दिखते हैं। जिसमें घटते उभार आगे बढ़ते प्रतीत होते है जो चतुषयक रूप में दिखते हैं। मंदिर ऊँची जगती पर स्थित है। जिसमें कभी–कभी चातुर्याम प्रणाली का प्रयोग मिलता है।[14]

द्रविण शैली के मंदिर विशाल प्रांगण में स्थित होते थे। इन मंदिरों के शिखर एवं प्रवेश द्वार बहुत विशाल होते थे। शिखर पिरामिड रूप में कई भूमियों में विभक्त होकर निर्मित होता था। प्रायः यह मंदिर सीधे भूमि पर स्थापित होते थे।[15] बेसर शैली के मंदिर प्रायः नक्षत्राकार अथवा बहुकोणीय है। प्रदक्षिणा पथ विहीन ऊँचे अधिष्ठान पर स्थापित है। शिखर पिरामिडनुमा जिसके शीर्ष पर कलश स्थापित है। मंदिरों

मे जालीदार अलंकारों का प्रयोग बहुतायत में मिलता है। न में नागर शैली की अपेक्षा द्रविण शैली का प्रभाव अधिक मिलता है। उपरोक्त विश्लेषण के आधार पर यह ज्ञात हो जाता है कि मंदिर निर्माण की विभिन्न शैलियों के बीच कुछ अंतर और कुछ समानताएँ प्राप्त होती हैं। इन अंतरो और समानताओं के आधार पर यह ज्ञात हो जाता है, कि इतिहास के इस आयाम से भी विभिन्न प्रकार के अंतर सम्बन्धों का विश्लेषण करना सरल हो जाता है। क्षेत्रीय आधार पर विभिन्न प्रकार के स्थापत्य अन्तर भी देखने को मिलते हैं। इससे यह ज्ञात करना सरल हो जाता है कि उक्त स्थापत्य कृति निर्माण में किसका योगदान रहा। नागर शैली की कुछ विशेषता हम द्रविण शैली के कुछ मंदिरो मे भी देख सकते है। इसका कारण है कि अन्तर भारत पर आक्रमण के समय दक्षिणी राज्यों के शासकों ने इन विशेषताओं को देख और अपने स्थापत्य में उसको सम्मिलित किया।

बेसर शैली के मंदिरो पर नगर और द्रविण शैली का प्रभाव इस कारण रहा क्योंकि उत्तर और दक्षिण राज्यों के द्वारा यहाँ संक्रमण होता रहा। परिणामतः इस क्षेत्र के स्थापत्य में भी संक्रमण मिश्रित शैली का विकास होता है। इस काल में हम क्षेत्रीय शक्तियों का उत्थान भी देखते हैं। इन क्षेत्रीय शक्तियों के कारण स्थापत्य का स्वरूप भी क्षेत्रीय प्रतिमानों से अभिभूत दिखता है। शासकों के परिवर्तन क्षेत्र में परिवर्तन से स्थापत्य में भी अन्तर दिखता है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि स्थापत्य के अन्तर क्षेत्रीय अन्तर को दृष्टिगोचर करते हैं। चोल, चालुम्य, पल्लव, राष्ट्रकूट, सेनपाल, गहड़वाल।

यह समय समान्तीय उत्थान का काल था जिसमें लगातार केन्द्रीय शक्ति का पतन हो रहा था। इस कारण चन्देल, परमार, गुर्जर–प्रतिहार, देवगिरि के यादव पाण्ड्य आदि–आदि। स्थापत्य में भी क्षेत्रीय प्रभाव झलकने लगता है। स्थापत्य निर्माण अब शासक के वैभव का प्रतीक भी बनने लगा था परिणामतः मंदिर के द्वारा शासक अपने वैभव का प्रदर्शन करने का प्रतियोगिता में दिखते हैं। पूर्व मध्य काल के बाद स्थापत्य विकास में कई और चरण दिखते हैं। जब भी बाह्य शक्ति का प्रवेश हुआ उसका प्रभाव विचारों और भौतिक तत्वों तक व्याप्त होता गया। पूर्वमध्यकाल में जब भारत में सशक्त केन्द्रीय शक्ति का अभाव होता गया। तब बाह्य शक्तियाँ सीमा पार करके अपने प्रभाव को स्थापित करने मे तल्लीन हो गयी। इन बाह्य आक्रान्ताओं में तुर्क और मंगोल प्रमुख थे। इन तुर्कों और मंगोलों ने भारतीय स्थापत्य से बहुत कुछ सीखा भी और दिया भी। इस्लामी विचार धारा के शासक भारत में जहाँ भी स्थापित हुए वहाँ इस्लामिक विचारधारा उत्पादक की अपेक्षा अनुगामिनी अधिक रही है। भारतीय स्थापत्य के विषय में अल बरूनी का कथन है कि ''हम लोग उसे देखकर चकित हैं, हम वैसी वास्तु बना तो क्या सकेंगे, हमारे लिए उसका वर्णन भी कठिन है।''[16]

तुर्क और मंगोलों में भारतीय स्थापत्य के प्रतीकों को ध्वस्त करके उनके अवशेषों पर स्थापत्य की नींव रखी। धीरे–धीरे स्थापत्य का स्वयं से सृजन करने का कार्य भी चल पड़ा। इस्लामिक स्थापत्य में मस्जिद मकबरे और मीनारें प्रमुख थी। मुगल, तुर्क शासकों के सशक्त होने के साथ ही किलों का निर्माण भी होने लगा। कुतुबुद्दीन ऐबक का अढ़ाई दिन का झोपड़ा एक मंदिर को तोड़ कर निर्मित किया गया। यह इमारत इतनी जल्दबाजी में बनी कि पुराने अवशेष आज भी देखे जा सकते हैं। डाटदार तकनीकी का प्रयोग अरबों के द्वारा ही प्रारम्भ की गई। भारतीय क्षेत्र में प्रवेश के बाद भारतीय इस्लामिक कला का प्रादुर्भाव होता है। इस्लामिक कला के प्रभाव के कारण ही मंदिरों में सादगी दिखने लगी। स्थापत्य के अलंकारिक रूप को शान्ति के साथ प्रस्तुत किया जाने लगा। ताराचन्द के अनुसार भारतीय इस्लामिक कला के परिणाम स्वरूप मुस्लिम कला की सरल कर्कशता कम हो गयी और भारतीय कला की बहुलता पर रोक लग गयी। शिल्प कौशल, अलंकरण की प्रचुरता तथा समान्य रचना हिन्दु रही, किन्तु सीधे गुम्बद तथा सपाट दीवारें वृहद ऑगन तथा डाटदार छते मुस्लिम विशेषताएँ थी।[17] स्थापत्य के सुव्यवस्थित रूपरेखा की झलक हमको मुगल काल में दिखनी प्रारम्भ होती है। मुगल शासकों ने यह प्रयास किया कि भारतीय इस्लामिक स्थापत्य को एक मानक रूप प्रदान किया। मुगल शासकों ने अपने प्रभाव वैभव और समावेशों विचारों को भारतीय इस्लामिक स्थापत्य में स्थान प्रदान किया फिर चाहे वह धार्मिक स्थापत्य हो या लौकिक स्थापत्य। इनके नाम और इनके स्वरूप दोनों को समवेत रखने का प्रयास किया गया।

ताजमहल, फतेहपुर सीकरी, दिल्ली सभी स्थानों पर यही विचार दिखता है। इस काल के स्थापत्य में सादगी के साथ वैभव के लक्षण भी दिखते हैं। स्थापत्य में प्रयुक्त सामग्री इस ओर इंगित करती है कि वैभव में भी कोमलता को किस प्रकार से प्रदर्शित किया जाए। संगमरमर और लाल बलुआ पत्थर इसी का प्रमाण है।

यूरोपीय शक्ति के प्रवेश के साथ ही यह सुनिश्चित हो गया अब भारत को केन्द्रीय आधार पर सशक्त होने तक कोई भी स्वशासित नहीं हो सकता। यूरोपीय स्थापत्य के प्रभाव हम चर्च और आधुनिक भवन मे देख सकते हैं। राष्ट्रपति भवन, संसद भवन, गोवा केटल, के चर्च इस के प्रमाण हैं। इसके अतिरिक्त कुछ आधुनिक काल के प्रशासनिक भवन भी इसके साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि स्थापत्य के द्वारा हम इतिहास के विविध पक्षों का परीक्षण कर सकते है। यह परीक्षण प्रमाणिक और निष्पक्ष ही होंगे। इतिहास के किन चरणों में मिश्रण और समावेश दिखता है इसके आधार भी इसके द्वारा रेखांकित की जा सकती है। इसके साथ ही स्थापत्य की विविध शैली तथा उसमें प्रयुक्त सामग्री का ज्ञान भी हमें हो जाता है।

lUnHkZ %

1. प्राचीन भारत का इतिहास एवं संस्कृति, डॉ0 के0सी0 श्रीवास्तव, पृष्ठ–95
2. भारतीय वास्तुकला– डॉ0 पी0एल0 गुप्ता, पृष्ठ–18
3. प्राचीन भारत का इतिहास एवं संस्कृति–डा0 के0सी0 श्रीवास्तव, पृष्ठ–293
4. भारतीय वास्तुकला– डॉ0 पी0एल0 गुप्ता, पृष्ठ–18
5. वही
6. प्राचीन इतिहास भाग तीन– डॉ0 पंकजलता श्रीवास्तव, पृष्ठ–222
7. वही पृष्ठ–227
8. प्राचीन भारत का इतिहास एवं संस्कृति–डॉ0 के0सी0 श्रीवास्तव, पृष्ठ–298
9. प्राचीन इतिहास डा0 पंकजलता श्रीवास्तव, पृष्ठ–235–36
10. प्राचीन भारत का इतिहास एवं संस्कृति डॉ0 के0सी0 श्रीवास्तव, पृष्ठ–373
11. भारतीय वास्तुकला– डॉ0 पी0एल0 गुप्ता, 68
12. प्राचीन भारत का इतिहास एवं संस्कृति–डॉ0 के0सी0 श्रीवास्तव, पृष्ठ–472–73
13. प्राचीन इतिहास भाग तीन–डॉ0 पंकजलता श्रीवास्तव, 253–54
14. वही, पृष्ठ–253
15. वही, पृष्ठ–254

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

ykd dh vo/kkj.kk

f'koUn dqekj ek;;*

चेतना के आधार पर 'लोक' की उपस्थिति हमेशा विद्यमान रही है। इसे निश्चित स्वरूप प्रदान करने की अवधारणा बहुत बाद में विकसित हुई, जिसका श्रेय यूरोपीय विद्वानों को दिया जाता है। इस संदर्भ में सबसे पहले जान आब्रे का नाम लिया जा सकता है, जिन्होंने 'सन् 1668 में सामान्य जनों की प्रथाओं, जीवन–विधियों और अंधविश्वासों आदि का अध्ययन किया। इसी क्रम में 22 अगस्त 1846 को विलियम जान थामस ने अपने एक पत्र में– जो 'एथोनोइयम' में प्रकाशित हुआ था; सभ्य देशों के अपसंस्कृत वर्ग की परम्पराओं, प्रथाओं और मूढ़ाग्रहों का अध्ययन प्रस्तुत करने वाले ज्ञान, विद्या अथवा शास्त्र के लिए यह सुझाया था कि लोक प्रसिद्ध पुरावशेष (पापुलर एंटीक्विटीज) और लोक प्रचलित साहित्य (पापुलर लिट्रेचर) के स्थान पर 'गुड सैक्सन कम्पाउण्ड फोकलोर' होना चाहिए और इस वाक्य–खण्ड में 'फोकलोर' जैसे समस्त पद की अवतारणा कर उन्होंने एक निश्चित अर्थ में उसके प्रयोग की परम्परा चलाई।'[1] यह शब्द इतना लोकप्रिय हुआ कि प्रायः सभी भाषाओं में इसका प्रयोग किया जाने लगा और आज तक उसी रूप में होता आ रहा है। 'डॉ0 फ्रेजर ने अपने विद्वतापूर्ण ग्रंथ 'गोल्डेन बाउ' को 12 भागों में लिखकर इस विषय की दृढ़ आधारशिला पर प्रतिष्ठित कर दिया। ई0 बी0 टायलर ने 'प्रिमिटिव कल्चर' नामक पुस्तक का निर्माण दो वृहत् भागों में किया है, जिसमें उन्होंने आदिम सभ्यता के उद्भव तथा विकास पर प्रचुर प्रकाश डाला है। जर्मन विद्वानों ने भी इस क्षेत्र में बड़ा काम किया है, जिसमें ग्रिम बन्धुओं–बिलियम ग्रिम और जेकब ग्रिम– का कार्य अत्यंत प्रशंसनीय है। उन्होंने जर्मनी की लोक–कथाओं को एकत्रित कर, उनका वैज्ञानिक अध्ययन किया है, जो 'ग्रिम फेयरी टेल्स' के नाम से प्रसिद्ध है। इंग्लैण्ड की 'फोकलोर' सोसाइटी ने इन विषय के अध्ययन तथा अनुसंधान में बड़ा योगदान किया है। अब तक यूरोप का शायद ही ऐसा देश हो जिसमें 'फोकलोर' सोसाइटी की स्थापना न हुई हो। अमेरिका के प्रत्येक राज्य में ऐसी संस्थाएँ स्थापित हैं जिनमें 'अमेरिकन सोसाइटी' सबसे प्राचीन तथा प्रधान है।'[2] भारत में इसका अध्ययन सन् 1784 में एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल की स्थापना से आरंभ होता है। सन् 1829ई0 में कर्नल टॉड का प्रसिद्ध संग्रह 'एनल्स एण्ड एण्टिक्विटीज ऑफ राजस्थान' प्रकाशित हुआ, जिसमें राजस्थान की लोकगाथा का संग्रह है।'[3] भारत में लोक शब्द की अवधारणा का आधार यहीं से माना जा सकता है। किंतु इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि इसकी जड़ें वैदिक काल से भी अधिक पुरानी हैं। इन सबका पुष्पित–पल्लवित रूप है भारत के कर्नाटक राज्य में स्थापित 'फोकलोर विश्वविद्यालय'। जो 'Karnataka Janapada Vishwvidyalaya' नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त कर रहा है।

'फोकोलोर' का पर्यायवाची शब्द 'लोक संस्कृति' या 'लोकवार्ता' है। 'लोक संस्कृति' शब्द दो शब्दों के योग से गठित हुआ है– 'लोक' और 'संस्कृति'। इसका अभ्रिपाय यह लिया जा सकता है कि लोक की संस्कृति अथवा लोकजीवन में प्रयुक्त संस्कृति, जिसका सृजन स्वयं लोक द्वारा हुआ हो। इस प्रकार लोक द्वारा सृजित और प्रयुक्त संस्कृति लोक संस्कृति हुई। इससे यह भी ध्वनित होता है कि जिस संस्कृति की अवस्थिति लोक–चित्त में होती है, वही लोक–संस्कृति कहलाती है। लोक और संस्कृति दोनों व्यापक संज्ञाएँ हैं। दोनों को विखंडित करके नहीं देखा जा सकता। किंतु हमारा ध्येय यहाँ सिर्फ 'फोक' की अवधारणा को समझना है, जिससे इस संस्कृति का सृजन हुआ है।

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

''फोक' शब्द की संकुचित और व्यापक दृष्टिकोणों से सामान्य तथा विशिष्ट 'आदिम कबीले के एक गोत्र, व्यवसाय और परम्परा वाले असंस्कृत निरक्षर–ग्राम्यजन' एवं 'सभ्य राष्ट्र के समग्रजन' दो अर्थ परम्पराएँ रही हैं। 'फोक' की प्रथम अर्थ– परंपरा को मानने वाले विद्वान प्रोफेसर चाइल्ड, कीटरेज, सिजविक, गुव्हेर, लूसो पौंड आदि हैं। दूसरा वर्ग उन विद्वानों का है– जो 'लोक' को जातीय–संस्कृति को वहन करने वाली समग्र राष्ट्रीय–जनता में अन्तर्भुक्त मानते हैं। 'फोक' सामग्री सुसंस्कृत एवं अपसंस्कृत सभी जनों में होती है– जो पुरातन आदिम–संस्कारों के बीज रूप में पायी जाती है और परंपराबद्ध ढंग से आदिम संस्कृति के पुरावशेष अथवा पुरातत्व–रूप में विद्यमान रहती है।'[4] यहाँ दो बातें बिल्कुल स्पष्ट हैं– एक तो यह कि वे विद्वान जो लोक को अपसंस्कृत, निरक्षर, ग्राम्यजन के पर्याय के रूप में देखते हैं। लोक का विस्तार राष्ट्र के समग्र जन का भावबोध कराता है। लोक की इन दोनों अवधारणाओं का विस्तार भारतीय विद्वानों में भी देखा जा सकता है। भारतीय दृष्टि से लोक शब्द अत्यन्त प्राचीन है। लोक शब्द 'फोक' का पर्याय होते हुए भी अपने आप में विस्तार लिए हुए है। इसलिए कुछ अलग अर्थ भी अपने आप में समेटे हुए है। 'साहित्य' के विशेषण के रूप में लोक का प्रयोग इस प्रकार विशद् अर्थ देता है।'[5] खासकर हिन्दी साहित्य के विद्वानों में लोक की जिस अवधारणा को प्रस्तुत किया उसके पर्याय के रूप में हमारे सामने तीन शब्द आते हैं– ग्राम, जन तथा लोक।

जिन विद्वानों के विचारों से लोक की अवधारणा अपना मूर्त रूप ग्रहण करती है, उनकी बातें यहाँ विवेचनीय हैं। सर्वप्रथम पं० रामनरेश त्रिपाठी 'फोक' के लिए 'ग्राम' शब्द का चुनाव करते हैं। ग्राम–साहित्य की भूमिका में वे लिखते हैं– ग्राम–साहित्य इतना विशाल है कि उसके सामने शिक्षितों का साहित्य दाल में नमक के बराबर भी नहीं।'[6] पं० रामनरेश त्रिपाठी की परंपरा के विद्वान डॉ० पूरमचंद श्रीवास्तव का मत है– 'ग्रामों में शिक्षा का प्रसार अभी अधिक नहीं हुआ है। अतः नगरवासियों को छोड़ अन्य सभी ग्रामवासी ऐसे धार्मिक प्रभावों और रूढ़ियों से जकड़े हुए हैं, जिनके अर्थ वे नहीं समझते। अंधविश्वास और बुढ़िया पुराण की बातें उनकी प्रगति में काफी बाधा डाले हुए हैं।'[7] इन दोनों विद्वानों का लोक के लिए 'ग्राम' शब्द का अग्रह थोड़ा भ्रामक लगता है। ग्राम से सिर्फ ग्रामीण परिवेश या उसके क्रियाकलाप का ही बोध होता है। उसमें लोक की जो तात्त्विक संरचना है, वह बाधित हो जाती है। 'आदिपुराण' में ग्राम का स्वरूप इस रूप में आया है– xkeofrifj{kiek=k% L;q% fprkJ;k%A

'kn d"kdHkf;"Bk% lkjkek% lq tyk'k;kAA[8]

(जिनमें अधितर शूद्र और किसान लोग रहते हों, जिनमें बाढ़ से घिरे हुए घर हों तथा जो बगीचों और तालाबों से सहित हों, उन्हें ग्राम कहते हैं।) उपर्युक्त विद्वानों का लोक सम्बन्धी मत, क्या इसी भावबोध का सूचक है? यदि ऐसा है तो वह निश्चित रूप से भ्रामक है। क्योंकि गाँवों की तरह नगरों में या उसके इर्द–गिर्द रहने वाली श्रमशील जनता इस परिधि में नहीं आ सकेगी।

जहाँ जक 'लोक' के लिए 'जन' शब्द की अवधारणा है, तो वह बहुत प्राचीन है। ऋग्वेद में लोक के लिए 'जन' शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है।

; be jkn lh mHk vgfeUnsr"V;A

fo'okfe=L; j{kfr cãekn Hkkjr tuAA[9]

इसके अतिरिक्त वैदिक साहित्य में 'पंचजन' या सप्तजन का उल्लेख प्राप्त होता है। पंचजन या सप्तजन मुख्यतः एक ही जाति समूहों के लिए प्रयुक्त होने वाला शब्द है। इसके सन्दर्भ में विद्वानों का एकमत न होना भ्रामक स्थिति में डाल देता है। हिंदी विश्व कोश के सातवें खंड में पंचजन के अन्तर्गत 'पाँच आर्य जातियों का समूह बताया' गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में देवता, मनुष्य, सर्प, गंधर्व और पितृगण 'पंचजन' के रूप में प्राप्त होता है। सायण भाष्य में चार वर्ण और निषाद गण तथा स्मित्सर ने अनु, दुहचु, यदु, तुर्वश और पुरू को पंचजन में स्थान दिया है। बाद में कुरूओं के सम्मिल होने पर यह सप्तजन में परिवर्तित माना जाता है। पालि ग्रन्थ में 'जन' की अलग अवधारणा है। दीघनिकाय की एक गाथा है –

;u ijr ioP;fUr fil.kk fifVBefldkA

ik.kkfr ikfruk ynnk pkjk udfrdk tukAA[10]

इन विवरणों से यह ज्ञात होता है कि 'जन' शब्द जाति या वर्ग समूह का बोध कराता है। पालि गाथा में वर्णित राठ, चोर, पीठ पीछे निंदा करने वालों आदि का एक वर्ग समूह है, जो 'जन' शब्द का बोधक है। इसलिए 'जन' शब्द का भावबोध कराने वाला कोई क्षेत्र विशेष भी हो सकता है जो गुण, कर्म में समानता रखता हो।

क्षेत्रीयता को दृष्टि में रखते हुए पं0 बनारसीदास चतुर्वेदी के उद्योग से 1952 में 'जनपद' नामक त्रैमासिक पात्रिका की शुरूआत हुई। इसके संपादक मंडल में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी डॉ0 वासुदेव शरण अग्रवाल, डॉ0 उदयनारायण तिवारी आदि विद्वान सम्मिलित थे। 'जनपद' पत्रिका इसी 'जन' की अभिव्यक्ति को मूर्तरूप देने के लिए ही शुरू की गई थी। 'इसके अनुसार जन एक भाषा–भाषी क्षेत्र के आंचलिक निवासी सिद्ध होते हैं, किन्तु यह शब्द अपनी समूची विकास परम्परा में लोक शब्द के व्यापक अर्थ–विस्तार के अन्तर्गत आ जाता है। लोक में ही जन की अवस्थिति होती है। डॉ0 मोती चंद ने 'फोक' के लिए 'जन' शब्द का उपयोग भी किया है, किंतु 'लोक' का जनविशेष–विषयक समस्त ज्ञान 'जन–साहित्य' और 'जन–संस्कृति' आदि पद 'लोकवार्ता' पद में अन्तर्भुक्त हो जाते हैं।[11]

डॉ0 त्रिलोचन पाण्डेय कुमाऊँनी जन साहित्य के अध्ययन में 'लोक' शब्द को भ्रामक बताते हुए 'जन' शब्द को उपयुक्त माना।[12]

भारतीय परंपरा में जड़–चेतनात्मक लोकवृत्त या लोकव्यवहार को लोक कहा गया है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में बताया है– चतुवर्णाश्रमो लोकः।[13] चारों वर्णों और चारों आश्रमों का सम्मिलित नाम 'लोक' है। चारों वर्णों और चारों आश्रमों में समस्त समाज का पूरा जीवन ही समा जाता है। अर्थात् समग्र समाज की पूरी जीवन यात्रा 'लोक' है। यह प्राचीन मत, वर्तमान लोक अवधारणा के निकट प्रतीत नहीं होता। आज की लोक अवधारणा इससे भिन्न है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में 'लोक शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम्य नहीं है, बल्कि नगरों और गाँवों में फैली हुई वह समूची जनता है जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं है।' या डॉ0 कृष्णदेव उपाध्याय का मत आधुनिक सभ्यता से दूर, अपने प्राकृतिक परिवेश में निवास करने वाली, तथाकथित अशिक्षित एवं असंस्कृत जनता को लोक कहते हैं। 'लोक' शब्द की अवधारणा कई विद्वानों ने अपने–अपने मत से प्रकट करने की कोशिश की, लेकिन सबका भाव एक जैसा ही है। अतः यहाँ दो विद्वानों की अवधारणा पर्याप्त है।

'फोक' के पर्याय के रूप में प्रयुक्त शब्द ग्राम, जन तथा लोक में, विद्वानों का झुकाव लोक के प्रति अधिक है। डॉ0 कृष्णदेव उपाध्याय का मत है कि 'ग्राम' शब्द 'लोक' के भाव को व्यक्त करने में नितान्त असमर्थ है। 'ग्राम' शब्द लोक की विशाल भावना को अत्यंत संकुचित कर देता है। यदि गम्भीर दृष्टि से विचार करें तो लोक की सत्ता नगर तथा ग्राम दोनों में समान रूप से विद्यमान है।'[14] इसी प्रकार 'जन' शब्द प्राचीन तथा सामान्य जनता की भावना का बोधक होने पर भी फोक का कभी भी पर्यावाची नहीं हो सकता। यह संकीर्ण होने के साथ–साथ अव्याप्ति दोष से ग्रस्त है।'[15] लोक साहित्य के प्रति अपनी स्वीकृति प्रदान करते हुए पं0 राहुल संकृत्यायन लिखते हैं– किसी देश के शिष्ट साहित्य से पूर्णतया परिचित होने के लिए उसके लोक साहित्य का अध्ययन आवश्यक है। शिष्ट साहित्य का लोक साहित्य से घनिष्ट संबंध है। वास्तविक बात तो यह है कि शिष्ट साहित्य, लोक साहित्य का ही विकसित, संस्कृत तथा परिमार्जित रूप है।'[16] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत है 'लोक में फैली दुःख की छाया को हटाने में ब्रह्म की आनंद कला जो शक्तिमय रूप धारण करती है, उसकी भीषणता में भी अद्‌भुत मनोहरता कटुता में भी अपूर्व मधुरता प्रचण्डता में भी गहरी आर्द्रता साथ लगी रहती है।'[17] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं – 'अपभ्रंश लोक में प्रचलित भाषा का नाम है।'[18] डॉ0 नामवर सिंह का मत है– 'लोक–धर्म साधारण जनों के विद्रोह की विचारधारा है।'[19] डॉ0 मैनेजर पाण्डेय लोकसंस्कृति व लोककला के महत्व को स्वीकार करते हुए लिखते हैं– हमारे यहाँ लोक संस्कृति और लोक कलाओं का सहज रूप किसानों और आदिवासियों के यहाँ मिलता है। लोक कला जन–जीवन में बसी होती है।[20]

उपर्युक्त विद्वानों की लोक–चिंता को देखते हुए एवं अन्य विद्वानों के आग्रह का सम्मान करते हुए 'लोक' शब्द को सहज स्वीकार्य कर लेना चाहिए। अन्य शब्दों की अपेक्षा लोक शब्द वर्तमान समय

में अधिक प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है। 'लोक' की अवधारणा अबाध रूप से अनजाने काल से ही प्रवाहित है। इसकी अन्तर्धारा न जाने कितने रूपों में लोगों के अन्तर्मन को सिक्त करती आयी है। लोक की रंग–बिरंगी दुनिया उसकी बोली में, वेशभूषा में, आस्था में, उल्लास में, उत्सव में, विश्वास में, शोक में, आचरण में व्यवहार आदि में हर क्षण महसूस की जा सकती है। लोक की अवधारणा के बिल्कुल स्पष्ट हो जाने से लोगों का झुकाव इस ओर अधिक बढ़ा है। हिन्दी साहित्य लोक–धर्मी परम्परा का साहित्य है। इसके लगभग सभी रचनाकारों ने लोक की महत्ता को स्वीकार किया है और अपनी रचनाओं में उसकी प्रतिष्ठा की है।

lUnHkZ %

1. मध्ययुगीन भक्ति साहित्य का लोकतात्विक आधार– डॉ गया सिंह, भारतेन्दु संस्थान, वाराणसी, संस्करण द्वितीय, आवृत्ति 2011, पृ0 13
2. लोक साहित्य की भूमिका– डॉ0 कृष्णदेव उपाध्याय, साहित्य भवन (प्रा0) लिमिटेड, इलाहाबाद, संस्करण 2012, पृ0 15
3. लोक साहित्य एवं भोजपुरी लोकसाहित्य– डॉ0द्विजराम यादव, डॉ0 विजय कुमार, नीलकमल प्रकाशन, गोरखपुर, संस्करण 2004, पृ0 22
4. मध्ययुगीन भक्ति साहित्य का लोकतात्विक आधार–डॉ0 गया सिंह, पृ0 14
5. कुमाऊँनी लोक साहित्य, संस्कृति, भाषा एवं साहित्य– डॉ0 पुष्पलता भट्ट, संजय प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, पृ0 8
6. ग्राम–साहित्य (पहला–भाग)– सं0 रामनरेश त्रिपाठी, हिन्दी मन्दिर, प्रयाग, प्रथम संस्करण, 1951
7. लोक साहित्य–डॉ0 इन्दु यादव, साहित्य रत्नालय, कानपुर, संस्करण 2004, पृ0 03
8. आदिपुराण (षोडष पर्व)– आचार्य जिनसेन, सं0 एवं अनु0 पं0 पन्नालाल, जैन साहित्याचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ
9. ऋग्वेद 3/55/12
10. दीघनिकायपालि (पाथिकग्गो) – सं0 एवं अनु0 स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, बौद्धभारती प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण 1996, पृ0 75।
11. मध्य कालीन भक्ति साहित्य का लोकतात्विक आधार–डॉ0 गया सिंह, पृ0 16
12. लोक साहित्य–डॉ0 इन्दु यादव, पृ0 2
13. अर्थशास्त्र – 15/1/9
14. लोक साहित्य की भूमिका–डॉ0 कृष्णदेव उपाध्याय, पृ0 16
15. मध्ययुगीन भक्तिसाहित्य का लोकतात्विक आधार, डा0 गया सिंह, पृ0 17
16. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (षोडश भाग) सं0 पंडित राहुल संकृत्यायन, डॉ0 कृष्णदेव उपाध्याय, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं0 2016 वि0 संपादकीय वक्तव्य से पृ0 13
17. चिंतामणि (भाग एक) – आचार्य रामचंद्र शुक्ल, प्रकाशन संस्थान नई दिल्ली, संस्करण 2011 पृ0 159
18. हिंदी साहित्य की भूमिका – आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2010 पृ0 27
19. दूसरी परम्परा को खोज – डॉ0 नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2008, पृ0 96
20. भारतीय समाज में प्रतिरोध की संस्कृति–मैनेजर पाण्डेय वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली संस्करण 2013, पृ0 185

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

fgUnh miU;kl e¡ ^vkfnoklh vfLerk*

vfdrk p©/kjh*

समकालीन साहित्य समाज में आदिवासी जीवन और आदिवासी अस्मिता बोध को ध्यान में रखकर हिन्दी साहित्य के गद्यात्मक और पद्यात्मक दोनों ही विधाओं में खूब चर्चा रही है और गहन वैचारिक समझ के साथ इस विषय पर बहस–तलब होती दिखी है। हिन्दी प्रदेशों में, उसमें खासकर हरियाणा, दिल्ली, पंजाब, उत्तर–प्रदेश, हिमाचल प्रदेश, उत्तराखण्ड, राजस्थान, गुजरात, मध्य प्रदेश, बिहार, उड़ीसा, झारखण्ड, छत्तीसगढ़ प्रान्त प्रमुख रूप से ये प्रदेश हिन्दी–प्रदेश के आदिवासी जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करते हैं। पूर्वोत्तर के पश्चिमी बंगाल एवं आन्ध्रप्रदेश के आदिवासीयों को छोड़कर शेष आदिवासी जनसंख्या इन्हीं 'हिन्दी प्रदेशों' में पायी जाती है।

भारतीय आदिवासी समुदायों पर लेखन का श्री गणेश भी औपनिवेशिक दौर में ही हुआ। ओरियंटलिस्ट ने अपनी कौतूहल और हिकारत भरी नजरों से इन्हें देखा, समझा। इसके पूर्व भारतीय इतिहास में इन आदिवासी समाजों की चर्चा भारतीय ऐतिहासिक–पौराणिक मिथकों में हुई है। परंतु वह तमाम विकृतियों को समेटे हुए है। आदिवासी समुदाय अपने अतीतकालीन जंगलों, पहाड़ी इलाकों में अपने कठोर जीवन मूल्यों के साथ जीवित रही हैं। अलग तरह की भाषा–संस्कृति, जीवन शैली होने के कारण यह शेष समाज या व्यवस्था के हस्तक्षेप से दूर रहे हैं। यह सुखद पहलू है कि इनकी आदिवासी संस्कृति परम्परा व जीवन शैली इन विकास प्रक्रियाओं के उलट–पलट से अप्रभावित और संरक्षित रही है। परंतु दुखद पक्ष भी यही है कि ये वर्तमान समाज का हिस्सा होने के बावजूद इस औद्योगिक समाज में अपनी जीविका और जीवटता के लिए संघर्षरत है। डॉ0 ब्रह्म देव शर्मा ने लिखा है कि–''आदिवासी क्षेत्रों की विशेषता है उनका अलगाव उनकी आर्थिक गतिविधियों का धीमा स्पंदन और एक स्वयं पूर्ण सामाजिक संरचना। उनके अलगाव के लिए वहाँ की कठिन भौगोलिक स्थिति ही जिम्मेदार है। इन भौगोलिक अवरोधों ने आदिवासी को अब तक संरक्षण दिया है और उन्हें अपनी अलग पहचान कायम रखने में सहायता की है। भारतीय उप–महाद्वीप के लंबे इतिहास में विभिन्न प्रदेशों में जैसे–जैसे भौगोलिक अवरोध कम होते गए, स्थानीय आदिवासी समाज या तो नवोदित विशाल समाजों में पूरी तरह विलीन होते गए, अथवा जहाँ उसका अपना वर्ग स्वयं ही काफी बड़े आकार का था, उन्होंने अपनी पहचान तो बनाए रखी परंतु उन्हें वृहत्तर सामान्य सामाजिक व्यवस्था में एक निर्धारित स्थान मिल गया। कुछ आदिवासी समाज शैल वनों में और भी पीछे चले गए और वहाँ वे अपना अलग अस्तित्व बनाए रखने में सफल हुए।''[1] आदिवासी समाज आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में अपनी भाषा और जातीय सामाजिक बुनावट के कारण अलग–थलग रहा है। धर्मांतरण और सरकारी प्रयासों ने इन्हें मुख्यधारा के वृहत्तर समाज में समाहित करने का प्रयास किया है, परंतु इस मुख्यधारा के विकृत, सामंतीय, वर्चस्ववादी मानसिकताओं के कारण वहाँ भी इन्हें इन्ही उपेक्षित स्थिति और निम्नतर समझी जाने वाली सोच का शिकार होना पड़ा है। इस तरह आदिवासी समाज की अपनी स्वायत्त अस्मिता, अस्तित्वबोध से जुड़े प्रश्न सदैव ही विचारणीय प्रश्न रहे हैं। धर्म की संरचना पर बात रखी जाय तो 'ईसाई' और 'हिन्दू' सम्प्रदायों ने इन्हें सर्वाधिक प्रभावित किया। इनके धार्मिक देवता, परम मित्र 'सिंह बोगा' और धर्म 'सरना' भी इन धर्मों के आगे उपेक्षित ही है। ये हिन्दू या ईसाई धर्म–संस्कृति में दीक्षित होने के बाद पौराणिक मिथकों की परम्परा के शरणार्थी ही समझे जाते हैं।

*शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

इनकी 'स्वायत्त ढ़ाचे की मान्यतायें, रीति–रिवाज, जीवट परम्पराएं दिखलाई ही नहीं पड़ती। अतः मुख्यधारा बनाम आदिवासी समाज का द्वैध इन्हें सामाजिक, सांस्कृतिक और मानसिक स्तर पर झकझोरता रहा है।

सांस्कृतिक, भाषाई बुनावट में ये आदिवासी समाज मुख्यधारा के समाज से बहुत भिन्न रहे हैं। आधुनिकीकरण के साथ ही इनकी भाषा–संस्कृति के विस्थापन की समस्या को देखते हुए यू0एन0ओ0 ने अपनी एक सर्वे रिपोर्ट पेश की थी।सबसे बड़ी बात है भाषा का विकास जनसंख्या, तंत्र और शिक्षा नीतियों पर निर्भर करता है। जनसंख्या के प्रश्न पर यह सीमित समुदाय व्यवस्था में रहने वाली जातियां हैं और तंत्र में इनके भाषा–संस्कृति के प्रति कोई संरक्षात्मक नीति निर्देश दिखाई नहीं पड़ते। अंग्रेजी अपना वर्चस्व कायम इसलिए कर पाई क्योंकि वह किसी भी भाषा में 'अनुवाद' की जा सकती है। कोई भी भाषा उनके अनुरूप अपनी भाषाई कन्वरकेसन स्किल विकसित कर सकती है, परंतु इन आदिवासी भाषाओं की लिखित व्यवहारिक आधारशिला ही नहीं तैयार की जा सकी। इसकी कमजोर कड़ी है शिक्षा तंत्र। शिक्षा तंत्र ही भाषा को सुबोध और लिखित रूप में ढालने का आरंभिक कार्य करता आया है और इन आदिवासी क्षेत्रों में शिक्षा की भाषा भी क्षेत्रीय न होकर प्रादेशिक है। रमणिका गुप्ता जी ने लिखा है कि ''आदिवासियों की शिक्षा उन्हें अपनी भाषा में न देकर प्रदेश भाषा में दी जाती है। राजस्थान का भील 'स' को 'च' बोलता है। हजारीबाग का आदिवासी 'य' को 'अ' बोलता है। किसी स्कूल में जब भील का बेटा पढ़ने जाता है और 'समोसा' को 'चमोचा' बोलता है तथा हजारीबाग और रॉची में 'याद' को 'आद' कहता है तो बाकी हिंदी भाषा बच्चे उसे चिढ़ाते हैं और वह स्कूल छोड़ देता है। आदिवासियों को शिक्षित करने और उनकी भाषाओं को बचाने का एकमात्र तरीका है, उन्हें स्कूलों में मातृभाषा में पढ़ाया जाए। आदिवासियों की अशिक्षा का दूसरा कारण है स्कूलों में आदिवासी अस्मिता विरोधी या असंबंध तथा अप्रचलित पाठ्यक्रम का होना। राजस्थान में एक प्राइमरी स्कूल की पुस्तिका में लिखा है– ''भील एक चोर होता है।'' देश के हिंदी क्षेषों के स्कूलों में या अन्य हिस्सों में पढ़ाया जाता है कि वे दैत्य या दानव है। पूरी रामायण इनकी अवमानना की गाथा है तो महाभारत इन्हें उगने का वृत्तांत। इस प्रकार पाठ्यक्रम के माध्यम से उन्हें अपमानित किया जाता है। फलतः यह उनके मन में बाकी सब के प्रति संदेह और उनके अपने भीतर हीनताबोध पैदा करता है। पाठ्यक्रम में इसलिए भी बदलाव की जरूरत है।''[2] शिक्षा संबंधी समस्याओं को देखते हुए, निश्चित ही एक बड़े बदलाव और फैसले की आवश्यकता है।

आदिवासी समाज के अस्मिताबोध से जुड़े प्रश्नों की उपेक्षा राजनीति, साहित्य, समाज में बहुत समय से होती रही है। हिन्दी साहित्य में भी ये प्रश्न हाल–फिलहाल के कुछ वर्षों में उभरकर बहस–विमर्श का हिस्सा बने हैं। वंचितों के साहित्य पर नजर डाले तो 'स्त्री विमर्श', 'दलित विमर्श' की आपेक्षा आदिवासी साहित्य पर कम ही लिखा गया है। जो साहित्य लिखा गया है उसमें भी दो भिन्न दृष्टिकोण देखने को मिलते हैं– एक आदिवासी स्वानुभूति से प्रेरित है, तो दूसरी गैर आदिवासी स्वानुभूति से प्रेरित। रमेशचन्द्र मीणा ने लिखा है– ''आदिवासियों पर जब भी गैर आदिवासी लेखक लिखेगा तो उनकी संवेदना और दृष्टि में अंतर रहेगा ही, क्योंकि यह समाज मुख्यधारा से अलग–थलग रहा है। लेखक अपनी जाति का साहित्य लिखता है जातीय संवेदना पर दूसरे कैसे लिख सकते हैं।''[3] तथ्यात्मक दृष्टि से यह कथन उचित लगता है परंतु यह भी सत्य है कि गैर आदिवासी लेखन मात्र जातीय सहानुभूति की अनुभूति नहीं, बल्कि आदिवासी जीवन संघर्ष के विविध आयामों से मिलने वाली प्रेरणा, प्रोत्साहन और 'स्वतंत्रता की आकांक्षा' के पक्षधरता भी है। इसे 'सृजन की वेदना' के साथ समझना चाहिए। समकालीन हिन्दी कथा साहित्य के 'उपन्यास' विधा में 'आदिवासी अस्मिता से जुड़े प्रश्नों को, इस विधा की जीवन संघर्ष की बुनावट के साथ उकेरा गया है। ''हिंदी उपन्यासकारों में रांगेय राघव, राजेन्द्र अवस्थी, संजीव, तेजिंदर, मधु कॉंकरिया, मनमोहन पाठक, राकेश कुमार सिंह, हरिराम मीणा, श्रीप्रकाश मिश्रा आदि ने जनजातीय अस्मिता के प्रश्न को व्यवस्थित ढंग से उठाया है। इन्होंने आदिवासियों के अलगाव, बदलाव की चेतना, अपनी अस्मिता को बचाए रखने की जद्दोजहद तथा परिवर्तन की आहटों को अपनी कमल से शानदार अभिव्यक्ति प्रदान की है।''[4] कथा साहित्य में देवेन्द्रनाथ सत्यार्थी ने 1952 में 'रथ के पहिये' नामक उपन्यास, मध्य प्रदेश

के गोण्ड आदिवासी जनजीवन को केन्द्र में रखकर लिखा। इस उपन्यास में गौण्ड आदिवासी के विविध पक्षों के संघर्ष की प्रामाणिक और संवेदनशील अभिव्यक्ति हुई है। हिन्दी के पाठकों में आदिवासियों के ऐतिहासिक संघर्ष, और समस्याओं, प्रतिरोध की समझ 'महाश्वेता देवी' के उपन्यासों के अनुहित पुस्तकों से मिली जो केवल परिचयात्मक ही है। आंचलिक उपन्यासकार 'फणीश्वरनाथ रेणु' के 'मैला आंचल' में संथाल जीवन पर प्रकाश डाला है। इस उपन्यास में 'पूर्णिया' गाँव के किसानों तथा संथालों का शोषण होता दिखया गया है। उन्होंने लिखा है कि–''संथाल लोग गाँव के नहीं, बाहरी आदमी है।''[5] रेणु जी मानते हैं कि समाज में विषमताएँ, अंधविश्वास मौजूद है और इसी वजह से संथाल जनजाति हर मोड़ पर शोषित होती रहती है। उपन्यास में सामंती उत्पीड़न के खिलाफ लड़ने वाली जनता का एक हल्का सी झलक यहाँ देखने को मिल भी जाता है। रेणु ने संथालों की स्वच्छता, नृत्यकला तथा बहादुरी का सशक्त चित्रण उपन्यास में किया है। देवेन्द्र सत्यार्थी ने 'रथ के पहिए' के पश्चात् 'ब्रह्मपुत्र' (1956) में लिखा, जो पूर्वोत्तर आदिवासियों पर आधारित हिन्दी का पहला उपन्यास है। इसमें आदिवासियों के विविध पक्षों के साथ प्रकृति, बाढ़, बर्बादी की प्रतीक ब्रह्मपुष नदी और उसी को कथा नायिका के रूप में स्थापित किया गया है। वही रांगेय राघव कृत 'कब तक पुकाँरू' उपन्यास राजस्थान के नट जनजातीय और मुख्यधारा के मध्य के सामाजिक सांस्कृतिक जड़ताओं और राजनीतिक स्वार्थ संघर्षों के आधार पर निर्मित हुआ है। नट जाति की उपेक्षित जीवन की समस्यायों को उठाते हुए, उसके अस्तित्व, अस्मिता और सम्मान के प्रश्नों को खुदेरा गया है।

1947 के आजादी के बाद आँचलिक उपन्यास का महत्वपूर्ण दौर आता है। इस दौर में नागार्जुन के रचनात्मक अवदान की खूब चर्चा होती रही है। नागार्जुन का उपन्यास 'वरुण के बेटे', बिहार के दरभंगा जिले के सामाजिक जीवन के विविध रंगों को सामने लाता है, इस उपन्यास में अंचल विशेष की भाषा, संस्कृति, जीवन शैली और विषमताओं से उपजी समस्याओं को उकेरा गया है। इस उपन्यास में 'मोहन मोहनी' के नायकत्व में मछुआरों की सामान्य जनजातीय विशेषताओं को कठिन जीवन–स्थितियों के अनेक अंतरंग विवरण उल्लेखित किए गए है। यह उपन्यास कोसी सहित अन्य परियोजनाओं के दुष्परिणाम के प्रभाव, कुठाराघात को सामने लाता है। मछुआरों के अस्मिता और अस्तित्व के संघर्ष को अभिव्यक्त करता है। उदय शंकर भट्ट कृत 'सागर लहरें और मनुष्य' उपन्यास भी 'मछुवारों की झोली जनजाति के सामाजिक–सांस्कृतिक, परंपरागत मान्यताओं का दिखाया गया है। 'मैला आँचल' की तरह ही यह दूसरा ऐसा उपन्यास है जिसमें आदिवासी समाज के संस्कार, रीति–रिवाजों के साथ, उनकी एक स्वायत्त, स्वतंत्र छवि को पेश किया गया है। वृन्दावन लाल वर्मा प्रेमचंदोत्तर ऐतिहासिक उपन्यासकारों में से एक है, उन्होंने 'मृगनयनी' नामक आंचलिक उपन्यास लिखा। ऐतिहासिक पात्र मृगनयनी के आधार पर उन्होंने ऐतिहासिकता के सहारे अनुभवजन्य दृष्टि का परिचय दिया है। नगरीय सभ्यता की प्रवृत्तिया, जनजातिय सभ्यता के जीवन शैली को ऐसे प्रभावित करती है कि जनजाति, आदिवासी समाज अपनी अपनी वंशावली अस्मिता पर खतरे पाने लगता है। उपन्यास में 'मृगनयनी' राजमहल के राजसी ठाठ–बाट से मुखातिब होती है। परंतु उसके जातीय संस्कार उसे राजमहल में भी कचोरते हैं। उसे यह एहसास बार–बार हाता है कि उसकी वनवासी अस्मिता छिन रही हैं वह मानसिंह से धीमें स्वर में कहती है– ''अपनी नदी, अपने गाँव की नदी के शुद्ध जल को याद करने लगी थी।''[6] अतः यहाँ पर लेखक ने इतिहास के सहारे अस्मिता परिवर्तन की प्रक्रिया तथा 'मृगनयनी' नामक पाष के आत्मविश्वास को जाँचा–परखा है। आगे चलकर वृंदावन लान वर्मा ने 'गोड़ जनजातीय चेतना' को आधार बनाकर 'कचनार' उपन्यास लिखा इसमें इतिहास और परम्परा दोनों का उपयोग किया गया है। इस उपन्यास में सामंतीय कुचकों में किए जा रहे शोषण को मुख्यतः उभारा गया है। 'कचनार के माध्यम से लेखक ने जनजातीय जीवन में 'स्त्री जीवन' के विसंगतियों और त्रासद स्थिति के असंतोष को दिखाने का प्रयास किया है। कचनार 'स्वाभिमानी आदिवासी स्षी' है। सामंत वर्ग की दृष्टि और आदिवासी स्त्र के स्वाभिमान के स्वर को लिपिबद्ध करते हुए लेखक के ये अंश देखे 'दासी तो हूँ ही। आपकी और दादी की अन्य सब सेवा करूँगी, परन्तु मैं ऐसा अँगरखा नहीं बन सकती जो जब चाहा उतारकर फेंक दिया।' 'यदि मैं जबरदस्ती करूँ?' असंभव है। आप मुझको तुरंत मरा हुआ पाएँगे।''[7] पूरे

उपन्यास में जनजातीय स्त्री, परिवेश में अपने वजूद को टटोलती रहती है।

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कथाकारों में राजेन्द्र अवस्थी रचित 'जंगल के फूल' बहुचर्चित रचना है। यह उपन्यास, मध्य प्रदेश के गोंड़ आदिवासियों के पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर लिखा गया है। उपन्यास की कथावस्तु में दंतेवाड़ा, पेटानार, बेमूर, फूलफार, नयानार आदि गाँव आते हैं। इस उपन्यास में गोंड आदिवासियों की जमीन को अंग्रेजों द्वारा छीन लेने की चर्चा है। ब्रिटिश साम्राज्य के शोषण से त्रस्त गोंड जनजातीय समाज की सतर्कता का उल्लेख इस उपन्यास में हुआ है। यह जनजाति अपनी संस्कृति अपनी जमीन, जल, जंगल से अपने आपको गहरे रूप में जुड़ी पाती है और अपनी जमीन पर स्वायत्तता चाहती है। उपन्यास में जंगलों से बेदखल करने, सरकारी प्रक्रिया, स्थानीय पुलिस प्रशासन का तानाशाही रवैया तथा अपने वजूद को बचाने के संघर्ष और उसकी पीड़ा का वर्णन मिला है। इस उपन्यास में भी आदिवासी स्त्री के 'स्वाभिमान' और 'अस्मिता' को बचाने की दोहरी चुनौतियों के संघर्ष को व्यक्त किया गया है। एक ओर वे गैर आदिवासी समाज के लोगों के 'काम दृष्टि' का साधन समझी जाती है, तो दूसरी ओर उसके समाज के लोगों से भी उसे उतना ही खतरा होता है। क्योंकि प्रत्येक समाज में स्त्री अपने घरों में अपनी जमीन पर बहुत से अधिकारों और सम्मान से वंचित होती है। इस उपन्यास में उसकी 'स्वतंत्र अस्मिता' की खोज से जुड़े प्रश्न तलाशे गए हैं। 'शैलूष' शिवप्रसाद सिंह द्वारा रचित उपन्यास है। इसमें लोक–संस्कृति की पृष्ठभूमि पर बुने गए, खानाबदोश आदिवासी नट आदिवासी समूह के जीवन संघर्ष को पाठ के वर्ग के समक्ष रखा गया है। अस्मिता संकट से जूझते इस जाति के विस्थापन के दर्द को उपन्यास में पिरोया गया है। 'शैलूष' कबलाई जीवन पर लिखा गया पहला हिंदी उपन्यास है, जो कथाक्रम को परिवर्तन की दहलीज पर ले जा रहा है। और उच्च–निम्न की समाजशास्त्रीय ऐतिहासिक परिभाषाओं, मान्यताओं पर प्रश्न खड़ा करता है।

राजेन्द्र अवस्थी का 'सूरज किरन की छाँव' में लिखा गया उपन्यास आदिवासियों के 'धर्मांतरण' की समस्या पर केन्द्रित है। आदिवासी समाज की 'धार्मिक अवधारणा' टोटम पर आधारित होती है। 'हिन्दू धर्म', 'मुस्लिम धर्म', 'ईसाई धर्म' जैसे व्यवस्थित और समाज व्यवस्था से जोड़ने वाली धार्मिक व्यवस्था का उनके समाज में ऐसा ढाँचा नहीं होता। यही कारण है धर्म का संस्थात्मक व्यवस्था उनके समाज में नहीं मिलती। धार्मिक संस्थाओं से जुड़ने के बाद वे आधुनिक समाज के आचार–विचार से जुड़ी शिक्षा–दीक्षा, रोजी–रोटी के नियम संयम के व्यवस्थाओं से परिचित होकर, आधुनिक समाज से जुड़ जाते हैं परन्तु इसके साथ ही वे अपने मूल स्वतंषता को खो देते हैं। उनसे लाभांश की इच्छा रखने वालों का वर्ग उन्हें निम्नतर जताकर उनका शोषण करता है। इस उपन्यास में भी नगरीय सभ्यता के प्रति आकर्षित बंजारी स्त्री, क्रिश्चियन लड़के से विवाह कर मिस बेंजो जोसेफ बन जाती है। दुश्चक्रमें फंसी वह मुख्यधारा के लोगों के छल, प्रपंच और चालाकियों की समक्ष अपनाती है और पुनः अपने अस्तित्व और अस्मिता के संघर्ष को लड़ने के लिए गाँव वापस लौटती है। लेखक ने मुख्यधारा के मुखौटों और आदिवासी समाज के भोलेपन के अंर्तसंवेदनाओं और अर्न्तद्वन्द्व संघर्षों को बखूबी लिखा है।

'आदिवासी विमर्श' से जुड़े 'तेजिंदर' ने 'काला पादरी' नामक आदिवासी उपन्यास लिखा है। लेखक आदिवासी जीवन के संगती–विसंगति पक्षों को बहुत ही निकटता से देखते परखते हैं। उन्होंने उपन्यास में 'जेम्स खाखा' के नायकत्व में आदिवासी जीवन के संघर्ष यथार्थबोध को स्वर देने का प्रयास किया है। धर्मांतरण और आधुनिक समाज व्यवहार की जद्दोजेहद उसकी तीन पीढ़ियों का संघर्ष रहा है। वह मुख्यधारा के समाज में भी आदिवासी संस्कारों से विक्षोभ नहीं बना पाता। उसके द्वन्द्व का बड़ा हिस्सा धर्मान्तरण बनाम आमीविका का शर्तवेदी है। उस मुख्यधारा के सभी जोड़–घटाव की राजनीति समझ में आती है। अत; वह अपने जातीय अस्मिता और स्वतंष अस्तित्व की टोह में भटकता हुआ अंततः अपनी भूमिका और भागीदारी सुनिश्चित कर लेता है, वह कहता है– ''अब हम और बर्दाश्त नहीं करेंगे व बेगार और न प्रार्थना।''[8]

मनमोहन पाठक 'गगन घटा घहरानी' उपन्यास 'उरॉव जनजाति के संघर्ष भाषा को उजागर करते हुए लिखते हैं। इसमें भी जमीन की बेदखली, सामंती शोषण की शिकार जनजाति के अस्मिता और

अस्तित्वबोध से जुड़े प्रश्न उठाये गए हैं। यह उपन्यास झारखण्ड के पलामू क्षेत्र के आदिवासी सांस्कृतिक–राजनीतिक तंत्र का परिवेश खिंचता है। 'पलाम' को गरीब भारत को आइना कहा जाता है। इस क्षेत्र पर अन्य रचनाकारों में 'धपेल' नामक उपन्यास भी लिखा गया है जो 1993 के सूखे, अकाल की त्रासदियों और जनजीवन, जंगल की समस्याओं की वास्तविकता सामने लाता है।

हिंदी कथा साहित्य में पहली बार 'मिजों जनजाति' के विविध पक्षों को लेकर लेकर श्री प्रकाश मिश्रा ने 'जहाँ बास फूलते हैं।' उपन्यास में लिखा। उत्तर–पूर्व की मियो जनजाति भी अपनी जातीयता और अस्तित्व, अस्मिता के संकट से गुजर रही है। मुख्यधारा के समाज के आतंकित रवैये से वह भी अछुता नहीं है। उपन्यास में लेखक ने मियो जनजाति की भाषा, संस्कृति तथा उनके जीवन संगति करने वाले जल, जंगल, जमीन को बखूबी उकेरा है। उपन्यास में दिखाया गया है कि सत्ता, राजनीति और सेना के अराजक तत्व किस तरह उन्हें प्रताड़ित और पीड़ित करते हैं। इसमें भी समाज, जातीय संस्कार की अर्न्तद्वन्द्व, त्रासदीयों को उकेरते हुए स्त्री के दोहरे संघर्ष का वर्णन किया है।

आदिवासी उपन्यास लेखन में अपनी मुकम्मल पहचान बना चुके 'संजीव' सातवें, आठवें दशक के ऐसे रचनाकार हैं, जिनकी लेखनी लम्बे समय से इस वंचित तबके, समुदाय के अस्तित्व, अस्मिता की लड़कियों में हिस्सा लेती रही है। संजीव जनजातीय समाज के भीतर हो रहे सरकारी भ्रष्टाचार के, उभरते माफिया, गिरोह बंदी, अराजकता और हथियारबंद होकर खड़े होते लोगों के मन और तेवरों को बहुत ही सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक धरातल के साथ सामने लाया है। इस उपन्यास में पश्चिमी चंपारण के बेतियाँ अंचल के 'थारू जनजाति की यातनाओं, बेबसी, घुटन तथा अपने स्वाभिमान को लड़ते हुए लड़ाकों को दर्शाया गया है। इस उपन्यास में एक तरह के अपराधिक प्रवृत्तियों को भी सामने लाने का प्रयास हुआ है जो वंचित और वर्चस्ववादी दोनों में संघर्षरत है। थारू जनजाति अपने शोषण प्रक्रिया से बचने के लिए हथियार बद्ध होकर डकैती अपनाने को विवश हुई है। इन आदिवासी में गिरोहबंदी माओवादी समस्या को चुनने की विवशताएँ रही हैं। लेखक ने इस उपन्यास में इस तरह के पैदा होते अपराध समाजशास्त्र की वजहों, कारणों की पड़ताल करते हुई, 'काली','जोगी' जैसे पात्रों के माध्यम से उनकी जमीनी हकीकत सामने लाने का प्रयत्न किया है। लेखक ने लिखा है, 'डाकू समस्या कोई ऊपर का आवरण नहीं है कि आप उसे खरोचकर फेंक दें। इनकी जड़ों में भूमि सुधार का न होना, ढ़ीला प्रशासन, पॉलिटिकल शेल्टर, रोजगार की समस्या, धर्म, टिपिकल भौगोलिक स्थिति वगैरह है– ये सब इंटररिलेटिड है। सारा कुछ दुरुस्त कर दीजिए, रोग खुद ब खुद खत्म हो जाएगा।''[9] संजीव का मानना है कि आदिवासियों की अस्मिता को बचाए रखने के लिए जंगल पर इनकी संस्कृति की स्वायत्ता जरूरी है। वे लोकतंत्र की असलता को प्रजातंत्र के प्रहसनों के रूप में रचते हुए, आदिवासी दुनिया की पीड़ा को समझना और समझाना चाहते हैं।

आदिवासी विमर्श से जुड़ी हुई अस्मिता मूलक प्रश्नों को सामने लाते बीसवीं सदी के कुछ अन्य उपन्यास भी हैं जिनमें मैत्रेयी पुष्पा की 'आल्मा कबूतरी' है। जो 'कबूतरा जनजाति' को आधार बनाकर लिखी गई। लेखिका ने बुंदेलखण्ड की धरती पर बसी उस जनजाति का जिक्र किया है, जो अपनी दुविधाओं के चलते अस्मिता–संकट से जूझ रही है। चोरी इनकी अगली पीढ़ी की नस में बसने वाली प्रथा सी हो गई थी। रामसिंह कहता है कज्जा लोगों के बच्चा पढ़ते हैं, हमारे चोरी–चकारी में लगे रहते हैं। ''उपन्यास सामंती दुष्चक्रों के चलते जनजातीय समाज की षासदी भरी गाथा कहता है। पुलिस, प्रशासन की निगाहों में कबूतरा जनजाति चोर है। इसी पहचान के चलते रामसिंह खुद और मरने के बाद उसकी बेटी 'अलमा' अपने वजूद की लड़ाई हार जाती है।''[10] चोरी या बदमाशी इस समाज का नियम या प्रथा या परंपरा के तौर पर परिभाषित होती रही है परंतु ऐसा नहीं है कि वे मुख्यधारा के समाज के समान ही गरिमापूर्ण जीवन नहीं चाहते। वे सम्मानित जीवन बोध, अस्तित्व अस्मिता की ओर मुड़ते हैं, लड़ते हैं परंतु उनका यह संघर्ष कोई सकारात्मक रूप नहीं ले पाया। यह प्रश्न चिन्ह उनकी असफलता नहीं बल्कि मुख्यधारा के समाज की कड़वाहट और लोलुपता को ज्यादा बयाँ करती है। जनतांत्रिक समाज का हिस्सा होकर भी वे अपने सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक विकास के लिए उपेक्षित हैं। लेखिका ने उनकी संघर्ष करने की हिम्मत, पुराने मूल्यों को बचाए रखने के हौसलें तथा कठिनतम कठोर स्थितियों के संघर्ष के

जीजिविशा को 'अस्मिता संघर्ष' के विचारों के साथ उपन्यास में उभारा है। उपन्यास में स्त्री अस्मिता को कदम, भूरी, अल्मा इत्यादि सभी जनजातीय स्त्रियों की 'अस्मिता संघर्ष' के सफर को दिशा दिखाई गई है। उपन्यास में 'अस्मिता और अस्तित्व' को बचाए, बनाए रखने की जद्दोजहद दिखलाई पड़ती है।

संजीव की ही लिखी एक और पुस्तक 'धार', आजादी के बाद मे 'आदिवासी जीवन मूल्यों' को लेकर होते संघर्ष और सत्ता, कामरेड नेताओं और तमाम वुद्धिजीवियों के असंवेदनशील, असहानुभूति पूर्ण रवैये की पड़ताल करता हुआ, उपन्यास में अपनी रिपोर्ट दर्ज करता है। इस उपन्यास में मूल रूप से 'संगठन शक्ति' के द्वारा तंत्र पलटने का साहस दिखाया गया। अगर आदिवासी समाज संगठित होकर अपने अस्तित्व, स्वाभिमान, अस्मिता को बचाने की लड़ाई लड़े तो वह कामयाब भी होगा और आधुनिक समाज के अनुकूल ही अपनी जातीय परम्पराओं, सांस्कृतिक ढाँचे को बनाए और गढ़ भी सकेगा।

अन्य उपन्यासों में 'मीणा घाटी' सोहन शर्मा द्वारा लिखा गया हैं। जो मेवाड़ के अरावली पर्वत की मीणा घाटी के भील–मीणा जनजाति के लोग को ध्यान में रखकर लिखा गया है। उपन्यास में औपनिवेशिक काल के संघर्ष की पृष्ठभूमि अपनाई गई है। भील और मीणा जातियों के अपमानित जीवन की चुनौतियों का साक्षात्कार करता है। यह उपन्यास देहाती आदिवासी जीवन के तीज–त्यौहारों, रीति–रिवाजों के साथ आदिवासी जीवन के विविध पक्षों को मूर्त रूप देता है। उपन्यास में ठेठ राजस्थानी भाषा उपन्यास को जीवन्त बना देती है। 'खुले गगन के लाल सितारे' नामक उपन्यास 1970 में 'मधु काँकरिया' ने 'नक्सलवाड़ी आंदोलन' को केन्द्र में रखकर लिखा हैं। इस उपन्यास में नक्लसवादी के समर्थन के पहलुओं और खिलाफत, के दमनात्मक पहलुओं को द्वन्दात्मक रूप में सामने लाया गया है। ''आदिवासी समुदाय अपने सिद्धांतों, अपने संस्कारों एवं अपने विश्वासों से निर्मित अपने 'स्व' के भाव को पहचानकर अपनी संस्कृति, इतिहास एवं परंपरा के आलोक में अपना रास्ता खुद तय करना चाहते हैं। जीवन की ताल पर नृत्य करती यह आदिवासी दुनिया अपने वजूद को बनाए रखना चाहती है। यह एक मुख्य कारण रहा नक्सलवादी के समर्थकों का मुधकर सिंह का 'बाजत अनहद् ढ़ोल' उपन्यास संथाल विद्रोह की दास्तां कहता है। संथाल क्रांति, अंग्रेजों के खिलाफ हुई पहली संगठित क्रांति थी। यह जनक्रांति 'सिदो–कान्ह' नामक नायक के साथ सम्पन्न हुई थी। मधुकर सिंह ने ऐतिहासिक तथ्य के सहारे आदिवासी अस्मिता को बहुत गहराई से जाँचा है। संथाल विद्रोह आदिवासी समुदाय की अस्मिता को बचाने की बाबत उठ खड़ा होता है। यही वजह है कि सिदो–कान्हू की विद्रोही बुलंद आवाज हर संथाली के मानस में जीवित रही।''[11] अतः अपने जल जंगल और जमीन के अधिकार तथा अस्मिता की रक्षा के चलते संथाल जनजातीय समाज में विकसित विद्रोही चेतना का सफल अंकन उपन्यास में मौजूद है। राकेश कुमार सिंह का 'पठार पर कोहरा' झारखंड के वर्तमान जनजातीय जीवन की एक झलक यहाँ देखने को मिलती है। ''ब्रिटिश हुकूमत के भारत छोड़ने के बाद झारखंड के जंगलों में एक नई शोषक संस्कृति का उदय हुआ। यह साहू, बाबू और बंदूक की संस्कृति थी। लेखक की यह चिंता भी जायज है आदिवासी कल्याण की सरकारी योजनाओं का लाभ उन्हें मिल पाता है। इन्हीं सब चिंताओं का सार्थक चित्रण उपन्यास में है।''[12]

रमणिका गुप्ता आदिवासी जीवन पर लिखने वाली गंभीर और संवेदनशील रचनाकार हैं। उनके दो लघु उपन्यास– 'सीता और मौसी' एक साथ ही प्रकाशित हुआ था। इसमें आदिवासियों के विस्थापन, जातीय संस्कृति, अस्तित्व के बचाव के लिए उठाए गए खतरे तथा आदिवासी स्त्री की अस्मिता से जुड़ी समस्यों से जुड़े प्रश्न सामने लाये गए हैं। इन दोनों ही लघु उपन्यासों में अपनी क्षमताओं पर भरोसा करने वाली और अधिकारों के प्रति सचेत, जागरूक स्त्री पात्र सीता और मौसी का संघर्ष मुखरित हुआ है। सीता और मौसी ऐसे वर्ग का नेतृत्व करती है, जो वर्ग सदियों से मौन रहकर समाज की सामाजिकता और अपने अस्तित्व चेतना पर मिट्टी पड़ता देखता है, सहता और निभाता है। सीता अपनी अस्मिता बचाने के लिए वह परिस्थितियों के आगे झुकती नहीं उसके संघर्ष करती है। उसका यह उद्देश्य, इकहरा नहीं होता वह दूसरों की खातिर लड़ती रहती है। वे परिस्थितियों को अपने अनुकूल ढाल लेती है। हर मोर्चे पर उसे जिन्दगी बनाम मौत का विकल्प जीना पड़ता है पर वह हारती नहीं खड़ी रहती है– अपने स्वाभिमान, अपने संगठन और जनजातीय समाज के खातिर। मौसी भी ऐसा ही चरित्र जो अब अपने फैसले स्वयं लेती है। लेखिका ने इन उपन्यासों को भाषा और शिल्प से बहुत ही रोचक और जीवन्त बना दिया है।

हरिराम मीणा की लिखी हुई 'धूणी तये तीर' उपन्यास आदिवासियों के मनगढ़ इतिहास का अनूठा यथार्थ समाया हुआ है। हरिराम मीणा ने इस उपन्यास में औपनिवेशिक काल में हुए मीणा और भील क्रान्ति के संघर्षों की पड़ताल की है। ऐतिहासिक तथ्यों को खंगालते हुए, मानगढ़ के आदिवासियों के बलिदान को सामने रखा है। मानगढ़ का आदिवासी विद्रोह से जुड़े सभी घटनाएँ, तथ्यात्मक तथा प्रमाणित आधार पर अस्तित्व संघर्ष का उल्लेख करती है। इस उपन्यास में गोविन्द गुरु, साहित अन्य आदिवासी नायकों के अपने हक की लड़ाई का संघर्ष चित्रण किया गया है। लेखक ने ठेठ राजस्थानी भाषा में अपने अनुभव के आधार पर इस ऐतिहासिक घटनाक्रम को सही दिशा दी है।

भगवानदास मोरवाल ने भारतीय आदिवासी समाज को ध्यान में रखकर 'रेत' नामक उपन्यास लिखा है। अन्य उपन्यासों की तरह इसमें भी आदिवासी समाज की सांस्कृतिक–सामाजिक विस्थापन से जुड़े प्रश्न उठाये गए हैं। इस उपन्यास में 'रूक्मिणी' के माध्यम से लेखक ने आदिवासी स्त्री के नई चेतना के अध्याय से पाठक को रू–ब–रू कराना चाहा है। समकालीन कथाकारों में 'आदिवासी विमर्श' को ध्यान में रखकर लिखने वाले रचनाकार 'रणेन्द्र' का 'ग्लोबल गाँव के देवता' उपन्यास बहुचर्चित और लोकप्रिय उपन्यास के रूप में प्रासंगिकता रहा है। इस उपन्यास में 'असुर समुदाय' तथा 'भारतीय मुख्यधारा के समाज' में मौजूद ऐतिहासिक अन्तर्विरोधों का उल्लेख करते हुए रणेन्द्र, इतिहास, मिथक और वर्तमान समाज के सांस्कृतिक सामाजिक, आर्थिक स्थिति का विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। आदिवासी समाज बनाम मुख्यधारा, विस्थापन की समस्या, सामंतीय शोषण, वर्तमान समाज में शिक्षा, सभ्यता, संस्कृति, भाषा, परम्परा, सामाजिक जीवन शैलीयों को लेकर मौजूद अर्तद्वन्द्व को लेकर उन्होंने लिखा है–''वर्तमान अतीत में ढलता जा रहा था और अतीत की कल्लों–भारत वर्तमान में नजरों के सामने नाच रही थी। वह बचा था जिसके कारण एक समुदाय बहुसंख्यक समुदाय के लिए 'अन्य' में तब्दील हो गया। हमसे अलग, अन्य एक षत्रु में। चूँकि उसके जीवन यापन का तरीका हमसे भिन्न था, इसीलिए वह हत्या के योग्य, गालियाँ देने योग्य कैसे हो गया? आग की खोज, धातुओं की खोज, धातु पिघलाने की कला किन्हीं को इतनी बुरी क्यों लगी कि इस कारीगर जाति को बार–बार आक्रमणों में नष्ट होने और पीछे इतने के लिए मजबूर होना पड़ा।''[13] यह उपन्यास झारखण्ड के आदिवासी समाज को ध्यान में रखकर लिखा गया है।

कुछ अन्य उपन्यास भी हाल ही में प्रकाशित हुए हैं, इनमें भी विस्थापन, जीवन मूल्य और सामाजिक संघर्ष से जुड़े अस्मिता मूलक प्रश्न रेखांकित हुए हैं। हिन्दी कथा साहित्य हाशिए पर खड़े इस समाज के संघर्ष को उनकी अर्थव्यवस्था के साथ अभिव्यक्ति देता आया है। आदिवासी समाज के भीतर हो रहे परिवर्तन बाह्य समाज (मुख्यधारा) के समाज के प्रपंच और प्रभाव दोनों से होते आए हैं। परंतु उनके परिवर्तित रूप और कौशल को मुख्यधारा का समाज अपनापन नहीं दे पा रहा। उनमें एक पृथक राष्ट्र की इच्छा नहीं है, बस वे इसी राष्ट्र के वास्तविक नागरिक आचार–विचार, रहन–सहन का हिस्सा अपनी जातीय सांस्कृतिक विरासत के साथ जोड़कर बने रहना चाहते हैं। यद्यपि निष्कर्षतः यही कहा जा सकता है कि आदिवासी समाज, स्वयं के सांस्कृतिक उन्नति में साथ ही वर्तमान सापेक्ष हो तो वह यकीनन अपने अस्मिता–अस्तित्व पर लगे प्रश्न चिन्हों को खारिज कर पायेगा। इन्हीं समाजों का बौद्धिक वर्ग एक सामाजिक बौद्धिक चेतना के प्रयास के साथ 'स्व' समाज तथा मुख्यधारा के समाज से जुड़ाव बना सकता है। जरूरत है इन नवीन बौद्धिक प्रतिभाओं में 'स्वायत्त, विश्वास और समायोजन' के समाज व्यवहार का विकास करने की। सरकार की ओर से इनकी उपेक्षा होती है, इसमें कोई शक नहीं है। हिन्दी साहित्य या आदिवासी विमर्श 7–8वें दशक से इस विमर्श में विविध दृष्टि से विश्लेषण हुआ। तथ्यात्मक प्रगतिशील विचार, समस्या और समाधान दोनों को रेखांकित करते है। अतः निष्कषर्तः आदिवासी विमर्श की बौद्धिक वार्ता निश्चय ही एक प्रेरक अर्थवत्ता को निर्मित कर रही है।

I UnHk%

1. डॉ0 ब्रह्मदेव शर्मा, आदिवासी विकास : एक सैद्धांतिक विवेचन, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, 1980, पृ0 30
2. रमणिका गुप्ता, जनजातीय अस्मिता के प्रश्न (हाशिए की वैचारिकी– उमाशंकर चौधरी) पृ0 317

3. रमेश चन्द्र मीणा, 'स्त्री सवालों को उठाती कविता, युद्धरत आम आदमी, अंक 88, जुलाई–सितम्बर, रमणिका फाउण्डेशन, नई दिल्ली, 2007, पृ0 49
4. रसाल सिंह, बन्ना राम मीणा, आदिवासी अस्मिता वाया कथा साहित्य, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा0) लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 2014, पृ0 130–131
5. फणीश्वरनाथ रेणु, मैला आँचल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ0 187
6. .वृदावन लाल वर्मा, मृगनयनी, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 2009, पृ0 260
7. वृदावन लाल वर्मा, कचनार, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 2009, पृ0 28
8. तेजिंदर, काला पादरी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2002, पृ0 10
9. संजीव, जंगल जहाँ शुरू होता है, राधा कृष्ण प्रकाशन, दिल्ली 2000, पृ0 146
10. रसाल सिंह, बन्ना राम मीणा, आदिवासी अस्मिता वाया कथा–साहित्य, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा0) लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 2014, पृ0 151
11. रसाल सिंह, बन्ना राम मीणा, आदिवासी अस्मिता वाया कथा–साहित्य, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा0) लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 2014, पृ0 156
12. वही, पृ0 158
13. रणेन्द्र, ग्लोबल गाँव के देवता, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृ0 32–33

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

egkdfo Hkkl d: m#Hk³xe dk ukV;'kkL=h; eY;kdu

lUrk"k dekj*

महाकवि भास भारत के महान नाटकारों में से एक हैं। उनका नाट्य उरुभङ्गम् उनके तेरह नाट्यों में सर्वप्रमुख स्थान रखता है। महाकवि भास लेखन कला में सर्वश्रेष्ठ हैं। उनके नाट्य रचनाओं में समाज को विशेष सीख मिली है। इन्हीं उद्देश्यों को ध्यान में रखकर उरुभङ्गम् का नाट्य शास्त्रीय मूल्यांकन तथा समाज पर प्रभाव का आंकलन परवर्ती समालोचकों ने आवश्यकता महसूस की है। महाकवि भास का समाज के लिए अतुलनीय योगदान रहा है। उन्होंने भारतीय संस्कृति की अमिट छाप विश्व लेखन में प्रस्तुत की है।

इस रूपक का सम्पूर्ण कथानक गदायुद्ध में भीम द्वारा दुर्योधन के उरुभंग की घटना पर ही केन्द्रित है। रुपक के प्रारम्भ में तीनों भटों के संवाद में समंतपंचक के जिस भयावह रूप का वर्णन हुआ है उससे मुख्य घटना (उरुभङ्ग) में अधिक तीव्रता आ गयी है। साथ ही सद्यःघटित समर के निःसंग–करूण रूप की पृष्ठभूमि में इस रूपक की घटना में अधिक प्रभावोत्पादकता समा गयी है। इसी प्रकार बलराम का क्रोध, धृतराष्ट्र–गांधारी का करूण संवाद, दुर्जय की बाल सुलभ आकांक्षा, मालवी और पौरवी का क्रन्दन, अश्वत्थामा का रौद्ररूप इत्यादि बाद की सारी घटनाओं का निमित्त भी दुर्योधन का उरुभङ्ग ही है। इसी घटना का अवलम्बन करके ही रूपककार को अपने चरित्र नायक के चित्रांकन में सफलता मिली है। अतः सभी दृष्टि से रूपक का 'उरुभङ्गम्' नामकरण सार्थक होने के साथ–साथ यथार्थ भी प्रतीत होता है।

ukV; fo/kk % यह रूपक उत्सृष्टिकांक प्रकार के एकांकी नाट्य का एक उत्तम उदाहरण है। यह व्यायोग की अपेक्षा उत्सृष्टिकांक के लक्षणों से अधिक साम्य रखता है। इसका इतिवृत्त प्रख्यात है। कवि ने इसमें अपनी प्रतिभा से नवीन घटनाओं का संयोजन किया है। इसका अङ्गी रस करुण है। स्त्रियों का रोदन भी है। इसमें दो ही संधियां हैं– मुख और निर्वहण। व्यायोग के लक्षणों में ये बातें नही पायी जाती, व्यायोग का अङ्गी रस करूण कभी नही हो सकता, इसमें तीन संधियां होती हैं, दो नहीं।[1] व्यायोग का नायक ख्यातोद्धत होता है।[2] परन्तु इस रूपक के नायक दुर्योधन को कोई ख्यातोद्धत नहीं कहेगा अतः इसे व्यायोग मानना अनुचित होगा। यह निश्चित रूप से एक उत्सृष्टिकांक है। काव्यानुशासन आदि शास्त्रीय ग्रन्थों के अनुसार भी यह उत्सृष्टिकांक ही सिद्ध होता है। गणपतिशास्त्री, विन्टरनित्स, पुशालकर, अय्यर तथा बलदेव उपाध्याय इसे उत्सृष्टिकांक ही मानते है।

vFkZi:dfr % प्रथम भट की निम्नलिखित उक्ति में नाटक का बीज निहित है– 'अरे यह तो द्रौपदी के बालों को खीचने के कारण पाण्डवों का मध्यमभ्राता भीमसेन और 100 भाइयों के वध से अत्यन्त कुपित दुर्योधन कौरवों और यादवों के परम् पूजनीय व्यास, बलराम, श्रीकृष्ण तथा विदुर के समक्ष गदा–युद्ध आरम्भ कर रहे हैं'।[3] यही गदा–युद्ध कथावस्तु के कार्य का साधक है अतः यहां 'बीज' नामक अर्थ प्रकृति की उपस्थिति मानी जाएगी। यह अर्थप्रकृति आगे आहत दुर्योधन के प्रवेश के अनन्तर बलदेव और दुर्योधन के संवादों में, गान्धारी और धृतराष्ट्र के करूण विलापों में, दुर्जय की बालकोचित आकांक्षा में पल्लवित होकर दुर्जय के प्रति दुर्योधन के अन्तिम उपदेश में चरम उत्कर्ष को प्राप्त करती है। दुर्योधन के उस मार्मिक उपदेश से समस्त कथासूत्र में रस का चरम परिपाक होता है। मृत्युपथ यात्री नायक का

*असिस्टेन्ट प्रोफेसर (संस्कृत), राजकीय महाविद्यालय, जक्खिनी, वाराणसी।

स्वाभिमान और उदात्तता दोनों उत्कर्ष के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचते हैं। यही पर रूपक का कथा प्रवाह अपनी तीव्रतम अवस्था को प्राप्त करके आगे बलराम की 'हाय शत्रुता जब पश्चाताप में परिणित हो गयी. ...'[4] इस उक्ति के साथ निर्वहणोन्मुख हो जाती है। यहां से रूपक की अन्तिम अर्थप्रकृति 'कार्य' शुरू हो जाती है।

voLFkk,¡ % जिस प्रकार प्रस्तुत रूपक में केवल दो ही अर्थ प्रकृतियां है उसी प्रकार दो ही अवस्थाओं का समावेश हुआ है– आरम्भ और फलागम। आहत दुर्योधन के रङ्गमंच पर प्रवेश करने के साथ कथानक में 'आरम्भ' नामक अवस्था का समावेश होता है। रूपक के अन्त में नायक को सबकी सहानुभूति मिलती है उसके मन में सन्तोष होता है और अन्त में उसे सबके चिर–आराध्य स्वर्गलोग की प्राप्ति होती है। अतः यहां 'फलागम' नामक अवस्था का अविर्भाव होता है।

lfU/k;k ,oa lU/;³x % जहाँ प्रथम भट भीम और दुर्योधन के गदायुद्ध आरम्भ होने की सूचना देता हैं वहाँ[5] पर बीज का न्यास होने के कारण 'उपक्षेप' नामक मुख सन्धि का प्रथम अङ्ग है। रूपक के 16वें से 18वें श्लोक तक भटों के संवाद में उसी की पुष्टि होने के कारण 'परिकर' नामक सन्ध्यङ्ग का समावेश होता है। रूपक 20वें[6] तथा 21वें श्लोक में भीम के मूर्छितप्राय होकर गिरने से बीज न्यास का बाहुल्य रूप 'परिकर' अङ्ग एक अत्यन्त परिपक्व अवस्था को प्राप्त कर लेता है अतः वहाँ 'परिन्यास' नामक अङ्ग है 22वें श्लोक[7] में दुर्योधन के शौर्य एवं नीति इत्यादि गुणों का वर्णन होने के कारण विलोभन नामक अंग है। आहत दुर्योधन के प्रवेश से पुनः बीज का उत्पादन होता है अतः वह 'समाधान' नामक सन्ध्यङ्ग का समावेश होता है। जहाँ दुर्योधन पाण्डवों के वध के लिए उद्यत बलराम को रोकता है, वहाँ 'मुक्ति' नामक अङ्ग है। बलराम के मुख से जब दुर्योधन यह सुनता है कि वह भीम द्वारा अन्याय युद्ध में पराजित किया गया है तब वह हर्षित होकर कहता है– 'आह तब तो मेरे प्राणों की कीमत अच्छी लगी है क्योंकि मेरे चारों तरफ से धधकती आग से भयावह हुए लाक्षागृह से अपने को बुद्धिमानी से बचाने वाले कुबेर के घर में पर्वत के चट्टानों के द्वारा तीव्रता के साथ प्रत्याघात करने वाले, 'हिडिम्ब' नामक राक्षस का संहार करने वाले भीम के द्वारा यदि आप मुझे छल से पराजित हुआ समझते हैं तब तो हे राम मैं परास्त नही हुआ।[8] यहां पर दुर्योधन का स्थान विजयी भीम के ऊपर हो गया हैं इस बात का अनुभव करके मानो 'पराजित' नामक सन्ध्यङ्ग है। जब दुर्योधन बलराम से अपने मृत्यु के रहस्य का उद्घाटन करते हुए कहता है – '....जगत के प्रिय उसी श्रीकृष्ण ने भीम की गदा में प्रवेश करके छल रहित युद्ध के पुजारी मुझको सहसा मृत्यु के हाथों में समर्पित कर दिया....'[9] तब 'उद्भेद' नामक गूढ़ रहस्य का उद्भेदन करने वाले सन्ध्यङ्ग का समावेश होता है। 38वें श्लोक से लेकर 46वें श्लोक तक दुःख कार्य विधान नामक सन्ध्यङ्ग का समावेश हुआ है। दुर्योधन धृतराष्ट्र से कहता है– '... अपराङ्गमुख युद्ध में मारा गया हूँ (ऐसा जानकर) हे पिता! आप शोक त्याग दें और मुझ पर अनुग्रह करें आपके चरणों पर माथा टेकने वाला मैं जिस मान के साथ पैदा हुआ था उसी मान के साथ धधकती हुई आग की भी परवाह किये बिना मैं स्वर्ग जा रहा हूँ'।[10] यहाँ प्रकृत का आरम्भ होने के कारण 'करण' नामक सन्ध्यङ्ग है। 50वें श्लोक से लेकर 53वें श्लोक तक प्रोत्साहन मूलक 'भेद' नामक मुखसंधि का अंतिम सन्ध्यङ्ग है। 54वें श्लोक[11] में बलदेव की उक्ति में युद्ध रूपी बीज की पुनः उद्भावना होने के कारण 'सन्धि' नामक निर्वहण सन्धि का प्रथम अङ्ग है। जहाँ दुर्योधन अपनी स्वर्ग यात्रा का वर्णन करता है, वहां कार्य का दर्शन होने के कारण 'पूर्वभाव' नामक अङ्ग है। दुर्योधन के कथन– 'मुझे ले जाने के लिए धर्मराज के सहस्र हंसों से युक्त वीरों का वहन करने वाला विमान भेजा है'[12] में नायक को अद्भुत वस्तु प्राप्ति होने के कारण उपगूहन नामक अंग है। धृतराष्ट्र की उक्ति में काव्यार्थ का उपसंहार होता है। अतः वहां उपसंहार नामक अंग है और बलराम के मुख से उच्चरित रूपक के अन्तिम पंक्ति में शुभवचन का कथन होने के कारण 'प्रशस्ति' नामक निर्वहण सन्धि के अंतिम अंग का समावेश होता है।

dFkkoLrq dk n`'; ,oa lkP; vkf'k % रुपक में भीम और दुर्योधन का गदा युद्ध विष्कम्भक के माध्यम से प्रस्तुत करके रुपककार ने अपनी प्रतिभा एवं बुद्धिमतता का परिचय दिया है। विष्कम्भक के अलावा 'चूलिका' नामक अर्थोपक्षेपक का चार बार प्रयोग हुआ है।

m#Hk3xe dh egkHkkjrkith fork % नाटकीय पात्रों की अवतारणा में नाट्यकार ने मूल कथा के साथ–साथ नवीन का सृजन किया है। दुर्योधन के पुत्र दुर्जय की अवतारणा नाटककार की स्वयं की कल्पना है, इसका उल्लेख महाभारत में नहीं है। महाभारत का दुर्योधन अन्तिमक्षण तक पाण्डवों से द्वेष करता है। वह अभिमानी, अहंकारी तथा कपटी है। परन्तु उरुभङ्गम् का नायक दुर्योधन अधर्म का सहारा लेकर मारे जाने पर बदला लेने की बात नहीं सोचता। व्यास और विदुर इस गदायुद्ध के दर्शक हैं जबकि महाभारत में ऐसा नहीं है। धृतराष्ट्र, गांधारी, दुर्योधन की पत्नियां दुर्जय के द्वारा युद्धभूमि में दुर्योधन के पास ले जाये जाते हैं जबकि महाभारत में ये सम्पूर्ण घटनाएं हस्तिनापुर में होती है।

उरुभंगम् रूपक संस्कृत नाट्य साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखता है भरत के नाट्यशास्त्र के निर्देशों के विपरीत रंगमंच पर ही रूपक के नायक दुर्योधन की मृत्यु होती है। युद्ध आदि का वर्णन शास्त्रीय दृष्टि से रंग–मंच पर निषिद्ध है, परन्तु वर्णन किया गया है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस रूपक का प्रणयन इन परम्पराओं से पहले हो चुका था। संस्कृत नाटकों में उरुभङ्गम् ही दुखांत नाटक का एकमात्र प्रतिनिधि है।[13]

पात्रों के चित्रांकन में महाकवि भास सिद्धहस्त है। रूपककार ने रूपक के नायक के चरित्र में परिवर्द्धन एवं परिमार्जन कर उसे प्रस्तुत किया है जिससे कहीं पर भी वह महाभारत के दुर्योधन के समान निम्न धरातल पर दिखाई न पड़े।[14] अश्वत्थामा उद्धत क्रोधी तथा जिद्दी स्वभाव का अवश्य है परन्तु नाटक में उसका व्यक्तित्व कोई प्रभाव नहीं डालता है। इस रूपक में पात्र भार स्वरूप न होकर उसमें जीवन्तता प्रदान करते है।

रूपक में वीर तथा करूणा रस की प्रधानता है। गदायुद्ध के उपरान्त बलदेव तथा अश्वत्थामा के उद्गारों में वीर रस की झलक मिलती है, तथा धृतराष्ट्र, गान्धारी दुर्जय के वार्तालाप तथा दुर्योधन की मृत्यु में करूण रस का भाव दृष्टिगोचर होता है। रस की दृष्टि से रूपक पूर्ण सफल है।[15] भाषा सरल सुबोध एवं सारगर्भित है। संवाद योजना प्रभावोत्पादक है। उरुभङ्गम् में करुण रस प्रधान है। दुर्योधन के चरित्र का अत्यन्त उज्ज्वल और प्रभावशाली रूप यहां अंकित है। जो अपनी मृत्यु के समय अपनी उदत्तता और मनुष्य की गरिमा को जिस मार्मिक रूप में प्रस्तुत करता है, वह भारतीय साहित्य में अप्रतिम ही है।[16]

lUnHkZ %

1. हीनोगर्भविमर्शाभ्यां.....(दशरुपक–3/61)
2. व्यायोगः ख्यातोद्धतनराश्रयः। (दशरुपक–3/60)
3. प्रथम –अये एतत्खलु द्रौपदीकेशघर्षणावमर्षितस्य पाण्डवमध्यमस्य भीमसेनस्य भ्रातृशतवधक्रुद्धस्य महाराज दुर्योधनस्य च द्वैपायनहलायुध कृष्णविदुरप्रमुखानां कुरुयदुकुलदैवतानां प्रत्यक्षं प्रवृत्तं गदायुद्धम्। (उरुभङ्गम्– गंगासागर राय) पृ. 18
4. बलदेव – अहो वैरं पश्चात्तापः संवृत्तः। (उरु., पृ. 59)
5. अये एतत्खलु द्रौपदीकेशघर्षणावमर्षितस्य पाण्डवमध्यमस्य भीमसेनस्य भ्रातृशतवधक्रुद्धस्य महाराज दुर्योधनस्य च द्वैपायनहलायुध कृष्णविदुरप्रमुखानां कुरुयदुकुलदैवतानां प्रत्यक्षं प्रवृत्तं गदायुद्धम्। (उरुभङ्गम्– गंगासागर राय) पृ. 18
6. शिरसि गुरुनिखातस्रस्तरक्ताद्रगात्रो
   धरणिधरनिकाशः संयुगेष्वप्रमेयः।
   प्रविशति गिरिराजो मेदिनीं वज्रदग्धः
   शिथिलविसृतधातुर्हेमकूटो यथाद्रिः।। उरु–20
7. वीर्यालयो विविधरत्न विचित्रमौलि–
   र्युक्तोऽभिमानविनयद्युतिसाहसैश्च।
   वाक्यं वदत्युपहसन्न तु भीम दीनं
   वीरो निहन्ति समरेषु भयंत्यजेति। उरु.–22
8. आदीप्तानलदारुणाज्जतुगृहाद् बुद्धयात्मनिर्वाहिणा
   युद्धे वैश्रवणालयेऽचलशिथिलावेगप्रतिस्फालिना।

भीमेनाद्य हिडिम्बराक्षसपतिप्राणपतिग्राहिणां
यद्येवं समवैषि मां घलजितं भो राम! नाहं जितः।। उरु. 34

9. येनेन्द्रस्य स परिजातकतरुर्मानेन तुल्यं हृतो
दिव्यं वर्षसहस्रमर्णवजले सुप्तश्च यो लीलया।
तीव्र भीमगदां प्रविश्य सहसा निर्व्यजयुद्धप्रिय–
स्तेनाहं जगतः प्रियेण हरिणामृत्योः प्रतिग्राहितः।। उरु. –35

10. राजा अपराङ्मुखो युधि हत इति। भोस्तात शोकनिग्रहेण क्रियतां यमानुग्रहः।
त्वत्पादमात्रप्रणताग्रणमौलिर्ज्वलन्तमप्यग्निमचिन्तयित्वा।
येनैव मानेन समं प्रसूतस्तेनैव मानेन दिवं प्रयामि।। उरु.–47

11. सन्नाहदुन्दुभिनिनादवियोगमूके
विक्षिप्तबाणकवचव्यजनातपत्रे।
कस्येष कार्मुकरवो हतसूतयोधे
विभ्रान्तवायसगणं गगनं करोति।। उरु. –54

12. राजा –.... एष सहस्र हंस प्रयुक्तो मां नेतुं वीरवाही विमानः कालेन प्रेषितः। उरु. – गंगासागर राय, पृ. 71

13. आचार्य बलदेव उपाध्याय– संस्कृत साहित्य का इतिहास – पृ. 493

14. उरुभङ्गम् – गंगासागर राय– (भूमिका) पृ. 29

15. उरुभङ्गम् – गंगासागर राय– (भूमिका) पृ. 29

16. डा. राधावल्लभ त्रिपाठी, संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास, पृ. 154

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

ikfy lkfgR; e^'khy* ,d d'ky /ke

me'k dekj ;kno*

विश्व गुरू के रूप में विख्यात हमारा देश भारत वर्ष अति प्राचीन काल से ही ऋषि–मुनियों की जन्मभूमि रहा है। इन ऋषि–मुनियों ने संसार के संतप्त प्राणियों के समस्त दुखों के प्रहाण के लिए, इस संसार सागर से मुक्ति के लिए विभिन्न मार्गों का प्रज्ञापन किया। इसी कड़ी में भगवान् बुद्ध ने भी दुख से मुक्ति हेतु जिस मार्ग का प्रतिपादन किया उसके तीन चरण हैं यथा–शील समाधि एवं प्रज्ञा।

शील बौद्ध साधना का प्रथम चरण है। सामान्य रूप से इसका अर्थ प्रकृति, आदत, रीति, अभ्यास एवं आचरण आदि से है। लोक व्यवहार में यह सद्व्यवहार, पुण्यशीलता, सदाचार, नैतिक कर्म एवं सिद्धान्त के रूप में ख्याति प्राप्त है। परम्परागत अर्थ में इसे सदाचार युक्त जीवन का आधार एवं पवित्र जीवन की धुरी कहा जाता है। यह विशिष्ट अर्थों में कुशल चेतना के रूप में अभिहित है।

प्रस्तुत शोधपत्र में हमने यह दिखाने का प्रयास किया है कि किस प्रकार से पालि साहित्य में शील को कुशल धर्म के रूप परिभाषित किया गया है। अतः इस शोधपत्र का आधार पालि साहित्य के विभिन्न ग्रन्थ हैं।

lkfy lkfgR; d vk/kkj ij d'ky /keksa dh ifjHkk"kk ,oa Lo:lk %

बौद्ध धर्म–दर्शन प्रमुख रूप से नीति एवं मनोविज्ञान पर आधारित है। भगवान बुद्ध ने जिस उद्देश्य को लेकर वर्षों तक धर्मोपदेश किया उसके मूल में मात्र एक ही सार छिपा हुआ था वह है कि व्यक्ति किस प्रकार से अपने समस्त दुखों का अन्त कर तृष्णामुक्त हो निर्वाण को प्राप्त कर सके। इस पावन उद्देश्य को कैसे प्राप्त किया जा सकता है इसके लिए उन्होंने कुशल धर्मों का उपदेश किया। ये कुशल धर्म क्या हैं? इस पर प्रकार डालते हुए धम्मसङ्गणि जो कि अभिधर्म दर्शन की प्रथम पुस्तक है में कहा गया है कि अलोभ, अद्वेष एवं अमोह ये तीन कुशल मूल या हेतु होते हैं। इन्हीं तीन कुशल हेतुओं से सम्प्रयुक्त जो चित्त एवं चेतसिक होते हैं तथा उनसे समुत्पन्न अर्थात् इनके चित्त एवं चेतसिक में रहते हुए व्यक्ति जब शरीर से वाणी से तथा मन से जो कार्य सम्पादित करता है उसे ही कुशल धर्म कहा जाता है[1] (ध0स0 : 1998, 227)। इस प्रकार धम्मसङ्गणि में दी गयी परिभाषा के अनुसार 89 प्रकार के कुशल चित्तों में 8 कामावचर, 5 रूपावचर, 4 अरूपावचर एवं 4 लोकोत्तर, ये 21 प्रकार के चित्त कुशल कहे जाते हैं तथा उनसे सम्प्रयुक्त जो चेतसिक होते हैं उन्हें भी कुशल चेतसिक की संज्ञा दी जाती है। कर्म की दृष्टि से 10 कुशल मूलक धर्मों को कुशल धर्म कहा जाता है। 10 प्रकार के कर्मों से विरत रहना ही कुशल धर्म के रूप में बताया गया है। धम्मसङ्गणि की अट्ठकथा अट्ठसालिनी में कुशल शब्द को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि कुशल शब्द की व्युत्पित्ति कु + सल से हुई है। यहां पर 'कु' शब्द का अर्थ पापकारी धर्म बताया गया है तथा 'सल' शब्द का अर्थ नष्ट करना, शमन करना है। इस प्रकार से जो धर्म पापकारी, अहितकारी धर्मों को नष्ट कर दे उनका शमन कर दे वह धर्म कुशल है[2] (ध0स0 : 1998, 86)। दूसरी व्युत्पत्ति कु + स + ल से बतायी गयी है। यहां पर 'कु' का अर्थ कुत्सित आकार, 'स' का अर्थ शयन करना तथा 'ल' का अर्थ नष्ट करना बताया गया है। इस प्रकार जो कुत्सित आकार वाले पापकारी, अहितकर शयन करने वाले धर्म है, उन्हें जो नष्ट कर दे समाप्त कर दे वही कुशल धर्म है[3] (ध0स0अ0 : 1998, 86)। आगे 'कुसल' शब्द के बारे में बताया गया है कि कुसल शब्द 'कुस' + 'ल' से बना है यहां पर 'कुस' का

*शोध छात्र, पालि एवं बौद्ध अध्ययन विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

अर्थ एक तृण विशेष से है जो दोनों ही ओर से तीक्ष्ण धारा सम्पन्न है उसके समीप गये हाथ व दोनों ही ओर से विघ्न पहुंचाता है उसी प्रकार इस लोक में जो अकुशल धर्म है वे दाहक हैं ऐसे 'कुस' नाम से विख्यात धर्मों का जो विध्वंश करे, नाश करे उसे कुशल कहते है[4] (ध0स0अ0 : 1998, 86)।'मिलिन्दपञ्हो' ग्रन्थ में शील का वर्णन कुशल धर्म के रूप में मिलता है। वहाँ पर सभी कुशल धर्मों का आधार शील को ही बताया गया है[5] (मि0प0 : 1998, 30)।

पाँच प्रकार की इन्द्रियाँ–श्रद्धा–इन्द्रिय, वीर्य–इन्द्रिय, स्मृति–इन्द्रिय, समाधि इन्द्रिय, पाँच बल–श्रद्धा–बल, वीर्य–बल, स्मृति बल, समाधि–बल, प्रज्ञा–बल, सात बोध्यङ्ग–स्मृति–सम्बोध्यङ्ग, धर्मविचय–सम्बोध्यङ्ग, वीर्य सम्बोध्यङ्ग, प्रीति सम्बोध्यङ्ग, प्रश्रब्धि–सम्बोधयङ्ग, समाधि–सम्बोध्यङ्ग, उपेक्षा– सम्बोध्यङ्ग, आर्य आष्टाङ्गिक मार्ग–सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म, सम्यक्–आजीव, सम्यक्–व्यायाम, सम्यक् स्मृति, सम्यक्– समाधि, चार स्मृति प्रस्थान–कायानुपस्सना, वेदनानुपस्सना, चित्तानुपस्सना, धम्मानुपस्सना, चार सम्यक् प्रधान, चार ऋद्धिपाद– छन्द– समाधि– प्रधान– संस्कारयुक्त, वीर्य–समाधि–प्रधान–संस्कारयुक्त, चित्त– समाधि– प्रधान–संस्कारयुक्त, विमर्श–समाधि–प्रधान–संस्कारयुक्त, चार ध्यान– प्रथम–ध्यान, द्वितीय–ध्यान, तृतीय–ध्यान, चतर्थ–ध्यान, आठ विमोक्ष, समाधि एवं समापत्ति इन सभी कुशल धर्मों का आधार शील ही है[6] (मि0प0 : 1998, 30)।

जिस प्रकार जितने भी जीव होते हैं, पौधे होते हैं, सब पृथ्वी के आधार स्वरूप होने से ही बड़े होते हैं, उसी प्रकार योगी शील को आधार बनाकर शील पर दृढ़ हो पाँच इन्द्रियों की भावना करता है[7] (मि0प0 : 1998, 31)। आगे भदन्त नागसेन राजा मिलिन्द को एक और उपमा देकर शील के आधार स्वरूप होने का कारण बताते हैं। वे कहते हैं कि जिस तरह से जितने भी बलपूर्वक कार्य किये जाते हैं वे सभी कार्य पृथ्वी को आधार बनाकर पृथ्वी पर खड़े होकर ही किये जाते हैं, उसी प्रकार योगावचर साधक शील के आधार पर ही दृढ़ होकर इन पाँच इन्द्रियों की भावना करता है[8] (मि0प0 : 1998, 31)। जिस प्रकार से एक कुशल कारीगर किसी नगर को बसाने के पूर्व उस स्थान की साफ–सफाई करके, झाड़ी और कांटो को हटाकर उस स्थान को समतल बनाता है तत्पश्चात् सड़क और चौराहों इत्यादि का मानचित्र बनाकर किसी नगर की स्थापना करता है, उसी प्रकार योगी शील को आधार बना शील में प्रतिष्ठित होकर पाँच इन्द्रियों की भावना करता है[9] (मि0प0 : 1998, 31)। जिस प्रकार से अपनी कला प्रदर्शित करने वाला कोई कालाकार पृथ्वी खोद उसे समतल बनाता है कंकड़ इत्यादि हटाकर मृदु भूमि पर अपनी कला प्रदर्शित करता है, ठीक उसी अनुरूप योगी शील को आधार बनाकर पाँच इन्द्रियों की भावना करता है[10] (मि0प0 : 1998, 31)। इस प्रकार शील उच्चतर धर्मों की नींव है, आधार शिला है। शील पर प्रतिष्ठित होकर ज्ञानी मनुष्य प्रज्ञा पूर्वक चित्त को भावना से वश में करता है, वही संयमी और निपुण साधक इस तृष्णा रूपी जटा को साफ कर सकता है (सं0नि0 1 : 1994 , 15)।

^^lhy ifrëk; ujks lq[ks] fpÙkks iz'kh p Hkko;sA
vkrkih fuidks fHkD[kq] lks bes fot;s tVs frAA**

अतः शील पृथ्वी की तरह मनुष्य के गुणों का आधार है, कुशल धर्मों की अभिवृद्धि का मूल है, सभी बुद्धों के शासन का मुख है, मोक्ष की प्राप्ति के लिए शील ही उत्तम मार्ग है (मि0प0 : 1998, 31)।[11]

इन अर्थों में 'आधार होना' शील का लक्षण बताया गया है। शील का दूसरा अर्थ शीतल के रूप में बताया गया है। जिस प्रकार नदियाँ अपने शीतल जल से व्यक्ति के संतापों का शमन करती हैं, उसी प्रकार शील द्वारा व्यक्ति के सभी प्रकार के क्लेशों का शमन किया जाता है[12] (वि0म0महा0 1 : 1998, 26)। शील का तीसरा अर्थ 'सीर' भी होता है। जिस प्रकार 'सीर' से भिन्न व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त करता हुआ नष्ट हो जाता है उसी तरह शील से भिन्न व्यक्ति के सभी गुण नष्ट हो जाते है[13] (वि0म0महा0 1 : 1998, 26)। शील क्या है? इस सन्दर्भ में 'विसुद्धिमग्ग' में कहा गया है कि जीवहिंसा आदि से विरत रहना या उपाध्याय आदि की सेवा–शुश्रुषा करने वाले चेतना आदि धर्म शील कहलाते हैं। अतः चेतना शील है, चैतसिक शील है, संवर शील है, अव्यतिक्रम शील है[14] (वि0म0 1 : 1998, 7)। प्राणातिपात आदि से विरत रहने वाले या सेवा–शुश्रुषा पूर्ण करने वाले की चेतना ही चेतनाशील है[15] (वि0म0 1 : 1998, 7)। पुद्गल

की उन–उन जीवहिंसा आदि अकुशल धर्मों से विरति ही चैतसिक शील है[16] (वि0म0 1 : 1998, 7)। प्रतिमोक्ष, स्मृति, ज्ञान, क्षन्ति एवं वीर्य इन पाँच प्रकार के संयमों से युक्त होना संवर शील कहलाता है[17] (वि0म0 1 : 1998, 7)। शील का शरीर एवं वाणी द्वारा उल्लंघन न करना ही अव्यतिक्रम शील है[18] (वि0म0 1 : 1998, 8)। शील द्वारा कायिक एवं वाचसिक कुकृत्यों का निवारण हो जाता है या जिसके द्वारा कायिक एवं वायसिक मिथ्याचारों का उपशमन हो जाता है उसे शील कहते हैं[19] (अभि0स0 2 : 1992, 560)।

'मिलिन्दपञ्हो' की अट्ठकथा (मिलिन्दपञ्हा–अट्ठकथा) में 'प्रतिष्ठित होना' ही शील का लक्षण है, ऐसा कहा गया है[20] (मि0प0अ0 : 1999, 86)। आगे चार प्रकार के संवर के अर्थ में शील का प्रयोग किया गया है– पातिमोक्ख संवरसीलं, इन्द्रियसंवरसीलं, पच्चयसन्निस्सितसीलं तथा आजीवपरिसुद्धिसीलं। इन चार प्राकार के संवरो में श्रद्धापूर्वक प्रतिष्ठित होना ही शील का लक्षण है[21] (मि0प0अ0 : 1999, 86)। ikfrekf{kl oj 'khy& जो धर्म अपने पालन करने वालों को अपाय और सांसारिक दुःखों से मुक्त करता है वह प्रातिमोक्ष कहलाता है। प्रातिमोक्ष ही संवर है, इसलिए प्रतिमोक्ष संवर कहलाता है। प्रातिमोक्ष संवर में आने वाला शील ही संक्षेप में प्रातिमोक्ष संवर शील कहलाता है[22] (त्रिपाठी, रामशंकर 2 : 1992, 921)। bfUn;l oj'khy & शीलसम्पन्न व्यक्ति के लिए चक्षु, स्रोत, घ्राण, जिह्वा, काय तथा मन नामक छः इन्द्रियों के प्रति संयम रखना परम आवश्यक है। रूप, शब्द, गन्ध, स्वाद आदि के प्रति आसक्त न होकर अपनी सभी इन्द्रियों पर संयम रखना ही इन्द्रियसंवरशील है। जैसे चक्षुरिन्द्रिय से रूप को देखकर न तो उसके आकार को ग्रहण करता है और न ही उसमें अनुरक्त (अनुव्यञ्जानग्राही) होता है[23] (वि0म0 1 : 1998, 20)। यही इन्द्रिय संवर है। चक्षुरिन्द्रिय पर संयम नहीं रखने से मन बुराई एवं पापयुक्त हो जाता है, अतः मन को निर्मल रखने के लिए पाप से बचने के लिए व्यक्ति यत्न करता है तथा चक्षुरिन्द्रिय को ऐसे निमित्तों में प्रवेश करने से बचाता है। इसी प्रकार स्रोत इन्द्रिय से शब्द सुनकर, घ्राण इन्द्रिय से गन्ध को सूँघकर, जिह्वा इन्द्रिय से रस का आस्वादन लेकर, शरीर से स्पर्श करने योग्य विषय का स्पर्श कर तथा मन इन्द्रिय से धर्मों को जानकर न तो उनके आकार का ग्रहण करता है और न ही उनके प्रति आसक्त होता है। इस प्रकार वह इन्द्रियों से उत्पन्न विकरों से बचता है[24] (दी0नि0 1 : 1993, 62)।

iR;;lfUufJr 'khy& चीवर, पिण्डपात (भिक्षान्न), शयनासन एवं ग्लान–प्रत्यय–भैषज्य– ये चार प्रकार के प्रत्यय कहे गये हैं। इन चार प्रत्ययों का उचित प्रकार से विचार करके सेवन करना ही प्रत्ययसन्निश्रितशील कहलाता है। आजीवपरिशुद्धि शीलपूर्वक प्राप्त कर चीवर, पिण्डपात आदि चार प्रत्ययों का भली–भाँति विचार करके सेवन करना चाहिए, अन्यथा ये प्रत्यय भिक्षु की योग साधना में बाधक सिद्ध हो सकते हैं। अतः प्रत्ययों का सेवन करते समय उनके विषय में इस प्रकार से विचार करना चहिए कि शीत के प्रतिघात के लिए, उष्णता के बचने के लिए, डंस, मच्छर आदि से रक्षा के लिए तथा शरीर के लज्जा के स्थानों को ढँकने मात्र के लिए चीवर धारण करना चाहिए।

vkthoifjf'kf) 'khy& आजीव से सम्बन्धित छः शिक्षापदों का उल्लेख मिलता है। उसके पालन से शील में विशुद्धि आती है।

1. आजीविका चलाने के लिए अविद्यमान, असत्य अलौकिक शक्ति के भरोसे न रहना।
2. दूतकर्म द्वारा जीवनयापन न करना अर्थात् किसी स्त्री का संदेश किसी पुरुष के पास या किसी पुरुष का संदेश किसी स्त्री के पास न पहुँचाना।
3. आजीविका के लिए किसी गृहस्थ से खुशामद के रूप में यह कहना कि जो तुम्हारे द्वारा बनवाये विहार में रहता है वह अर्हत है, इस प्रकार न कहना।
4. इच्छानुसार अपने लिए स्वादिष्ट भोजन न बनवाना।
5. रोगग्रस्त न होने पर भी किसी भिक्षुणी से उत्तम भोजन न बनवाया।
6. बीमार न होने पर भी लोगों से कहकर सूप या पका चावल न खाना।[25] (वि0म0 1 : 1998, 22)।

इस प्रकार जीवनयापन के लिए भगवान् द्वारा कहे गये इन छः शिक्षापदों का उल्लंघन करके तथा कुहन, लपन, निष्प्रेषिकता, नैमित्तकता, लाभ से लाभ आदि धर्मों से अर्जित की गयी आजीविका मिथ्या आजीविका है, उस मिथ्या आजीविका से सभी प्रकार से विरति ही आजीव परिशुद्धिशील है।

शील विभिन्न प्रकार के परिपालनीय नियमों के रूप में उपलब्ध होता है यथा–

(1). पंचशील, (2). अष्टशील, (3). दसशील

1- ip'khy& पंचशील का तात्पर्य उन पांच प्रकार के नियमों से है जिनका पालन करना प्रत्येक के लिए अतिआवश्यक है। यथा– (क) प्राणियों के ऊपर किसी भी प्रकार की हिंसा न करना। (ख) बिना दी हुई वस्तु को न लेना (ग) पर स्त्री के साथ दुराचार न करना (घ) झूठ न बोलना एवं (ड़) नशीली या मादक वस्तुओं का सेवन न करना।

2- v"V'khy& जो गृहस्थ या उपासक और अधिक शीलवान है, वे इन पांच नियमों के अतिरिक्त तीन अन्य नियमों का पालन करते है, यथा– (क) विकाल भोजन से विरत रहते हैं। (ख) तृत्य–संगीत आदि से विरत रहते है तथा (ग) गंध–माला, विलोचन आदि से विरत रहते है।

3- nl'khYk& दस प्रकार के नियमों का पालन करना दसशील है जिसमें उपयुक्त आठ नियमों के अतिरिक्त दो और नियम बताये गये हैं यथा– (क) ऊंचे आसन या शय्या से विरत रहना तथा। (ख) सोना–चांदी आदि के ग्रहण से विरत रहना।

'khy dk egÙo ,oa ykHk %

स्थविरवाद बौद्ध परम्परा का एक मात्र लक्ष्य निर्वाण प्राप्त करना है। यह निर्वाण भी समाधि गम्य है। लोकोत्तर प्रज्ञा का उत्पाद समाधि भावना के अभाव में असम्भव है। समाधि प्राप्ति के लिए शील अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि दुःशील से चित्त की एकाग्रता सम्भव नहीं है। अकुशल कर्मों के प्रभाव में आकर सत्त्व या जीव राग, द्वेष एवं मोह में फँस जाता है। इस कारण चित्त एक आलम्बन पर स्थिर नहीं रह पाता है। इस प्रकार चित्त की एकाग्रता के लिए समाधि भावना परम आवश्यक है तथा इस समाधि की आधार भूमि शील ही है। इससे शील की महत्ता स्पष्ट रूप से प्रतिभाषित होती है। सभी गुणों का सागर, मुक्ति के मार्ग का आधार तथा जीवन को सफलतापूर्वक संचालित करने का एक मात्र आधार शील है। इसकी महत्ता का उल्लेख त्रिपिटक साहित्य को ग्रन्थों में प्रमुखता से किया गया है। शील के द्वारा ही सुर एवं असुर में भेद किया जाता है। शील के पालन के फलस्वरूप मनुष्य देवतुल्य हो जाता है जिसके कारण साधारण व्यक्ति भी उसकी प्रशंसा करते है[26] (दी0नि0 1: 1993, 3)।

संयुक्त निकाय में कहा गया है कि शील का पालन ही उत्तम जीवन है[27] (सं0नि0 1 : 1994, 31)। इसी के कारण मनुष्य की पापशुद्धि होती है। केवल उच्च गोत्र या अधिक धन के होने से पापशुद्धि कदाचित नही हो सकती है।

धम्मपद ग्रन्थ में शील की महत्ता को दर्शाते हुए कहा गया है कि जो अभिवादनशील है तथा सदैव वृद्धजनों की सेवा करने के लिए तत्पर रहता है उस व्यक्ति की चार वस्तुएँ बढ़ती है– आयु, वर्ण, सुख एवं बल[28] (ध0प0 : 1998, 27)। शील की महत्ता को दर्शाते हुए कहा गया है कि सदाचार (शील) युक्त जीवन सर्वश्रेष्ठ जीवन है। दुराचारी एवं असंयत रहकर सौ वर्षों तक जीवित रहना निरर्थक है जबकि सदाचारी और संयत रहकर एक दिन ही जीवित रहना उन सौ वर्षों से श्रेष्ठ है[29] (ध0प0 : 1998, 27)। इस प्रकार यदि मनुष्य सौ वर्षों तक वन में अग्नि की परिचर्या करे तथा दूसरी ओर यदि वह चित्त को परिशुद्ध करके क्षण भर के लिए परिशुद्ध हृदय वाले एक ही व्यक्ति का पूजन करे तो सौ वर्ष तक किये गये पूजन से श्रेष्ठ है[30] (ध0प0 : 1998, 26)। दीघनिकाय में भी कहा गया है कि सभी यज्ञों में शील यज्ञ सर्वश्रेष्ठ है। यह यज्ञ जीव हिंसा से विरत तथा अन्य यज्ञों से कम खर्चीला होने के साथ–साथ निर्वाण का साक्षात्कार कराने वाला होता है (दी0नि0 1 : 1993, 131)।

शील पालन करने शील का पालन करने वाले व्यक्ति के अन्दर पांच प्रकार के गुणों का प्रसार हो जाता है। अर्थात् वह पांच गुणों से युक्त हो जाता है– 1. शीलवान शीलसम्पन्न पुरूष कही भी किसी भी प्रकार का प्रमाद नहीं करता है जिसके कारण वह अच्छे–अच्छे काम भोगों का उपभोग करता है। यह उसके शीलसम्पन्न्ता का प्रथम सुपरिणाम है। 2. शीलसम्पन्न व्यक्ति का उसके सदाचार के कारण समाज में उसका यशोगान प्रारम्भ हो जाता है। यह उसके सदाचार (शीलसम्पन्नता) का द्वितीय सुपरिणाम है। 3.शीलसम्पन्न व्यक्ति जहां कहीं भी जाता है चाहे वह क्षत्रिय समाज हो या फिर साधु समाज हो, उसके

सदाचार के कारण सर्वत्र उसकी प्रशंसा होती है। यह उसके शीलसम्पन्ना का तृतीय सुपरिणाम है। 4.शीलवान शीलसम्पन्न व्यक्ति अपने स्मृति–सम्प्रजन्य (भ्रमरहित चेतन अवस्था में) के साथ ही बिना किसी कष्टभोग के मृत्यु को प्राप्त करता है। उसकी शीलसम्पन्नता का यह चौथा सुपरिणाम है। 5. शीलवान पुरूष अपने शरीर को छोड़ने के पश्चात् सुगति को प्राप्त हो स्वर्ग लोक में उत्पन्न होता है। यह शीलसम्पन्नता का पांचवा सुपरिणाम है[31] (दी0नि0 2 : 1993, 67)।

शील के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए भगवान बुद्ध कहते हैं कि धर्मशासन में किसी कुलपुत्र का प्रवेश तब तक सम्भव नहीं है जब तक वह शील का दृढ़ता से पालन नही करता है, अर्थात् शील पालन किये बिना किसी भी प्राणी की बुद्धशासन में गति सम्भव नही है[32] (वि0म0 1 : 1998, 10)। इस प्रकार शील योगियों का अलंकार है, शील ही योगी की सजावट है, शील के द्वारा ही योगी अलंकृत होता है, शील ही सर्वोत्तम अलंकार है[33] (दी0नि0अ0 1 : 1998, 53)। भगवान बुद्ध ने अपनी धर्म–साधना में क्रम की दृष्टि से शील को ही प्रथम स्थान दिया है। तथागत कहते हैं कि यह शील है, यह समाधि है यह प्रज्ञा है। शीलपरिभावित समाधि महाफलदायक होती है, महानृशंस्य वाली होती है, समाधि परिभावित प्रज्ञा महाफलदायक होती है, महानृशंस्य वाली होती है तथा प्रज्ञापरिभावित चित्त सभी प्रकार के आश्रवों से मुक्त हो जाता है[34] (दी0नि0 2 : 1993, 64)। अतः भिक्षुओं तुम सदैव सावधान रहो सुशील बनो। संकल्पो का भलीभांति समाधान कर स्वचित्त का विग्रह करो[35] (दी0नि0 2: 1993, 92)। उत्तम शील ही पश्चाताप से दूर रखने वाला होता है अपश्चाताप ही उत्तम शील का महात्म्य है[36] (वि0म0 1: 1998,9)।

'जातक' में कहा गया है कि शीलयुक्त जीवन सर्वोत्तम है। स्पष्ट रूप से यह तो नहीं कहा जा सकता है कि सदाचार श्रुतता से श्रेष्ठ है किन्तु इसमें लेश मात्र भी संदेह नही कि श्रुततायुक्त सदाचार सर्वश्रेष्ठ होता है[37] (जा0 1 : 1998, 108)। अतः यदि पुरूष शीलरहित है तो उसके श्रुत होने का कोई लाभ नहीं होता है बल्कि शीलसम्पन्न व्यक्ति ही श्रेष्ठ होता है न कि जाति एवं वर्ण विशेष में उत्पन्न होने से[38] (जा0 1 : 1998, 108)।

इस प्रकार क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र, चाण्डाल तथा पुक्कुस आदि किसी भी जाति, वर्ण एवं रूप–रंग के हो ये सभी इस संसार में धर्मानुकुल आचरण करते हुए देवतुल्य हो जाते है[39] (जा0 1: 1998, 108)। वेद, जाति, बन्धु–बान्धव आदि सभी कभी भी परलोक में सुख को नहीं दे सकते हैं जबकि शील परलोक में सुख को प्रदान करने वाला होता है[40] (जा0 1 : 1998, 108)। 'धम्मपद' में भी गाथा के माध्यम से कहा गया है कि माता–पिता, बन्धु–बान्धव एवं अन्य सम्बन्धी लोग जितनी भलाई नहीं कर सकते हैं, सन्मार्ग में लगा हुआ चित्त उससे अधिक भलाई करता है[41] (ध0प0 :1998, 18)।

शील के महात्म्य की प्रशंसा करते हुए भगवान बुद्ध कहते है कि शील स्वयं में पूर्ण है अपूर्ण नहीं। आनन्द! इस प्रकार का परिपूर्ण शीलस्कन्ध तो मैं बौद्ध–शासन से बाहर अन्य श्रमण या ब्राह्मणों में नहीं देख पा रहा हूं। आनन्द! इस प्रकार का परिपूर्ण आर्य शील स्कन्ध यदि अन्य श्रमण ब्राह्मण अपने आप में देखे तो इससे ही वे सन्तुष्ट हो जायेंगे और यह कहेंगे कि श्रवणभाव के लिए इतना ही पर्याप्त है अब और कुछ नही करना है[42] (दी0नि0 1 : 1993, 183)। इस प्रकार जो व्यक्ति शील का पालन करते हुए बुद्ध में, धर्म में तथा सृष्टि में स्थायी रूप से सतत् श्रद्धा एवं प्रेम प्रकट करते है ऐसे व्यक्ति के लिए निर्वाण अर्थात् अमृत द्वार सर्वथा खुल जाता है[43] (दी0नि0 1 : 1993, 160)।

उपर्युक्त सम्पूर्ण प्रकार के कर्तव्यों तथा शीलों का निष्ठापूर्वक पालन करके हम एक सभ्य, नेक, ईमानदार तथा आदर्श समाज की स्थापना कर सकते हैं।

I UnHk%

1. ''तीणि कुसलमूलानि–अलोभो, अदोसो, अमोहो तं सम्पयुत्तो वेदनाक्खन्धो सञ्ञाक्खन्धो, सङ्खारक्खन्धो, विञ्ञाणक्खन्धो, तंमुद्दानं कायकम्मं, वचीकम्म, मनोकम्मं–इमे धम्मा कुसला।
2. कुच्छिते पापके धम्मे सलयन्ति चलयन्ति कम्पेन्ति विद्धंसेन्तीति कुसला।
3. कुच्छितेन वा आकारेन सयन्तीति कुसा। ते अकुसलसङ्खाते कुसे लुनन्ति छिन्दन्तीति कुसला।

4. एवमिमेपि उप्पन्नानुप्पन्नभावेन उभयभागगतं किलेसपक्खं लुनन्ति।
तस्मा कुसा विय लुनन्तीतिपि कुसला।।
5. पतिट्ठानलक्खणं, महाराज, सीलं सब्बेसुं कुसलानं धम्मानं।
6. ''इन्द्रियबलबोज्झङ्गमग्गङ्गसतिपट्ठानसम्मप्पधानइद्धिपादझानविमोक्खसमाधिसमापत्तीनं सीलं पतिट्ठं।''
7. 'ये केचि बीजगामभूतगामा वुड्ढि विरूळिंह वेपुल्कं आपज्जन्ति, सब्बे ते पथविं निस्साय पथवियं पतिट्ठाय वुड्ढि विरूळिंह वेपुल्कं आपज्जन्ति। एवमेव खो, महाराज, योगावचरो सीलं निस्साय सीले पति ाय पञ्चिन्द्रियानि भावेति।'
8. 'ये केचि बलकरणीया कम्मन्ता कयिरन्ति। सब्बे ते पथविं निस्साय पथवियं पतिट्ठाय कयिरन्ति। एवमेव खो, महाराज, योगावचारो सीलं निस्साय सीले पति ाय पञ्चिन्द्रियानि भावेति।'
9. नगरवड्ढकी नगरं मापेतुकामो पठमं नगरट्ठानं सोधापेत्वा खाणुकण्टकं अपकड्ढापेत्वा भूमिं सम कारापेत्वा ततो अपर भागे विथिचतुक्कसिंघाटकादिपरिच्छेदेन विभजित्वा नगरं मायेति, एवमेव खो, महाराज, योगावचरो सीलं निस्साय सीले पतिट्ठाय पञ्चिन्द्रियानी भावेति।'
10. लष्को सिप्पं दस्सेतुकामो पथविं खणापेत्वा सक्खरकथलं अपकड्ढापेत्वा भूमि समं कारापेत्वा मुदुकाय भूमिया सिप्पं दस्सेति। एवमेव खो..... पञ्चिन्द्रियानि भावेति।'
11. ''अयं पतिट्ठा धरणीव पाणिनं, इदञ्च मूलं कुसलाभिवड्ढिया। मुखञ्चिदं सब्बजिनानुसासने, यो सीलक्खन्धो वरपातिमोक्खियोति।''
12. सीतलट्ठो परिळाहवूपसमनट्ठो। तेन त कारस्स लोपं कत्वा निरुत्तिनयेनेव ''सीलं'' न्ति वुत्तं ति दस्सेति। तथा हिन्दं पयोगसम्पादितं सब्बकिलेसपरिळाहवूपसमकरं होति।
13. सिरट्ठोति यथा सिरसि छिन्ने सब्बो अत्तभावो विनस्सति, एवं सीले भिन्ने सब्बं गुणसरीरं विनस्सति, तस्मा तस्स उत्तमङ्गट्ठो सीलट्ठो।
14. पाणातिपातादीहि वा विरमन्तस्स वत्तपटिपत्ति वा पूरेन्तस्स चेतनादयो धम्मा।..... चेतना सीलं, चेतसिकं सीलं, संवरो सीलं, अवीतिक्कमो सीलं।
15. तत्थ चेतना शीलं नाम पाणातिपातादीहि ..... पूरेन्तस्स चेतना।
16 चेतासिंक सीलं नाम विरमन्तस्स विरति।
17. संवरों सीलन्ति एत्थं पञ्चविधेन संवरो वेदितब्बो–पातिमोक्खसंवरो, सतिसंवरो, ञाणसंवरो, खन्तिसंवरो, वीरियसंवरो 'ति।
18. अवीतिक्कम्मो सीलं ति समादिन्नसीलस्स कायिकवाचिको अनतिक्कमो।
19. सीलयति काय–वची–कम्मानि सम्मा दहतीति सीलं।
20. सीलस्स पतिट्ठानलक्खणपञ्हे।
21. केनट्ठेन सीलं संवरट्ठेन, पातिमोक्खसंवरसीलं, इन्द्रियसंवरसीलं पच्चयसन्निस्सितसीलं आजीवपरिसुद्धिसीलं तं सद्धाय पतिट्ठानलक्खणं महाराज सीलं।
22. पातिं मोक्खेतीति पातिमोक्खं। पातिमोक्खमेव संवरो पातिमोक्खसंवरो। पातिमोक्खसंवरो च सो सीलञ्चा ति पातिमोक्खसंवरसीलं।
23. इत्थिपुरिसनिमित्तं वा सुभनिमित्तादिकं वा किलेसवत्थुभूत्तं निमित्तं न गण्हाति, दिट्ठमन्ते सण्ठाति।
24. यत्वाधिकरणमेनं चक्खुन्द्रियं असंवुतं विहरन्तं अभिज्झा दोमनस्सा पापका अकुसला धम्मा अन्वास्सवेय्युं, तस्स संवराय पटिपज्जति, रक्खति चक्खुन्द्रियं.....मनसा धम्मं विञ्ञाय न निमित्तग्गाही होति नानुब्यञ्जनग्गाही।
25. आजीवहेतु पञ्ञत्तानं छन्नं सिक्खापदानन्ति यानि तानि ''आजीवहेतु आजीवकारणा.....पञ्ञत्तानि छः सिक्खापदानि।
26. ओरमत्तकं सीलमत्तकं, येन पुथुज्जनो तथागतस्स वण्णं वदमानो वदेय्य।
27. सीलं जीवितमुत्तमं।
28. अभिवादनसीलस्य निच्चं वद्धापचायिनो।
चत्तारो धम्मा वड्ढन्ति आयु वण्णो सुखं बलं।।
29. यो च वस्ससतं जीवे, दुस्सीलो असमाहितो।
एकाहं जीवितं सेय्यो, सीलवन्तस्स झायिनो।।
30. यो च वस्ससतं जन्तु, अग्गिं परिचरे वने।
एकञ्च भावितत्तानं, मुहुत्तमपि पूजये।।
31. इध, गहपतयो, सीलवा सीलसम्पन्नो अप्पमादाधिकरण महन्तं भोगक्खन्धं अधिगच्छति। अयं पठमो..... मरणा सुगतिं सग्गं लोकं उपपज्जति। अयं पञ्चमों आनिसंसो सीलवतो सीलसम्पदायं
32. सासने कुलपुत्तानं पतिट्ठा नत्थि यं विना।

आनिसंसपरिच्छेदं, तस्स सीलस्स को वदे।।

33. सीलं योगिस्स लङ्कारो, सीलं योगिस्स मण्डनं।
सीलेहि 'लङ्कतो योगी मण्डने अग्गतं गतो'' ति।।

34. इति सीलं, इति समाधि, इति पञ्ञा। सीलपरिभावितो समाधि महाप्फलो होति महानिसंसो। समाधिपरिभाविता पञ्ञा महाप्फला होति महानिसंसा। पञ्ञापरिभावितं चित्तं सम्मदेव आसवेहि विमुच्चति।

35. अप्पमत्ता सतीमन्तो, सुसीला होथ भिक्खवो।
सुसमाहितसङ्कप्पा, सचित्तमनुरक्खथ।।

36. ''अविप्पटिसारत्थानि खो, आनन्द, कुसलानि सीलानि अविप्पटिसारानिसंसानो''ति।

37. सीलं सेय्यो सुतं सेय्यो, इति में संसयो आहु।
सीलमेव सुता सेय्यो, इति मे नत्थि संसयो।।

38. मोघा जाति च वण्णो च सीलमेव किरूत्तमं।
सीलेन अनुपेतस्स सुतेनत्थो न विज्जति।।

39. खत्तिया ब्राह्मण वेस्सा, सुद्दा चण्डालपुक्कुसा।
इध धम्मं चरित्वान, भवन्ति तिदिवे समा।।

40. न वेदा सम्परायाय, न जाति नापि बन्धवा।
सकञ्च सीलं संसुद्ध, सम्परायाय सुखाय चाति।।

41. न तं माता पिता कयिरा, अञ्ञे वापि च ञातक।
सम्मापणिहितं चित्तं,सेय्यसो नं ततो करे।।

42. भो आनन्द, अरियो सीलक्खन्धो परिपुण्णो नो अपरिपूण्यो। एवं परिपुण्णं चाहं, भो, आनन्द अरयिं सीलक्खन्धं इतो बहिद्धा अञ्ञेसु समणब्राह्मणेसु न समनुपस्सामि। एवं.....अत्थि चेतेत्थ उत्तरिकरणीय'' न्ति।

43. ये हि केचि, भो बुद्धे अवेच्चप्पसादेन समन्नागता, धम्मे अवेच्चप्पसादेन समन्नागता.....अत्थि चेवेत्थ सकदागामिनो।

ey xUFk&

1. जातकपालि (भाग–1). (1998). इगतपुरी, महाराष्ट्रः विपश्यना विशोधन विन्यास।
2. दीघनिकायो (भाग–1). (1993). इगतपुरी, महाराष्ट्रः विपश्यना विशोधन विन्यास।
3. दीघनिकायो (भाग–2). (1993). इगतपुरी, महाराष्ट्रः विपश्यना विशोधन विन्यास।
4. दीघनिकायो सीलक्खन्धवग्गट्ठकथा. (1993). इगतपुरी, महाराष्ट्रः विपश्यना विशोधन विन्यास।
5. धम्मपदपालि (1998). इगतपुरी, महाराष्ट्रः विपश्यना विशोधन विन्यास।
6. धम्मसङ्गणिपालि (1998). इगतपुरी, महाराष्ट्रः विपश्यना विशोधन विन्यास।
7. धम्मसङ्गणि अट्ठकथा (1998). इगतपुरी, महाराष्ट्रः विपश्यना विशोधन विन्यास।
8. मिलिन्दपञ्हपालि (1998). इगतपुरी, महाराष्ट्रः विपश्यना विशोधन विन्यास।
9. विसुद्धिमग्गो (भाग–1). (1998). इगतपुरी, महाराष्ट्रः विपश्यना विशोधन विन्यास।
10. विसुद्धिमग्गो महाटीका (भाग–1). (1998). इगतपुरी, महाराष्ट्रः विपश्यना विशोधन विन्यास।
11. संयुत्तनिकायो (भाग–1). (1994). इगतपुरी, महाराष्ट्रः विपश्यना विशोधन विन्यास।

lgk;d xUFk %

1. त्रिपाठी, रामशंकर (1992). अभिधम्मत्थसङ्गहो (भाग–2). वाराणसी : सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय।
2. तिवारी, महेश (1987). सील, समाधि एण्ड पञ्ञा. पटना : के. पी. जयसवाल इन्सिट्युट।
3. देशपाण्डेय, एम. माधव (1999). मिलिन्दपञ्ह अट्ठकथा. टोक्यो : द इण्टरनेशनल इन्सिट्युट फोर बुद्धिस्ट स्टडीज।

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

vkfnoklh lekt vkj o"kZdj.k

lkjHk flag foØe*

किसी समुदाय और जाति विशेष से उस क्षेत्र की सांस्कृतिक पहचान देखने को मिलती है। अपनी–अपनी क्षेत्रीयता, भाषा, रहन–सहन से लगाव के कारण ही लोगों का अपने क्षेत्र से सांस्कृतिक जुड़ाव होता है। साथ ही उस क्षेत्र का प्रतिनिधित्व वहाँ के लोग करते हैं। भारत में आग्नेय, आर्य, द्रविड़ और मंगोलयाड भाषा ने प्राचीन काल से ही आधुनिक भारत को विभिन्न संस्कृतियों से जोड़े रखा है। भारत को एकता के सूत्र में बाँधने का कार्य भिन्न–भिन्न समुदायों और संस्कृतियों ने किया है।

आग्नेय या ऑस्ट्रिक भाषा ने प्राचीन भारत के नव–निर्माण में अमूल्य योगदान दिया है। आग्नेय या ऑस्ट्रिक भाषा को आज हम मुंडा भाषा परिवार के नाम से जानते हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, सामवेद हो चाहे महाभारत और रामायण, इनका जिक्र हमें वहाँ भी मिलता है। इसकी जानकारी वेदों में 'देश का गणप्रमुख' नाम से है। इनका उल्लेख हमें प्राचीन संस्कृत साहित्य में भी मिलता है। वर्तमान समय में बंगाल, बिहार, उड़ीसा, छत्तीसगढ़, असम और झारखण्ड में ये लोग फैले हुए हैं। आग्नेय या ऑस्ट्रिक भाषा बोलने वाले परिवार में, संथाल, मुण्डा, हो, बिरहोड़, सबर, भूमिज, सरदार, बिझिंया, चेरो गोड़ाईत, कोड़ा, बेदिया, खड़िया, असुर, बिरजिया, कोरवा, खरवर या खंखर आदि समुदाय के लोग हैं। महाभारत काल में इनके कौरव सेना के साथ युद्ध में सम्मिलित होने का जिक्र है। आगे चलकर जब व्यवस्था वर्ण–वादी हुई तब इन्हें दलित, महादलित आदि की श्रेणी में ला दिया। वर्णभेद से आदिवासी समाज भी अछूता नहीं रहा और उत्तर भारत के राज्यों में ऐसा समुदाय अनुसूचित जाति और जनजाति के नाम से जाना जाने लगा।

वृहद झारखण्ड के आदिवासी प्रकृति के उपासक हैं। मानवशास्त्र की भाषा में इसे एनिमिज्म अर्थात् अपने पूर्वजों द्वारा प्राप्त सिडबोंगा और बोंगाओं की उपासना कहते हैं। सिडबोंगा द्वारा विरासत में मिली शक्ति को ही अपने पूर्वजों के माध्यम से सरना सके में शक्ति की पूजा, गाँव के निवासी करते हैं। प्रकृतिपूजक आदिवासियों का विश्वास है कि मंदिर, गिरजाघर और मस्जिद को एक जगह से दूसरी जगह हटाकर स्थापित किया जा सकता है पर सरना सके से उत्पन्न शक्ति को नहीं, क्योंकि इसमें वृक्षों के साथ समागम रहता है। चूंकि उस स्थान से उस गाँव में बसे सभी बांशिदों के लिए शक्ति रूपी प्रकाश निकलता है। इनकी मान्यता है कि जिस दिन झारखण्ड से सरजोम, सरई, सखुआ और करम पेड़ खत्म हो जायेंगे उसी दिन यहाँ की आदिवासी शक्ति भी समाप्त हो जायेगी तथा सिंङगबोंगा का पूजा विधि–विधान भी।

प्राकृतिक संसाधनों पर आश्रित रहने वाले आदिवासी समाज पर भूमण्डलीकरण का ऐसा प्रभाव पड़ा कि इनकी सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक व्यवस्था छिन्न–भिन्न हो गयी। आदिवासी भाषा, संस्कृति और समाज जल, जंगल, जमीन तथा पर्यावरण से अटूट रूप से जुड़ा है, जिस पर आज आधुनिकीकरण के चक्कर में अस्तित्व का खतरा मंडरा रहा है। आदिवासी जीवन का दार्शनिक लक्ष्य 'जिदन रे चिकन परवाह' है अर्थात् जीवन में किसी प्रकार की चिन्ता या परवाह नहीं हैं। भूत और भविष्य की चिन्ता से मुक्त; सृष्टिकर्ता ने सब कुछ दिया है वही हमें प्रतिदिन प्राकृतिक संसाधनों से भरपूर जीवन प्रदान करता है। प्रकृति आधारित आदिवासी समाज का सामाजिक ढाँचा, आर्थिक चिन्तन, संरचना छोटी से छोटी घाँसों पर टिकी हुई है। आदिवासी समाज पर 'भुला घाँस' का काफी प्रभाव है।

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्राचीन काल से ही झारखण्ड के आदिवासियों में लोकतंत्र के गुण मौजूद रहे हैं जिसका उदाहरण सुतिया का बेटा मदरा मुण्डा यानी माटुक राय और फणि माटुक राय के राज्याभिषेक हैं। इस राज्याभिषेक में सभी प्रकार की जातियों का आगमन होता है। यहाँ के निवासियों की राजनीति और साफ–सुथरी शासन–व्यवस्था को देखकर जो लोग आये और वे यहीं के होकर रह गये। कालान्तर में यहाँ की धरती पर अनेक भाषा समुदाय के लोग आकर बस गये। लेकिन दुर्भाग्य यह है कि इन आदिवासियों पर जो भी लोग शोध और खोज करने आये वे या तो इनकी स्त्रियों को बहला–फुसलाकर उनके साथ प्रेम सम्बन्ध बनाकर चले गये या तो इनकी अच्छाइयों को छोड़कर केवल बुराइयों का प्रचार–प्रसार किया। आदिवासियों की सारी उर्वर जमीन आधुनिकीकरण के नाम पर सरकार कल–कारखाने लगाने के लिए हड़प ली और जो बची वहाँ से इन्हें विस्थापित कर दिया गया।

आज ऊँच–नीच का खेल प्रत्येक जाति में अहंकार रूप में विद्यमान है और यही अहंकार वर्ग–समुदाय के उत्पीड़न का बीज है। केवल आदिवासी समाज की महिला शोषित–पीड़ित है ऐसा सोचना बिल्कुल गलत है। सारे समाज में आर्थिक, मानसिक और शारीरिक रूप से शोषित पीड़ित मिल जायेंगे। अन्तर बस इतना ही है कि आदिवासी और महिलाएँ ज्यादा प्रताड़ित होती हैं। आदिवासियों के भीतर शोषण–लूट आदि का संचार पहले–पहल इनके यहाँ तब दिखता है, जब मुगल राजा ने आगरा जेल में बंद मुण्डा हीरा राज दुर्जनसाल के द्वारा असली और नकली हीरे की सफल पहचान से खुश होकर उसे जेल से आजाद कर देता है। मुगलों की शान–शौकत को देखकर दुर्जन साल प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका; उसने अपने वतन वापसी के समय अपने साथ शोषक, लुटेरे, जमींदारों को लेता गया तथा इन सबके सहयोग से वह यहाँ की पड़हा व्यवस्था को तोड़कर राजसी वैभव व नौकरशाही की स्थापना करता है। नतीजन यहाँ के मुण्डाओं पर मालगुजारी लगा दी गयी। धन–वैभव की लालच में यहाँ के पड़हा, मानकी, मुण्डा बिकने लगे। पहले मुगलों ने झारखण्ड पर आक्रमण कर यहाँ के मुण्डा, मानकी पड़हा के सहयोग से चलने वाले नागवंशी राजाओं पर भारी भरकम मालगुजारी लाद दी। इसके बाद मराठे सैनिक कई बार बंगाल पर चढ़ाई के उद्देश्य से इधर आते–जाते थे और रास्ते में लूटपाट करते तथा स्त्रियों की आबरू से भी खेलते थे और इसके बाद जो बच गया उसपे अंग्रेजों ने छानबीन के बाद छोटानागपुर पर अपनी सेना के साथ धावा बोला।

आस्ट्रिक भाषा परिवार का फैलाव मरंगदिसुम उत्तर में गया से लेकर दक्षिण के बनाई बंमड़ा क्यों नझर और पूर्व में मिदनापुर–बांकुड़ा से लेकर पश्चिम के सरगुजा और उत्तर प्रदेश के राबर्ट्सगंज और दुद्धी तहसील तक था। यहाँ पर मुण्डा, मानकी, पड़हा, मांझी परगानाईत शासन व्यवस्था के तहत नागवंशी अपना राज्य चलाते थे। लेकिन अंग्रेजों ने 1765 में संथाल परगना क्षेत्र पर आक्रमण कर उसे अपने कब्जे में ले लिया और अनेकानेक आदिवासियों को मौत के घाट उतार दिया गया। जहाँ पर इनकी हत्या की गयी थी बाद में वहाँ पर बड़ी चालाकी से पहाड़ी मंदिर बना दिया गया। जहाँ पर ये शहीद हुए थे उन आदिवासी योद्धाओं का नाम मिटाना सही मायने में आदिवासी ऐतिहासिकता और उनकी भाषा संस्कृति पर कुठाराघात करने के बराबर है।

अपनी जमीन की रक्षा के लिए आदिवासी जो लड़ाई जारी रखे हैं उसे दिसुम (जमीन) कहा जाता है। 1854–55 में 30 हजार आदिवासी भागलपुर गये थे। दिसुम की रक्षा के लिए उलगुलान का बिगुल फूँका था। जिसमें 10 आदिवासी शहीद हो गये थे। ये आदिवासी हजारों वर्षों से अपने पारम्परिक भाषा–संस्कृति और दिसुम के लिए लड़ते आये हैं। अपनी भाषा, संस्कृति, जल, जंगल, जमीन आदि मूलभूत आवश्यकताओं के लिए ये आदिवासी बराबर शहीद हो रहे हैं और आज भी इन्हें भारतीय संवैधानिक व्यवस्था के अन्तर्गत न्याय नहीं मिल पा रहा है। इनको मुख्य धारा में लाने और विकास के क्रम में आगे बढ़ाने की बात केवल राजनेता चुनावी भाषणों में करते हैं। चुनाव बीतने के बाद इन्हें माओवादी बताकर जेलों में बंद कर दिया जाता है। आदिवासियों की शिक्षा को लेकर कोई भी सरकार गंभीर नहीं है। इसके बरक्स जो आदिवासी अपने बलबूते शिक्षा ग्रहण भी कर लेते हैं उन्हें आगे बढ़ने से रोका जाता है उन्हें

समाज की मुख्यधारा में आने के लिए संघर्ष करना पड़ता है।

भारत की भाषा और संस्कृति पर अनेकानेक जाति, धर्म, वर्ण आदि का सांस्कृतिक योगदान है। सन् 1947 के बाद राज्यों का पुनर्गठन भाषा–परिवार के आधार पर हुआ लेकिन यहाँ भी आग्नेय या आस्ट्रिक भाषा परिवार को दरकिनार कर इनका विलय आर्य भाषा परिवार में कर दिया गया। जो इनकी भाषा और संस्कृति के साथ बड़ा धोखा है।

आदिवासियों के यहाँ छोटी से छोटी या बड़ी से बड़ी समस्या को सुलझाने के लिए सामूहिकता का प्रयोग किया जाता है। इनकी शिक्षा, इनके दैनन्दिन जीवन, शादी–विवाह, सांस्कृतिक पर्व सबमें सामूहिकता दिखती है। यहाँ के आदिवासियों के जीवन स्तर में सुधार लाने के नाम पर इनके जल, जंगल, जमीन को हड़पा जा रहा है। मुख्य धारा में लाने और विकास के नाम पर इनके मौलिक अधिकारों का हनन हो रहा है।

झारखण्ड के आदिवासी नमस्कार या अभिवादन सूचक शब्द के लिए अपने पूर्वजों से मिले शब्द जोअर, जोआर तथा जोहार शब्दों का प्रयोग करते हैं जो इनकी भाषायी संस्कृति है। ये अपने पूर्वजों को अपना ग्राम–देवता मानते हैं। आदिवासी स्त्रियाँ आज के समय में भी शहरों को पलायन करने पर मजबूर हैं तथा वहाँ से वे या तो समाज के शोषण का शिकार होती हैं या बलात्कार का। इतना ही नहीं कभी–कभी इनको अशिक्षा के कारण भयंकर रोग भी हो जाता है जिससे आदिवासी समाज दूषित होने लगता है और इनका ही समाज इन्हें अस्वीकार कर देता है। अपने ही समाज के पर्यवसन का दुख ये स्त्रियाँ झेलती हैं। इनके मनोवैज्ञानिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक विस्थापन का दुःख समझना मुश्किल ही नहीं नामुमकिन है। विस्थापन का दर्द आदिवासी समाज हजारों वर्षों से झेलता आ रहा है। अतः आदिवासी समाज किसी भी अन्य व्यक्ति को अपने समाज में जगह नहीं देना चाहता। जब–जब आदिवासी समाज ने अपने समाज में बाहरी लोगों को तरजीह दी तब–तब वह धोखे का शिकार हुए। इन्हीं बाहरी लोगों के लिए आदिवासी समाज 'दिक् दिक् दिक् का प्रयोग भगाने के अर्थ में करता है।

आदिवासियों की संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता इनकी सामूहिकता है। आर्थिक अभाव, रोटी, कपड़ा, मकान आदि मूलभूत आवश्यकताओं के लिए ये आदिवासी आज भी लड़ रहे हैं। सरकारी तंत्र इन्हें विकास के नाम पर विस्थापित करने में लगा है। जल, जंगल, जमीन, प्रकृति, स्त्री सब तो आदिवासियों को मुख्य धारा में लाने के नाम पर छीन ली गयीं। इनकी सामूहिकता का पहलू अपने दार्शनिक आधार को खोने लगा है।

पहान, जोअर, जोहार, सिङवोंगा, भुला घास, पड़हा, दिसुम, हुल, उलगुलान आदि अनेक ऐसे शब्द हैं जिन्हें समझे बिना आदिवासी साहित्य या इनका रहन–सहन या इनकी भाषा–संस्कृति को समझना गैर आदिवासी के लिए मुश्किल ही नहीं नामुमकिन है। आदिवासी जीवन, उनकी संस्कृति, उनके संघर्ष, प्रतिरोध और अनेक पहलुओं को ठीक से समझने के लिए हमें उनके जीवन से जुड़े अभिन्न पहलुओं को और अनिवार्य रूप से समझना होगा।

lUnHkZ %

1. आदिवासी अस्मिता का संकट, रमणिका गुप्ता, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2013, पृ0 17
2. आदिवासी लेखन एक उभरती चेतना, रमणिका गुप्ता, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2013, पृ0 125
3. आदिवासी लेखन एक उभरती चेतना, रमणिका गुप्ता, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2013, पृ0 9
4. आदिवासी दर्शक, विचार, परम्परा और साहित्य, रमेश चन्द मीणा, अलख प्रकाशन, जयपुर, संस्करण–2013, पृ0 13
5. आदिवासी भारत जैसा देखा (संस्मरण) सम्पा0 टी0सी0 डामोर, धनपद सिंह, अलख प्रकाशन, जयपुर, संस्करण–2013, पृ0 38
6. वांगमय त्रैमासिक पत्रिका, सम्पा0 डॉ0 एम0 फिरोज अहमद, अंक–जुलाई, 2013, पृ0 61–62
7. वही, पृ0 63

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

Hkkjr dk Lok/khurk l?k"k vkj ^jxHkfe*

ekO vkfle vUlkjh*

प्रेमचन्द हिन्दी 'कथा–साहित्य' के इतिहास में एक युगप्रवर्तक और दिशा–निर्धारक के रूप में जगह बनाने वाले कथाकार और चिन्तक हैं। उनसे पहले और उनके सक्रिय लेखन के शुरूआती दौर में कथा साहित्य अपने समय के सामाजिक–राजनीतिक जीवन के वृहद सरोकारों को अभिव्यक्ति नहीं दे रहा था, बल्कि मनोरंजन के उथले स्तर पर ऐयारी और तिलिस्मी ढंग के उपन्यास अधिक मात्रा में लिखे जा रहे थे। हालाँकि परिवार और समाज में स्त्री की भूमिका, उसकी अवस्थिति और समस्याओं जैसे सीमित सामाजिक सरोकारों वाले विषयों को लेकर उपन्यास लिखने की प्रवृत्ति कुछ कथाकारों में अवश्य दिखायी देती है (जिससे अपने शुरूआती दौर में प्रेमचन्द भी असर ग्रहण करते हैं), पर कथा–लेखन सार्वजनिक जीवन से उस तरह संवाद नहीं कर रहा था, जिसकी ज़रूरत उस दौर में शिद्दत से महसूस की जाने लगी थी। इस ज़रूरत को प्रेमचन्द ने अपने सचेत सामाजिक राजनीतिक चिन्तन और सक्रिय लेखन द्वारा सम्भव बनाया। कविता और उपन्यास इन दोनों ही विधाओं में युगीन सरोकारों की बिना पर अपने समय और समय से आगे की साहित्यिक प्रवृत्तियों को निर्देशित करने वाले दो महत्वपूर्ण साहित्यकार उभरकर सामने आते हैं–कविता में मैथिलीशरण गुप्त और कथा साहित्य में प्रेमचन्द। इसी कारण अपने लेखन के पूरे दौर में कथा साहित्य की प्रवृत्ति व उसके दशा और दिशा के निर्धारण की प्रेमचन्द की भूमिका के आधार पर इस काल का नामकरण 'प्रेमचन्द युग' के रूप में किया गया है।

प्रेमचन्द ने अपने लेखन की शुरूआत उर्दू माध्यम से की थी, पर आगे चलकर उन्होंने व्यापक जन–भाषा हिन्दी (हिन्दुस्तानी) को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया, पर संस्कार भाषा उर्दू का असर एकबारगी ख़त्म नहीं हो गया। विवेच्य उपन्यास 'रंगभूमि' (1925 ई0) उनकी अन्तिम कृति है, जिसे उन्होंने पहले उर्दू में लिखकर पुनः हिन्दी में अनूदित और लिप्यन्तरित किया था।

जैसा पहले भी कहा जा चुका है कि स्त्री मुद्दे को लेकर उपन्यास लिखे जाने की प्रवृत्ति का असर प्रेमचन्द पर भी था। अतः प्रेमचन्द भी उपन्यास लेखन की शुरूआत परिवार एवं उसमें स्त्री की स्थिति इसी विषय–वस्तु को आधार बनाकर करते हैं। वे आर्य समाज के स्त्री शिक्षा, बाल–विवाह निषेध, विधवा पुनर्विवाह तथा अनमेल विवाह का विरोध, स्त्रियों को उनके हक़ व सम्मान प्राप्ति हेतु जागरूक करने आदि सुधारवादी कार्यक्रमों से प्रभावित थे। आगे चलकर वे भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के नेतृत्व में चल रहे उपनिवेशवाद विरोधी स्वाधीनता संघर्ष और समाज की सामंती संरचना के विरुद्ध पनप रही विद्रोही चेतना के सजग व्याख्याकार बने। 'रंगभूमि', 'गबन', 'कर्मभूमि', 'गोदान' आदि उनके उपन्यास भारतीय जनता की आशा–आकांक्षा, संघर्षशील मन और सबसे बढ़कर मुक्ति के स्वप्न की बानगी पेश करते हैं।

'रंगभूमि' उनका पहला ऐसा उपन्यास है, जहाँ आकर वे परिवार–केन्द्रित सामाजिकता से आगे बढ़कर समाज और राजनीति के द्वन्द्व और अन्तर्सम्बन्धों को रेखांकित करते हैं। स्पष्ट तौर पर कहा जाए तो वे समान्तवाद और साम्राज्यवाद दोनों की जकड़न से प्रभावित भारतीय सामाजिक व्यवस्था की जड़ता और पराधीनता बोध को अभिव्यंजित करते हैं, तो साथ ही परिवर्तनगामी चेतना और स्वाधीनता के लिए सजग और चेतस भारतीय जनता की आशा और आकांक्षाओं को भी चित्रित करते हैं। इस प्रकार वे भारतीय समाज के लिए विशुद्ध देशी और जनतांत्रिक राजनीतिक घटक की परिकल्पना भी प्रस्तुत करते हैं।

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी–221005

रंगभूमि उपन्यास की कथावस्तु का केन्द्र बिन्दु अन्धे भिखारी सूरदास को माना जा सकता है, जिसके इर्द–गिर्द उपन्यास की पूरी कथा.वस्तु अपने अन्य तमाम आयामों के साथ घूमती रहती है। उसके पास अपने पुरखों की विरासत के रूप में पाण्डेयपुर कस्बे में ज़मीन का छोटा सा टुकड़ा है, जिससे उसे स्वहित से अधिक लोकहित के कारण बहुत मोह है और इसी वजह से वह उस भूमि पर अपने स्वामित्व को सार्थक समझता है। पाण्डेयपुर विशुद्ध गाँव न होकर शहर के पास का एक कस्बा है, जो शहरी औद्योगीकरण से अछूता न रह सकता था। सिगरा (शहर) निवासी पूँजीपति जॉन सेवक पाण्डेयपुर में एक सिगरेट का कारखाना खोलने की योजना बनाता है और उसे अमलीजामा पहनाने के लिए ज़मीन खरीदता है, किन्तु सूरदास की पैतृक ज़मीन उसके कारखाने की वास्तु–योजना में अड़चन पैदा करती है, अतः वह इस ज़मीन को भी कारखाने की हद में शामिल करने का इरादा करता है। सूरदास की कुशाग्र सहज बुद्धि औद्योगीकरण के दुष्परिणामों को आभासित कर लेती है। वैसे भी वह सात्त्विक मनोवृत्ति का मनुष्य है, जो अपनी ज़मीन किसी धार्मिक, नैतिक या सामाजिक उपयोग के लिए तो दे सकता था, पर सिगरेट जैसे घृणित वस्तु के उत्पादन के लिए नहीं। जॉन सेवक एक निष्ठुर, काइयाँ और स्वार्थी पूँजीपति है, जो साम, दाम, दण्ड, भेद किसी भी आधार पर सूरदास की वह ज़मीन लेने का प्रयत्न करता है और सूरदास अपने सामर्थ्य भर उसका विरोध। इसी संघर्ष को तत्कालीन सामाजिक राजनीतिक सन्दर्भों से जोड़ते हुए स्वाधीनता आन्दोलन और उसके मूल चरित्र को अभिव्यक्ति देने का प्रेमचन्द का सराहनीय प्रयास है।

'रंगभूमि' में प्रेमचन्द ने तत्कालीन राजनीतिक सन्दर्भों को बहुत विस्तारपूर्वक अंकित किया है। राजनीतिक सन्दर्भों की पृष्ठभूमि के रूप में आर्थिक.सामाजिक प्रक्रिया को उन्होंने इस उपन्यास में विस्तृत फलक पर दिखाया है। कारखाना खुलने की बात सुनकर सूरदास कहता है कि कारखाना बनेगा तो गाँव में दुराचार फैलेगा। ''.....लेकिन जहाँ यह रौनक बढ़ेगी, वहाँ ताड़ी शराब का भी तो परचार बढ़ जायेगा, कसबियाँ भी तो आकर बस जायेंगी, परदेसी आदमी हमारी बहू–बेटियों को घूरेंगे, कितना अधरम होगा!''[1] कुँवर भरतसिंह का भी विचार है कि तम्बाकू की खेती हुयी तो अनाज मँहगा हो जाएगा–''लेकिन जिन खेतों में इस वक्त नाज बोया जाता है, उन्हीं खेतों में तंबाकू बोयी जाने लगेगी। फल यह होगा कि नाज और मँहगा हो जाएगा।''[2] यहाँ प्रेमचन्द यह दिखाना चाहते हैं कि सूरदास जैसे प्रकृति प्रदत्त स्वाभाविक सहज बुद्धि वाले तथा चेतना सम्पन्न भारतीय मध्यवर्ग का एक तबका पूँजीवादी औद्योगीकरण को संदेह की दृष्टि से देखता है।

जॉन सेवक स्वार्थी व विलासप्रिय पूँजीपति वर्ग का प्रतीक है। वह कारखाना बनाने के उद्देश्य पूर्ति हेतु केवल स्वार्थवश औद्योगीकरण के समर्थन में अनेक तर्क देता है और तर्क देकर उसकी प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा किए बिना अपने मत थोपना शुरू कर देता है। इस प्रकार कारखाना बनकर तैयार हो जाता है और उसके तमाम दावों की सच्चाई कारखाना मजदूरों की पशुवत् जीवन–स्थितियों और गाँव के लोगों के बलात् विस्थापन को दिखाकर प्रेमचन्द परत–दर परत खोलते हैं। जॉन सेवक अपने औद्योगिक मिशन के विरोध में सूरदास के नेतृत्व में उठने वाले विरोध की आवाज़ को दबाने के लिए सामन्तवाद की प्रतीक जमींदारी–प्रथा तथा साम्राज्यवाद के प्रतीक अंग्रेजी शासन दोनों की मदद लेता है। रामविलास शर्मा इस सम्बन्ध में कहते हैं, ''जॉन सेवक, उसके जागीरदार और अंग्रेज दोस्त मजदूरों की इस बर्बाद ज़िन्दगी के लिए ज़िम्मेदार हैं। वे चाहते हैं कि ये लोग जानवरों की तरह रहें, ताकि इन्हें अपने अधिकारों का ज्ञान न हो और उनके स्वार्थ सुरक्षित रहें।''[3]

औद्योगीकरण का परिणाम कितना भयावह होता है, इसका भी चित्रण प्रेमचन्द करते हैं। उन्होंने दिखाया है कि किस तरह कारखाने के स्थापित होने के बाद धीरे–धीरे उद्योग के विस्तार करने पर गाँव वाले क्रूरता और अत्याचार के बल पर सिपाहियों द्वारा अपनी ही ज़मीन से विस्थापित किये जाते हैं। रामविलास शर्मा ने लिखा है ''इस तरह अंग्रेजी राज किसानों की ज़मीन उन्हीं के खून से तर करके अपने वफ़ादार दोस्त जॉन सेवक को भेंट करता है।''[4] सूरदास अपनी झोपड़ी छोड़ने से इन्कार कर देता है। जनता इस बार संगठित होकर सूरदास के साथ हो जाती है। पुलिस अन्ततः स्थिति को नियंत्रित न कर पाने की हताशा में मज़बूरन गोलियाँ चलाती है, जिसमें कई आदमी मारे जाते हैं।

प्रेमचन्द के विषय में एक तथ्य यह है कि वे असहयोग आन्दोलन के बाद ही गाँधीजी के प्रभाव में आये थे। उन्होंने रंगभूमि का लेखन असहयोग आन्दोलन की समाप्ति के तुरन्त बाद ही शुरू कर दिया था। यह अकारण नहीं है कि इस उपन्यास को गाँधीवाद से जोड़कर देखा जाता है, सूरदास की मनोवृत्तियों का जो चित्र उन्होंने खींचा है, उससे इस बात को बल मिलता है, लेकिन सूरदास केवल गाँधीजी का प्रतीक न रहकर निरीह, निस्पृह एवं सुखमय और आत्माभिमानी जीवन जीने का स्वप्न देखने वाली सामान्य भारतीय जनता का प्रतीक बन जाता है। अतः यह महज गाँधीवादी उपन्यास नहीं है।

रंगभूमि में प्रेमचन्द जहाँ यह दिखाते हैं कि पूँजीपति वर्ग और अंग्रेज सरकार एक–दूसरे से नाभिनाल सम्बद्ध हैं, वहीं यह रेखांकित करना भी नहीं भूलते कि यह जो पूँजीपति वर्ग पैदा हुआ है, वह औपनिवेशिक शासन के बाद भी यहीं रहेगा, यह अंग्रेजों के साथ नहीं जाएगा। यहीं पर इस उपन्यास की समकालीन प्रासंगिकता भी सिद्ध होती है। भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया के तहत उत्तर–औपनिवेशिक वर्चस्व को स्थापित करने की गरज से आदिवासी जनता का विकास के नाम पर विस्थापन, औद्योगीकरण की आँधी में पर्यावरण का विनाश तथा मानवीय भावों का लोप आदि प्रेमचन्द द्वारा इस उपन्यास में दिखाये गये समस्याओं का विकसित और समय के साथ बदलता स्वरूप है। प्रेमचन्द यहाँ स्वाधीनता के गाँधीवादी दर्शन के साथ खड़े दिखायी देते हैं। प्रेमचन्द 'रंगभूमि' में यह भी दिखाते हैं कि सरकार अन्ततः पूँजीपति के साथ खड़ी होती है। सरकार का प्रतिनिधि क्लार्क खुद सूरदास को गोली मारता है। वह औपनिवेशिक सरकार थी, पर आज़ादी के बाद छः दशक बीत जाने पर भी वस्तुस्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। गन्ना किसानों पर गोलीबारी का मामला हो, चाहे मिल मजदूरों के अनवरत शोषण का, आदिवासियों का विस्थापन हो या किसानों को उनकी ज़मीन से बेदखली का, सरकारें पूँजीपतियों की चाय की प्यालियों में शक्कर की तरह घुल जाती हैं। कितनी महत्वपूर्ण बात है कि औद्योगीकरण पर हिन्दी में पहला उपन्यास लिखते हुए प्रेमचन्द इस यथार्थ की पहचान कर रहे थे। वे आज भी यदि लोकप्रिय और ज़रूरी हैं, तो अपनी ऐसी ही क्षमताओं के बल पर ही। हालाँकि वे पूरी तरह उद्योग–धन्धों के विरोधी नहीं थे। वे विरोध इसलिए भी कर रहे थे, क्योंकि उद्योगपतियों की अंग्रेजों से साँठ–गाँठ थी। इसे वे स्वाधीनता आन्दोलन के मार्ग में बाधा की तरह देख रहे थे।

विनय सिंह, सोफिया, वीरपाल सिंह आदि पात्रों को गढ़कर प्रेमचन्द स्वाधीनता आन्दोलन के क्रांतिकारी तेवर और रचनात्मक कार्यक्रमों को बढ़ावा देने वाले चरित्र को भी उद्घाटित करते हैं। विनय सिंह स्वयंसेवक दल का गठन कर भारतीय जनता की सेवा का व्रत लेता है। रानी जाह्नवी इस सन्दर्भ में स्वाधीनता संघर्ष के लिए ज़रूरी एक बलिदानी आदर्श भारतीय माँ के रूप में अपना विशिष्ट महत्व रखती हैं। वह पुत्र–प्रेम के लिए ऊपर भारत–प्रेम को महत्व देती हैं और देश के लिए अपने पुत्र के बलिदान के लिए सदैव तैयार रहती हैं। सोफिया से विनय के प्रेम की बात जानकर वह उसे राजस्थान भेज देती हैं।

विनय सिंह राजस्थान में यह देखता है कि राजा और जागीरदार अंग्रेजी राज की कठपुतलियाँ हैं और वहाँ पर जनता को दोहरा जुल्म सहना पड़ता है–एक अंग्रेजों का और दूसरे उनकी कठपुतलियों का। वह विपरीत परिस्थितियों में भी अपने व्रत का पालन करते हुए अपने साथियों के साथ भारत की अभावग्रस्त जनता की सेवा करता है, किन्तु आगे चलकर प्रेमचन्द विनय के चरित्र में पतन दिखाते हैं। वह जनता पर अत्याचार में सामन्तवादी और साम्राज्यवादी ताकतों का साथ देता है। इसी को लक्ष्य करते हुए डॉ0 रामविलास शर्मा ने निष्कर्ष दिया है कि ''विनय ने जो पुनरुत्थानवादी दृष्टिकोण अपनाया था, उसका यही नतीजा हो सकता था। वह खुद एक राजा का लड़का था। मान और प्रतिष्ठा के लिए उसने देशभक्ति का अभिनय किया था। वह अपने जागीरदारी वर्ग का सच्चा हिमायती था।''[5]

विनय पतित तो होता है, पर सोफिया के उपेक्षापूर्ण फटकार और अंग्रेजी राज्य के अत्याचारपूर्ण दमन से उत्पन्न क्रान्ति की तात्कालिक प्रक्रिया के असर से वह पुनः स्वाधीनता आन्दोलन की धारा से जुड़ जाता है। सोफिया के रूप में प्रेमचन्द स्वतंत्रता के लिए बलिदान देने को उत्सुक एक ऐसी आदर्श भारतीय युवती का चरित्र सामने रखते हैं, जो धर्म के ऊपर मानवता और व्यक्तिगत प्रेम के ऊपर देशप्रेम और

राष्ट्रसेवा को तरजीह देती है। डॉ0 गाँगुली, प्रभु सेवक आदि अनेक पात्र भारतीय मध्यवर्ग के उस तबके के रूप में दिखायी देते हैं, जो स्वाधीनता आन्दोलन में अपनी तमाम सीमाओं के बावजूद शामिल हैं।

इस तरह 'रंगभूमि' उपन्यास में प्रेमचन्द ने अपने समय की सुगबुगाहट को विस्तृत फलक पर अंकित किया है, जिसमें केवल अंग्रेजी राज के प्रति विरोध न होकर पुनरुत्थानवादी हिन्दू आदर्शों की हिमायती सामन्तवादी मनोवृत्ति का भी विरोध है। 'रंगभूमि' में भारतीय जनता की मुक्ति की आकांक्षा व्यक्त हुयी है। सूरदास से यह कहलवाकर कि – ''... निरास होना खिलाड़ियों के धरम के विरूद्ध है। अबकी हार हुई, तो फिर कभी जीत होगी।''[6] प्रेमचन्द ने भावी आन्दोलनों को आभासित कराया है, यह उनकी बहुत बड़ी उपलब्धि है।

lanHkZ %

1. प्रेमचन्द, 'रंगभूमि' – भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2011, पृ0सं0 72–73
2. प्रेमचन्द, 'रंगभूमि' – भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2011, पृ0सं0 44
3. शर्मा, रामविलास, 'प्रेमचन्द और उनका युग' – राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला छात्र संस्करण, 1993, छठी आवृत्ति, 2011, पृ0सं0 75
4. शर्मा, रामविलास, 'प्रेमचन्द और उनका युग' – राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला छात्र संस्करण, 1993, छठी आवृत्ति, 2011, पृ0सं0 75
5. शर्मा, रामविलास, 'प्रेमचन्द और उनका युग' – राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला छात्र संस्करण, 1993, छठी आवृत्ति, 2011, पृ0सं0 78
6. प्रेमचन्द, 'रंगभूमि' – भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2011, पृ0सं0 452

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

ikfy lkfgR; esa of.kr vk;l lR; % ,d fo'ys"k.k

lqhy dqekj*

बौद्ध धर्म विश्व के महनीय धर्मों में अन्यतम है। भगवान बुद्ध इसी भारत भूमि में अवतीर्ण हुए थे। वे संसार के दिव्य विभूति थे।[1] वे सम्यक् सम्बोधि–परम उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त कर लेने पर जिन चार सत्यों (आर्य सत्यों) को खोज निकाला, उनमें पहला सत्य है, दुःख। यह संसार दुःखमय है। इस सिद्धांत को देखकर आधुनिक विद्वानों की यह धारणा बन गई है कि बौद्धधर्म नैराष्यवादी है, परन्तु यह धारणा नितान्त भ्रान्त है।[2] भगवान तथागत बुद्ध का धर्म पूर्णतः आशावादी तत्काल फल देने वाला और सदा–सदा के लिए दुःखों को नष्ट करने वाला आर्य अष्टांगिक मार्ग है। चूँकि यह कायाक्लेश एवं भोगविलास जैसे दो अतियों के बीच से (मध्य) निकला है, इसलिए इसे मध्यम मार्ग भी कहते हैं। यह मार्ग पूर्णतया शील–समाधि–प्रज्ञा पर अभिकेन्द्रित है। ऐतिहासिक तथ्यों के सम्यक अनुशीलन से परिज्ञात होता है कि तथागत द्वारा अन्वेषित दुःख निरोध गामिनी मार्ग ब्राह्मणवाद का सशक्त विकल्प था, जो बहुजनों के सुख के लिए, बहुजनों के कल्याण के लिए प्रतिबद्ध था।

महाकारूणिक बुद्ध का समय आत्मा एवं लोक सम्बन्धी विभिन्न मान्यताओं का समय था। इनके समय में विचारों की बाढ़ सी आ गयी थी। दीघनिकाय में उल्लिखित बासठ मिथ्या दृष्टिया इस बात की पुष्टि के लिए पर्याप्त है कि उस समय मनुष्य जन्म से पहले तथा मरने के बाद की स्थिति को जानने के लिए आतुर था। जन्म से पूर्व की स्थिति से सम्बन्धित 18 तथा मरण के उपरान्त की स्थिति से सम्बन्धित 44 मतों से यह स्पष्ट होता है कि उस समय के धार्मिक एवं बुद्धिजीवी मनुष्य अपने–अपने नवीन वादों का प्रचार कर रहे थे। जबकि जनसामान्य अपने को इसी भूलभूलैया से निकालने के लिए उत्सुक था।[3]

पूरण कस्सप आदि तीर्थकरों ने जन–सामान्य को इन्हीं उलझनों से उबारने का प्रयास किया था। पूरण कस्सप ने अक्रियावाद का प्रचार कर आहार–शुद्धि, उदक–शुद्धि तथा यज्ञ–हवन आदि उन प्रवृत्तियों का प्रतिरोध किया जो धर्म के नाम पर चली आ रही थी। मक्खलि गोसाल ने नियतिवाद का प्रचार कर कुछ वर्ग–विशेष के कर्त्तव्य के अधिकार का चुनौती दी थी। अजित केसकंबल ने जन्म से पूर्व एवं मरण के बाद की स्थितियों से सम्बन्धित मतवादों पर करारा प्रहार किया। पकुथ कच्चायन ने भी अक्रियावाद जैसा ही सिद्धांत बतलाकर क्रियावाद के सिद्धांतों का विरोध किया था। संजय वेलट्ठपुत्त ने परलोक सम्बन्धी मान्यता को प्रकारान्तर से अज्ञान से परिपूर्ण सिद्धांत बताया था। इस प्रकार इन तीर्थकरों ने अपने–अपने तर्कों से जनकल्याण को समर्पित मार्गों का उद्घाटन किया किंतु तथागत का मार्ग का श्रेष्ठतम व पूजनीय था।[4] भगवान बुद्ध के इस मार्ग को चार आर्य सत्य के नाम से जानते हैं।

चन्द्रकीर्ति के कथानानुसार इन सत्यों को 'आर्य सत्य' कहने का अभिप्राय यह है कि आर्य जन–विद्वतजन ही इन सत्यों तक पहुँच सकते हैं।[5] तथागत गौतम बुद्ध ने सारनाथ में दिये अपने प्रथम प्रवचन में ही कहा, 'भिक्षुओं, जो प्रव्रजित है, उसे दो अतियों से, सीमा पर पहुँचे दो प्रकार के आचरण से सर्वथा दूर ही रहना चाहिए। काम–भोग प्रधान जीवन से, क्योंकि यह दुर्बल बनाने वाला है, गंवारपन है, कमीनापन है और किसी काम का नहीं। दूसरा निज–पीड़ा प्रधान जीवन क्योंकि यह दुःखद होता है, व्यर्थ होता है और बेकार होता है।'' इन दोनों अतियों से बचे रहकर ही तथागत ने मध्यम मार्ग का अविष्कार

*शोध छात्र, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्व विभाग, का0हि0वि0वि0, वाराणसी–221005

किया। यह मध्यम–मार्ग साधक को अन्तर्दृष्टि प्रदान करने वाला है, ज्ञान देने वाला है, शान्ति का दाता है और निर्वाण तक पहुँचाने वाला है। यह मध्यम मार्ग कौन सा है, यही श्रेष्ठ अष्टांगिक मार्ग है।[6]

बुद्ध के 'मध्यम मार्ग' के अनुयायी होने के कारण इस मत का नामकरण पड़ा। बुद्ध ने नैतिक जीवन में दो अन्तों को–अखण्ड तापसजीवन तथा सौभ्य भोगविलास को छोड़कर बीच के मार्ग का अवलम्बन किया। तत्वविवेचना में शाश्वतवाद तथा उच्छेदवाद के दोनों एकांगी मतों का परिहार करके अपने 'मध्यम मत' का ग्रहण किया। यह मार्ग ज्ञान देने वाली, निर्वाण का साक्षात्कार कराने वाली है। तथागत के उक्त कथन को सुनकर परिब्राजको ने नये मार्ग को विस्तारपूर्वक जानने के लिए अत्यन्त उत्सुक हो उठे। उन्होंने बुद्ध से प्रार्थना की कि वे उन्हें बतायें।

बुद्ध ने स्वीकार कर पहली बात यह बताई कि उनके संधर्म को आत्मा, परमात्मा से कुछ लेना देना नहीं है। उनके सधर्म को मरने के बाद (आत्मा का) क्या होता है? इससे कुछ सरोकार नहीं है। उनके सधर्म को कर्मकाण्ड के क्रिया–कलापों से भी कुछ लेना देना नहीं है। बुद्ध के धर्म का केन्द्र–बिन्दु आदमी है और पृथ्वी पर रहते समय आदमी का आदमी के प्रति क्या कर्त्तव्य होना चाहिए? बुद्ध ने कहा यह उनकी पहली स्थापना है।

बुद्ध की दूसरी स्थापना है कि आदमी दुःखी है, कष्ट में है और दरिद्रता का जीवन व्यतीत कर रहे हैं। संसार दुःख से भरा पड़ा है और धर्म का उद्देश्य इस दुःख का नाश करना ही है। इसके अतिरिक्त सधर्म और कुछ नहीं है। दुःख के अस्तित्व की स्वीकारोक्ति और दुःख के नाश करने का उपाय–यही धर्म की आधारशिला है।[7] धर्म के लिए एकमात्र यही आधार हो सकता है। जो धर्म इस प्राथमिक बात को भी, अंगीकार नहीं करता, धर्म ही नहीं हैं। आगे वे कहते हैं, हे परिव्राजको! जो भी श्रमण या ब्राह्मण यह भी समझ नहीं पाते कि संसार में दुःख है और दुःख के नाश करने का उपाय है। ऐसे श्रमण–ब्राह्मण मेरी सम्पत्ति में श्रमण–ब्राह्मण ही नहीं है। वे अपने को ज्येष्ठ–श्रेष्ठ समझने वाला इतना भी समझ नहीं पायें है कि धर्म का सही अर्थ क्या है?[8]

तब परिव्राजकों ने पूछा दुःख और दुःख का विनाश ही यदि आपके धर्म की आधारशिला है तो हमें बताइए कि आप का धर्म कैसे दुःख का नाश कर सकता है? तब बुद्ध ने समझाया कि–

1. पवित्रता के पथ पर चलें।
2. धर्म के पथ पर चलें।
3. शील–मार्ग पर चलें तो इस दुःख का एकान्तिक निरोध हो सकता है।[9]

ये आर्य सत्य कहलाते हैं?

भगवान बुद्ध द्वारा उद्घाटित 'सत्य' को 'आर्य–सत्य' के नाम से अभिधेय किया जाता है। यहाँ आर्य का मतलब 'श्रेष्ठ' से है, अर्थात् ये 'श्रेष्ठ सच्चाईयाँ हैं। इसका अर्थ यह भी लिया जाता है कि ये सच्चाईयाँ तथागत बुद्ध द्वारा उपदिष्ट हैं। अर्थात् दूसरे अर्थ में आर्य का अर्थ भगवान बुद्ध से भी है, बुद्ध ही श्रेष्ठ हैं, बुद्ध ही आर्य हैं। बौद्ध धर्म में आर्य शब्द का अर्थ 'प्रजाति' (Race) के रूप में प्रयुक्त नहीं होता है, वरन् आर्य शब्द व्यक्ति की शालीनता और सभ्यता का प्रतीक है। ये इसलिए भी आर्य कहे जाते हैं, क्योंकि ये सत्य के सर्वोच्च रूप को हमारे सामने रखते हैं।[10]

हमारे मानसिक क्रियाकलाप यथा नैतिक विचार या नैतिक विपाक भी एक मानसिक इकाई है और विचार जगत में अन्तिम है, परन्तु उच्चतर सामान्यीकरण में, आध्यात्म में ये असत्य ठहरते हैं क्योंकि वे वस्तुओं या घटनाओं की श्रेणी में ही निरूपित होते हैं, जो स्वभावतः अनुबन्धित होने से रूग्ण हैं, परिवर्तन के नियम के अधीन हैं। अस्तु, वे सत्य नहीं कहे जा सकते हैं और श्रेष्ठ या आर्य–सत्य तो किसी भी शर्त पर नहीं कहे जा सकते हैं। सत्य तो वे ही कहे जा सकते हैं, जो वैसे ही घटित होते हैं, जैसे उनकी तथता है। जैसा कहा गया, उसके विपरीत कुछ भी नहीं है। यही उनकी तथता है। उनके घटित होने के अन्य तरीके भी नहीं हैं। हमें अभिधर्मकोश की इस कारिका से इसे समझने में सहायता प्राप्त होती है, जब बोधिसत्व वसुबन्धु कारिका में कहते हैं–

lR;kU;kfu pRokfj n[kk lenq;LrFkkA

fujk/kk ekxk bR;"kk ;FkkfHkle;k ØeAA2AA[11]

अर्थात् सत्यों की संज्ञा आर्य–सत्य इसलिए है क्योंकि आर्य इनको सत्य करके जानते हैं।

vk;k&lR;ksa dk Øe %

बौद्ध धर्म में आर्य–सत्यों का एक क्रम निर्धारित है। ये पूर्व–अपर क्रम में है। दुःख आर्य सत्य को प्रथम क्रम पर रखा जाता है और दुःखनिरोधगामिनी यह क्रम तथागत बुद्ध द्वारा उपदिष्ट है, उसके पीछे पूर्णयुक्तिसंगतता है। यह क्रम तर्क पूर्ण ही नहीं अपितु 'एहि पस्सिको धम्मा' की अभिव्यक्ति की अनुभवग्राह्यता भी क्रम है। दुःख सत्य को उसकी व्यापकता, सार्वभौमिक और सहज अनुभूति किये जाने के कारण प्रथमोक्त किया गया है। एक चिकित्सक पहले बिमारी का निदान करता है, फिर उसके कारण को अन्वेषित करता है, वैसे ही भगवान बुद्ध ने दुःख के बाद उसके कारण का संधान किया। कारण का पता लग जाने पर उसके निवारण का जतन किया जाता है। अतः निरोध–सत्य उसके बाद आता है, अन्ततः उपचार होता है, वही चतुर्थ आर्य–सत्य होता है। चिकित्सा शास्त्र के अनुसार भी इन सत्यों का यही क्रम व्यवस्थित होता है। इस सत्य का उद्घाटन सम्यक–सम्बुद्ध ने किया था। अतः उन्हें 'महाभैषजज्ञ' कहा जाता है। महाकवि अश्वघोष अपनी प्रसिद्ध कृति सौन्दरनांद में भगवान बुद्ध को महाभिष्क कहते हैं। उन्होंने चिकित्साशास्त्र के चतुर्व्यूह का उल्लेख करते हुए लिखा है कि दुःख सत्य को रोग, दोषों को रोग–हेतु (निदान) निरोध सत्य को आरोग्य तथा मार्ग सत्य को औषधि समझो, यथा

rn0;kf/kkKk dN nk"k lR;a] nk"kLofi C;kf/kfunkuKk

vkjkX;a p fujk/k lR;a] Hk"kT;a Kkefi ekxa lR;aAA[12] –सौन्दरनंद 16.41

सुख आर्य सत्य नहीं है–

दुःख पीड़ा पहुँचाता है, यह अपकार करता है वहीं जो उपकार करता है, वह सुख है, तो फिर उसके अस्तित्व को कैसे नकारा गया हैं। सुख सभी को अभिप्रेत भी है, प्रिय भी है। बौद्ध धर्म में सुख के इन विविध पक्षों पर गहराई से विवेचन किया गया है, वह भी वैराग्य काल में आर्यों को अनभिप्रेत होता है। अतः प्रेयत्व व्यवस्थापित नहीं होता है एवं इस आधार पर भी सुख का अवस्थान नहीं होता है। आर्यों का अनभिप्रेत उसकी प्रकृति या स्वभाव के कारण होता है। सुखावेदना पर्यायेण दुःख है। वेदना को भगवान ने दुःख ही कहा है, जिसे विभिन्न व्याख्याओं के आधार पर बौद्ध धर्म में समझाया गया है। मनाप और अमनाप स्रासव धर्म और इससे अन्य सास्रव व अशेषतः दुःख है। अतः भगवान ने सुख को आर्य सत्य नहीं कहा है।[13]

अब हम चार–आर्य सत्यों का वर्णन करेंगे जिसकी देशना भगवान तथागत ने सारनाथ के इसिपत्तन में धर्मचक्रप्रवर्तनसूत्र में किया था। वे निम्नवत् हैं–

आर्य सत्य चार हैं–

d½ n%[ke & इस संसार का जीवन दुःख से परिपूर्ण है।

[k½ lenq;% & इस दुःख का कारण विद्यमान है।

x½ fujk/k% & इस दुःख से वास्तविक मुक्ति मिलती है।

?k½ fujk/kxkfeuh ifrin & दुःखों के नाथ के लिए वस्तुतः मार्ग है जिसके अवलम्बन करने से जीव संसार में विद्यमान दुःख का सर्वथा निरोध कर सकता है।

d½ n%[ke

संसार का दिन–प्रतिदिन का अनुभव स्पष्टतः बतलाता है कि यहाँ सर्वत्र दुःख का राज है। जिधर दृष्टि डालिए, उधर ही दुःख दिखलाई पड़ता है। दुःख की व्याख्या करते समय तथागत का कथन है–

इदं खो पन भिक्खवे दुक्खं अरिय सच्चं। जाति पि दुक्खा, जरापि दुक्खा, मरणाम्पि दुक्खं, सोकं–परिदेव–दोमनस्सुपायासापि दुक्खा, आप्पियेहि सम्पयोगो दुक्खो, पियेहि विप्पयोगो दुक्खो, यम्पिच्छं न लभति तम्पि 'दुक्खं' संख्यितेन पचूपादानक्खन्धापि दुक्खा।।

हे भिक्षुगण, दुःख प्रथम आर्य सत्य है। जन्म भी दुःख है। वृद्धावस्था भी दुःख है। मरण भी दुःख है। शोक, परिवेदना दौर्मनस्य (उदासीनता), उपायास (आयास, हैरानी) सब दुःख है। अप्रिय वस्तु के साथ समागम दुःख है, प्रिय के साथ वियोग भी दुःख है। इच्छित वस्तु का न मिलना दुःख है। संक्षेप में कहें तो राग के द्वारा उत्पन्न पाँचों स्कन्ध (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान) भी दुःख है। अर्थ के उपार्जन में दुःख, रक्षण में दुःख, व्यय में दुःख, तब अर्थ को सुखकारक कैसे कहा जाय? धम्मपद का कथन नितान्त युक्तियुक्त है कि संसार जलते हुए घर के सामान है, तब इसमें हंसी कैसी होगी? आनन्द कौन–सा मनाया जाय?

को नु हासो किमानन्दो निच्चं पज्जलिते सति।[14] –धम्मपद, गाथा 146

¼[k½ n%[k lenk; %

द्वितीय आर्य सत्य है – दुःखसमुदय। समुदय का अर्थ–कारण। अतः दूसरा सत्य है– दुःख का कारण। बिना कारण के कार्य उत्पन्न नहीं होता। कार्यकारण का नियम अच्छेद्य है। जब दुःख कार्य है, तब उसका कारण भी अवश्य होगा। दुःख का हेतु है–तृष्णा। भगवान बुद्ध के शब्दों में–

'इदं खो पन भिक्खवे दुक्खसमुदयं अरियसच्चं। योयं तण्हा पोनर्भविका नन्दिरागहसगता तत्र तत्राभिन्दनी सेयमीदं कामतण्हा, भवतण्हा, विभवतण्हा।

हे भिक्षुगण, दुःखसमुदय दूसरा आर्य सत्य है, दुःख का वास्तव हेतु तृष्णा है जो बारम्बार प्राणियों को उत्पन्न करती है (पौनर्भविक) विषयों के राग से युक्त है तथा उन विषयों का अभिनन्दन करने वाली है। यहाँ और वहाँ सर्वत्र अपनी तृप्ति खोजती रहती है। यह तृष्णा तीन प्रकार की है–कामतृष्णा, भवतृष्णा, विभवतृष्णा संक्षेप में दुःख समुदय का यही स्वरूप है–

1. कामतृष्णा – जो तृष्णा नाना प्रकार के विषयों की कामना करती है।
2. भवतृष्णा – भवत्र संसार या जन्म। इस संसार की सत्ता बनाये रखने वाली तृष्णा।
3. विभवतृष्णा – विभव का तात्पर्य है, उच्छेद, संसार का नाश संसार के नाश की इच्छा उसी प्रकार दुःख उत्पन्न करती है जिस प्रकार उसके शाश्वत होने की अभिलाषा।[15]

¼x½ n%[kfujks/k%

तृतीय आर्यसत्ता का नाम है, दुःखनिरोध। निरोध शब्द का अर्थ नाश या त्याग है। यह सत्य बतलाता है कि दुःख का नाश होता है। दुःख की सत्ता बतलाकर ही बुद्ध की शिक्षा का अंत नहीं होता, प्रत्युत उनका उपदेश है कि इस दुःख का अंत भी है। बुद्ध ने भिक्षुओं के सामने इस सत्य की इस प्रकार व्याख्या की–

'इदं खो पन भिक्खवे! दुक्खनिरोधं अरियसच्चं। सो तस्सायेव तण्हाय असेसविरागनिरोधो चागो पटिनिस्सागो मुत्ति अनालयो।[16]

¼?k½ n%[kfujks/kxkfeuh izfrin

प्रतिपद का अर्थ है– मार्ग। यही चतुर्थ आर्यसत्य है जो दुःख निरोधक तक पहुँचने वाला मार्ग है। गन्तव्य स्थान यदि है तो उसका मार्ग अवश्य होगा। निर्वाण प्रत्येक व्यक्ति का गन्तव्य स्थान है तो उसके लिए मार्ग की कल्पना भी न्यायसंगत है। इस मार्ग का नाम 'अष्टांगिक मार्ग' है। ये आठ अंग है[17]–

1. सम्यक दृष्टि
2. सम्यक संकल्प
3. सम्यक वाणी
4. सम्यक कर्मान्त
5. सम्यक आजीविका
6. सम्यक व्यायाम
7. सम्यक स्मृति
8. सम्यक समाधि

योग साधना की दृष्टि से आर्य अष्टांगिक मार्ग को तीन भागों में विभक्त किया जाता है। ये तीन भाग हैं– शील, समाधि एवं प्रज्ञा। इसमें से शील के अन्तर्गत सम्यक्–वाक्, सम्यक–कर्मान्त तथा सम्यक–आजीव का समावेश किया जाता है। इसी प्रकार सम्यक–समाधि में सम्यक्–व्यायाम, सम्यक–स्मृति और सम्यक्–समाधि की गणना की जाती है। जबकि प्रज्ञा में सम्यक दृष्टि, सम्यक–संकल्प आते हैं। योगी अपने साधना के प्रसंग में शील, समाधि और प्रज्ञा को क्रमशः अपने में विकसित करता है। इनमें शील से साधना प्रारम्भ होती है, समाधि से वह अपने साधना का विकास करता है और प्रज्ञा के सहारे वह अपने दुःखनिरोध रूपी लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।[18]

इस प्रसंग में संयुक्त निकाय में आई एक गाथा अत्यधिक उपयोगी है। उस गाथा में कहा गया है जो मनुष्य उद्योगी एवं निपुण भिक्खु के रूप में शील पर प्रतिष्ठित होकर चित्त एवं प्रज्ञा की भावना को करता है, वह इस जटा को काट सकता है। इस गाथा के पूर्व प्रसंग को देखने पर स्पष्ट होता है कि एक बार महाकारूणिक श्रावस्ती में विहार कर रहे थे, तभी रात्रि में एक देवपुत्र उनके पास आकर उनसे यह प्रश्न किया कि अन्त में जटा है, जटा से प्रजा जकड़ी हुई है। इसलिए हे गौतम! मैं आपसे पूछता हूँ कि कौन इस जटा को काट सकता है?

उक्त प्रश्न एवं उसके उत्तर से यह स्पष्ट होता है कि संसार में तृष्णा रूपी जटा को समाप्त करने के लिए मनुष्य को शील पर अधिष्ठित होकर समाधि के अभ्यास से प्रज्ञा प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए।[19] शील, समाधि एवं प्रज्ञा का अभ्यास पूर्णतया निर्वाण की ओर लेकर जाता है, इसे समझने के लिए आर्य अष्टांग मार्ग के प्रत्येक अंगों पर गम्भीरता से विचार करना होगा जिसका संक्षिप्त में यहाँ चर्चा प्रस्तुत है–

1- lE;d nf"V& बुद्ध ने सम्यक दृष्टि का महत्व समझाने के लिए परिव्राजकों से कहा, 'हे परिब्राजको! तुम्हें इसका बोध होना चाहिए कि यह संसार एक कारागार है और आदमी इस कारागार में कैदी है। मन ही एक ऐसा साधन है जिसके माध्यम से आदमी को प्रकाश की प्राप्ति हो सकती है।[20] सम्यक दृष्टि के बारे में पूछने पर तथागत ने बताया कि यथार्थ या ठीक दृष्टि। कायिक, वाचिक, मानसिक भले–बुरे कर्मों के ठीक–ठीक ज्ञान को सम्यक दृष्टि कहते हैं। डॉ0 भीमराव अम्बेडकर अपने ग्रन्थ 'भगवान बुद्ध और उनका धर्म' में लिखते है 'सम्यक दृष्टि का मतलब है कि आदमी सब मिथ्या–धारणाओं से मुक्त हो जो आदमी के मन की कल्पना–मात्र है और जिनका आदमी के अनुभव या यथार्थता से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है।[21]

2- lE;d ladYi& ठीक संकल्प के दो अंग हैं– शुभ संकल्प का ग्रहण करना तथा अशुभ संकल्प का त्याग करना। आर्य सत्यों के ज्ञान मात्र से ही कोई भी लाभ नहीं हो सकता है जब तक कि उनके अनुसार जीवन बिताने का दृढ़ संकल्प न किया जाय। जो अपना भला चाहते हैं, निर्वाण के आकांक्षी हैं, उन्हें सांसारिक विषयों की आसक्ति, दूसरे के प्रति विद्वेष और हिंसा–इन तीनों का परित्याग करने का दृढ़ निश्चय करना चाहिए। यह निश्चय सम्यक संकल्प कहा जाता है।[22]

3- lE;d okp.kh& झूठ, चुगली, कटु–भाषण और वकवास से रहित सच्ची मीठी बातों का बोलना अर्थात् अनुचित वाणी का त्याग सम्यक वाक् है। मिथ्यावादिता, अप्रियवचन, वाचालता– ये चार वाणी के दोष बताएं गये हैं, इनसे मनुष्य को बचना चाहिए।[23]

4- lE;d dekUr& हिंसा, चोरी, व्यभिचार रहित कार्य ही सम्यक कर्म है। सम्यक कर्मान्त में पाप कर्मों का परित्याग सन्निहित है। हिंसा, स्तेय, इन्द्रिह निग्रह का अभाव–ये सभी निन्दनीय कर्म माने गये है। डॉ0 अम्बेडकर लिखते हैं 'सम्यक कर्मान्त योग्य व्यवहार की शिक्षा देता है। हमारा कार्य ऐसा हो जिसको करते समय हम दूसरे की भावनाओं और अधिकारों का ख्याल रखें।[24]

5- lE;d vktho& जीविका निर्वाह के लिए उचित मार्ग का अनुसरण तथा निषिद्ध मार्ग का त्याग सम्यकजीव है। जीविकोपार्जन के लिए बौद्ध धर्म में निम्न जीविका निषिद्ध मानी गई है– शस्त्र का व्यापार, प्राणी का व्यापार, मांश–मद्य का व्यापार आदि। इनका परित्याग कर कुशल मार्ग से अर्थोपार्जन पूजनीय है।[25]

6- lE;d 0;k;ke & अविद्या को नष्ट करने के प्रयास की प्रथम पीढ़ी है, इस दुःखद कारागार के द्वार तक पहुँचने का रास्ता ताकि उसे खोला जा सके। सम्यक व्यायाम के चार उद्देश्य हैं, एक है अष्टांगिक मार्ग विरोधी चित्त प्रविित्तियों की उत्पत्ति रोकना। दूसरा, है ऐसी चित्त–प्रवृत्तियों को दबाना जो उत्पन्न हो गयी है। तीसरा, है ऐसी चित्त प्रवृत्तियों को उत्पन्न जो अष्टांगिक मार्ग की आवश्यकता की पूर्ति में सहायक हो। चौथा, है ऐसी उत्पन्न चित्त–प्रवृत्तियों में और भी अधिक वृद्धि करना तथा उसका विकास करना।[26]

7- lE;d Lefr & ज्ञात विषयों का यथार्थ स्मरण ही सम्यक स्मृति है। काया, वेदना, चित्त और मन के धर्मों के ठीक स्थितियों का ज्ञान अर्थात् उनके मालिन क्षण, विध्वंसी आदि होने के ज्ञान का सदा स्मरण सम्यक स्मृति है। डॉ0 अम्बेडकर लिखते हैं– 'सम्यक स्मृति का मतलब है हर बात पर ध्यान देना। यह की सतत् जागरूकता है। मन में जो अकुशल विचार उठते हैं। उनकी चौकीदारी करना 'सम्यक–स्मृति' का ही दूसरा नाम है।[27]

8- lE;d lekf/k & समाधि का अर्थ है–समाधान। जब किसी एक आलम्बन में समान एवं सम्यक रूप से चित्त तथा चैत्तिसिक धर्मों की प्रतिष्ठा होती है, उसे समाधि कहते हैं। दूसरे शब्दों में एकालम्बन रूपी एकाग्रता ही समाधि है। जिसका एक ही आलंबन होता है, उसे एकाग्र कहते हैं और उसका भाव एकग्रता है। चूंकि सभी कुशल हैं और उसका भाव एकाग्रता है। चूंकि सभी कुशल धर्म समाधि में प्रतिष्ठित होते हैं, अतः उनमें समाधि को प्रमुख कहा गया है।[28] सम्यक स्मृति, व्यायाम का अभ्यास करने पर उनके मार्ग में पांच बाधाएं उत्पन्न होती है। इन पांच बांधाओं यथा लोभ, क्रोध, आलस्य, चिन्ता और शंका–कंशका, इनका उपशमन करके चित्त को एकाग्र किया जा सकता है। सम्यक समाधि के अभ्यास (विपश्यना) से प्रज्ञा की प्राप्ति होती है। प्रज्ञाचक्षु सम्पन्न योगी विपश्यना से संस्कारों में विद्यमान उनके वास्तविक स्वभाव को देखता है। विविध प्रकार के संस्कृत धर्म अनित्य, दुःख, अनात्म स्वभाव वाले होते हैं किन्तु उन धर्मों की उक्त वास्तविकता केवल विपश्यना से देखा जा सकता है।[29] आर्य श्रावक विपश्ययी साधक स्रोतात्पन्न, सकृदगामी, अनागामी तथा अर्हत् अवस्था को विपश्यना साधना के बल पर प्राप्ति कर लेता है, और अर्हत् बनने पर ही भिक्खु निर्वाण प्राप्त कर सकता है। निर्वाण ही उच्चादर्श जिसे प्राप्त करना प्रत्येक साधक एवं विद्यार्थी का महान लक्ष्य होता है।

fu"d"k% %

इस प्रकार भगवान बुद्ध द्वारा खोजा गया महान मार्ग बहुजनों के सुख के लिए, बहुजनों के कल्याण के लिए तथा लोक जगत के कल्याण के लिए समर्पित है। यह पूरी तरह से अनात्मवाद, अनिश्वरवाद तथा अनित्यवाद के रसायनों से निर्मित है। इन रास्तों पर चलकर जहाँ एक ओर महान भिक्खु विपश्यना साधना के बल पर निर्वाण प्राप्त कर सकता है और वहीं साधकगणशील आचरण के द्वारा एकाग्रता के आलम्बन से अन्तर्दृष्टि (प्रज्ञा) प्राप्त कर सकता है। यह आर्य अष्टांग मार्ग सुन्दर रूप से आख्यायित (स्वाक्खातो) है, तत्काल फल देने वाला (सन्दिट्ठिको) समय–स्थान के सीमाओं से मुक्त है (अकालिको) कालान्तर में नहीं, अपितु 'आओ और इसे देख लो (एहिपस्सिको) यह कहलाने योग्य है। इस अष्टांग मार्ग के किसी भी मार्ग का आलंबन करके निर्वाण तक पहुँचा जा सकता है। यह मार्ग इतना सरल एवं सुग्राह्य है कि महाथेर भिक्खु, आचार्य, धम्माचारी ही नहीं सामान्य उपासक भी निर्वाण का पथगामी हो सकता है। भगवान बुद्ध से एक सामान्य बूढ़ी माँ जब पूछती है कि 'ना मैं पढ़ी हूँ और न ही विद्वानों के संग ध्यान करती हूँ। मैं कैसे आपके शिक्षा (निर्वाण) का साक्षात्कार करूं तो भगवान ने सहसा यह गाथा कहा–

lCcikiLl vdj.k dqlyLl mikinkA
lfpÝkifj;kni ,rc)kuq'kklukAA

(सभी प्रकार के पापों को न करना, कुशल कर्मों का संचय करना, चित्त का परिपूर्ण विकास करना, यही बुद्धों की शिक्षा है।)

InHkl %

1. उपाध्याय, आचार्य बलदेव : बौद्ध–दर्शन–मीमांसा, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण–2014, पृ0 2.
2. वही, पृ0 2.
3. थेरो, डॉ0 डी0 रेवत : थेरवाद बौद्ध धर्म में योग और साधना, डॉ0 डी0 रेवत् थेरो मूलगंध कुटी विहार, धर्मपाल रोड, सारनाथ, वाराणसी, द्वितीय संस्करण–2005, पृ0 14, 15.
4. वही, 15.
5. वही, पृ0 46.
6. नरसू, प्रो0 पी0 लक्ष्मी, दि एसेंस ऑफ बुद्धिज्म, सम्यक प्रकाशन 32/3, क्लब रोड, पश्चिमपुरी, नई दिल्ली–110063–08, द्वितीय संस्करण–2011, पृ0 131.
7. भगवान बुद्ध और उनका धर्म : डॉ0 भदन्त आनन्द कौसल्यायन (अनुवादक), बुद्धभूमि प्रकाशन, नागपुर 1997, पृ0 95.
8. वही, पृ0 95.
9. वही, पृ0 96.
10. तारा राम : बौद्ध दर्शन : आर्य सत्य, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–2005, पृ0 54.
11. वही, पृ0 55.
12. वही, पृ0 57.
13. वही, पृ0 62.
14. उपाध्याय, उपर्युक्त, पृ0 47,48.
15. वही, पृ0 49.
16. वही, पृ0 50.
17. वही, पृ0 51.
18. थेरो, डा0 डी0 रेवत : उपर्युक्त
19. वही, पृ0 33.
20. डॉ0 भदन्त आनन्द कौसल्यायन, उपर्युक्त, 97.
21. वही, पृ0 98.
22. तारा राम, उपर्युक्त 115.
23. वही, पृ0 115.
24. वही, पृ0 116.
25. डॉ0 कौसल्यायन, उपर्युक्त, पृ0 99, 100
26. वही, पृ0 100.
27. थेर, डॉ0 डी0 रेवत, उपर्युक्त, पृ0 62.
28. वही, पृ0 65.
29. वही, पृ0 66

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

fodkl vkj Three-P dh pukfr;k

MkO Lokeh ukFk frokjh*

प्रायः हम किसी भी अर्थव्यवस्था को तीन भागों में विभाजित करते हैं :

1- ikFkfed {k= % कृषि, पशुपालन, खनन इत्यादि।

2- f}rh;d {k= % मुख्यतया उद्योग, विनिर्माण कार्य इत्यादि।

3- r`rh;d {k= % सेवाएँ।

प्रारम्भ में बहुत समय तक हम विकास को प्राथमिक क्षेत्र से जोड़ते थे। विशेष रूप से हमारा नाता 'एग्रीकल्चर–डेवलपमेन्ट' से था और 'कृषि विकास' ही 'ग्रामीण विकास' का पर्याय बनी हुई थी। भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना प्राथमिक क्षेत्र के विकास से ही सम्बन्धित रही और इसमें विशेष ध्यान खाद्यान्न उत्पादन में वृद्धि पर दिया गया। कारण यह रहा कि उस समय खाद्यान्न संकट का दौर रहा और लोग भूखों मर रहे थे। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में द्वितीयक क्षेत्र अर्थात् उद्योगों के विकास को सर्वोच्च रखा गया जिसमें तत्कालीन प्रधानमंत्री 'पं0 जवाहर लाल नेहरू' ने तो यहाँ तक कह दिया कि 'उद्योग हमारे देवता हैं।' अर्थात् पं0 जवाहर लाल नेहरू औद्योगिक विकास के पक्षधर थे। 'परिवर्तन' संसार का नियम है जैसा कि 'गीता' में 'भगवान श्रीकृष्ण' ने कहा है। आज हम धीरे–धीरे कृषि विकास से औद्योगिक विकास और औद्योगिक विकास से आगे उठकर 'डिजिटल इण्डिया' की बात कर रहे हैं साथ ही सेवाओं के विकास पर जोर दे रहे हैं।

अर्थशास्त्र में 'आर्थिक विकास' की भूमिका महत्वपूर्ण है। इसमें कहा गया है कि 'विकास एक अनवरत चलने वाली प्रक्रिया है।' सुविख्यात आर्थिक विचारक 'मेयर वाल्डविन' का मानना है कि यदि किसी अर्थव्यवस्था की राष्ट्रीय आय बढ़ रही है तो कहा जायेगा कि राष्ट्र का विकास हो रहा है। डब्ल्यू आर्थर लेविस का मानना है कि राष्ट्रीय आय में वृद्धि के फलस्वरूप राष्ट्र के आर्थिक विकास का सही मूल्यांकन नहीं कर सकते क्योंकि ऐसे राष्ट्रों में जनसंख्या की वृद्धि दर अधिक होती है ऐसे में जनसंख्या में वृद्धि राष्ट्रीय आय को तो बढ़ायेगी परन्तु यदि उनके बेसिक सुविधाओं जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, संचार एवं कल्याण पर ध्यान नहीं दिया गया तो वास्तव में विकास की परिकल्पना कोर–कल्पित होगी। निष्कर्ष यह हुआ कि इसमें मेयर वाल्डविन ने केवल परिमाणात्मक पहलू को ध्यान में रखा जबकि गुणात्मक पहलू की उपेक्षा करके आर्थिक विकास की परिभाषा को राष्ट्रीय आय की परिधि में बाँधा। लेविस ने आर्थिक विकास को राष्ट्रीय आय से न माप करके प्रतिव्यक्ति आय से मापने का प्रयास किया। आगे चल करके अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक विकास को कल्याण से जोड़ने का समर्थ प्रयास किया। इन विचारकों ने कहा कि ऐसी अर्थव्यवस्थाएँ जहाँ पर कल्याण सम्बन्धी योजनाएँ संचालित की जा रही हैं वह राष्ट्र 'आर्थिक विकास' की दृष्टिकोण से अग्रणी राष्ट्र होगा। 'महबूब उल हक' ने आर्थिक विकास को 'गरीबी के विरूद्ध लड़ाई' के रूप में परिभाषित किया, चाहे वह गरीबी किसी रूप की हो।' कल्याण सम्बन्धी परिभाषा शिक्षा, स्वास्थ्य, सेवाएँ, बैंकिंग, परिवहन इत्यादि के विकास से सम्बन्धित है जिसे अर्थशास्त्र में 'सामाजिक उपरिव्यय पूँजी' (SOC) कहा गया। 'आर्थिक विकास मूलतः तथा प्राथमिक रूप से देश के लोगों से सम्बन्धित होता है। देश के लोग ही राष्ट्र की वास्तविक सम्पत्ति हैं।' मानव विकास सूचकांक का प्रतिपादन 1990 में युनाइटेड नेशन्स डेवलपमेन्ट प्रोग्राम (U.N.D.P. 1965) से जुड़े हुए अर्थशास्त्री महबूब उल हक

*असिस्टेन्ट प्रोफेसर, एम0डी0 पी0जी0 कॉलेज, प्रतापगढ़, उ0प्र0

तथा उनके अनेक अन्य सहयोगी अर्थशास्त्री प्रमुखतया 'अमर्त्य सेन' एवं 'सिंगर हंस' ने किया। यह सूचकांक तीन चरों पर आधारित है– स्वास्थ्य, ज्ञान या शिक्षा एवं रहन–सहन का स्तर। कुछ विचारकों का मानना है कि आर्थिक विकास काफी कुछ वहाँ के प्राकृतिक संसाधनों की उपलब्धता पर निर्भर करती है। लेकिन बहुत से राष्ट्र ऐसे हैं जो प्राकृतिक संसाधनों से धनी (Rich) हैं परन्तु आर्थिक विकास में पीछे हैं। 'लेविस' कहते हैं कि 'विकास मानवीय प्रयासों का प्रतिफल है।' अर्थात् मानव संसाधन की बात लेविस करते हैं। यह मानव संसाधन जनसंख्या वृद्धि पर निर्भर करती है। किसी भी राष्ट्र में कार्यशील जनसंख्या अर्थात् कुशल जनसंख्या (Skilled Population) की जितनी उपलब्धता होगी वह राष्ट्र प्राकृतिक संसाधनों का विदोहन करने में उतना ही सक्षम होगा और विकास तेजी से होगा। ध्यान केवल इतना रखना है कि प्राकृतिक संसाधनों का विदोहन सही तरीके से किया जाये। विकास का ध्येय प्राकृतिक संसाधनों को उजाड़ने से न होकर (शोषण) बल्कि संवेदनशीलता से होना चाहिए इससे क्षयी विकास नहीं होगा। 'प्रकृति के प्रति ग्रामीण जन समुदाय आज भी संवेदनशील है परन्तु शहरी नागरिक अपनी भावना खो चुका है।' चिपको आन्दोलन इसका जीता–जागता उदाहरण है। आज हम 'पोषणीय विकास' (Sustainable Development) की बात कर रहे हैं। 'पोषणीयता' शब्द पहली बार महत्व में तब आया जबकि International Union for Conservation of Nature and Nature Resource के द्वारा 1986 में वर्ल्ड कन्जरवेशन स्टैटेजी प्रस्तुत की गयी पर इसे अधिक प्रयोग तबसे लाया जाने लगा जबकि 1987 में ब्रुंडलैण्ड आयोग–वर्ल्ड कमीशन आन द इनवायरमेंट एण्ड डेवलपमेंट ने अपना अध्ययन 'हमारा साझा भविष्य (Our Common future) प्रकाशित किया। पोषणीय विकास–विकास का वह स्तर है जो वर्तमान की आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने की क्षमता से, समझौता किये बगैर सन्तुष्ट करता है। रिपोर्ट में आगे स्पष्ट किया गया है:– 'संक्षेप में पोषणीय विकास परिवर्तन की प्रक्रिया है जिसमें संसाधनों का दोहन निवेश की दिशा और तकनीकी विकास की दिशा निर्देशन और संस्थागत परिवर्तन सभी सुसंगत रूप में हैं और मानवीय आवश्यकताओं और आकांक्षाओं को संतुष्ट करने हेतु विद्यमान और भावी दोनों सम्भावनाओं की वृद्धि होती है।' '1993' में नोबेल पुरस्कार विजेता 'राबर्ट सोलो' ने पोषणीयता की व्यापक परिभाषा देते हुए कहा कि पोषणीयता से आशय भावी पीढ़ी को उत्तराधिकार के रूप में कोई विशेष वस्तु छोड़ना नहीं है बल्कि उन्हें वह प्रदान करना है जिससे वे कम से कम उतनी अच्छी है जो हमारी है तथा वे आने वाली पीढ़ी के साथ ऐसा ही देख सकें। इसलिए सामान्यतः प्राकृतिक पूँजी को पीढ़ी दर पीढ़ी बनाये रखना आवश्यक होता है। हम कह सकते हैं कि सतत् विकास एक 'पंचकोणीय' होता है, जो एक दूसरे से बंधे हुए हैं :–

1). आर्थिक विकास :

2). भौतिक विकास :

3). नैतिक मूल्यों का विकास :

4). सांस्कृतिक विकास :

5). आध्यात्मिक विकास : भगवान शंकर के परिवार का उदाहरण है।

Three-P : (1) 'Population' (2) 'Poverty' (3) 'Pollution'

विश्व का कोई भी राष्ट्र ऐसा नहीं है जो (Three-P) अर्थात् Population, Poverty vkSj Pollution से ग्रसित न हो। विश्व के विकसित राष्ट्र यदि Population और Poverty से ग्रसित नहीं हैं लेकिन 'Pollution' के मामले में सबसे गम्भीर स्थिति में हैं। विकासशील अर्थव्यवस्थाओं में Pollution उतना प्रभावी नहीं है जितना कि Population और Poverty जो दोनों एक दूसरे से जुड़े हैं। भारत में यदि 1911–21 के दशक को छोड़ दिया जाये तो प्रायः यह आँकड़ा प्राप्त होता है कि जनगणना के प्रत्येक दशक में वृद्धि हुई है। यह भी जानते हैं कि अत्यधिक जनसंख्या वाले गिने जाने वाले देशों में चीन के बाद भारत का दूसरा स्थान है। अभी हाल में 'वर्ल्ड डेवलपमेन्ट रिपोर्ट'–2015 के अनुसार 2012 में विश्व जनसंख्या 7046 मिलियन भी जबकि चीन की जनसंख्या 1351 मिलियन और भारत की 1237 मिलियन थी। विश्व के सर्वाधिक आबादी वाले शहरों में भारत के तीन शहर सम्मिलित हैं। इसमें मुम्बई छठाँ, दिल्ली–सातवाँ तथा कोलकाता का स्थान आठवाँ है।

दूसरा–P अर्थात् Poverty यानि कि गरीबी। गरीबी मूलतः वंचन से सम्बन्धित है। गरीबी से आशय जीवन की कुछ निर्दिष्ट आवश्यकताओं की पूर्ति से वंचित रहने की स्थिति से है। 'रेगनर नर्क्से' ने गरीबी को परिभाषित करते हुए कहा कि 'एक देश गरीब है क्योंकि वह गरीब है।' 1978 में योजना आयोग ने यह निर्धारित किया कि ग्रामीण क्षेत्र में 2400 कैलोरी प्रतिदिन प्रतिव्यक्ति तथा शहरी क्षेत्र में 2100 कैलोरी की मात्रा निश्चित की गयी। विकासशील देशों के सम्बन्ध में पहला वैश्विक गरीबी अनुमान 'वर्ल्ड डेवलपमेन्ट रिपोर्ट' –1990 में मिलता है। एशियन डेवलपमेन्ट बैंक ने 1.35 डालर तथा भारत ने 1. 02 डालर प्रतिदिन आय को मानक के रूप में लिया है। विश्व बैंक जो विकासशील देशों में गरीबी रेखा के अनुमान सम्बन्धी धारण में 1.25 डालर प्रतिदिन आय को मापक के रूप में लेता था, अब वह 2.50 डालर प्रतिदिन आय को मापक के रूप में ले रहा है। W.D.R. 2014 के अनुसार 2.50 डालर प्रतिदिन के आधार पर भारत में 2010 में गरीबी 81.1: रही।

तीसरा.P- Pollution अर्थात् प्रदूषण :– Pollution शब्द की उत्पत्ति च्वससनजम शब्द से हुई है जिसका अर्थ होता है–दूषित करना। विकसित राष्ट्रों में सबसे बड़ी समस्या इसी–P की है। विकासशील राष्ट्र इस मामले में अभी भी विकसित राष्ट्रों की तुलना में अच्छी स्थिति में हैं– इसका कारण यह है कि ये राष्ट्र कृषि प्रधान राष्ट्र हैं। कृषि का पर्यावरण के साथ घनिष्ट सम्बन्ध सदियों से रहा है। यह अपना भारतवर्ष 'ऋषि एवं कृषि' का देश है। परन्तु आज की विडम्बना यह हो गयी है कि कृषि क्षेत्र से प्रवजन अब द्वितीयक क्षेत्र की ओर होता जा रहा है। सरकार भी इसे अब उपेक्षित भाव से देखने लगी है। भारत सरकार द्वारा कृषि क्षेत्र में दी जाने वाली सब्सिडी धीरे–धीरे समाप्त की जा रही है। इससे कृषि लागतें बढ़ रही हैं– खाद्यान्न मँहगा हो रहा है। ऋण–ग्रस्त किसान बदहाली की कगार पर खड़ा है। सब्सिडी समाप्त करने में अमेरिका जैसे विकसित राष्ट्र W.T.O. (विश्व व्यापार संगठन) के ऊपर दबाव बना रहे हैं। इससे विकसित राष्ट्रों को लाभ यह होगा कि 'अन्तर्राष्ट्रीय बाजार' में सब्सिडी न देने के कारण भारत के उत्पाद मंहगे होंगे और विकसित राष्ट्रों के उत्पाद सस्ते क्योंकि ये राष्ट्र 'Green Box' के तहत अपने यहाँ सब्सिडी दे रहे हैं। ऐसी स्थिति में विकसित राष्ट्रों के कृषि उत्पाद धड़ल्ले से बिकेंगे और भारत के कम। विकसित राष्ट्रों का व्यापार बढ़ेगा एवं मुद्रा अर्जन भी बढ़ेगा और भारतीय कृषि उत्पाद धीरे–धीरे अन्तर्राष्ट्रीय बाजार से बाहर हो जायेंगे।

ऐसी स्थिति में हमारी सरकार को सचेत होने की जरूरत है। कृषि विकास से हम इस विश्वव्यापी समस्या से आसानी से निजात पा सकते हैं। अब समय आ गया है कि 'कृषि विकास' में 'जैविक खेती' (Bio-Agriculture) को बढ़ावा देने की जरूरत है। जैसे कम्पोस्ट (गोबर) की खाद, केंचुए की खाद इत्यादि का प्रयोग किसानों द्वारा व्यापक पैमाने पर करना होगा साथ ही किसानों के साथ सरकार को भी खड़ा होना पड़ेगा। 1965–66 में आयी 'हरित क्रान्ति' जिसका श्रेय 'एम0एस0 स्वामीनाथन्' एवं 'नारमन इ बोरलॉग' को जाता है। इस हरित क्रान्ति में High Yeilding Veriety Seeds के प्रयोग एवं रासायनिक खादों के प्रयोग पर बल दिया गया जिससे तत्कालीन परिणाम यह आया कि उत्पादन तेजी से बढ़ा और आज परिणाम यह सामने आया कि खेती में भी प्रदूषण की बू आने लगी है। मिट्टी अपनी उर्वरा शक्ति को खो दी है, और यह अब धीरे–धीरे वैरेल लैण्ड में परिवर्तित होती जा रही है। मार्केट में मिलने वाले कृषि उत्पाद भी विषैले हैं, तरह–तरह के रोग एवं बीमारियाँ बढ़ रही हैं। पंजाब एवं हरियाणा के किसान दो तरह की खेती अब कर रहे हैं। ऐसे कृषि उत्पाद जिन्हें वे अपने स्वयं के उपभोग में लाते हैं उसे 'जैविक खेती' से उत्पन्न करते हैं। शेष जिसे मार्केट में व्यापार करना है उसे 'नयी तकनीक' से उगाते हैं। अब जरूरत आ पड़ी है कि 'जैविक क्रान्ति' के माध्यम से खेती का कार्य किया जाये।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारी अर्थव्यवस्था का जो आधार है–कृषि, वह भी प्रदूषण की चपेट में है। हमारी भारतीय संस्कृति में पहले कुछ धार्मिक मूल्य निर्धारित थे जो हमें पर्यावरण के साथ बांधे थे। जैसे 'वाराह पुराण' में कहा गया है कि जो व्यक्ति आम, नीम, पीपल, एवं बरगद और नारंगी के वृक्ष लगाता है वह नरकगामी नहीं होता है। 'कुरान–शरीफ' में कहा गया है कि अल्लाह ने जो कुछ बनाया है उसके अपव्यय की सख्त मनाही है। जैन–धर्म में कहा गया है कि पेड़ से फूल और पत्तियां तोड़ना मना है अर्थात् 'पर्यावरण का संरक्षण स्वतः धार्मिक एवं सांस्कृतिक नियमों में बंधा था।'

आज प्रदूषण की समस्या एक भयावह समस्या है। पर्यावरण में सबसे ज्यादा क्षति तब से प्रारम्भ हो गई जब मानव प्रवृत्ति संचय की बन गयी चाहे वह संचय (Collection) कुछ भी हो यथाः–खा़द्य पदार्थों का संचय, मुद्रा का संचय, परिधान का संचय, परिवहन का संचय इत्यादि। यह पर्यावरण ह्रास का सबसे बड़ा जिम्मेदार कारक है। मानव अपनी जिजीविषा की शान्ति के लिए पर्यावरण–उजाड़ रहा है। 'गोस्वामी जी' ने 'राम चरित मानस' में लिखा है किः–

Hkk;k Ik Hkxfr Hkjr vkpjuA
dgr lqur n%[k ^nlu* gjuAA

यहाँ मानव के मस्तिष्क में जो 'दूषन' बैठा है वह पर्यावरण ह्रास के लिए सबसे जिम्मेदार कारक है। 'दूषन' रुपी मानव के ही कारण प्रदूषण चारो तरफ व्याप्त है, जिसे 'मानसिक प्रदूषण' कहते हैं। अपना भारत–वर्ष गंगा, गाय और गोबर का देश है। हमें अपनी 'तासीर' में झाँकना होगा। यह कदापि न भूलना होगा कि ''भारत जब तक अपनी तासीर से चलता रहा वह दुनिया का सिरमौर बना रहा।''

lUnHkZ %

1. त्रिपाठी, बद्री विशाल, 2010, 'भारतीय कृषि', किताब महल पब्लिकेशन, इलाहाबाद, उ0प्र0
2. लाल, एस0एन0, 2016, 'भारतीय अर्थव्यवस्था' शिवम् पब्लिशर्स, इलाहाबाद, उ0प्र0
3. ओझा, एस0के0, 2015, 'पारिस्थितिकी एवं पर्यावरण' बौद्धिक प्रकाशन, इलाहाबाद, उ0प्र0
4. झिंगन, एम0एल0, 2012, 'विकास का अर्थ एवं आयोजन' बृंदा पब्लिकेशन प्रा0लि0, दिल्ली
5. Agrawal, Anil, 996, Pay off to Progress, Down to earth, centre of science and Environment, New Delhi.
6. Ambast, R.S., 1990, Plant Ecology, Varanasi.
7. Rao, B.P. and Srivastava, V.K., 2006, Environment and Ecology, Vasundhra Prakashan Gorakhpur

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

v/kj e efDrckf/k % vkRekrÙo vkj lR; dh [kkst

;'kodr dqekj*

हिन्दी काव्य साहित्य में, जनसाधारण से आत्मीयता स्थापित करने की आकांक्षा रखने वाले गजानन माधव मुक्तिबोध की कविताएँ; यद्यपि छायावाद के अंतिम दौर में आनी शुरू हुई, किन्तु उनकी पहचान 'तारसप्तक' की कविताओं के कारण हुई और कविता में अपनी एक विशेष छाप छोड़ गयी। यह वह दौर था जब कुछ रचनाधर्मियों ने संघर्ष भावना को नकार कर काम वासना की झंडाबरदारों का काम आरंभ किया था। वे लोग इतनी गति से आगे बढ़ने लगे थे, कि उनके सामने रीतिकालीन कवियों की पहचान धूमिल पड़ने लगी थी। उस समय हिन्दी जगत की यह कामना थी कि कविता में काव्यतत्व की रक्षा के साथ यथार्थ का चित्रण इस प्रकार हो कि भयभीत, संत्रास, शोषितों के प्रति संवेदना जाग सके। ऐसे समय में जनचेतना के गायक मुक्तिबोध हिन्दी काव्य–जगत में एक नयी शक्ति के रूप में उभर कर सामने आते हैं। मुक्तिबोध केवल हवाई वार्ता करने वाले न थे, बल्कि अपनी वास्तविक धरती से जुड़े हुए मानव मन पर दृढ़ आस्था रखने वाले कवियों में से एक थे। वास्तव में इसी आस्था के मूल की तलाश करते वे अपनी कविताओं में आदिम अंधेरे के अनुभवों के बीच ज्योति की खोज करते हैं।

'अंधेरे में' कविता आधुनिक मानव की सबसे बड़ी ज्वलन्त समस्या है। निश्चित रूप से हम कह सकते हैं कि इसकी मूल कथा अस्मिता की खोज अथवा सत्य की खोज है। 'अंधेरे में' मुक्तिबोध की सर्वाधिक लम्बी कविता होने के साथ अत्यन्त विचारप्रधान कविता है, जो एक स्वप्न कथा के रूप में प्रस्तुत की गयी है। इस कविता मुक्तिबोध की सामाजिक एवं राजनीतिक प्रतिबद्धता को समानान्तर रूप से उजागर करती है। कविता का प्रारम्भ व्यक्ति से होता है।

जिन्दगी के
कमरों में अंधेरे,
लगाता है चक्कर
कोई एक लगातार,

लेकिन उस अंधेरे कमरे में कोई व्यक्ति विशेष दिखायी नहीं देता पर लगातार उसके पैरों की आवाज सुनाई देती है, पर वह कहीं भी प्रत्यक्ष रूप से दिखलायी नहीं देता, उस गहन अन्धकार में ध्वनि सी रहस्यमयी जादूगरी की तरह गायब रहता है।

''स्वयमपि मुख बन जाता है दिवाल पर,
नुकीली नाक और
भव्यललाट है,
दृढ़ हनु,
कोई अनजानी, अन–पहचानी आकृति।
कौन वह जो दिखायी देता है, पर
नही जाना जाता है!!
कौन मनु?

'कौन मनु?' इस प्रश्न पर आलोचकों ने अपने–अपने ढंग से विचार व्यक्त किया है। कुछ विद्वान आलोचकों ने प्रारंभ मं आये 'कौन मनु?' को विश्लेषित करते हुए 'कामायनी' के मनु से उसकी संगति बैठाई

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

है। डॉ0 रामविलास शर्मा ने लिखा है– ''कामयानी के इस मनु से मुक्तिबोध की कविता के मनु की तस्वीर बहुत कुछ मिलती–जुलती है।.... मनु वह सब कुछ है जो मुक्तिबोध है, और होना चाहते हैं।... कविता की आंतरिक संगति है इस बात में है कि उसकी शुरूआत जिस व्यक्ति के चित्रण से होती है, उसका अन्त भी उसी के उल्लेख से होता है।''

रामविलास जी की कविता की आन्तरिक संगति वाली बात तो ठीक है लेकिन उनकी अन्य स्थापनाएँ निर्विवाद नहीं है। जहाँ तक कामायनी और मुक्तिबोध के मनु की तुलना की बात है, तो यह वर्णनात्मक स्तर तक ही सच हो सकता है। कामायनी का मनु देवलोक का सांस्कृतिक पुरुष है लेकिन मुक्तिबोध का मनु सर्वहारा वर्ग का प्रतीक है। वह कवि की आत्मा की प्रतिमा है। कविता 'अंधेरे में' मुक्तिबोध ने मनुष्य के आदर्शों और सिद्धांतों की बात करते हैं, वे पूछते है कि जो मेरा आदर्श था, सिद्धांतों से भरा मन था, उसने अब तक क्या किया खुद के खातिर या दूसरों के खातिर। उसने जो जीवन जीया वह किस तरह जिया।

''ओ मेरे आदर्शवादी मन
ओ मेरे सिद्धान्तवादी मन
अब तक क्या किया?
जीवन क्या जिया?।''

इसके साथ ही 'अंधेरे में' शीर्षक कविता में अन्त में एक जन व्यापी युद्ध छिड़ता है। काव्य नायक स्पष्ट उक्ति करता है–

''अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे
उठाने ही होंगे।
तोड़ने होंगे ही मठ और गढ़ सब।
पहुँचना होगा दुर्गम पहाड़ों के उस पार
तब कहीं देखने मिलेंगी बाहें
जिनमें कि प्रतिफल कांपता रहता
अरुण कमल एक।''

इन पंक्तियों में परम अभिव्यक्ति की खोज के साथ–साथ असंतोष का एक संकल्प भी हमें दिखायी देता है। यह परम अभिव्यक्ति की खोज भीतर और बाहर के द्वन्द्व को व्यक्त करने की कोशिश है। नामवर जी ने मुक्तिबोध की भाषागत अभिव्यक्ति पर टिप्पणी करते हुए कहा है– ''मुक्तिबोध के लिए भाषागत अभिव्यक्ति जीवन की अभिव्यक्ति से अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है। अभिव्यक्ति के खतरे उठाने का मतलब है मठों और मढ़ों को तोड़ना, साथ ही 'अरुण कमल' के लिए दुर्गम पहाड़ों के पार जाने का जोखिम उठाना है। इस प्रक्रिया में मुक्तिबोध ने काव्यभाषा को एक नया तेवर दिया है। आरम्भ में खुरदरी लगते हुए भी अपनी अर्थवत्ता में जानदार होती है। इस दृष्टि से निराला के समान ही मुक्तिबोध की भाषा भी तेजष्क्रिय है।''

'अंधेरे में' शीर्षक कविता में एक तथ्य यह भी है कि अंधेरा तो है किन्तु इस अंधेरे के खिलाफ लड़ने वाली ताकतें भी उनमें मौजूद है। इसी कारण काव्य नायक के दिमाग में केवल दुःस्वप्न ही नहीं आते, वरन जनकांति के बीज भी उगते हैं।

शमशेर के शब्दों में– ''मुक्तिबोध युग के उस चेहरे की तलाश करते हैं जो आज के इतिहास के मलबे के नीचे दब गया है, मगर मर नहीं गया है।'' अंधेरे में जिस काव्य नायक का चेहरा दिखायी पड़ता है, वह युग का ही चेहरा है– संपूर्ण बाह्य जगत का– बेचैन, क्षत–विक्षत का।

मुक्तिबोध ने अपनी पुस्तक 'भारत, इतिहास और संस्कृति' में कहा है– ''गांधी के रूप में पहली बार भारत के इतिहास में करोड़ों भूखे जनों को महत्व देने वाला इनका सम्म बनने वाला एक व्यक्ति सम्मुख आया, जिसने उस गरीब, दबी, जनता को नैतिक साहस प्रदान करके क्या का क्या बना दिया। ..... गांधी के प्रति उनका यह दृष्टिकोण न तो राजनीतिक व्यावहारिकता की पार्टीपरक नीति का इजहार है और इसमें उग्र वामपंथी अतिवादिता के हीरोश्इक्स है।''

डॉ0 रामविलास शर्मा की शिकायत है कि 'मुक्तिबोध की अनेक कविताओं में जनक्रांति का उल्लेख है, कहीं भी पार्टी के रूप में क्रांतिकारियों के संगठन का उल्लेख नहीं है। हर जगह क्रान्ति करने वाला, क्रान्ति की प्रेरणा देने वाला, व्यक्ति का संगठन करने वाला एक ही व्यक्ति है– वह कविताओं का नायक है।''

काव्य के नायक और क्रांतिकारियों को त्याग भावना से सम्पन्न होकर कर्मक्षेत्र में गतिशील होना चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक है कि वह आमजन से जुड़कर संगठन तैयार करे। 'अंधेर में' कविता में रिहाई के दृश्य का वर्णन करने के बाद मुक्तिबोध लिखते हैं–

''मुझे अब खोजने होंगे साथी,
काले गुलाब व स्याह सिवन्ती
स्याम चमेली,
सवलाये कमल जो खोड़ों के जवा में
भूमि के भीतर पाताल–तल में
खिले हुए कब से भेजते हैं संकेत
सुझाव–सन्देश भेजते रहते।।''

यहाँ हमें एक संकल्प शक्ति और गंभीर आवेग के दर्शन होते हैं। मुक्तिबोध को अहिंसा द्वारा हृदय परिवर्तन में विश्वास नहीं था। उन्हें भरोसा था कि पूंजी से जुड़ा मन बदल नहीं सकता। इसलिए वे संघर्ष, क्रान्ति, बलिदान की बात अनेक प्रकार से करते हैं। इस भावना को उद्दीप्त करने के लिए ही नवयुवकों के चित्र उभारे गये है।– वे लिखते हैं–

'स्वयं की जिन्दगी फाजिल कभी
नहीं रही
क्योंकि हम बागी थे।

प्रगतिशील कवियों की तुलना में मुक्तिबोध की विशेषता यह है कि वे सामाजिक, राजनीतिक घटनाओं का वर्णन भी व्यक्ति को छोड़कर नहीं करते। वे मानते थे कि व्यक्ति को समाज के अनुरूप मान्यता अथवा महत्व नहीं दिया गया तो चित्र सामन्यीकृत होकर प्रभावहीन हो जायेगा। यही कारण है कि 'अंधेरे में' केवल फासिज्म की आंशका और उसे खत्म करने के लिए होने वाली जनक्रान्ति का ही वर्णन नहीं है, उसमें एक व्यक्ति भी है, जिसकी ऊपर काव्य नायक के रूप में चर्चा की गयी है। यह पूरी कविता उस व्यक्ति के माध्यम से ही आगे बढ़ती है। इसलिए उसे काव्य नायक कहना उचित है।

परन्तु प्रश्न यही उठता है कि 'यह काव्य नायक है कौन? इस प्रश्न को लेकर मुक्तिबोध–सम्बन्धी हिन्दी आलोचना में एक विवाद चलता रहता है। डॉ0 रामविलास शर्मा जी का कहना है कि वह नायक स्वयं मुक्तिबोध ही हैं उनके कथन हैं– ''मुक्तिबोध को 'अंधेरे में' कविता के नायक से अलग करके देखना असंभव है।'' वे इसके साथ यह भी कहते हैं कि मुक्तिबोध सिजोफ्रेनिया नामक एक मानसिक रोग से पीड़ित हैं, जिसका एक लक्षण विभाजित व्यक्तित्व है। उनके अनुसार 'अंधेरे में' काव्य–नायक का आत्म संबंध इस विभाजित व्यक्तित्व का ही परिणाम है। 'अंधेरे में' का काव्य नायक स्वयं कहता है–

''जितना ही तीव्र है द्वन्द्व क्रियाओं घटनाओं का
बाहरी दुनिया में,
उतनी ही तेजी से भीतरी दुनिया में,
चलता है द्वन्द्व कि
फ्रिक से फ्रिक लगी हुई है।

डॉ0 रामविलास शर्मा ने 'अंधेरे में' के 'पागल' को जो कि एक गान गाकर आत्मभर्त्सना करता है, काव्य नायक से और उसके माध्यम से मुक्तिबोध से प्रायः अभिन्न मान लिया है। कहते हैं– ''इसे सिरफिरा विक्षिप्त मस्तिष्क ठीक कहा गया है। कविता का नायक इससे भिन्न व्यक्ति है। यद्यपि दोनों में बहुत बड़ा अन्तर नहीं है। उस पागल का गीत सुनकर काव्य नायक का व्यक्तित्व लगभग उसी का–सा

हो जाता है।''

मुक्तिबोध की कविता की समाप्ति इन पंक्तियों के द्वारा होती है–

''परम अभिव्यक्ति,
लगातार घूमती है जग में
पता नहीं जाने कहाँ, जाने कहाँ
वही है,
इसलिए मैं हर गली में
और हर सड़क पर
झाँक–झाँक देखता हूँ हर एक चेहरा,
खोजता हूँ पठार.....पहाड़.....समुन्दर
जहाँ मिल सके मुझे
मेरी वह खोई हुई
परम अभिव्यक्ति अनिवार
आत्म सम्भवा।''

यह कार्य द्वारा उस कविता की तलाश है जो कि 'परम अभिव्यक्ति' है और जो कि आत्म संभवा होती है।

मुक्तिबोध के कविता कर्म के बारे में हम यह कह सकते हैं कि इनकी कविताओं ने कविता की मान्यता ही बदल दी। उनकी कविताएँ प्रचलित काव्य परिपाटी का ध्वंस करती है और कहना न होगा कि उनके बाद की कविता ने उनके तेवर और मुहावरों का अनुकरण किया है। सम्भवतः आज के आलोचक मुक्तिबोध को मार्क्सवादी, पूंजीवादी, रहस्यवादी अथवा अस्तित्त्ववादी आदि के कटघरे में रखकर जांचना–परखना चाहते हैं, परन्तु उन्हें समझना चाहिए कि मुक्तिबोध उनके ढांचों में पूरी तरह फिट नहीं बैठते हैं। वे पूंजीवादी सत्ता का जितना विरोध करते हैं उतना ही मनुष्य को दबाने वाली तानाशाही सत्ता का भी।

शमशेर के शब्दों में, ''मुक्तिबोध ने छायावाद की सीमाएं लांघकर, प्रगतिवाद से मार्क्सी दर्शन ले, प्रयोगवाद के अधिकांश हाथियार संभाल और उसकी स्वतंत्रता महसूस कर, स्वतंत्र कवि रूप से सब वादों और पार्टियों से ऊपर उठकर निराला की सुधरी और खुली मानवतावादी परंपरा को आगे बढ़ा।''

I UnHkk; %

1. समकालीन कवि–एक अन्तः सूत्र– रतनकुमार पाण्डेय–17
2. छायावादोत्तर प्रतिनिधि कवि और उनकी कविताएँ– डॉ0 शम्भूनाथ त्रिपाठी– 42/43/134/57/74
3. मुक्तिबोध और अंधेरे में– गिरीश रस्तोगी 2010–13
4. प्रतिनिधि आधुनिक कवि– डॉ0 चन्द्रत्रिखा 2003–198
5. मुक्तिबोध और , वही 66/89
6. छायावादोत्त.....73
7. समकालीन एक.....31
8. मुक्तिबोध और 89
9. छायावादोत्तर.....58
10. अंधेरे में.....90
11. छायावादोत्तर.....82
12. प्रतिनिधि आधुनिक कवि.....205

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

vk/kfud rkck/k vkj funk Qkt yh dh uTe

v'kkd dekj ek;;*

आधुनिकताबोध का फलक व्यापक है। इसे किसी विशिष्ट परिभाषा में बाँधने में कई समस्याएँ है। किसी एक परिभाषा से सन्तुष्ट नहीं हुआ जा सकता। फिर भी अगर इसके सम्बन्ध में बात की जाए तो आधुनिकताबोध के दो पक्षों को भी जानना प्रासंगिक होगा। जब कबीर आदि मध्यकालीन कवियों के सन्दर्भ में आधुनिकताबोध की बात की जाती है तो वहाँ इसका अलग पक्ष दिखाई पड़ता है उस समय परंपरागत कुप्रथाओं, कुरीतियों, धार्मिक संकीर्णताओं और आडम्बरों आदि के कारण आधुनिकताबोध के विभिन्न लक्षण जैसे–विसंगति, असंगति, अनास्था, विद्रोह, कुंठा और संत्रास आदि मौजूद थे, जिन्हें आधुनिक काल के पूर्ववर्ती रचनाकारों ने सकारात्मक नजरिए से अभिव्यक्त किया है। जबकि आज के दौर में आधुनिकताबोध एकतरफ यांत्रिकीकरण वैज्ञानिकीकरण शहरीकरण बाजारीकरण और पूँजीवाद आदि से उत्पन्न हुई है। जिसे नकारात्मक पक्ष के रूप में देखा जा सकता है। इसलिए यहाँ मूल्यों के खत्म करने की नहीं, बल्कि प्रासंगिकता की बात की जाती है। यह परम्परा को सीधे नहीं नकारता, बल्कि परम्परा में निहित उन मूल्यों की बात करता है जो मनुष्य के विकास में सहायक है। इसी तरह आधुनिकीकरण के विसंगतिपूर्ण स्थितियों से उत्पन्न सामाजिक संकटबोध को आधुनिकताबोध अभिव्यक्ति देता है। यह बोध मनुष्य में प्यार, मोहब्बत, दया इंसानियत, भाई–चारा और मानवता आदि की कम होती स्थितियों को बयाँ करने के साथ ही मनुष्य के खोखलेपन और दोहरे चरित्र के होने के कारकों वैज्ञानिक विकास में बढ़ती जीवन की यांत्रिकता और कृत्रिमता को भी अभिव्यक्त करता है।

निदा फाजली अपनी नज्मों के माध्यम से तात्कालिक समाज में घट रही सामाजिक अनियमितताओं पर व्यंग्य करते हैं। उन्होंने उन हालातों और समस्याओं को सामने लाने का प्रयास किया है, जिनसे आम आदमी की स्थिति दोयम दर्जे की हो गई है। उनका नजरिया शोषित और कमजोर इन्सान के जीवन पक्ष में सकारात्मकता को व्यक्त करना है। निदा फाजली की जन्मों में ड्रामाइयत मुकालमें की तेजी और जोशब हुत है। उनका एक और व्यक्तिगत गुण मुकामी जबानों की काव्य परम्परा के कुछ तत्त्वों का प्रयोग और एक तरह का देशीपन है। गीतों की सी लहक और दोहों का सा इर्तिकाज भी निदा की नज्मों में एक नई जहत (आयाम) पैदा करता है। उनके यहाँ तन्ज (व्यंग्य) और विडम्बना का इस्तेमाल भी बहुत खूबी से हुआ है। तरक्की पसंदों की रिवायती सियासी शायरी से अलग अपने समय की जिंदगी की समस्याओं पर टिप्पणी की एक नई तखलीकी जहत इन नज्मों से निकलती है मगर याद रहे कि ये शायराना बयान की एक सितह है बयान की शायरी नही है।[1]

आधुनिक समाज नित नूतन प्रवृत्तियों के साथ विकास के नए–नए शिखर को छू रहा है। नवीन खोजों और आविष्कारों ने मनुष्य को नई चेतना दी है। फलतः मनुष्य के आधुनिकता से उत्तर आधुनिकता के दौर में प्रवेश किया है किन्तु विकास की इस अन्धी दौड़ में मनुष्य ने मानवीय उदात्त मूल्यों को पीछे छोड़ दिया है। आज स्थिति यह है कि प्यार की जगह नफरत दया की जगह क्रूरता और एहसान की जगह स्वार्थ दिखाई पड़ता है। मनुष्य के बदलते इस रूप में आधुनिकताबोध रेखांकित करता है। निदा साहब ने अपनी नज्म मौत की नहर में आधुनिकता के प्रभाव से उत्पन्न नकरात्मक पहलुओं को बयाँ किया है –

प्यार, नफरत, दया जफा, एहसान/ कौम, भाषा, वतन, धर्म, ईमान/ उम्र गोया/चट्टान है कोई/जिस पर इन्सान कोहकन की तरह/मौत की नहर/खोदने के लिए/सैकड़ो तीशे/ आजमाता

*शोधार्थी, हिन्दी विभाग, गुजरात केन्द्रीय विश्वविद्यालय, गांधीनगर, गुजरात–382030

है।/हाथ पाँव चलाये जाते हैं।[2]

यह नज्म इन्सान के जीवन के विभिन्न स्थितियों की ओर संकेत करती है। इस जीवन के कई रूप–रंग हैं, उतार–चढ़ाव हैं कई अनुभूतियाँ है। ये सभी इन्सान को प्रभावित करते रहते हैं। आज के दौर में अपनी जिन्दगी से लड़ते हुए इन्सान कई बार टूटता है, फिर संभलकर गिरता है। जीवन के इसी निरंतर सत्य को निदा साहब अपनी नज्मों में देखते हैं।

औद्योगीकरण ने विकास के कई दरवाजे खोले हैं। विकास की इस परम्परा में शहरीकरण की प्रक्रिया तेज हुई है। शहर ने मध्यमवर्गीय चेतना को जन्म दिया। इस वर्ग ने सुविधाभोगी समाज की नींव रखी। अपनी सुख–सुविधाओं की पूर्ति के लिए शहरीकरण की प्रक्रिया को बढ़ावा दिया साथ ही इस प्रक्रिया में शहरी जनसंख्या में तीव्र वृद्धि हुई जनसंख्या के बढ़ने से लोग समुचित सुविधाओं के साथ जीवनयापन नहीं कर पा रहे हैं। इस वातावरण में लोग कई मानसिक और शारीरिक समस्याओं से ग्रसित होते हैं। आधुनिकता की प्रक्रिया से उत्पन्न इन्हीं समस्याओं को आधुनिकताबोध व्यक्त करता है। डॉ0 देवराज कहते हैं 'आर्थिक कीली पर घूमते हुए जिस शहरी समाज का निर्माण हुआ, उसमें अनेक वैयक्तिक व सामुदायिक समस्याएँ उत्पन्न हो गई। संयुक्त परिवार के स्थान पर वैयक्तिक परिवार–व्यवस्था व्यक्ति–व्यक्ति के बीच संकुचित सम्बन्ध और परायापन, सम्बन्धों की रागात्मकता की शिथिलता, जीवनयापन का खर्चीला होना, व्यक्तियों के स्थान पर मशीनों की स्थापना के कारण बेरोजगारी की समस्या जनसंख्या की अधिकता और आवास–सुविधा की कमी के कारण नैतिक अपराधों में वृद्धि तथा अस्वास्थ्यकर वातावरण की सृष्टि मानसिक रोगों की बढ़ोत्तरी प्रकृति से अलगाव, जीवन की प्रति अविश्वास आत्महत्या के वातावरण का फैलाव, अति व्यस्त जीवन के कारण बच्चों के प्रति उदासीनता और इस प्रकार समाजव्यापी दिग्भ्रम की स्थिति उत्पन्न होना आदि अनेक समस्याएँ है जो केवल शहरीकरण के कारण उत्पन्न हुई हैं इन समस्याओं आज के सम्पूर्ण सामाजिक जीवन को दूषित कर दिया है।[3] यही कारण है कि शहरीकरण के सन्दर्भ में समाज–वैज्ञानिकों द्वारा यह कहा जाता है कि शहर एक ओर मनुष्य की सभ्यता के सूचक हैं तो दूसरी ओर उसके विनाश के समाज–वैज्ञानिकों की इसी चिंता को निदा साहब ने अपनी नज्म बम्बई में व्यक्त किया है –

ये कैसी बस्ती है
मै किस तरफ चला आया
फिजा में गूँ रही है हजारों आवाजें
सुलग रही है अनगिनत साँसे
जिधर भी देखो
खव कूल्हे, पिंडलियाँ ढाँगे
मगर कहीं कोई चेहरा नजर नहीं आता
यहाँ तो सब ही बड़े छोटे अपने चेहरों को
चमकती आँखों को गालों को हँसते होंठो को
सरों के खोल से बाहर निकाल लेते हैं सवेरे उठते ही
जेबों में डाल लेते हैं।[4]

आधुनिक युग में प्रत्येक व्यक्तियों की अपनी स्वतंत्र सत्ता अवश्य है, किन्तु समाज में उसकी एक इकाई सुनिश्चित होती है। एक व्यक्ति दूसरे से किसी न किसी भूमिका में जुड़ा हुआ है। कोई स्वतंत्र नहीं है। कोई अपने लोभ से तो कोई दूसरे के लोभ से जकड़ा है। कोई भौतिक वस्तुओं के मोह की कल्पना के नशे में विचरण कर रहा है, तो कोई इन्हें पा लेने के बाद बचाने की चिंता से पीड़ित है। सब के सब एक प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष माया से ग्रसित हैं। इसी मोह रूपी जंजीरो से जकड़े हुए समाज और व्यक्ति की संवेदना को निदा साहब ने रेखांकित किया है। वे अपनी नज्म जंजीरे में कहते हैं –

कोई आजाद नहीं
कोई आजाद नहीं, सब ही यहाँ कैदी हैं

सबके पैरो में पड़ी जंजीर
कोई सोने में मुकय्यद
कोई चाँदी में असीर
कहीं लोहा, कहीं पीतल, कही ताँबा सीसा
शोर ही शोर है चारों जानिब
मुखतलिफ घातें
हर एक घात की अपनी आवाज
कोई आजाद नहीं।[5]

यह नज्म सामाजिक यथार्थ को व्यक्त करती है। वह यथार्थ जिसमें इन्सान पर स्तवंत्रता की मोहर अवश्य लगी है, लेकिन इसकी कोई गारंटी नहीं है। कोई गरीबी के चंगुल में परतंत्र है, कोई अमीरी के मोह में। कोई उच्चता के अहंकार में तो कोई निम्नता के एहसास में जकड़ा है। इन्सान सर्वत्र सामाजिक नियम कानून के दायरों में बंधा है। इसी बंधन को निदा साहब ने अपनी नज्म में रेखांकित किया है।

आधुनिकताबोध व्यक्ति उस चेतना अवस्था की अभिव्यक्ति करता है, जहाँ वह अपने सामाजिक अंतर्द्वन्द्व के कारण पीड़ित है। ऐसे में व्यक्ति न तो आधुनिकता को स्वीकार कर पाता है और ना ही परम्परा को त्याग पाता है। इस तरह की समस्याएँ आधुनिक समाज के नये व्यक्तियों में देखी जा सकती है। इस सम्बन्ध में कु0 विजय लक्ष्मी शर्मा कहती हैं– यह नया व्यक्ति एक ओर तो परम्परा से टूटा हुआ है दूसरी ओर अपने भ्रामक बोध के कारण आधुनिकता के सही सन्दर्भों से ठीक से जुड़ भी नहीं पाया है। अपनी कार्यक्षमता के तिरस्कृत होने एवं सृजन शक्तियों के ह्रास से उत्पन्न स्थितियों में विकृत असंगतियों का शिकार बनकर आज की व्यवस्था में वह अभिशप्त हो गया है एवं आत्मनिर्णय की शक्ति खोकर आत्मविश्वासहीन हो चुका है। महँगाई, मुद्रास्फीति और काले बाजार में उसकी आस्था, संकल्प एवं जिजीविषा पर जबरदस्त प्रहार हुआ है, जिसमें संतुलन, विवेक, मानवता एवं सद्भावना की प्रवृत्तियाँ अपना अर्थ खो चुकी है और उसमें जीवन के प्रति एक नकारात्मक दृष्टिकोण का विकास हुआ।[6] समाज की इन्हीं नकारात्मक प्रवृत्तियों को देखकर निदा साहब नया रोग नामक नज्म लिखते हैं वस्तुतः इस नज्म में समाज जैसा है, वैसा ही चित्रण करके उन्होंने एक सकारात्मक बोध को जन्म दिया है, वे कहते हैं –

ये नया रोग है/आज के दौर का/इस नये रोग की कोई पहचान ऐसी नहीं/ जिसकी तशखीस हो/हर दवा बेअसर/सरनिगूँ चारागर/आज हर लहलहाते हुए खेत में/गेहूँ के साथ उगती है खामोशियाँ/सर्द खामोशियाँ/जो गले से उतरते ही घुन्न की तरह/चाट लेती है आवाज की बिजलियाँ /बन्द होंठो का ये खुश लिबास आदमी/देखता है/मगर बोल सकता नहीं/सोचता है/मगर चीख सकता नहीं।[7]

आधुनिकता ने विकास के साथ ही अपने भयावह परिणाम भी दिए हैं। बड़े महानगर, मॉल, शानदार कार, आलिशान घर, सुपर कम्प्यूटर आदि विकास की महनीय उपलब्धियाँ हैं, किन्तु विकास के इन भौतिक पैमानों ने इन्सान को इन्सान से दूर कर दिया है। इन्सान बाजार चालित दिखाई पड़ता है। बाजार ने अपने अनुरूप इन्सान के व्यावहारिक सम्बन्ध पर लाभ–हानि का मुखौटा पहना दिया है। इसी वजह से इन्सानों के सम्बन्धों में तरलता लाने वाले प्यार–मोहब्बत, भाई–चारा और अपनापन आदि का मुलम्मा घिस चुका है। इसी परिवर्तन को निदा साहब ने अपनी नज्म और अपनापन आदि का मुलम्मा घिस चुका है। इसी परिवर्तन को निदा साहबब ने अपनी जन्म घिसते हुए रिश्ते में व्यक्त किया है वे कहते हैं कि इन्सान का अपनों से सम्बन्ध महज औपचारिक रह गया है। सब एक दूसरे के प्रति अजनबीयत की जिन्दगी जी रहे हैं, आपसी सम्बन्धों को ढोए जा रहे हैं –

वो भी बेचेहरा
मैं भी बेचेहरा
सिर्फ आँखों के खोल बाकी हैं
जिनके अन्दर धँसी हुई आँखें

बस यूँ ही चंद बार देखेंगी
और फिर रता रता
कुछ दिन में
ये भी एक दूसरे को पी लेंगे।[8]

आधुनिकता के इस दौर में मूल्य, निष्ठा एवं विश्वास अब भी हैं, लेकिन इनमें निरंतर ह्रास और इनका लोप हो रहा है। व्यक्ति अपूर्व आत्मविश्वास, दृढ़ता एवं जिजीविषा के साथ सामाजिक मर्यादाओं पर कायम रहता है, किन्तु विभिन्न प्रतिकूल परिस्थितियाँ उसे विमुख कर ही देती हैं। इसलिए उसमें मूल्यहीनता दिखाई पड़ती है कु0 विजयलक्ष्मी कहती हैं– हम एक ऐसे युग में जी रहे है जहाँ विश्वास का विघटन हो रहा है तथा परम्परागत मूल्यों के प्रति निराशा में वृद्धि होती जा रही है यह ठीक है कि संक्रान्ति का युग परिवर्तनशीलता का एवं विघटन का होता है। विज्ञान एवं आधुनिकता को अपनाए हुए लोग किसी शक्ति को स्वीकारना नहीं चाहते। अतः संसार के सभी क्षेत्रों से व्यक्ति अपने परम्परागत विश्वासों से हट रहे है।[9] विश्वासों के टूटने से जो परिस्थितियाँ निर्मित होती है, उनकी अभिव्यक्ति निदा साहब अपनी निम्न नज्म में करते हैं –

महदूद हो के सोचना
उसको मुहाल था
लीडर बबना
न चोर
न रूहानी पेशवा
अफसोस जैसे आया था वैसे ही चल दिया
हर कद को नापता था यही उसका ऐब था।
कुबख्त को ये ऐब छुपाना ना आ सका
लोगों को बेवकूफ बनाना ना आ सका
क्या खूब आदमी था।[10]

निदा साहब की यह नज़्म आम इन्सान की सरलता सहजता और ईमानदारी को लेकर लिखी गई है। आम इन्सान समाज में सत्य, अहिंसा, सदाचार, विश्वास, प्रेम आदि मानवीय मूल्यों को स्थापित करना चाहता है, किन्तु समाज की अन्य शक्तियों के आगे वह बेबस हो जाता है। आम आदमी की सी बेबसी को निदा साहब व्यक्त करते हैं।

आधुनिकताबोध राजनीतिक संकीर्णता को भी रेखांकित करता है। सैद्धांतिक तौर पर आज के दौर की राजनीति में महज सत्ता का सुख भोगता प्रमुख रह गया है सत्ता को बनाए रखने हेतु आम जनता को वास्तविकता से इतर बातें बताई जाती हैं। इसलिए राजनीति के ठेकेदार कभी अपने को हिन्दुओं का रहनुमा बताते हैं, तो कभी मुस्लिमों को। अपना सत्ता हासिल करने के लिए साम्प्रदायिक दंगे करवाना इनका फैशनबल स्टंट बन गया है। इनके लिए गरीब की गरीबी से अधिक मृत शरीर ज्यादा उपयोगी दिखाई देता है। राजनीति की गंदी नीतियों पर निदा साहब की एक नज्म महत्त्वपूर्ण है, जिसका शीर्षक एक कौमी रहनुमा के नाम है इसमें वे कहते हैं –

मुझे मालूम है/चारों तरफ/जो ये तबाही है/हुकूमत में/सियासत के तमाशे की गवाही से/तुम्हें/हिन्दू की चाहत है/ न मुस्लिम से अदावत है/तुम्हारा धर्म/सदियों से तिजारत था/तिजारत है।[11]

यह नज्म राजनीतिक कूटनीतियों को रेखांकित करती है। आधुनिक युग के राजनेता जनता के लिए नहीं, बल्कि अपने लिए काम जयादा करते हैं। उनका धर्म सत्ता को हथियाना और उसे बनाए रखना है। राजनेताओं की ऐसी लोलुपता को निदा साहब ने बखूबी व्यक्त किया है। आधुनिकता ने विकास के कई रास्ते खोले और कई पैमाने दिए, किन्तु समाज को संतुलित रहने को सूत्र देना शायद भूल गए। यही कारण है कि तमाम समस्याओं के रूप बदले हैं, लेकिन खत्म नहीं हुए आधुनिक समाज की इन्ही समस्याओं

को आधुनिकताबोध व्यक्त करता है। साम्प्रदायिकता इनमें से एक है। जिस प्रकार कोढ़ मानव–शरीर को अपनी अशोभनीय दाग से बदसूरत बना देता है, उसी प्रकार साम्प्रदायिता राष्ट्रीय और आम जनजीवन को असुन्दर बना देती है। इस प्रकार, जब साम्प्रदायिकता का अभिशाप पड़ता है, जो जन एवं धन दोनों को काफी हानि होती है, नर–नारियों की हत्याएँ की जाती हैं, दुकानों एवं व्यापारिक प्रतिष्ठानों को लूट लिया जाता है। मनुष्य, मनुष्य के रक्त का प्यासा हो जाता है। दैनिक जीवन की अनिवार्य वस्तुओं के अभाव में जीवन जीना दूभर हो जाता है। इसी सामाजिक दुःख–दर्द की अभिव्यक्ति निदा साहब की नज्म 'पाँच साल का चाँद' करती है–

''जो भी हुआ था/किसने किया था/पता नहीं है/बस इतना मालूम है/जिन्दा इंसानों के/जिस्मों के बिखरे टुकड़ों में/मेरा बच्चा भी शामिल था/कोई किसी भी अँगूठी को/अपना रिक्शा मान रहा था/कोई किसी के नाम को/टूटी ऐनक से पहचान रहा था/मेरे मातम की कोई पहचान नहीं थी।''[12]

निदा साहब की यह नज्मसाम्प्रदायिकता से उपजे दुष्परिणामों को व्यक्त करती है। यह समस्या आधुनिक परिस्थितियों से फलीभूत है। आज धर्म को धार्मिक ठेकेदारों ने व्यापारिक उपयोग की वस्तु बना लिया है। अखिल ब्रह्माण्ड में अपने धर्म को सर्वश्रेष्ठ घोषित करने के लिए साम, दाम, दण्ड और भेद की नीति का प्रयोग किया जा रहा है। भेद की नीति आज के समय में 'राजनीति की ब्रह्मशास्त्र' नाम से सर्वाधिक प्रचलित है। इसके माध्यम से वैमनस्य और फूट डालकर साम्प्रदायिकता फैलाने का चलन जोरों पर है।

आधुनिकताबोध ना तो नास्तिकता की पैरवी करता है और ना ही आस्तिकता की। यह उन सिद्धांतों को खारिज करता है जो व्यक्ति और समाज के बौद्धिक विकास के प्रति रूढ़िगत है, जो व्यक्तियों को काल्पनिक ईश्वरीय प्रेम में आत्मविभोर करता हो। यह वह दृष्टिकोण है, जो ईश्वर की सर्वोच्चता का भय फैलाकर समाज में हो रहे अनैतिक कर्मों के प्रति जागरूक करता है। निदा साहब की अपनी नज्म 'खुदा ही जिम्मेदार' में कहते हैं कि इस धरती पर व्यक्ति अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए दूसरों का गलत तरीके से उपयोग करता है। इसी तरह सामाजिक प्रतिष्ठान और देश दोनों राजनीति किया करते हैं, किन्तु इसके लिए भोले–भाले लोगों को भगवान् और भाग्य की झूठी कहानी बताई जाती है। वे कहते हैं–

''नहीं ये भूख तो/किसी महल की पहरेदार है/गरीब ताबेदार है/गुनहगार हे महल/मगर महल तो खुद/सियासतों का इश्तहार है/सियासतों के इर्द–गिर्द भी/कोई हिसार है/अजीब इन्तिशार है/न कोई चोर/चार है/न कोई साहूकार है/ये कैसा कारोबार है/खुदा की कायनात का/खुदा ही जिम्मेदार है।''[13]

निदा साहब की यह नज़्म धर्म, समाज और ईश्वर के प्रति अनास्था को व्यक्त करती है। जो कई सामाजिक रूढ़ियों और आडम्बरों के कारण पैदा होती है। ईश्वर और धर्म का मायाजाल आधुनिक समाज में इन्सान के शोषण का एक प्रमुख तंत्र बना हुआ है। धर्म और उसके आततायिओं से त्रस्त होकर लोग धर्मपरिवर्तन कर रहे हैं, किन्तु किसी भी धर्म में उन्हें शोषण से मुक्ति नहीं मिलती। जैसे प्रत्येक धर्म में ईश्वर शोषण का प्रतीक बन बैठा है।

आधुनिक समाज ने बौद्धिक स्तर पर कई कीर्तिमान स्थापित किए हैं नई–नई खोजों और आविष्कारों ने मुनष्य की सर्वोच्चता को प्रमाणित करने के साथ ही कमजोर भी किया है। जैसे–जैसे मनुष्य तार्किक और बौद्धिक होता जा रहा है, उसमें मानवीय सहृदयता, प्रेम, विश्वास, भाई–चारा और इंसानियत आदि मूल्यों की कमी दिखाई दे रही है। विकास के साथ–साथ ही मानवीय व्यावहारिक–मूल्यों के बदलते इन्हीं रूपों को निदा साहब रेखांकित करते हैं। वे अपनी एक नज़्म 'क़ौमी एकता' में लिखते हैं कि आज प्रत्येक मजहब में केवल सैद्धांतिक बाते की जाने लगी हैं। व्यवहार के स्तर पर घृणा, द्वेष, कटुता और असहिष्णुता जैसे भाव फैलाए जा रहे हैं। इससे बेहतर वो वेश्याएँ हैं, जो शरीर तो बेचती हैं, लेकिन इंसानियत नहीं। इनके लिए न तो कोई गोरा या काला है, न कोई हिन्दू, मुस्लिम, सिख या ईसाई है। यदि इनके हृदय की महानता की भावना सभी मजहबी समझ लें तो सारी समस्याएँ खत्म हो जाएँ–

''वो तवायफ/कई मर्दों को पहचानती है/शायद इसलिए/दुनिया को ज्यादा जानती है/उसके कमरे में/हर मजहब के भगवान की/एक–एक तस्वीर लटकी है/ये तस्वीरें/लीडरों की तक़रीरों की तरह नुमाइशी नहीं/उसका दरवाजा/रात गए तक/हिन्दू/मुस्लिम/सिख/ईसाई/हर ज़ात के आदमी के

लिए खुला रहता है/खुदा जाने/उसके कमरे की कुशादगी/मस्जिद/और/मंदिरों के आँगन में कब पैदा होगा।''[14]

यह नज़्म विभिन्न धर्मों में बढ़ते वैमनस्य को बयाँ करती है। एक धर्म के लोगों द्वारा दूसरे धर्म के प्रति ईर्ष्या भाव रखने के कारण उनमें हिंसा की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। इन धर्मों के बीच आपसी सौहार्द बनाने के लिए निदा साहब ने एक वेश्या के हृदय की उदारता और विशालता को रेखांकित किया है। आधुनिकताबोध सामाजिक यथार्थ को विविध रूपों में व्यक्त करता है। जिन रूपों में किसी व्यक्ति का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता, उन्हें भी यह विचारधारा सम्बन्ध स्थापित करने के लिए प्रेरित करती है। समाज में हो रहे जुल्म, अत्याचर, हिंसा और व्यभिचार आदि के प्रति जागरूक करती है। यह किसी व्यक्ति को तटस्थता का आवरण नहीं ओढ़ने देती। इस विचारधारा का सच्चा उदाहरण निदा साहब की नज्में हैं। 'कन्फ़ेशन' नज़्म में उन्होंने महाराष्ट्र की शैली कन्नी पर हुए अत्याचार के बाद; कुछ ना कर सकने की अपनी विवशता को व्यक्त किया है–

''ये सच है/जब तुम्हारे जिस्म की/चादर/भरी महफ़िल में खिंची जा रही थी/उस तमाशे का तमाशाई था मैं भी/और मैं चुप था/...../मेरी ख़ामोशी मेरे जुर्म की ज़िन्दा शहादत है/मैं उनके साथ था जो/जुल्म को ईजाद करते हैं/मैं उनके साथ हूँ/जो हँसती गाती बस्तियाँ बर्बाद करते हैं।''[15]

निदा साहब की यह नज़्म आदम आदमी की उस चिंता को अभिव्यक्त करती है, जो समाज में हो रहे जुल्म और अत्याचार को देखते हुए भी कुछ भी कह या कर नहीं पाता। अपनी मजबूरी और बेबसी में वह स्वयं को शोषक मान लेता है। इन्हीं स्थितियों को निदा साहब ने बखूबी व्यक्त किया है।

निष्कर्षतः आधुनिकताबोध की विभिन्न प्रवृत्तियों और लक्षणों को अभिव्यक्त करने में नज़्म पूर्ण सहायक है। निदा साहब की नज़्में आधुनिकता के इस दौर में निरन्तर बढ़ती बेरोजगारी, आर्थिक वैषम्य, निर्धनता, दयनीयता से उत्पन्न कुण्ठा, वर्जना, घुटन, पीड़ा, अनिश्चितता आदि को परिलक्षित करती हैं। युद्ध और आतंक की विभीषिका से उत्पन्न आशंका, भय, अनास्था, संत्रास आदि अनेक ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों को निदा साहब की नज्में अभिव्यक्त करती हैं। आधुनिक आविष्कारों के प्रचलन सें मानव–जीवन पर होने वाले उन दुष्प्रभावों को रेखांकित करती है, जिनसे व्यक्ति की स्वतंत्रता एवं वैयक्तिकता उपेक्षित हुई है। अतः आधुनिक सामाजिक व्यवस्था के प्रति आक्रोश और असंतोष दिखाई पड़ता है।

I UnHk% %

1. मज़दी, इज़लाल. एहतेशाम, मंजूर. और कमलाप्रसाद, सं. कि आती है उर्दू ज़बां आते–आते, नई दिल्लीः वाणी प्रकाशन, 2002, संस्करण, पृ0 28
2. फ़ाजलीनिदा, शहर में गाँव, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन, 2015, संस्करण, पृ0 67
3. डॉ0 देवराज. नयी कविता, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 1987, पृ0 33
4. फ़ाज़ली, निदा, शहर मं गाँव, नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 2015, संस्करण, पृ0 117
5. वही, पृ0 106
6. शर्मा, विजय लक्ष्मी. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में चेतना के प्रतिमान. गाजियाबादः साहित्य संस्थान 2004. संस्करण, पृ0 163–64
7. फ़ाज़ली, निदा. शहर में गाँव, नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 2015, संस्करण, पृ0 122
8. वही, पृ0 162
9. शर्मा, विजय लक्ष्मी. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में चेतना के प्रतिमान. गाजियाबाद : साहित्य संस्थान, 2004, संस्करण, पृ0 194
10. वही, पृ0 174
11. वही, पृ0 321
12. वही, पृ0 540
13. उद्धृत. नंदन, कन्हैयालाल. सं.– आज के प्रसिद्ध शायर : निदा फ़ाज़ली, दिल्ली, राजपाल प्रकाशन, 2009, संस्करण, पृ0 130–31
14. उद्धृत, वही, पृ0 150
15. फ़ाज़ली, निदा, शहर में गाँव, नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 2015. संस्करण, पृ0 442–43

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

lkekftd ifjn`'; esa t;'kdj izlkn dk ukVd

o:.k dqekj iky*

साहित्यकार मानव–संस्कृति के सभी तत्वों का सूक्ष्म अवलोकन करता है तथा समसामयिक परिवेश का उसकी रचनाओं पर गहरा प्रभाव पड़ता है समसामयिक बोध के दायित्व का निर्वाह करने में समक्ष रचनाकार ही साहित्य के क्षेत्र में अपने युग का प्रतिनिधित्व करता है। समसामयिकता तथा युग बोध से जुड़ा रचनाकार समकालीन संस्कृति, साहित्य व ज्ञान–विज्ञान के साथ–साथ भौतिक जीवन में होने वाले परिवर्तनों का भी अनुभव करता है। समसामयिकता गतिशीलता का सूचक है और यह गति केवल समय की ही नहीं, बल्कि उस युग का भी है जिसमें रचनाकार जीवन जी रहा है। रचनाकार विवेकसम्मत दृष्टि से अपनी युगीन परिस्थितियों का दृष्टा होता है और वह एक साथ सामाजिक चेतना, जीवन–दृष्टि व राष्ट्रीय चेतना को अपनी आलोच्य दृष्टि से देखता है। वह इसी युगीन प्रवृत्ति के अनुकूल अपनी कल्पना का सहारा लेकर वर्तमान के यथार्थ को प्रस्तुत करता है।

साहित्य में नाटक का अपना अनूठा स्थान है, क्योंकि साहित्य की इस विधा से प्रेक्षक के हृदय में रंजन और रमण वृत्ति का स्रोत के साथ फूट पड़ता है। अपने काव्य में प्रसाद जहाँ बहुत वैयक्तिक और रोमांटिक हैं वहीं अपने नाटकों 'सज्जन' (1910 ई0), 'करुणालय' (1913), 'प्रायश्चित' (1913 ई0), 'राजश्री' (1915 ई0), 'विशाख' (1921 ई0), 'अजातशत्रु' (1922 ई0), 'जनमेजय का नागयज्ञ' (1926 ई0), 'कामना' (1927 ई0), 'स्कन्दगुप्त' (1928 ई0), 'एक घूँट' (1928 ई0), 'चन्द्रगुप्त' (1913 ई0), 'ध्रुवस्वामिनी' (1933 ई0) में दीन–हीन, पराधीन राष्ट्र के सांस्कृतिक पुनरूत्थान एवं नवनिर्माण की दिव्य भावना से अनुप्राणित है। इन नाटकों में राष्ट्रीयता की प्रखर अभिव्यक्ति हुई है। इस राष्ट्रीयता में राजनैतिक कम और संस्कृति अधिक है। इसी से उनके नाटकों में विदेशी पात्र भी भारतीय संस्कृति का गुणगान करते हैं। भारतीय संस्कृति का सर्वश्रेष्ठ काल उनके नाटकों के वर्ण्य–विषय हैं, जिसमें इतिहास दृष्टि कल्पना से जुड़ी है।

प्रसाद ने अपने नाटकों की राष्ट्रीयता के विस्तृत वलय में समाज की सांस्कृतिक चेतना का विकास तथा उसकी विसंगति की ओर ध्यान किया। सामाजिक परिवर्तन की भूमिका में भारतीय मनुष्य को भी बनाया था। सती प्रथा के विरोध 'राज्यश्री' में दिवाकर मित्र के माध्यम से वे कहते हैं– ''यह धर्म नहीं, आत्महत्या है। सती होना जल मरने से ही नहीं हो सकता।''

अजातशत्रु में मल्लिका कहती है– ''यह वैधव्य दुःख नारी जाति के लिए कैसा कठोर अभिशाप है, यह किसी भी स्त्री को अनुभव ना करना पड़े।'' इसी विधवा के सन्त्रास को व्यक्त करने के लिए नाटककार नारी की सांस्कृतिक चेतना और आत्मबल की ओर ले जाना चाहता है। अजातशत्रु की शक्तिमति कहती है– ''यदि पुरुष इन कामों को कर सकता है तो स्त्रियाँ क्यों न करें? क्या उन्हें अन्तःकरण नहीं है? क्या स्त्रियाँ अपना कुछ अस्तित्व नहीं रखती? क्या उनका जन्मसिद्ध अधिकार नहीं है? क्या स्त्रियों का सबकुछ, पुरुषों की कृपा से मिली हुई भिक्षामात्र है।'' प्रसाद जी 'जनमेजय का नामयज्ञ' में भारतीय स्त्रियों के कठपुतली होने का विरोध करती हुए शीला कहती है– ''स्वच्छता और अपनी प्रसन्नता के लिए उतना ही स्त्री–जन–सुलभ सहज शृंगार पर्याप्त है, जो स्वतंत्रता में बाधा न डालता हो, जो दूसरे का मनोरंजन करने के लिए न हो। कुटिलों का लक्ष्य बनने के लिए कठपुतली की तरह सजना व्यर्थ ही नहीं, किन्तु पाप भी हैं।'' 'कामना' नाटक में प्रमदा कहती है– ''मैंने स्त्रियों की स्वतंत्रता का मंदिर खोल दिया

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

है। यहाँ वे नवीन वेश–भूषा से अद्‌भुत लावण्य का सृजन करेंगी। पुरुष स्वयं अब उनके अनुगत होंगे। मैं वैवाहिक जीवन को घृणा की दृष्टि से देखती हूँ।'' भारतीय समाज की अन्ध परम्पराओं पर आक्रोशपूर्ण विचार व्यक्त करती हुई कहती है– संसार मिथ्या है या नहीं, यह तो मैं नहीं जानती, परन्तु आप, आपका कर्मकाण्ड आपके शास्त्र क्या सत्य हैं, जो सदैव रक्षिणी या स्त्री की यह दुदर्शा हो रही है?

प्रसाद जी ने राज्यश्री, अजातशत्रु, जनमेजय का नागयज्ञ ध्रुवस्वामिनी के माध्यम से युगों–युगों से चली आ रही नारी समस्याओं को 20वीं शताब्दी की नारी–चेतना के संदर्भ में बड़े ही प्रभावी ढंग से उभारा तथा उसक सम्भावित समाधान भी प्रस्तुत किया। नारी के स्वतंत्र अस्तित्व का प्रश्न 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक की मूल विषय वस्तु है जिसमें अतीत के माध्मय से वर्तमान नारी–चेतना के समसामयिक प्रश्न को उठाया गया है। विवाहमोक्ष और स्वतंत्र अस्तित्व–सम्बन्धी परामुक्त चिन्तन यहा इतना मुखर है कि ध्रुवस्वामिनी 20वीं शताब्दी की सामाजिक चेतना से सम्पन्न आधुनिक नारी का प्रतिनिधित्व करती है। नारी–चेतना और संस्कृति की मूल्यात्मक परिणति को केन्द्र में रखकर प्रसाद राष्ट्रीयता को सांस्कृतिक चेतना का आधार देना चाहते है।

प्रसाद के नाटकों में राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक तथा दार्शनिक मूल्यों की अभिव्यंजना और सांस्कृतिक चेतना का रचनात्मक प्रयोग हुआ है। समग्र रूप से सांस्कृतिक चेतना का विकास अपेक्षित था और राजनीतिक चेतना भी उतनी ही आवश्यक थी। राजनीतिक बोध, उसकी समझ और उसके मूल्यात्मक स्वरूप को प्रसाद ने अपने पात्रों के माध्यम से व्यक्त किया है। 'विशाख' नाटक में नरदेव का कथन राजनीतिक बोध के यथार्थ को व्यंजित करते हुए कहता है– ''किसी भी देश के बुद्धिमान शान्ति के लिए सार्वजनिक नियम बनाते हैं, किन्तु वह क्या सबके व्यवहार में है? जिस प्रतारणा के लिए शासक दण्ड विधाता है, कभी उन्हीं अपराधों को स्वयं करके दण्डनायक भी छिपा लेता है।'' 'ध्रुवस्वामिनी' में मिहिरदेव कहता है– ''राजनीति? राजनीति ही मनुष्यों के लिए सब कुछ नहीं है। राजनीति के पीछे नीति से भी हाथ न धो बैठो, जिसका विश्व मानव के साथ व्यापक सम्बन्ध है।''

राजनीतिक मूल्यों की अभिव्यंजना प्रसाद ने 'जनमेजय का नागयज्ञ' में 'तुर' के इस कथन से की– ''राजन! वसुन्धरा के समान चक्रवर्ती का हृदय की उदार और सहनशील होना चाहिए। उसे व्यक्तिगत मानपमान पर ध्यान न देना चाहिए।'' प्रसाद के नाटकों में राष्ट्रीयता राजनीतिक, सांस्कृतिक बोध के साथ ही विकसित हुई तभी चन्द्रगुप्त में अलका कहती है– 'राज्य किसी का नहीं है। सुशासन का है।

सामाजिक संदर्भों में प्रसाद के नाटकों की रचनाधर्मिता समाज के यथार्थ–बोध और उसके मूल्यात्मक निर्धारण की एक प्रक्रिया है। प्रेम और आत्मबल को सामाजिक समस्याओं के विकल्प के रूप में अजातशत्रु में प्रसाद जी कहते है– ''क्रूरता अनुकरणीय नहीं है, उसे नारी–जाति जिस दिन स्वीकृत कर लेगी, उस दिन समस्त सदाचारों में विप्लव होगा। फिर कैसी स्थिति होगी, यह कौन कह सकता है।''

प्रसाद के नाटकों के पात्र मानवतावादी आदर्शों को ग्रहण करने की प्रेरणा देते हैं तथा मनुष्यत्व को सर्वप्रमुख आदर्श के रूप में प्रस्तुत करते हैं। मनुष्य को मनुष्य बनाने की चिन्ता प्रसाद–साहित्य की प्रतिपाद्य विषय है।

इस संदर्भ में माधुरी वाजपेयी का कहना है– ''आधुनिक जीवन के लिए प्रसाद का सर्वत्र यही उपदेश रहा है कि मनुष्य कहीं भी, किसी भी परिस्थिति में हो, उसे हृदय के गुण नहीं छोड़ने चाहिए, मनुष्य के नाते उसे अपना कर्त्तव्य नहीं छोड़ना चाहिए।यदि ऐसा ही मान लिया जाए तो संसार में क्या, घर क्या, बाहर क्या, देश क्या, विदेश क्या में क्या, व्यक्तिगत जीवन में क्या, सामूहिक जीवन में क्या, सबके सुख और शान्ति स्थापित हो सकती है और शान्ति ही मनुष्य जीवन का लक्ष्य है।''

धार्मिक एवं दार्शनिक मूल्यों तथा उनकी वस्तुस्थितियों के संदर्भ में प्रसाद के नाटक काफी मुखर हैं। वे नैतिकता के सदुपयोगों के बदले समकालीन अपेक्षित नैतिकता को निर्दिष्ट करते चलते हैं। इनकी अपेक्षाएँ इतने दिनों के बावजूद आज भी ज्यों की त्यों है। धर्म और दर्शन जो अपना मूल्यात्मक संदर्भ खो चुके हैं आलोचना के विषय बनते हैं। प्रसाद के सर्वत्र ऐसे धर्म का समर्थन किया जो मानवता के लिए कल्याणकारी हो व पारम्परिक सद्‌भावना एवं सहानुभूति जागृत करने वाला हो। वे किसी के रूप में

रूढ़िवादिता एवं वाह्य आडम्बरों का समर्थन नहीं करते हैं। 'विशाख' नाटक में विशाख धर्म की तात्कालिक अवस्था की ओर संकेत करता है– ''क्यों न हो, इसी को तो आजकल धर्म कहते हैं..... ऐसों में धर्मात्मा कहे कि दुष्टात्मा। क्योंकि वे यह नहीं जानते कि दूसरों का गला काटकर कोई धर्मात्मा, मठ या मंदिर बना देने से ही उनका पाप नहीं धुल जाता है।''

प्रसाद के नाटकों में धार्मिक कुरीतियों, आडम्बरों एवं अंधविश्वासों का खुलकर विरोध किया गया है। अपने नाटकों द्वारा वे देश की जनता को अंधविश्वासों, धार्मिक रूढ़िता एवं पोंगापन्थी से ऊपर उठने का संदेश देना चाहते थे। उन्होंने मानवतावादी धर्म का प्रतिपादन किया जो आस्तिकता की दृढ़ नींव पर स्थित है तथा सम्पूर्ण विश्व के लिए कल्याणप्रद है। प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों का मूल आधार उनका उत्कृष्ट देश–प्रेम है। यह स्वराज के आदर्श से जुड़ा हुआ है उनका यह देश–प्रेम का भाव ही है जो स्वतंत्रता की चेतना को जाग्रत करने का कार्य करता है उनके देश–प्रेम के बारे में आचार्य उमेश शास्त्री का कहना है कि– ''प्रसाद साहित्य का सर्वाधिक उच्चादर्श राष्ट्र–प्रेम है, मातृभूमि के प्रति उदात्त श्रद्धापूर्व भावना का उदय और देश के लिए प्रणय का विसर्जन एवं प्रतिहिंसा को संज्ञा शून्य करने की अपूर्व शक्ति पात्रों में दिखायी देती है।''

प्रसाद अपने नाटकों में अधिकांश पात्रों को निःस्वार्थ देशभक्ति की भावना का चित्रण करते हैं स्कन्दगुप्त देश–प्रेम वीरता और त्याग की भावना से परिपूर्ण है, वह देश की (निष्कण्टक) बनाने के लिए अनासक्त भाव से युद्धरत रहता है। चन्द्रगुप्त का देश–प्रेम की वीरता और मानवता के साथ संबद्ध होकर प्रस्तुत हुआ। 'चन्द्रगुप्त' नाटक की अलका सुप्त भारतवासियों में देशप्रेम की भावना जागृत करने की बीणा उठाती है। राष्ट्र मुक्त की धारा से जोड़ने के उद्देश्य से कहा गया उसका यह कथन– ''भाई, अब भी तुम्हारा श्रम नहीं गया। राज्य किसी का नहीं है। सुशासन का है। जन्मभूमि के भक्तों में आज जागरण है। देखते नहीं, प्राच्य में सूर्योदय हुआ है। स्वयं सम्राट चन्द्रगुप्त तक इस महान आर्य–साम्राज्य के सेवक हैं। स्वतंत्रता के युद्ध में सैनिक और सेनापति का भेद नहीं।..... तक्षशिला मेरी नहीं और तुम्हारी भी नहीं, तक्षशिला आर्यावर्त का एक भू–भाग है, वह आर्यावर्त होकर ही रहे, इसके लिए मर मिटो! फिर उसके कणों में तुम्हारा ही नाम अंकित होगा।'' यह कथन किसी भी काल में राष्ट्र के भटके हुए लोगों को राष्ट्र हितार्य समर्पित हो जाने का संदेश देता रहेगा।

प्रसाद के नाटकों में विदेशी पात्रों ने भी भारत के प्रति प्रेम–भाव को व्यक्त किया। यह भी देश–प्रेम के भाव को उजागर करने वाला उनका दृष्टिकोण है। 'स्कन्दगुप्त' में सिंहल राजकुमार धातुसेन कहता है– ''भारत समग्र विश्व का है, और सम्पूर्ण वसुन्धरा इसके प्रेमपाश में आबद्ध है। अनादिकाल से ज्ञान की, मानवता की ज्योति यह विकीर्ण कर रहा है। वसुन्धरा का हृदय भारत–किस मूर्ख को प्यारा नहीं है?''

प्रसाद के अतीत के ऐतिहासिक चरित्रों के माध्यम से भारत के लोगों की समस्याओं को समझाने की चेष्टा की और इस अतीत को उन्होंने वर्तमान के धरातल पर समसामयिक संदर्भ में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। इनके नाटकों में राष्ट्रीयता व राष्ट्र गौरव की भावना के साथ विश्वबन्धुत्व का भाव भी मुखर हुआ है।

lUnHkZ %

1. राजश्री, अंक तीन, पंचम दृश्य, प्रसाद ग्रन्थावली, पृ0 140
2. 'अजातशत्रु' द्वितीय अंक, पंचम दृश्य, प्रसाद ग्रन्थावली, पृ0 247
3. 'अजातशत्रु' तृतीय अंक, चतुर्थ दृश्य, प्रसाद ग्रन्थावली, पृ0 272
4. 'जनमेजय का नागयज्ञ' तृतीय अंक, चतुर्थ दृश्य, प्रसाद ग्रन्थावली, पृ0 350
5. 'कामना' तृतीय अंक, प्रथम दृश्य, प्रसाद ग्रन्थावली, पृ0 408
6. 'ध्रुवस्वामिनी' तृतीय अंक, प्रसाद ग्रन्थावली, पृ0 774
7. 'विशाख' द्वितीय अंक, तृतीय दृश्य, प्रसाद ग्रन्थावली, पृ0 174
8. 'ध्रुवस्वामिनी' द्वितीय अंक, प्रसाद ग्रन्थावली, पृ0 768

9. 'जनमेजय का नागयज्ञ' प्रथम अंक, तृतीय दृश्य, प्रसाद ग्रन्थावली–2, पृ0 304
10. 'अजातशत्रु' तृतीय अंक, चतुर्थ दृश्य, प्रसाद ग्रन्थावली, पृ0 212
11. जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक और सांस्कृतिक नाटकों का अनुशीलन, माधुरी वाजपेयी, पृ0 114
12. 'विशाख' प्रथम अंक, प्रथम दृश्य, प्रसाद ग्रन्थावली, पृ0 155
13. प्रसाद साहित्य में आदर्शवाद एवं नैतिक दर्शन, आचार्य उमेश शास्त्री, पृ0 404
14. 'चन्दग्रगुप्त' चतुर्थ अंक, षष्ठ दृश्य, प्रसाद ग्रन्थावली, पृ0 721
15. 'स्कन्दगुप्त' चतुर्थ अंक, तृतीय दृश्य, प्रसाद ग्रन्थावली, पृ0 534

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

egkdkYk % ekuoh; «kkInh dk Ip

IR;Ua x¨iM*

प्रख्यात लेखक एवं उपन्यासकार अमृतलाल नागर भारतीय स्वतन्त्रता के दौर से अपनी रचनाओं के द्वारा हिन्दी साहित्य में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इनकी रचनायें भारत की स्थिति का जीवन्त चित्रण प्रस्तुत करती हैं। इनकी रचनाओं में करूणा–सम्वेदना, स्त्री दुर्दशा, भूख, गरीबी का ऐसा चित्रण है जो हमारे अन्दर तक एक वेदना उत्पन्न कर देता है और हमारा हृदय नागर जी के उपन्यासों के पात्रों से न सिर्फ जुड़ता है, बल्कि अथाह करूणा से भर जाता है। ये करूणा हर उस इन्सान के लिये है जो तकलीफ में है, मजबूरी में है, भूखा है, शोषित है।

अमृतलाल नागर ने चौथे दशक के पूर्वाद्ध में अपनी रचना यात्रा आरम्भ की। बंगाल के शरदचन्द, हिन्दी में प्रेमचन्द और छायावादी कवियों की छत्रछाया में उनकी साहित्यिक चेतना का विकास हुआ। औपचारिक रूप में अत्यन्त साधारण शिक्षा प्राप्त करके भी उन्होंने अपने साहित्यिक सांस्कृतिक परिवेश के प्रति सजग प्रतिक्रिया की और परम्परा से बहुत कुछ सीखकर अपना विकास किया।

सन् 1943 में बंगाल में पड़ा अकाल मानवीय जीवन की एक ऐसी त्रासदी थी जिसने अपनी भयावह के अनुपात में ही संवेदना और करूणा की सीमाओं को और अधिक व्यापक बनाया। हिन्दी के अनेक लेखकों ने इस मानवीय विभीषिका का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करके अपने अनुभव जगत का अभूतपूर्व विस्तार किया। रांगेय राघव के रिपोर्ताज ''तूफानों के बीच'' और बंकिम चन्द के 'आनन्द मठ' के दृश्य में लिखित उपन्यास 'विषाद मठ' इसी अकाल की पृष्ठ भूमि में है। इसी दुर्भिक्ष ने बच्चन जैसे आत्मपरक कवि को अपने से बाहर आने की चुनौती दी और उन्होंने अपनी लम्बी कविता 'बंगाल' लिखी। रांगेय राघव की तरह ही अमृतलाल नागर ने भी इस ओर संकेत करते हुए नागर जी ने लिखा है कि 'सन् 43 के बंग–दुर्भिक्ष में मनुष्य की चरम दयनीयता और परम दानवता के दृश्य मैंने कलकत्ता में अपनी आँखों से देखे थे। सियालदह स्टेशन के प्लेटफार्म, कलकत्ता की सड़कें, फुटपाथ ऐसी बीभत्स करूणा से भरे थे कि देख–देखकर आठों पहर जी उमड़ता था। कलकत्ता वालों को उन दृश्यों से फिर जाने के कारण अपना शहर काटता था। इसी बड़ी भूख के वातावरण में लोगों के मुँह में कौर लेते नहीं बनता था।[1] 'इस उद्धरण में निहित कुछ महत्त्वपूर्ण संकेतों से बेहतर ढंग से समझा जा सकता है। इसमें यह संकेत भी शामिल है क्यों नागर ने 'महाकाल का शीर्षक बदलकर 'भूख' कर दिया था। भूख की सर्वव्यापकता के अतिरिक्त मानवीय व्यवहार की विचित्रताओं को अंकित करता है। इसका सबसे घृणित पक्ष यह था कि यह अकाल किसी प्राकृतिक विपदा का परिणाम न होकर 'मनुष्य के स्वार्थ का एक अत्यन्त जघन्य रूप प्रदर्शन और उसका स्वाभाविक परिणाम था। द्वितीय महायुद्ध में बुरी तरह से फँसी ब्रिटिश सरकार और उसके प्रशासन–तन्त्र के निहित स्वार्थों के कारण ही यह दुर्भिक्ष पड़ा था। नागर जी ने प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रो0 महाल नवीस द्वारा प्रस्तुत उनका आँकड़ों का उल्लेख भी किया है। जिनके आधार पर यह सिद्ध किया गया था कि धान की फसल को देखते हुए ऐसे दुर्भिक्ष की कोई आशंका नहीं थी।'[2]

महाकाल उपन्यास के केन्द्र में कलकत्ता के एक निकटवर्ती गाँव मोहनपुर का एक मध्यवर्गीय संयुक्त बंगाली ब्राह्मण परिवार है। केशव गोपाल मुखर्जी मोतियाबिन्द से अन्धे हो चुके हैं। ढाका के कॉलेज में संस्कृत के प्रोफेसर थे उनका ग्यारह व्यक्तियों का परिवार है। उनका बड़ा बेटा पाँचू गोपाल मुखर्जी

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

आई0सी0एस0 में जाने को था लेकिन माँ और परिवार के कारण ऐसा न कर पाने से अब गाँव में ही अपना स्कूल चलाता है। इस स्कूल की प्रेरणा उसे गणेश बाग्दी को पढ़ाने से ही मिली थी। केशव बाबू का बड़ा बेटा शिव गोपाल–शिबू–नेता आदमी है। जिसके तौर–तरीके अपने पिता और छोटे भाई पाँचू से कहीं मेल नहीं खाते। पाँचू को अपने स्कूल में गणेश बाग्दी जैसे छोटी जाति के, एकदम हाशिए पर पड़े परिवारों के बच्चों के कारण गाँव का विरोध भी कम नहीं सहना पड़ा है। भूख और मलेरिया से हुई गणेश की मृत्यु गाँव में पसरते अकाल का एक अशुभ संकेत जैसी है। बहुत कम समय में ही यह पूरा गाँव समूचे बंगाल की तरह, अपने को अकाल के बीचोबीच पाता है। मोहनपुर के जमींदार दयाल के यहाँ चावल लेने जाने पर पाँचू को 'अकाल' की भीषणता का अनुमान होता है। चारों ओर की झोपड़ियाँ चार टूटी हुई दीवारों के डूहों में बदल चुकी है। उनके बाँस और छप्पर पेट की ज्वाला बुझाने के लिए बिक चुके हैं। लोगों ने अपने चिथड़े–गुदड़े भी बेच दिए हैं। अपने चारों ओर उसे घर–गृहस्थी लुटे लोगों का हुजूम दिखाई देता है। रामू के दो नंगे बच्चे लाशों की तरह पड़े हैं। जिन्हें शुरू में उसने लाशें ही समझा था। उसे लगता है जैसे अभी वे मृत्यु से अन्तिम संघर्ष कर रहे हैं। इन बच्चों को देखकर उसे अपने परिवार के बच्चों–दीनू, परेश, चुन्नी और कनक की याद आए बिना नहीं रहती। उसे यह डर बुरी तरह सिहरा जाता है– क्या वे भी इसी नियति को प्राप्त होंगे थोड़ा आगे बढ़ने पर वह देखता है कि फजलू काक। बेचने के लिए झोपड़ी की टीन निकाल रहे हैं। बुढ़िया खेत्रमनि जो कभी पूरे गाँव की परिक्रमा करती घूमती थी, कमर में लगोटी बाँधे, दोनों हाथों में मिट्टी की हँडिया थामे, खोई सी सिर झुकाए बैठी है। सब अपने–अपने ढंग से अकाल इस विभीषिका से जूझ रहे हैं– बेनी और उसकी नव–परिणीत पत्नी भी जिनके विवाह को अभी सिर्फ दो महीने गुजरे है। समूची बस्ती ही जैसे इनसानों की बस्ती नहीं रह गई। मुनीर की लाश के इर्द–गिर्द उसके चावल लूटते भूखों का हुजूम हैं बढ़ई नूरुद्दीन अपनी बूढ़ी माँ का गला इसलिए दबा देता है कि खाने वाले में एक मुह कम होगा। सात दिनों से भूखी माँ कि व्यथा उससे देखी नहीं जाती। तुलसी वोष्टम और उसकी पत्नी में इस बात पर लड़ाई होती है कि मोनाई से चावल लेने के लिए अपनी धोती कौन दे तुलसी का तर्क है कि वह औरत है, उसे कहीं बाहर निकलने की मजबूरी नहीं है, नंगी घर में ही पड़ी रहेगी। जाने कितनी औरतें बस्ती में इसी तरह पड़ी है। यह केवल तुलसी वोष्टम के साथ ही नहीं हुआ है। यह पूरी बस्ती और उससे भी आगे जाकर समूचे बंगाल का सच है। रिश्ते बोझ बन रहे हैं। लोगों ने अपनी पत्नियों और अन्य परिवारियों को निकलना शुरू कर दिया है।

लेकिन इस सच का एक दूसरा पक्ष भी है। उस सच का प्रतिनिधि पात्र मोनाई हैं बस्ती के लोगों से, उनकी मजबूरी में, खरीदे गए सामान का ढेर–टीन–टप्पर, कपड़े–बर्तन और चारपाई के पाँवों के बेहिसाब जोड़े–उसके यहाँ मौजूद हैं। उग्र भीड़ की लूट–पाट से निपटने के लिए ऐन वक्त पर दयाल जमींदार के सिपाहियों की गोली से चौबीस लाशें गिरी थीं। दयाल जमींदार का क्रुर एवं उसके वैभव का बीभत्स प्रदर्शन इस दूसरे सच का ही एक और पहलू है। प्रायश्चित्त स्वरूप किए गए मोनाई के ब्रह्म–भोज का अतिचार ब्राह्मणों के वमन के रूप में सामने आता है और लोग उस पर भी झपटने से बाज नहीं आते।

मोनाई, भूखी और अकालग्रस्त बस्ती में, धन की अबूझ भूख से धन–पिशाच बने व्यक्ति का सिहरन पैदा करने वाला उदाहरण है। दलित बोग्दी से व्यापार करके वह बनियां बना है। दयाल जम्मीदार की ताबेदारी में है। लेकिन ऊपर से सब कुछ उसकी मरजी के मुताबिक करते रहने के बावजूद वह अन्तर्मन से उससे गहरी घृणा करता है। बिगड़े काम और स्थिति में भी ज्यादा से ज्यादा बना और बचा लेने का हुनर उसे खूब आता है। जिस अजीम ने उसके साथ बेईमानी की थी, उसी का इस्तेमाल वह दयाल जमींदार के विरुद्ध करने में सफल होता हैं औरतों की खरीद–फरोख्त के पक्ष में अजीम को समझाते हुए वह तर्क देता है– वेश्याएँ यदि पापिन होती तो भगवान जी उन्हें बनाते ही क्यों? मुर्दों की हड्डियों को भी वह व्यापार की लाभकारी जिसमें बदल सकता है। उसके इस हुनर से ही प्रभावित होकर अजीम और नुरुद्दीन उसके भक्त हो जाते हैं। वे उसकी मिट्टी में सोना ढूँढ़ लेने वाली नज़र के कायल हो जाते हैं।[3]

अकाल जैसे मनुष्य के व्यवहार की कसौटी बन गया है। लेखक ने बहुत चित्रात्मक शैली में उसकी बीभत्सता और भयावहता का अंकन किया है। ''सहसा पाँचू के पास से ही एक मादरजाद नंगी

औरत दौड़ती हुई घूरे की तरफ चली गई। सभ्यता के एवरेस्ट–युग में जन्म लेकर पाँचू खुलेआम, दिन–दहाड़े ऐसी बेशर्मी से भरी हुई घटना को देखने का आदि न था। पाँचू ने देखा, उस औरत में चीलों, कौओं, कुत्तों और आदमियों से ज्यादा जोश था। वह घूरे पर पहुँची तो सब अलग हो गए।''[4]

एक और दृश्य है। कुत्तों के डर से बचाने के लिए बेनी अपनी मरणासन्न नवोढ़ा पत्नी को गँड़ासे से काटकर खा जाता है ताकि उसके अन्दर समाकर वह कुत्तों से सुरक्षित रह सके। समूचा बंगाल दो परिणतियों से गुजरा है– या तो वह एक विशाल मरघट में बदल गया है। या फिर वैसे ही विशाल 'अनाथालय' में जहाँ दो मुट्ठी चावल के लोभ में गाँव की जवान औरतें पहुँचाई जाती रही हैं।

इस हताशा और अवसाद के बीच भी पाँचू अपनी संवेदना को बचाए रखने की लड़ाई लड़ता है। खाली स्कूल की इमारत और फर्नीचर को वह गहरी ममता से निहारता बैठा रहता हैं। संवेदना ही नहीं, वह अपनी तर्क और विचार शक्ति को भी सुरक्षित रख सका है। तभी वह मानवीय त्रासदी के रूप में घटित इस अकाल को साम्राज्यवादी षड्यन्त्र से जोड़कर देख सका है, ''अपनी सेना के साथ सुभाष बाबू के आने पर बंगाल कहीं उनके साथ न मिल जाए, इसलिए बंगाल को पहले ही तबाह कर दिया गया। वह अकाल भारत को गुलाम बनाए रखने की राजनीति है।''[5]

लेकिन इस हताश और पीड़ा के बीच भी कुछ ऐसा है जो पाँचू को संभालता और बचाता है। इसे ही उसकी और प्रकारान्तर से समूची मनुष्य जाति की, जिजीविषा और आस्था के रूप में ही लिया जा सकता है। लाशों के ढूह के बीच से वह एक सद्यः जात शिशु लाकर अपनी पत्नी मंगला की गोद में देते हुए कहता है, 'जो होना था, वह हो गया। अब इसे सँभालो। इसे बचाओ। इसे बचाने के लिए ही हम–तुम जिएँगे। बच्चों को मंगला की गोद में डालकर पाँचू 'जीवन–रक्षा और जीवन मृत्यु के प्रति ऋण उतारने' बाहर जाने लगता है। चलते हुए वह मंगला से पूछता है, 'घबराओगी तो नहीं? और मंगला का उत्तर है अब नहीं।'[6] बहुत संक्षिप्त होने पर भी मंगला का दिया गया यह उत्तर आशा, आस्था और जिजीविषा की जो खनक लिये है वह जैसे नागर जी के समूचे रचना–कर्म का केन्द्रीय कथा बनकर गूँजती है। एक लेखक के रूप में अमृतलाल नागर की सम्भावनाओं की बानगी 'महाकाल' से मिल जाती है। वे अपने लिये एक कठिन और चुनौतीपूर्ण रास्ता चुनते हैं। रचना के कच्चे माल के लिए वे श्रम साध्य और जोखिमपूर्ण मात्रा का संकेत यहीं से देने लगते हैं। इसी से सुदूरवर्ती और अपरिचित क्षेत्रों की वास्तविकता भी उनके अपने अनुभव का सच बनकर सामने आती है।

lUnHkZ %

1. 'भूख' अमृतलाल नागर, राजपाल प्रकाशन, संस्करण–70 भूमिका, पृ0 5.
2. अमृतलाल नागर : व्यक्तित्व एवं रचना संसार, राजपाल प्रकाशन, संस्करण– फरवरी 2000, पृ0 53.
3. अमृतलाल नागर : व्यक्तित्व एवं रचना संसार, मधुरेश, राजपाल प्रकाशन, संस्करण– फरवरी 2000, पृ0 56.
4. 'भूख' अमृतलाल नागर, राजपाल प्रकाशन, संस्करण–70, पृ0 101.
5. 'भूख' अमृतलाल नागर, राजपाल प्रकाशन, संस्करण–70, पृ0 202.
6. 'भूख' अमृतलाल नागर, राजपाल प्रकाशन, संस्करण–70, पृ0 219.

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

dk'ky vk/kkfjr f'k{kk % ifjp;] ikjLifjd foe'k ,oa eY;kdu

iou lkg*

भारत आज विश्व में सबसे युवा आबादी वाला देश है, कुल जनसंख्या का 54 प्रतिशत युवा 25 वर्ष से कम आयु का है।[1] बढ़ रही युवा जनसंख्या को रोजगार के अच्छे अवसर प्रदान करने के लिए उन्नत प्रशिक्षण एवं कौशल विकास महत्वपूर्ण है और उन्नति की गति को तीव्र बनाये रखने के लिए यह आवश्यक भी है। कौशल आधारित शिक्षा विशेष रूप से युवाओं, महिलाओं तथा वंचित वर्गों को कौशल प्रदान कर उन्हें विकास की मुख्य धारा से जोड़ना तथा बाजार की मांग के अनुरूप कुशल कर्मियों को तैयार करना है। इस आवश्यकता को पूरा करने के लिए कौशल विकास को अनवरत आधार पर स्थिति के अनुरूप निर्धारित करना होगा और युवा आबादी को रोजगार के उपलब्ध अवसरों के अनुसार ढालना होगा।[2]

देश के पास अतुलनीय युवा जनसंख्या है जिससे आने वाले समय में सामाजिक आर्थिक विकास को बढ़ावा मिलना तय है। रोजगार के लिए उपयुक्त कौशल प्राप्त करके युवा, परिवर्तन के प्रतिनिधि हो सकते है। ये न केवल अपने जीवन को प्रभावित करने में सक्षम होंगे बल्कि दूसरों के जीवन में बदलाव तथा देश की अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करने में मद्दगार साबित होंगे।

प्रस्तावित शिक्षा नीति 2016 में कौशल आधारित शिक्षा पर विशेष जोर दिया गया है इसके अर्न्तगत कहा गया है कि विकसित विश्व में उच्च निर्भरता अनुपात के साथ युवा जनसंख्या तेजी से सिकुड़ रही है और 2022 तक देश में 104.62 मिलियन नए युवा आगन्तुक होगे जिन्हे कुशल बनाने की आवश्यकता होगी।[3]

भारत जैसे विशाल और कृषि प्रधान देश को आज कौशल आधारित शिक्षा की आवश्यकता क्यों पड़ रही है? जबकि प्राचीन काल से देश के लोग कृषि व उससे सम्बन्धित उद्योगों तथा अपने पारम्परिक व्यवसायों को अपनाकर अपनी जीविकोपार्जन करते थे। लेकिन औपचारिक शिक्षा के बढ़ते प्रभाव के कारण आज देश की 74.04 प्रतिशत जनसंख्या साक्षर है।[4] जिससे उनकी मनोवृत्ति में परिवर्तन आया है जिसके कारण वे अपने पारम्परिक व्यवसायों को करने में हीनभावना महसूस करते है इसी कारण देश की 77 प्रतिशत आबादी के पास नियमित रोजगार नहीं हैं।[5] इसी के कारण यह विभिन्न प्रकार की गलत गतिविधियों में संलिप्त हो जाते है अतः इसे रोकने के लिए उनको कौशल आधारित शिक्षा प्रदान कर उन्हें रोजगार से जोड़ना ही एक मात्र उपाय है।

सरकार का कौशल विकास कार्यक्रमों के माध्यम से अप्रशिक्षित (शिक्षित/अशिक्षित) युवाओं को प्रशिक्षण के द्वारा प्रशिक्षित करके उसे रोजगार से जोड़ने का लक्ष्य है। लेकिन चिन्तनीय विषय यह है कि यदि युवाओं को अनौपचारिक तरीके से प्रशिक्षित करके उन्हे कुशल कर्मी बनाया जा सकता है, जिससे वह सीधे रोजगार से जुड़ सके। इसके लिए उसका शिक्षित होना महत्वपूर्ण नहीं है तो फिर आने वाले दिनों में विद्यालयों और संस्थाओं की आवश्यकता ही समाप्त हो जाएगी। अतः यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि कौशल विकास कार्यक्रम विद्यालयों के पतन का कारण होगा।

सरकार एक ओर कौशल विकास कार्यक्रमों के माध्यम से युवाओं को प्रशिक्षित करके उन्हे रोजगार से जोड़ेगी, जिससे युवाओं का ध्यान उच्च शिक्षा से हटकर जल्द ही धन अर्जित करने में आर्कषित

*शोध छात्र, प्रौढ़ शिक्षा विभाग, डॉ0 हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, मध्य प्रदेश

होगा। जिससे देश में एक अन्य प्रकार की कमी (अध्यापकों/डाक्टरों/वैज्ञानिकों/इंजीनियरों) हो जाएगी, जो कि किसी भी देश के लिए घातक सिद्ध होगी। क्योंकि कौशल विकास द्वारा हम तकनीक में कुशल युवा तो तैयार कर सकते हैं, लेकिन उस तकनीक को नया रूप प्रदान करने वाले वैज्ञानिकों को नहीं तैयार कर सकते। क्योंकि इन कार्यक्रमों से प्रशिक्षित व्यक्ति का रोजगार से जोड़ने का तो प्रावधान सरकार ने किया है, लेकिन उसके उच्च शिक्षा ग्रहण करने से सम्बन्धित कोई प्रावधान नहीं है। अतः कौशल विकास कार्यक्रम में प्रशिक्षित व्यक्ति को रोजगार के साथ–साथ शिक्षा प्राप्त करने के अन्य अवसरों का प्रावधान होना चाहिए।

'कौशल विकास कार्यक्रम के अर्न्तगत प्रशिक्षित व्यक्ति को प्रदान की जाने वाली डिग्री नैनो डिग्री कहलाती है, जिसका अपना एक अलग महत्व है। इस डिग्री द्वारा व्यक्ति का सम्पूर्ण विकास संभव नहीं हो पाता क्योंकी यह किसी व्यक्ति को बहुत कम समय में तथा किसी एक विशेष कौशल में ही निपुण बनाती है।'

कौशल विकास कार्यक्रम के अर्न्तगत व्यक्ति को प्रशिक्षित करके उसे प्रमाण पत्र प्रदान किया जायेगा जो कि उस व्यक्ति की पहचान होगी। इस प्रकार तो ऐसे कुशल श्रमिक जो अपने पारम्परिक उद्योगों में लगे हैं उनका अस्तित्व खतरे में पड़ जाएगा क्योंकि उनके पास तो कोई प्रमाण पत्र नहीं होगा। और यदि सरकार उन्हें प्रमाण पत्र प्रदान करती है तो यह उनके पारम्परिक ज्ञान को चुनौती दे रही होगी। इससे व्यक्ति यह सोचने में मजबूर हो जाएगा कि उसके पास जो कौशल है वह सही नहीं है और इस प्रकार से पारम्परिक ज्ञान का अस्तित्व समाप्त हो जाएगा।

इस प्रकार की समस्याओं के समाधान स्वरूप सरकार को कौशल विकास कार्यक्रमों को नियमित विद्यालयों/संस्थाओं के माध्यम से सम्पन्न कराने पर जोर देना चाहिए। इससे विद्यालयों की भूमिका नए प्रकार से चिन्हित होगी तथा मौजूदा विद्यालयों की आवश्यकता न होकर नए प्रकार के विद्यालय की आवश्यकता होगी जो कौशल विकास में सहायक हो सके। कौशल विकास कार्यक्रमों से प्रशिक्षित युवाओं को उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रेरित करना चाहिए, उनके लिए निःशुल्क उच्च शिक्षा तथा नई योजनाओं का क्रियान्वयन किया जाना चाहिए। पारम्परिक कार्यो में लगे कुशल कर्मियों को उनके काम के लिए प्रेरित करना चाहिए तथा उन्हे कौशल विकास से सम्बन्धित समस्त योजनाओं का लाभ बिना किसी प्रमाणपत्र के प्रदान करना चाहिए।

lanHkZ %

. Sadhgopal,Anil.(2016).Skill india or Deskilling India An Agenda of Exclusion. Economic and Political weekly,(35),33-37.
. http://www.census2011.co.in/literacy.php retrieved on 24 February 2017, 11.25AM.
. http://www.censusindia.gov.in/PopulationFinder/Population_Finder.aspx retrieved on 10February 2017, 09.05AM.
. http://mhrd.gov.in/sites/upload_files/mhrd/files/nep/Inputs_Draft_NEP_2016.pdf retrieved on 20 February 2017, 11.23PM.
· Nano-Degrees as a New Model to Integrate into Higher Education, retrieved from www.forbes.com/.../nano-degrees- as-a- new-model- to-model- to-integrate- into-higher-
· Datta, Archna. (n.d).retrieved from http://Pib. Nic.in/newsite/hinditeature.aspx?relid.
· Fifth Annual Employment – Unemployment Survey (2015-16), Volume I. Government Of India Ministry Of Labour & Employment Labour Bureau Chandigarh, pp-12.

References :

1. Census of India 2011.
2. Sadhgopal,Anil.(2016).Skill india or Deskilling India An Agenda of Exclusion. Economic and Political weekly,(35),33-37.
3. New Education Policy Draft 2016.
4. http://www.census2011.co.in/literacy.php
5. http://labourbureaunew.gov.in/UserContent/EUS_5th_1.pdf

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

lkEiznkf;drk ds f[kykQ vkf[kjh dyke

ftrUnz xkSrk*

वर्तमान माहौल में जब चिन्तनशील विवेक के लिए जगह सिमटती जा रही हो, जब चारों ओर साम्प्रदायिकता के फलने–फूलने का माहौल हो, जब चारों ओर अन्ध–आस्थाओं का घना कुहरा छाया हो, जब मीडिया–प्रक्षेपित धर्म और संस्कृति की धुन्ध में हिंसक साम्प्रदायिकता का डरावना शोर सुनाई पड़ रहा हो, तब विचारशील व्यक्ति क्या करे? चुप्पी साध ले? लेकिन यह तो आत्महत्या होगी और मनुष्य की सृजनात्मक क्षमता पर प्रश्न चिन्ह होगा। ऐसी घोर निराशावादी युग में एक सृजनशील हृदय से 'आखिरी कलाम' निकलता है। बाबरी मस्जिद ध्वंस की पृष्ठभूमि में अयोध्या के मिथक–भेदन के माध्यम से दूधनाथ सिंह अपने उपन्यास 'आख़िरी–कलाम' में धर्म का जो विखण्डन करते हैं वह हिन्दी की वैचारिकी संसार में एक नई धारा है। नरम हिन्दुत्व के इस दौर में जब 'कट्टर हिन्दुत्व' की शक्तियों के मुकाबले 'अच्छा हिन्दू' को समझने की होड़ लगी हो, तब उपन्यास के केन्द्रीय पात्र आचार्य प्रोफेसर तत्सत पांडे का यह कथन कि ''धर्म ही एक षडयन्त्र है'' एक गहरी पड़ताल की माँग करता है। साम्प्रदायिकता और धर्मनिरपेक्षता जैसे जटिल मुद्दों को समझने का यह एक नया परिप्रेक्ष्य भी है।

'आख़िरी कलाम' उपन्यासगत ढाँचे को पूरी तरह तोड़ता है। उपन्यासकार के ही शब्दों में ''यह एक आदमी के ज़िद की आन्तरिक रिपोर्ट है''[1] उपन्यास के संरचनागत विशेषताओं को स्पष्ट करते हुए दूधनाथ सिंह के ही शब्दों में, ''यह कथा–कृति उपन्यास की सारी सीमाओं और लालचों को उलट–पुलट देती है। चरित्रों के टकराव से कथा का विकास, यह जो उपन्यास–लेखन की आदत बन चुकी है, यहाँ इस आदत से इन्कार है।''[2]

दूधनाथ सिंह के उपन्यास 'आखिरी कलाम' को पढ़ते समय इतिहास की आदर्श ऐतिहासिक कृतियाँ कौंधती रही। ऐसा लगा कि यह उपन्याय सही समय पर एक उचित सृजनात्मक हस्तक्षेप है। उपन्यास के नायक 83 वर्षीय आचार्य (प्रोफेसर तत्सत पांडे) को अपनी धर्मनिरपेक्ष समझ और समालोचना में असीम विश्वास ही उन्हें नितान्त प्रतिकूल उन्मादी माहौल के विरूद्ध अन्तिम साँस तक सक्रिय बनाए हुए है। चार से छह दिसम्बर 1992 को उनकी अयोध्या यात्रा वहाँ के साम्प्रदायिक उन्माद के विरूद्ध एक प्रतिबद्ध बूढ़े विद्वान की वैचारिक एवं नैतिक चुनौती है।

दरअसल, प्रतिभा दृष्टिग्रस्त या कहें दृष्टि सन्तप्त होती है। वह अपने को जानती है और उसकी दृष्टि वर्तमान की धुन्ध को चीरकर किसी विराट सपने पर टिकी होती है जो उसके वर्तमान से टकराव के कारण है। आचार्य जी कहते हैं– 'सिरफिरा हूँ, पागल नहीं बेटे! और कुछ ज्यादा ही देखता हूँ।' कुछ ज्यादा देखना' ही आचार्य जी की वर्तमान बेचैनी का कारण है, और यही उन्हें साहस देता है और अथक सक्रियता भी। लेकिन यही एक नए, सौहार्दपूर्ण सुखी भारत के लिए आशा की किरण भी है। इसी बिन्दु से लेखकीय चिन्ता को भी समझा जा सकता है, जो 'आखिरी कलाम' के प्रत्येक पृष्ठ पर दर्ज है।

'आखिरी कलाम' में मिथकीय संस्कृति के विश्लेषण की एक पवित्र और निहत्थी छटपटाहट है। मिथक को इतिहास में बदलने की कोशिशों का पर्दाफाश है; विचार, संरचना, और संस्कृति पर एकल बहसों का निर्वेद है। इसी के भीतर कहानी का तार बिखरे पड़े हैं। इन्हीं तकलीफों के भीतर से इतिहास के उन सूत्रों को ढूँढ़ने के प्रयत्न है, जो एक मिले–जुले समाज की बुनियाद है और जिनको उलट–पुलट देने की बर्बर आहटें इधर चौतरफा सुनाई देती रही हैं। इसी तरह यह उपन्यास अपने समय के संसार की एक चित्र रचना बनाता है। अपने अतीत, इतिहास, मिथक और साहित्य संस्कृति को उकेरता–उधेड़ता हुआ उसकी एक

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

विस्फोटक और स्तब्धकारी पुनर्रचना सामने रखता है। उन बातों, अर्थों और व्याख्याओं को सामने लाता है, जो उसी में छुपी थी लेकिन लोग और समाज, संस्कृति और विचार के विद्वान उसकी ओर से अक्सर आँखे मूंदे रहते है। उपन्यास कुल चार खण्डों में विभक्त है– गृह–जंजाल, प्रस्थान–पर्व, देव–श्मशान' और 'पुनश्च'। प्रथम तीन के नायक आचार्य जी हैं और ये आचार्य जी के जीवन के तीन निर्णायक चरण हैं जिन्हें सर्वात्मन 'समानान्तर युद्ध'[3] के रूप में याद करता है। अन्तिम खण्ड 'पुनश्च' 6 दिसम्बर 1992 की घटना के 10 वर्ष बाद सर्वात्मन के अयोध्या में पुनर्भ्रमण पर केन्द्रित है। जिस सर्जनात्मक ताकत के साथ 6 दिसम्बर 1992 के अयोध्या मुद्दे को इस उपन्यास में उठाया गया है, वह अन्यत्र नहीं दिखता। पक्ष–प्रतिपक्ष की राजनीतिक फतवेबाजी या साम्प्रदायिकता के प्रलाप अथवा कतिपय कविताओं और कहानियों के अलावा अभी तक कुछ सामने नहीं आया है। सम्भवतः 'आख़िरी कलाम' पहला सार्थक औपन्यासिक प्रयास है।

'आख़िरी कलाम' में निहित तत्वों पर प्रकाश डालते हुए वीरेन्द्र यादव के शब्दों में, ''अपनी सम्पूर्ण औपन्यासिक संरचना में 'आखिरी कलाम' हिन्दू फांसीवादी खतरे की पृष्ठभूमि में एक ऐसी जीवन्त जिरह है जो धर्मनिरपेक्षता, जनतंत्र, मीडिया, मुसलमान व वामपंथ से लेकर लोहियावादी राजनीति तक का विस्तार लिए है।''[4] लेकिन उपन्यासकार सर्वाधिक मुखर हैं। हिन्दू धर्म की मनुष्यविरोधी ब्राह्मणवादी संरचना को बेपर्दा करने तथा धर्मनिरपेक्ष शक्तियों के लिए उस पोले आधार को उजागर करने में जो उसकी विफलता के लिए जिम्मेदार है। अयोध्या में कारसेवकों की आक्रमकता व बाबरी मस्जिद के आसन्न ह्रास पर धर्मनिरपेक्ष शक्तियों से उसका सीधा चुनौतीपूर्ण सवाल है, कि ''कहाँ है तुम्हारे वर्ग–मुक्त मानस की जनता? कहाँ है? क्यों धर्म के सवाल पर इस देश के सारे लोग ब्राह्मण हो जाते हैं। यह मन्दिर–मस्जिद का सवाल नहीं..... यह मनुष्य होने या न होने का सवाल है।''[5] उपन्यासकार धर्म की परतें उखाड़ते हुए अपने विचारों को तत्सत पांडे के माध्यम से कहता है कि, ''धर्म एक वृहद्, अनजाना षड्यन्त्र है मानवता के खिलाफ। धर्म एक ठगी है। घर्म डराता है। अन्धत्व प्रदान करता है धर्म कहता है, 'अंधे होकर चलो, तुम्हारी लाठी मैं हूँ।''[6]

हिन्दी उपन्यास में जब–जब संरचनात्मक तोड़–फोड़ होती है उसका गाजे–बाजे के साथ स्वागत हुआ है। लेकिन 'आखिरी कलाम' महज संरचनात्मक तोड़–फोड़ नहीं करता, यह एक ऐसी वैचारिक तोड़–फोड़ है जहाँ बहुत सी स्वीकृत मान्यताएँ और स्थापनाएँ स्वतः ध्वंस हो जाती हैं। 'धर्म' को खारिज करते हुए 'धर्मनिरपेक्षता' पर सवाल उठाना आज के समय की सबसे बड़ी तोड़–फोड़ है।

आज साम्प्रदयिकता अपने चरम पर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्याप्त हो गई है। जहाँ राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन भी इस विचारधारा से अछूता नहीं है और वर्तमान समय में सबसे अधिक चर्चा की आवश्यकता है आज जब बाबरी मस्जिद के ध्वंस, और गुजरात दंगे 2002 के बाद साम्प्रदयिकता फांसीवादी दुःस्वप्न न होकर बल्कि वास्तविकता बन गया है, तब उन कारकों की पहचान करना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है जिनसे यह मानस बनता है। 'आखिरी–कलाम' जहाँ धर्मोन्मादी फांसीवाद का निर्माण प्रक्रिया से साक्षात् कराता है वहीं इसके मूल उत्स पर प्रहार का भी आवाहन करता है। ऐसे विपरीत समय में यह दूधनाथ सिंह का उपन्यास 'आखिरी कलाम' साम्प्रदयिकता के विरोध में एक सशक्त साहित्यिक सर्जनात्मक पहल है। देखना यह है कि 'किताबों पर शक करने' का आवाहन करने वाली किताब हिन्दी समाज में क्या–क्या परिवर्तन लाने में सक्षम होती है?

lgk;d xzUFk %

1. आखिरी कलाम, दूधनाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, दूसरा संस्करण 2015
2. उपन्यास और वर्चस्व की सत्ता, वीरेन्द्र यादव, राजकमल प्रकाशन पहला संस्करण–2009
3. आलोचना जुलाई–सितम्बर 2003

lanHkZ %

1 आखिरी कलाम, दूधनाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, दूसरा संस्करण–2013, भूमिका– मेरी तरफ से।
2 वही,
3 वही, पृ0सं0 340
4 उपन्यास और वर्चस्व की सत्ता, वीरेन्द्र यादव, राजकमल प्रकाशन, पहला संस्करण, पृ0 213
5 आखिरी कलाम, दूधनाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, दूसरा संस्करण 2013, पृ0 150
6 वही, पृ0 150

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

Ckkt kjokn l mi th ub thou 'kyh dk ni.k g\ *jgu ij jX?k*

eg'k itlkn jk;*

काशीनाथ सिंह द्वारा रचित 'रेहन पर रग्घू' उपन्यास वैश्वीकरण के आरंभिक दौर के कारण टूटते मानव मूल्यों तथा नयी जीवन शैली का दर्पण है, जो ग्रामीण संस्कृति, सामूहिकता, मानवीय संवेदनाओं के अपघटन को उजागर करता है। उपन्यास का केन्द्रीय पात्र रघुनाथ उर्फ रग्घू की भावनाओं, संवेदनाओं, नाते–रिश्ते के साथ ही तत्कालीन समाज में आये सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक बदलावों की परिधि में जीने की विवशता इस उपन्यास का मूल कथानक है। भूमंडलीकरण के कारण उपजी बाजारवादी संस्कृति के आरंभिक चरण में ही ग्राम्य जीवन शैली तथा शहरी जीवन शैली के बीच के अर्न्तद्वन्द्व की पटकथा इस उपन्यास का एक हिस्सा है। वैश्वीकरण के प्रभावों के चलते सम्बन्धों में आई संवेदनहीनता तथा संवेदनाओं के ध्वंस का नया दौर आरम्भ हुआ जिससे अभिजात्य समाज की स्थापनाओं को चुनौती मिली। वही समकालीन मनुष्य के जीवन के एकाकीपन की विसंगतियों को भी उपन्यास में उकेरा गया है।

उपन्यास के मुख्य किरदार रघुनाथ का जीवन सन्तान सुख से परिपूर्ण शान्त तथा सहज ढंग से चल रहा था। इस जीवन शैली पर रघुनाथ को गर्व भी था, लेकिन वे सुखी नहीं थे।

उपन्यास में लिखित ''ईश्वर ने यदि उन्हें ऋषि–मुनियों की दुर्लभयोनि में पैदा किया है तो इसके पीछे उसका मकसद रहा होगा कि– जाओ साठ–सत्तर साल का मौका देते हैं तुम्हें जाओ धरती को सुखी और सुन्दर बनाओ। धरती सुन्दर तथा सुखी तभी होगी जब तुम्हारे बच्चे सुन्दर, सुखी तथा सम्पन्न होंगे। तुम्हें जो बनना था बन चुके अब बच्चे हैं जिनके आगे सारी जिन्दगी और दुनिया पड़ी है वही तुम्हारे भी भविष्य हैं जियो तो उन्हीं की जिन्दगी, मरो तो उन्हीं की जिन्दगी।''[1]

रघुनाथ ने अपने बाल–बच्चों को इसी कामना के तहत शिक्षित तथा उन्नतिशील जीवन दिया था। लेकिन ऊँचा बनने की चाहत तथा उसके लिए मार्ग बताने वाले के निजी स्वार्थ ने रघुनाथ के बड़े बेटे को एक झटके में ही रघुनाथ से छीन लिया। इस झटके के साथ ही रघुनाथ को बड़ा झटका और लगा तथा अपने निजी स्वार्थों के चक्कर में जिस विद्यालय में वे अध्यापक थे उसके मैनेजर एक प्रभावशाली व्यक्ति के दबाव में उन्हें अपनी अच्छी भली नौकरी से वी.आर.एस. लेने की मजबूरी हो गयी। इस प्रसंग में जहां एक प्रोफेसर की अपनी साधारण रूप रंग वाली पुत्री सोनल का विवाह सुसंस्कृत मेधावी से करने की चाहत थी तो रघुनाथ का पुत्र संजय अपने शिक्षक के उपकारों के बोझ तले दबा था। जिसके कारण संजय को सोनल से विवाह करना पड़ा इसके अतिरिक्त उसे ग्लोबल दुनिया के सबसे अधिक आकर्षण देश अमेरिका की नौकरी की चाहत भी थी। लेकिन इसका खामियाजा रघुनाथ को नौकरी गंवाकर भुगतना पड़ा। कालेज के मैनेजर ने भी अपनी बेटी की शादी संजय से करने की लालसा संजोई थी जो संजय के स्वार्थ की भेंट चढ़ गयी।

उपन्यास के अनुसार– संजय ने सोनल को प्यार किया था। यह प्यार किसी टुच्चे युवक का दिलफेंक प्यार नहीं था, इसमें गुणा भाग भी था जोड़ घटाना भी! जितना गहरा था, उतना ही व्यापक! सोनल संजय के प्रोफेसर सक्सेना की एकलौती पुत्री थी।

संजय सोनल से मिला तो कई बार था लेकिन देखा पहली बार। उसे लगा कि किसी लड़की को टुकड़ों में नहीं टोटैलिटी में देखना चाहिए। कितना फर्क पड़ जाता है? साथ ही लड़की और पत्नी

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, कला संकाय, का.हि.वि.वि., वाराणसी

को एक तरह से नहीं देखना चाहिए। कितना फर्क पड़ जाता है ? रंग, रूप, हाव, भाव, नाज नखरे लड़की में देखे जाते हैं पत्नी में नहीं। ये सब पुराने कन्सेप्शन हुए हमारे पापा–मम्मी के जमाने के हमारे नहीं। इस कथानक में स्पष्ट दिखता है कि शादी–विवाह जैसे पवित्र संस्कार के प्रति संवेदना का क्या ह्रास हुआ है। भावनायें तार–तार होकर स्वार्थ और धनलोलुपता में तिरोहित हो चुकी हैं। लेखक का यह कथानक हमारे संस्कारों के प्रति नयी पीढ़ी की उपेक्षा नहीं दर्शाता बल्कि माता–पिता के आत्मीय सम्बन्धों पर भी प्रहार करता है।

मर्द की देह से स्त्री के देह की निकटता से उपजी उत्तेजना का वर्णन करते हुए लेखक द्वारा साहित्यिक विधाओं का सहारा नहीं लिया गया है, बल्कि उसे साधारण लेखन के जरिये चित्रित किया गया है जो उत्तेजना के ऊफानों को सतही दौर में ले जाता है। फिर भी यह प्रसंग किसी भी स्त्री के पुरूष संसर्ग के बाद की शारीरिक क्रियाओं को परिभाषित करने में सक्षम है। उपन्यास में पिता और बेटी के बीच के सम्बन्धों को निखारने, में लेखक ने कड़ी मेहनत की है।

रघुनाथ द्वारा सरला से शादी की बात पर किये गये सवाल तथा सरला द्वारा दिये गये जवाब का प्रसंग वर्तमान दौर के निजी रिश्तों की विद्रूपता को दर्शाता है। सरला कहती है कि ''आप और माँ दोनों मेरी आखें हैं जिनसे मैंने दुनिया देखना शुरू की। उन्ही से मैंने देखा कि मर्द एक बैल है जिसे एक स्थायी (मुस्तकिल) खूंटा चाहिए अपने विश्राम के लिए वह खूंटा आपके लिए माँ थी।''[3] इसके अलावा माँ और बाप के सामने बाप के साथ शिक्षण करने वाली अध्यापिका और बाप के बीच के मधुर सम्बन्धों को जिस तरह सरला ने उपन्यास में व्यक्त किया वह वर्तमान समय की नयी पीढ़ी की मनोभावना को दर्शाता है।

उपन्यास में सरला द्वारा दलित अधिकारी की प्रशंसा करने तथा शादी के लिए उसके प्रति झुकाव दिखाने के बाद राजपूत पिता की मनोभावना किस तरह प्रभावित होती है उसका सटीक वर्णन उपन्यासकार ने किया है। सरला की बात के जवाब में ''रघुनाथ खटिया पर फिर पसरें इसके पहले ही शीला फफकर रोने लगी। रघुनाथ ने दोनों हाथ डठाये– हे भगवान यह क्या कर रहे हो मेरे साथ। लाला तक तो गनीमत थी लेकिन अब ? मैं क्या करूँ ? किसे मुंह दिखाऊँ ? वे पागल की तरह अनाप शनाब तकझक करने लगे।''[4]

सरला द्वारा दलित पीसीएस के साथ शादी करने तथा उससे शादी के बाद स्वयं को अधिक सुरक्षित स्वच्छंद रहने की बात करने पर रघुनाथ द्वारा सरला से सम्बन्ध तोड़ने का ऐलान करने के प्रसंग ने हताश व्यक्ति की मानसिक दुर्बलता को परिभाषित किया है।

आरक्षण के कारण सामान्यवर्ग की मुश्किलों, विशेषकर युवाओं के क्षोभ और बेबसी को भी उपन्यासकार ने बखूबी चित्रित किया है। बी. टेक की प्रवेश परीक्षा देकर वापस लौटे छोटे बेटे धनंजय के साथ रघुनाथ के संवाद में यह प्रकरण स्पष्ट हुआ है। रघुनाथ द्वारा परीक्षा के बारे में पूछे जाने पर धनंजय कहता है कि ''बहुत अच्छा निकाल लूँगा इस बार पांच साल से यही सुन रहा हूँ हरबार निकाल लेते हो ''एस.सी., एस.टी. कोटा और घटी सीटों पर तो मेरा बस नहीं उसके लिए मैं क्या करूँ।''[5] रघुनाथ द्वारा संजय के दहेज में मिले पैसे को बेमन से धनंजय को डोनेशन के लिए देकर एडमीशन कराने के लिए कहने में भी आरक्षण की विसंगतियों के साथ पिता–पुत्र के बीच टूटती मर्यादाओं का निरूपण किया गया है जो वास्तविकता के काफी नजदीक दिखता है तथा वर्तमान समाज के युवा की तस्वीर भी दिखाता है एवं पिता की विवशताओं को भी उजागर करता है। उपन्यास में ग्रामीण जीवन में वैश्वीकरण तथा विकास के चलते उत्पन्न परिवर्तन का रेखांकन लेखक ने वास्तविकता के साथ उजागर किया है। साथ ही खेत, खलीहान, बाग–बगीचे, ताल–पोखर, कुँओं, नालों, के स्वरूप में परिवर्तन का वर्णन भी प्रभावकारी दिखता है। उपन्यास के कथानक में– ''गांव में चिड़ियों की चहचहाहट, गाय भैसों के रंभाने, और बैलों की घण्टियों की टनटनाहट से बस्तियां गूँजती रहती थीं लेकिन अब पेड़ कट गये थे, बसवार साफ हो गयी थी, और पोखर धान के खंघों में बंट गयी थी। बगीचे के बीच से एक नहर गयी थी जिसके किनारे प्राइमरी स्कूल खुल गया था। उसी के बगल में दवाखाना के लिए जमीन भी घेर ली गयी थी।''[6] गाँव के प्राकृतिक स्वरूप के परिवर्तन में लेखक की लेखनी वास्तविकता के काफी नजदीक दिखती है।

उपन्यास में ऊँची जाति के शिक्षारत युवकों की स्थिति के वर्णन में लेखक ने आरक्षण की विसंगतियों के साथ ही युवकों की कुंठा का निर्मम चित्रण किया है। जो ग्रामीण जीवन के परिवर्तनों का

आईना है। ठकुरान के युवकों की स्थिति का उनके अभिभावकों के सामने वर्णन करते वक्त रघुनाथ की मनोस्थिति तथा ठाकुरों की उपेक्षित निगाहों के प्रभाव का वर्णन में लेखक ने सहज वर्णनात्मक कथ्य का सहारा लिया है। बेरोजगार युवकों को खेतों में ट्रैक्टर चलाने की सलाह देने पर प्रतिक्रिया पर उनका कथ्य, ''उन्हें दुःख यह था कि उन्होनें वहां वही बात की थी जो उन लड़कों के बाप खुद उनसे या आपस में या बेटों से ही झल्लाकर कहते थे– निठल्ले! कामचोर! यह भी किसी से छिपा नहीं था कि 'कोचिंग', 'फार्म, टेस्ट उनमें से कईयों के लिए नगर के दोस्तों से मिलने–जुलने के बहाने थे। इसे रघुनाथ ही नहीं उनके गार्जियन भी समझते थे कि कोटा या आरक्षण एक ऐसा कवच मिल गया है उन्हें, जिसका इस्तेमाल वे अपनी असफलतायें छिपाने के लिए करते हैं लेकिन इन्हीं मुश्किलों का हल उन्होंने जब सुझाया तो बेटे ही नहीं बाप भी बुरा मान गये।''[7]

ठाकुर छब्बू पहलवान तथा चमारिन ढोला के प्रेम प्रसंग के वर्णन में जातीय स्वाभिमान के टूटने तथा चमारों के मन में उपजे असंतोष का वर्णन अत्यंत प्रभावकारी तथा सहज है जो आम तौर पर गांवों में दो दशक पहले तक दिखता था। शरीर से शक्तिशाली छब्बू पहलवान के रोज चमटोले में जाने से उपजी स्थिति से उन्हें रघुनाथ द्वारा आगाह करने पर भी वे ढोला को छोड़ने के लिए तैयार नहीं थे। जो अधेड़ कंवारे की भावनाओं तथा उत्तेजनाओं का स्वरूप निर्धारित करता है। छब्बू चमटोल में जाने से किसी के भी रोकने से रूकने वाले नहीं थे।

छब्बू–ढोला के प्रेम प्रसंग में दोनों ओर से प्रेम की भावना नहीं थी बल्कि एक सामंती ताकत का गरीब, कमजोर, बेबस, दलित स्त्री का शारीरिक शोषण तथा अपनी शारीरिक भूख मिटाने की ललक दिखती है। जो लेखक की तत्कालीन परिस्थितियों तथा सामाजिक ताने–बाने की सहज प्रस्तुति है। रघुनाथ द्वारा छब्बू को चमटोल में जाने से मना करने पर छब्बू का जवाब इसका उदाहरण है– ''बात तो सही कह रहे हैं कक्का, लेकिन एक बात मेरी भी सुन लीजिए अगर ढोला बुलायेगी तो पत्थर पड़े या बज्जर गिरे, मैं न सुनूँगा न देखूंगा चल दूंगा।''[8] इस कथन से जाहिर होता है भले ही दबाव में ही सही शारीरिक सुख की चाहत में ढोला भी छब्बू से प्रेम करने लगी थी।

हलवाहों के हड़ताल के कारण गांव के ठकुरान की मानसिक, एवं भौगोलिक स्थिति का चित्रण करते हुए लेखक ने मानों कलम तोड़ दी है। ''अषाढ़ शुरू हो गया था, अबकी पानी जम के बरसा था। हलवाहों ने हड़ताल की थी ऐसे वक्त पर खेत के जोत बन्नी और केड़ा को लेकर हड़ौरी (हल जोतने की मजदूरी) और खलिहानी को लेकर, बाबा आदम के जमाने से चले आ रहे रेट पर काम करने से इन्कार कर दिया था हलवाहों ने। नतीजा यह हुआ की खेतों में लेव का पानी सूखने लगा था, चरनी पर बंधें मवेशी गोबर मूत में ही उठ बैठ रहे थे और पूरा ठकुरान गन्दगी से बजबजा रहा था! इस बार की हड़ताल को समझने में ठाकुर गच्चा खा गये थे। हलवाहे न थक हार कर आये, न गिड़गिड़ाये, न उनके चूल्हे बुझे। जरूरत भी पड़ी तो अहिरान गये, इधर नहीं आये।''[9]

इस वर्णन में लेखक ने जहां चमारों की रोजी रोटी के सवाल को उकेरा है वहीं हड़ताल से उपजी ठाकुरों की मानसिकता तथा घर द्वार, खेत–खलिहान की स्थिति को भी उजागर किया है। जो ग्रामीण परिवेश के लेखन में उनकी पकड़ और अनुभव को दर्शाता है।

हड़ताल के दौरान ठाकुरवर्ग के युवकों की मनोस्थिति का सटीक वर्णन जैसा लेखक ने किया है वैसा अन्यत्र दिखाई नहीं देता। मजदूरों की हड़ताल के दौरान ''ठाकुर रात भर बब्बन सिंह के दरवाजे पर पंचायत कर रहे थे। और मुंसिफ, जज, मजिस्ट्रेट, कलेक्टर, एस. पी, इंजीनियर, डॉक्टर, हो सकने वाले उनके बेटे उन्हीं के पम्पिंग सेट पर बैठक। वे रोज शाम को सात आठ बजे वहीं जुटते, कभी गांजे का दम लगाते, कभी दारू की बोंतलें खोलते तथा चमटोल को ठीक करने की योजना बनाते। कैसे ठीक किया जाय, कब ठीक किया जाय, ठीक करने का तरीका क्या हो ये सारी समस्यायें जिनके बारे में वे गम्भीरता से विचार करना आरम्भ करते और तीसरी गिलास तक पहुँचते ही कोरस गाने लगते।''[10]

हड़ताल के दौरान चमटोल वालों से थोड़ा बेहतर तथा ठकुरान से काफी नीचे जीवन यापन करने वाले अहीर जाति के लोगों में वही आर्थिक चेतना के निरूपण में लेखक ने कमाल की लेखन शैली का प्रयोग किया है जो यथार्थ के काफी नजदीक है। अहीर जाति के दशरथ के पुत्र जसवंत द्वारा हड़ताल

का फायदा उठाकर ट्रैक्टर लाने के वर्णन में उनकी इस पकड़ का एहसास कराता है। ''जसवंन्त जब तक गांव पर था लुच्चा, लफंगा, लतखोर माना जाता था। भागा था तो बाप से मारपीट करके। शुरू–शुरू में मध्य प्रदेश से पुलिस भी आई थी, एक दो बार उसे ढूँढ़ते हुए लेकिन बाद में सुधर गया धीरे–धीरे। जब भी गांव आता था तो भैया, बाबू, कक्का के नीचे किसी को नहीं बोलता था। कहा करता था कि परदेश में सब कुछ है, इज्जत नहीं है। चाहे जितना कमा लो, रहोगे तो दो नम्बर के ही आदमीं दो नम्बर यानी दो कौड़ी। अब वह सारा कुछ छोड़ कर गांव जवार की सेवा करना चाहता था। संयोग ही ऐसा था कि पिछले एक दो बार से जब–जब आया गांव हड़ताल की चपेट में था। वह न इधर था न उधर ! उसका उठना–बैठना दोनों ओर था।''[11]

ठाकुरों तथा चमारों के बीच सुलह कराने की नाकाम कोशिश के बाद उसने ट्रैक्टर लाकर दोनों वर्गों को जवाब दिया। ट्रैक्टर आने के बाद खरीफ की फसल नष्ट हो जाने कुण्ठाग्रस्त ठाकुरों को रवी की बुआई के लिए ट्रैक्टर बड़े मौके का लगा। ट्रैक्टर आने से उपजी सहूलियत तथा जरूरत पूरा होने के आसार नजर आने से बुकिंग के प्रसंग के लेखन में लेखक ने अत्यंत सहज मानवीय भावनाओं के साथ उनकी प्रवृत्ति को भी उभारने में सफलता प्राप्त की है। ''दशरथ जिन्हें कभी कोई पूछता नहीं था उनकी बल्ले–बल्ले थी। उनको पूछने वाले वे भी थे जो नये घर दुवार बनवा रहे थे। माटी और खपरैल के मकान गिरा कर। जब बिजली घर आई तो स्टैंडर्ड के हिसाब से घर चाहिए दिया बाती लालटेन वाला नहीं। ऐसे लोगों में सिर्फ पहाड़पुर के ही नहीं पास पड़ोस के भी थे। किसी को ईंटें चाहिए थी, किसी को सीमेन्ट, किसी को बालू, किसी को मिट्टी, किसी को लोहा लक्कड़। गन्ने भी तैयार हो रहे थे सुगर मिल के लिए। जब ट्राली थी तो सौ काम थे।''[12]

छब्बू पहलवान और ढोला के प्रेम प्रसंग में हलवाहों की हड़ताल के बाद से काफी फर्क आ गया था। इस बात को छब्बू पहलवान भाप नहीं सके या प्रेम की उत्कृष्ट इच्छा उन पर हावी थी। जिसके कारण ढोला द्वारा उनकी इज्जत का हवाला देने के बावजूद वे नहीं माने। जिसकी परिणति अनहोनी थी।

नाग पंचमी के त्योहार की टूटती मान्यताओं और परंपराओं के वर्णन में भी लेखक की सांस्कृतिक पकड़ दिखाई देती है। शारीरिक सौष्ठव की जगह हथियार को अपनाने की प्रवृत्ति के पक्ष के तर्क ने त्योहार को विलोपन की ओर कर दिया था। नागपंचमी की परंपरा छब्बू पहलवान का पर्व था। उस दिन तीन बाल्टियों में भिगोये हुए चने लाये जाते थे, परात भर के मिठाईयां आती, बताशे आते बजरंग बली की पूजा की जाती, छब्बू पहलवान लंगोट पहनकर अखाड़े की मेंड़ पर बैठते और अपने चेलों की कलाइयों में रक्षा बांधते वे उस्ताद के आशीर्वाद से अखाड़े में उतरते। इस अवसर पर चमटोल से डफले तथा नगाड़े वाले भी आते और झूम कर बजाते। अहिरान के बनेठी वाले भी होते एवं दूसरे से खेलते हुए पसीने पसीने हो जाते। लेकिन समय बदलने के साथ ही पचैयां के त्योहार में आये बदलाव को भी लेखक ने रेखांकित किया है– ''दूसरे गांवों में पचैंया मात्र धार्मिक त्यौहार रह गयी है लेकिन पहाड़पुर में अभी भी चल रही थी रस्म के रूप में ही सही। लेकिन यह सब जानते थे कि यह तभी तक है जब तक छब्बू है। ऐसे भी ठाकुरों की नयी पीढ़ी के लिए देह बनाना वजिर्श और रियाज करना, कुश्ती लड़ना फालतू चीज थी। एक दम मूर्खता। तमंचा के आगे मजबूत से मजबूत कद काठी का भी क्या मतलब।''[14]

चमारों द्वारा चमटोल में छब्बू पहलवान की हत्या के वर्णन में भी वर्तमान दौर के सामाजिक परिवर्तन के नये आयाम दिखते हैं। दलित ढोला तथा ठाकुर छब्बू पहलवान के प्रेम–प्रसंग में चमटोल के आहत स्वाभिमान के कारण अन्ततः छब्बू की हत्या हुई। उनके जननांग को काटकर चमटोल वालों ने वर्षों से ठाकुरों की ज्यादती का एक मुश्त बदला लिया। इस प्रकरण में लेखक की ग्रामीण भावनाओं तथा उनके समय के साथ आ रहे परिवर्तन पर पूरी पकड़ दिखाई देती है।

इस कथा से लेखक ने उत्तर प्रदेश की राजनीति का एक खाका खींचने के साथ ही ग्रामीण समाज में नेतागिरी को धंधा के रूप में प्रतिष्ठित करने में भी सफलता प्राप्त की है। अपनी पुश्तैनी जमीन पर पट्टीदारों के कब्जा कर लेने की सूचना छोटे बेटे को देने पर उसके जबाब को रेखांकित करते हुए परदेशी बेटे की जमीन के प्रति उपेक्षा की भावना का भी लेखक ने उजागर किया है जो वर्तमान समाज को बड़ी विसंगति है–''क्यों मरे जा रहे हैं जमीन को लेकर ! छोड़िए उसे और सुनिये भाभी बनारस आ

गई है अशोक नगर में, ज्वांइन कर लिया है, यूनिवर्सिटी में। आप माँ को लेकर चले जाइये और वहीं रहिए और सुनिये।''[21]

गांव की पुश्तैनी जमीन की अहमियत को स्थापित करते हुए लेखक ने वैश्वीकरण के कारण बढ़ती आबादी को अन्न न मिलने की हिदायत को भी अपनी रचना से उकेरा है– ''यह जमीन आज भी जहां की तहां है। रत्ती भर भी टस से मस नहीं हुई अपनी जगह से इसने तुम्हारे आज को खिलाया, दादा परदादा को खिलाया, बाप को खिलाया, तुम्हें खिलाया, यही नहीं तुम्हारे बेटों और नाती पोतो को भी खिलायेगी तुम करोड़ों कमाओगे लेकिन रूपया और डालर नहीं खाओगे। भगवान न करे वह दिन आये जब बैंक चावल दाल के दाने बांटे।''[22]

इस कथानक में रघुनाथ की बेटों के प्रति असीम उलाहने का भाव तथा अपनी विवषता के दर्शन होते हैं जो लेखक की रचना धर्मिता का उदाहरण है। वर्तमान दौर में शरीफ इंसान का अर्थ परिभाषित करते हुए लेखक ने समाज में शरीफ आदमी की बेवसी का भी जिक्र किया है। ''शरीफ इंसान का मतलब है निरर्थक आदमी, भले आदमी का मतलब है कायर आदमी। जब कोई आपको 'विद्वान' कहे तो उसका अर्थ 'मूर्ख' समझिये, और जब कोई सम्मानित कहे तो दयनीय समझिये।''[23] दो लड़कों तथा एक लड़की का पिता होने के बाद भी रघुनाथ को लगता था कि उसकी औरत बांझ है जो एक पिता की बेबसी और पीड़ा को दर्शाता है। ''मेरी औरत बांझ है और मै निःसंतान पिता हूँ। माँ और पिता होने का सुख हमने नहीं जाना, हमने न बेटे की शादी देखी, न बेटी की, न बहू को देखा न होने वाले दामाद को। एक दूसरा बेटा एक विधवा के साथ जिन्दगी गुजार रहा है।''[24]

बड़ा आदमी बनने की शार्टकट तकनीक का भी वर्णन लेखक ने उपन्यास में किया है। रघुनाथ की दूसरा बेटा राजू शार्टकट से बड़ा आदमी बनना चाहता है। ''वह शार्टकट से बड़ा आदमी बनना चाहता है। उसके लिए बड़ा आदमी का मतलब है धनवान आदमी और वह भी बिना खून पसीना बहाये, बिना मेहनत के। वह महात्वाकांक्षी लड़का है लेकिन लालच को ही महात्वाकांक्षा समझता है।''[25]

इस कथानक में वर्तमान दौर के असफल युवा की भावनाओं को भी लेखक ने उजागर किया है। बहू के बुलावे पर शहर जाने की सोचते समय रघुनाथ की मानसिकता का वर्णन में गांव, घर, खेत, खलिहान के प्रति आकर्षण तथा शहर की चकाचौंध वाली जिन्दगी के द्वन्द्व को लेखक ने उजागर किया है। गांव से आजिज होने के बाद भी रघुनाथ गांव छोड़ने के लिए तैयार नहीं थे लेकिन शहर का आकर्षण भी उन्हें खींच रहा था। अपनी जमीन को लेकर, मकान को लेकर, जमीन से पैदा होने वाले खद्यान्न को लेकर उनकी चिन्तायें मोह का रूप ले रही थी। इसका वर्णन करने में लेखक ने अपनी मनोवैज्ञानिक पकड़ का भी एहसास दिलाया है।

अपनी कब्जे की जमीन को बेचने का 'लालीपाप' बब्बन को देने पर गांव में हुई प्रतिक्रियाओं को उजागर करने में भी लेखक ने ग्रामीण मनोदशा का सटीक वर्णन किया है। जग्गन और सनेही के बीच उठे विवाद को रेखांकित करते हुए लेखक ने वर्तमान सामाजिक आर्थिक बदलाव का हवाला दिया है– ''आज मानसिक रुप से विकलांग ही ऐसी बातें करते हैं। किस बात के बड़े हैं हम तुम। पुरखों की जमीन और जाति के भरोसे छब्बू की हत्या के बाद भी यह गम पाले हो तो पाले रहो। पिछले दिनों तुमने ही अपने खेत बेचे। ठाकुरों में से ही किसी ने क्यों नहीं खरीदा? चाहते तो यही थे तुम लेकिन तुम्हें नकद चाहिए था बेटी की शादी के लिए क्यों नहीं खरीदा? खरीदा तो आखिर जसवंत ही ने। आज भी हमारी तुम्हारी खेती उसी के भरोसे होती है, ट्रैक्टर उसके पास है रूपये उसी के पास है। विधायक सांसद उसके हैं सरकार भी उसकी है।''[26]

परिवार या रिश्तेदारों के टूटते सम्बन्धों के जिक्र में भी लेखक ने अपनी स्पष्ट और सारगर्भित रचना शीलता के दर्शन कराये हैं। जग्गन को समझाते हुए रघुनाथ कहते हैं– ''देखो जग्गन 'परायो में अपने मिल जाते है लेकिन अपनों में अपने नहीं मिलते। ऐसा नहीं है कि अपने नहीं थे लेकिन तब जब समाज था, परिवार थे, रिश्तेनाते थे, जब भावना थी। भावना यह थी कि यह भाई, यह भतीजा है, भतीजी है, यह कक्का है यह काकी है, यह बुआ है, भाभी है। भावना में कमी होती थी तो उसे पूरा कर देती थी लोक लाज कि यह ऐसा नहीं करेंगे तो लोग क्या कहेंगे। धुरी भावना थी गणित नहीं लेन देन नहीं।''[27]

बहू सोनल के घर बनारस पहुंचने पर अशोक बिहारकालोनी के भूगोल के बहाने लेखक ने बनारस के आस–पास बसी बस्तियों के इतिहास और उसमें दिये अर्थशास्त्र का बड़ा ही सजीव चित्रण किया है–''बनारस में मुहल्ले थे, नगर, विहार और कालोनियां नहीं। इनका निर्माण 1980–90 के आसपास आरंभ हुआ। जब पूर्वांचल और बिहार में भू–माफिआओं और बाहुबलियों का उदय हुआ। उन्होंने नगर के दक्खिन, पच्छिम और उत्तर में बसे गांव के गांव खरीदे और उनकी प्लाटिंग करके बेचना आरंभ किया। देखते देखते पंद्रह बीस वर्षों के अन्दर गांव के वजूद खत्म हो गये और उनकी जगह नये–नये नामों के साथ नगर, कॉलोनियां और बिहार बस गये।''[28]

अशोक बिहार कालोनी में सोनल के घर पर निवास के दौरान संजय विहार कालोनी निवासी एल.एन. बापट, मन्ना सरदार, छक्कन गुरू जैसे पात्रों के चरित्र को जहां लेखक ने अपनी कलम से चित्रित कर उनकी खूबियों तथा उनके अन्दर की बुराईयों के साथ तत्कालीन परिवेश का भी वर्णन किया है जो लेखक की सामाजिक पकड़ का एहसास कराते हैं। एल एन बापट के चरित्र के बारे में लिखते हुए ''बापट बनारस के महाराष्ट्रियन थे। यहीं पढ़े लिखे यहीं से नौकरी शुरू की और जौनपुर से डिप्टी जेलर होकर रिटायर हुए थे। काफी मस्त आदमी थे पुराने फिल्मी गावों के शौकीन। उनके दो ही शौक थे पीना और गाना। गाते तभी थे जब पीना शुरू करते थे। उनके कोई सन्तान नहीं थी न बेटा न बेटी, बीबी थी जिसे बुढ़िया बोलते थे।''[31]

वही मन्ना सरकार के चरित्र को उकेरते हुए– ''पचहत्तर अस्सी साल के मन्ना सरदार अपने जमाने के पहलवान काले मोटे, गठे हुए। पेट थोड़ा निकला हुआ, आज भी लाल लंगोट और छींट वाले गमछे में ही नंगे बदन रहते थे और नियम से पच्छिम मुंह करके चार–चार डंड और पचास बैठक पेलते हैं। उन्हें बस एक ही शौक है एक ही रोग। शौक अपने हाथों से भांग घोटना, गोला जमाना, उपर से एक पुरवा मलाई रबड़ी खाना और रोग गठिया।''[32]

छक्कन गुरू के चरित्र के वर्णन के दौरान–''पीताम्बर और खड़ाऊँ ही उनका ध्वज था। क्या लम्बाई थी क्या छरहरा बदन। कबूतर पाला था उन्होंने। बस एक कबूतर वह भी सुनहरे रंग का। उसे अपने हाथों से किसमिश, बादाम, छुहारा खिलाते थे।''[33] उनके कारखानों तथा दालमंडी में उनकी धाक के वर्णन में लेखक ने अतिशयोक्ति अलंकार का सहारा लेने में भी कोई कोर कसर नहीं छोड़ी है।

शीला के जाने तथा सोनल के घर पर रहने के दौरान रघुनाथ ने अपनी जीवनचर्या बदल दी उन्होंने सब कुछ सोनल पर ही छोड़ दिया। श्वसुर की जगह पिता की तरह रहने लगे। ''बेटे बहू के साथ जीने का यही सलीका होना चाहिए कि न आप उसके मामले मे दखल दें, न वे आपके मामले में। सह जीवन के लिए समझदारी जरूरी है। इसी समझदारी ने ससुर और बहू को एक दूसरे का दोस्त बना दिया था। हो सकता है इसके पीछे कहीं न कहीं उनका अपना अकेलापन भी हो और ऊब भी''[34] सोनल के घर रहने के दौरान रघुनाथ ने छोटे बेटे के बनारस आने की खबर सुनकर अपने गांव पहाड़पुर चले गये। विधवा नौकरी पेशा औरत के साथ बिना विवाह किये ही रह रहे धनंजय को सोनल ने रिश्ता जोड़ने के लिए बनारस बुलाया था। लेकिन वह बनारस आया जरूर लेकिन ठहरा डायमंड होटल में। दक्षिण भारतीय विधवा के साथ रहकर वह घर को पूरी तरह भूल चुका था। बनारस आने के बावजूद अपने गांव जाकर पिता से नहीं मिला जिसकी टीस का वर्णन लेखक ने पूरी संजीदगी से किया है– ''जिन्दगी के स्रोत की व्याख्या करते हुए लेखक ने कहा है ''भ्रम और भरोसा ये ही है जिन्दगी के स्रोत। इन्हीं स्रोतों से फूटती है जिन्दगी फिर वह निकलती है कल–कल, छल–छल।''[35] जीवन की इस प्रकार की व्याख्या कहीं अन्यत्र नहीं मिलती। पति संजय के अमेरिका में दूसरी शादी कर लेने की खबर पर सोनल की प्रतिक्रिया को उन्होंने एक हताश और हारी हुई स्त्री के रूप में नहीं बल्कि वर्तमान दौर की नौकरी पेशा स्वावलम्बी औरत का वर्णन किया है जो उनकी लेखन क्षमता का विशिष्ट उदाहरण है।

रघुनाथ की पत्नी शीला अब बेटी सरला के घर रहती थी। बड़ा बेटा संजय अमेरिका गया तो लौटा नहीं, छोटे बेटे धनंजय ने नौकरी पेशा विधवा के घर रहने लगा। बहू अमेरिका से आई तो उसके पति ने दूसरी शादी कर ली। अब वे और बहू ही एक साथ रहते थे। उन्हें बस अपनी पुश्तैनी जमीन और घर की चिन्ता थी। बेटों से बात करने के बाद वे जमीन को भी भूल गये थे। उधर सोनल ने भी समीर

में पति का सुख ढूंढना आरम्भ कर दिया था। जिससे वे एकदम से एकाकी हो गये थे। ऐसे में जब उनकी पुश्तैनी जमीन और जायदाद के लिए अपहरण करने वाले दो युवा आये तो उन्होंने स्वतः ही जाना मंजूर कर लिया।

इस उपन्यास के उपसंहार के दौरान लेखक ने बात अधूरी छोड़ दी है जिसके पीछे उनके (रघुनाथ) अपहरण की खबर आने पर उनके परिजनों पर क्या प्रतिक्रिया होती है इसे निरूपित नहीं किया जिससे उपन्यास में अधूरापन झलकता है। इस उपन्यास को लेखक ने ऐसे लिखा है जैसे वह खुद की आप बीती हो। भाषा पर अद्‌भुत पकड़ तथा ग्राम्य जीवन की सभी अच्छाईयों बुराईयों का सजीव चित्रण उनकी ग्रामीण समाज पर पकड़ को दर्शाता है। उपन्यास में लेखक ने भूमंडलीकरण के कारण उपजी संवेदनहीनता, सम्बन्धों के क्षरण, सामूहिकता के नाम से ग्रामीण और शहरी जीवन पर पड़ने वाले दुष्प्रभावों का सजीव चित्रण लेखक ने किया है।

उपन्यास में ग्रामीण विकास के साथ–साथ ग्रामीण जीवन शैली में बदलाव, खान, पान, रहन, सहन, वेशभूषा में आये बदलावों सामाजिक परिवर्तन की आंधी में तिनका बनकर उड़ते सवर्ण समाज तथा शैक्षिक आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक रूप से मजबूत होते पिछड़ों और दलितों के उभार का सांगोपांग वर्णन लेखक ने किया है। इसके साथ ही समकालीन मनुष्य के टूटते सामाजिक, पारिवारिक रिश्ते, एकाकीपन, संस्कारों के क्षरण को भी लेखक ने अपनी लेखनी से परिभाषित किया है। मनुष्यता में निहित आत्मीयता, कोमलता के विखंडित होने से जीवन के अर्जित यथार्थों की क्रूर, हिंस्र तथा महात्वाकांक्षी परिणीति से मनुष्य का बढ़ता एकाकीपन लेखक की भाषा पर पकड़ को दिखता है। स्त्री पात्रों के वर्णन में चरित्र की प्रधानता प्राचीन मानकों के ध्वस्तीकरण तथा नयी स्त्री के चरित्र का उभार उनके लेखन की क्षमता को दर्शाता है। सवर्ण समाज के युवकों की दिशाहीनता के पीछे दिये आरक्षण की विसंगति को भी उन्होंने अपनी कलम से उकेरा है। ग्राम्य जीवन की सहजता, निष्कपटता, संवेदनशीलता भोलापन, कृत्रिमता के अभाव पर हावी बाजारवादी संस्कृति के कारण आये बदलावों को लेखक ने अपनी कलम की धार से अभिसिंचित किया है तो शहरी जीवन के नये समीकरणों, रिटायर्ड नौकरी पेशा लोगों की जीवन जीने की लालसा में स्वयं का असहनीय उत्पीड़न भी समाहित है तो नाते रिश्तों की धार के कुन्द होने का सजीव वर्णन लेखक की विशिष्टता को दर्शाता है। कुल मिलाकर देशज सच्चाईयों, कल्पना के रंग, काव्यात्मकता का समावेश एवं दार्शनिकता का गठजोड़ ही इस उपन्यास की थाती है।

I UnHk%

1. रेहन पर रग्घू, काशीनाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, पृ0 18
2. वही, पृ0 51
3. वही, पृ0 52
4. वही, पृ0 57
5. वही, पृ0 61
6. वही, पृ0 63
7. वही, पृ0 64
8. वही, पृ0 64
9. वही, पृ0 64
10. वही, पृ0 65
11. वही, पृ0 66
12. वही, पृ0 73
13. वही, पृ0 79
14. वही, पृ0 84
15. वही, पृ0 85
16. वही, पृ0 86
17. वही, पृ0 89
18. वही, पृ0 89
19. वही, पृ0 98
20. वही, पृ0 98
21. वही, पृ0 103
22. वही, पृ0 126
23. वही, पृ0 126
24. वही, पृ0 127
25. वही, पृ0 128
26. वही, पृ0 136

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

vydk ljkoxh dk dFkk lkfgR;

ihfr flag*

अपनी पहली ही कृति 'कलि–कथा वाया बाइपास' के लिए विशेष रूप से चर्चित तथा साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित युवा महिला कथाकार अलका सरावगी हिन्दी कथा–साहित्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान बना चुकी हैं। अलका सरावगी का साहित्य प्रस्तुति की नवीनता से मुग्ध करता है। वे अपने जीवनानुभवों को रचनात्मकता के साथ लेखन में समाविष्ट करती गयी है। चौकाऊँ, किस्म के विषयों से परे हटकर जीवन के सामान्य प्रसंगों से लेखन को समृद्ध करती है।

लेखिका ने कलकत्ता शहर को अपनी रचना का केन्द्र बिन्दु बनाया। मारवाड़ी समाज की समस्याओं को अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किया। अलका जी आधुनिक मूल्य और मान्यताओं की अपेक्षा परम्परावादी मूल्यों मान्यताओं को वरीयता देती है।

अलका सरावगी अपने पहले उपन्यास 'कलि कथा वाया बाइपास' के लिए विशेष रूप से चर्चित हुई है। यह उपन्यास इतिहास को नये रचनात्मक शिल्प में रचता है। कलकत्ता के मारवाड़ी समाज की छह पीढ़ियों के इतिहास की कथा उपन्यास में है। 1757 प्लासी का युद्ध बंगाली नवजागरण साम्प्रदायिकता बाजारवाद की समस्या को एक सूत्र में पिरोकर लेखिका का कथ्य और शिल्प का नया प्रयोग उपन्यास में सफल रहा है।

कलिकथा को पढ़ना व्यापक जीवनानुभवों से भी परिचित होना है। यह उपन्यास किसी विशेष काल से ही नहीं जुड़ता इसकी समय सीमा 'प्लासी के युद्ध (1757 ई0) से बीसवीं शदी के अन्तिम वर्ष (2000 ई0) तक पहुँचती है। कोई एक विचार या समस्या इस उपन्यास के केन्द्र में नहीं है।

जैसा कि प्रयाग शुक्ल का मानना है ''उपन्यास की एक खूबी तो यह है इसे कई कोणों से पढ़ा जा सकता है। उपन्यास के पठन के क्रम में निर्धनता, साम्प्रदायिकता, अकाल मूल्यों का क्षरण, मारवाड़ी समाज की कुरीतियाँ, जटिलताएँ, महिलाओं की दुर्दशा तथा समकालीन उपभोक्तावाद की चुनौतियाँ आती–जाती है।''[1]

इस उपन्यास के मुख्य पात्र 'किशोर बाबू' है। जिन्होंने अपने एक जीवन में तीन जिन्दगियों को जिया है। प्रथम जीवन की अवधि प्लासी के युद्ध (1757) से आजादी की प्राप्ति 1997 ई0 तक है। दूसरा जीवन आजादी की प्राप्ति के बाद से बाईपास तक है। यह समय भारतीय इतिहास में लोकतन्त्र की स्थापना, नेहरू के शासन मूल्यों के क्षरण तथा बाजारवाद उपभोक्तावाद के प्रभाव का समय है। तीसरा जीवन बाईपास सर्जरी के बाद चोट लगने के कारण उत्पन्न आत्मविस्मृति और सनकीपन से प्रारम्भ होती है। जैसा कि रामचन्द्र तिवारी ने लिखा है कि ''बाईपास सर्जरी के बाद उनकी सनकीपन की तीसरी जिन्दगी पुराने और नये जमाने को एक साथ देखने और उनके अन्तर्विरोधों को महसूस करने की जिन्दगी है।''[2]

'कलि–कथा : वाया बाईपास' में बंग्लाभाषियों तथा मारवाड़ियों की 'साझी संस्कृति' दिखती है। यह उपन्यास उत्तर आधुनिक समाज की तीव्र आलोचना है। उत्तर आधुनिक समाज इतिहास का अन्त तात्कालिकता की प्रधानता,मूल्यों का अन्त का नारा लगाता है। अलका जी उत्तर आधुनिक समाज का प्रतिवाद करते हुए इतिहास की अनिर्वायता, सहज मूल्यों की उपयोगिता पर जोर देती है। इस अर्थ में यह उपन्यास उत्तर आधुनिक परिदृश्य से अपनी ढंग की पहली ईमानदार मुठभेड़ बन जाता है।

*शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

अलका जी अपने औपन्यासिक चरित्रों को अतीत के स्पर्श से विशेष गढ़न दिया है। चाहे वह कलिकथा के किशोर बाबू हों, शेष कादम्बरी की रूबी दी या कोई बात नहीं' का जयकिशन उर्फ जे0के0 अतीत ही किशोर बाबू को वह निरपेक्ष और यथार्थवादी दृष्टि देता है जिससे उनकी बहुत सी भ्रान्तियाँ और ग्रन्थियाँ मिट जाती है।

चेतना प्रवाह, पूर्वदीप्ति, आत्मकथा, डायरी आदि शैलियों का अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से प्रयोग किया है। उपन्यास का शीर्षक 'कलिकथा–वाया बाईपास' प्रतीकात्मक है। कलिकथा अर्थात् कलकत्ता की कथा कलयुग (उत्तर आधुनिक की कथा तथा इसमें बाईपास शब्द मूल्यहीनता और सुगम मार्ग वाली वैकल्पिक व्यवस्था'। अलका जी ने कलिकथा वाया बाईपास उपन्यास में जीवन की अनेक समस्याओं को सामने रखा है। लेखिका का दूसरा उपन्यास 'शेष कादम्बरी' में स्त्री मुक्ति के प्रश्न को इतिहास, समाज, संस्कृति के वृहद् फलक पर अभिव्यक्त किया गया है। उपनिवेशकालीन भारत, स्वतन्त्रभारत समकालीन बाजारवाद पूँजीवाद के दायरे में स्त्री प्रश्नों को अभिव्यक्ति दी गयी है। 'शेष कादम्बरी' में लेखिका 'स्त्री पक्ष' जीवन की समस्या से ग्रस्त है। ''ऐ औरत! तूने जब भी किसी कोने में पुरुष से अलग अपना कुछ भी बनाया है तुझे इसकी कीमत चुकानी पड़ी है। आखिर अपने पैसे को जो न कभी तुम्हारा था और न तुम्हारे हाथ में था, कितनी कीमत चुकाओगी।''

'शेष कादम्बरी' भी अपनी नई शैल्पिक युक्तियों में कलकत्ता को केन्द्र में रखकर पूरे देश की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक स्थितियों का विवेचन प्रस्तुत करता है। रूबी दी और कोलकाता कथा के खोल भर रह जाते हैं, कथा के माध्यम से युग की महत्वपूर्ण चिंताओं से साक्षात्कार किया गया है। मूल्य–संक्रमण, भूमण्डलीकरण की विविधमुखी समस्याएँ, उपभोक्तावाद एवं बाजारवाद का चरित्रपैसे के लिए अंधी–दौड़ जिस प्रकार यहाँ चित्रित हुई है, उस कादम्बरी की बाड़मेर से इस रिपोर्ट में देखा जा सकता है– ''इस देश का ओबिचुअरी लिख रही हूँ। तीन साल से लगातार सूखा पड़ रहा है और तीन साल से सरकार हाथ पर हाथ धरे बैठी है। कोक पेप्सी और बिसलेरी की कंपनियाँ हजारों गैलन माल ट्रकों में यहाँ भेज सकते हैं। सरकार पानी नहीं भेज सकती पर कोक, पेप्सी का स्वाद गाय–बैल को तो है नहीं और न इनके मालिकों के पास इन्हें खरीदकर पीने के लिए पैसा है।''[3]

उपन्यास 'शेष कादम्बरी', 'स्त्री विमर्श' के एक नये आयाम (वृद्धावस्था) को व्याख्यायित करता है। जिन स्त्रियों को पेट में ही मारने का कुचक्र रचा जाता हो, शैशवास्था से ही जिनको यौन उत्पीड़न का शिकार होना पड़ता हो, वे स्त्रियाँ जीवन के अन्तिम पड़ाव में भी अपने होने की सार्थकता सिद्ध करें। जिंदगी अपने लिए अत्यन्त जरूरी लगे जो जाहिर है, स्त्रियों में आत्मविश्वास आया है। इसी आत्मविश्वास से परिपूर्ण है रूबी दी का व्यक्तित्व।

अलका सरावगी के इस उपन्यास में 'अस्तित्ववाद' की गूँज–अनुगूँज अन्त तक बनी हुई है। 'कोई बात नहीं' में अलका सरावगी ने आज के अर्थकेन्द्रित क्षयशील मूल्यों का प्रत्याख्यान करके पुनः मानवीय मूल्यों की सार्थकता पर बल दिया है। शशांक को केन्द्र में रखकर उन्होंने प्रमाणित किया है कि आज भी सरल, निश्छल, प्रेम सहयोग और सौहार्द्र जैसे मूल्य प्रासंगिक और सार्थक है।

लेखिका की दृष्टि समकालीन समाज में उत्पन्न अनेक समस्याओं की ओर गयी है और इन समस्याओं को अपने उपन्यासों, कहानियों में उकेरा है।

'एक ब्रेक के बाद' उपन्यास में अलका कथा के केन्द्र में मुख्यतः कारपोरेट जगत, व्यवसाय जगत् को रखकर भूमण्डलीय व्यापार, आर्थिकता के श्वेत श्याम पक्षों कम्प्यूटर क्रान्ति के नफे नुकसान, इंडिया की इकोनॉमी कल्चर पॉलिटिकल हिस्ट्री मल्टीनेशनल कंपनियों के दिग्गज प्रबंधन अधिकारियों विकास की द्रुतगति, समकालीन कला बाजार (आर्ट मार्केट) पर्यावरण प्रश्न मॉल्स और डिपार्टमेंटल स्टोर्स के एक दिन में पाँच करोड़ रूपये के 'टर्न ओवर' इंडियन स्काई शॉप, आदि के वैश्वीकृत दृष्टिकोण नई पीढ़ी और उसकी यौनिक स्वतन्त्रता आदि प्रश्नों समस्याओं पर पूरे अधिकार से विश्वस्त विमर्श रचती है।

अलका सरावगी निरन्तर लेखन कार्य कर रही है। अभी 2015 में इनका एक नया उपन्यास जानकीदास तेजपाल मैनशन आया। यह उपन्यास भी कलकत्ता की पृष्ठभूमि पर लिखा गया है।

जानकीदास तेजपाल मैनशन, उपन्यास भी कलि कथा वाया बाइपास की तरह कलकत्ता के मारवाड़ी परिवार की तीन पीढ़ियों की कथा है। एडवोकेट बाबू जयदीप और रोहित क्रमशः अपनी–अपनी पीढ़ियों के प्रतिनिधि पात्र है।

वर्तमान और अतीत का जटिल गुम्फन पात्रों और घटनाओं का व्यतिक्रमित आवागमन तथा इतिहास और कल्पना के घालमेल का शिल्प इस उपन्यास के कक्षा वितान में प्रवेश को जरूर कठिन बनाता है, लेकिन इसमें छनकर जो सच हमारे सामने उभरता है, वह अन्यथा शायदा ही संभव होगा। बाजार की विसंगतियों विदूपों और विडम्बनाओं की कराह से भरे तमाम इकहरें और एकरस उपन्यासों के बरअक्स वस्तु और शिल्प दोनों लिहाज से यह उपन्यास एकदम नया है।

जानकीदास तेजपाल मैनशन, कलकत्ता की एक इमारत का नाम है, जिसमें अस्सी परिवार रहते है। कलकत्ता में मेट्रों की खुदाई के समय यह इमारत गिराई जाती है इस इमारत के बहाने इस देश की ओर सकेत किया गया है जिसका ढ़हना तय है। राजनीति प्रशासन, पुलिस और पूँजी के बीच बिचौलियों का तंत्र सबसे कमजोर का सबसे पहले बेदखल करने में लगा हुआ है।

उपन्यास विधा अपने विस्तृत फलक पर वैश्वीकरण की समस्याओं को और भी विस्तार और गहराई में जाकर विश्लेषित करने की स्थिति में है। ''हिन्दी उपन्यास ने बहुत सूक्ष्म संवेदन गहराई और विस्तार में जाकर देश, समाज और व्यक्ति पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन कथात्मक धरातल पर कियाा है। भूमण्डलीयकृत प्रभावों का कोई ऐसा पक्ष नहीं है जो हिन्दी उपन्यास में चित्रित न हुआ है और उस चित्रण का आशावादी उज्ज्वल पक्ष यह है कि वहाँ यथा–स्थिति का विरोध करने वाले पात्रों और स्थितियों का सृजन कर उपन्यासकार ने अपनी सार्थक भूमिका सिद्ध की है।''[4]

कथा–साहित्य कहानी और उपन्यास दोनों ही जीवन यथार्थ का अधिक निकटता से और विस्तार में जाकर विश्लेषण करने की क्षमता से युक्त विधाएँ है। फलतः भूमण्डलीकरण के प्रभावों का प्रत्यक्ष के प्रभावों का प्रत्यक्षतः विश्लेषण यहाँ अधिक सशक्त रूप में हो सका है। कहानी अपने परिवेश की घटनाओं को अधिक त्वरा और तात्कालिक रूप में ग्रहण करती है, फलतः वैश्वीकरण की प्रक्रिया में अपसंस्कृति का जो प्रसार हो रहा है, उसे कहानी ने बहुत गहराई और विस्तार से विश्लेषित किया है भूमण्डलीकरण के द्वारा लाई गई आर्थिक असमानता अमीर–गरीब के बीच की बढ़ती खाई किसानों की आत्म–हत्याओं का ना रूकने वाला सिलसिला, उपभोक्तावाद और बाजारवाद का खुला खेल पैसे की अनथक दौड़ और आकाशचुम्बी स्वप्नों को संसार सौन्दर्य प्रतियागिताएँ विज्ञापन का तिलस्मी लोक और उस सबके बीच छीजती मानवता, श्रेष्ठ माननीय मूल्य आदि कहानी में चिंता के रूप विद्यमान है।

लेखिका के कहानी संग्रह कहानी की तलाश में दूसरी कहानी में इन समस्याओं को देखा जा सकता है।

'आक एगारसी' में एक फैटेसी बुनकर कन्या भ्रूण हत्या को पूरी भयावहता और चिन्ता के साथ प्रस्तुत करती है। लेकिन उनका प्रवक्ता स्त्री नहीं, पुरूष है समाज में स्त्रियों की स्थिति महत्व और अनिवार्यता के प्रति पूरी तरह संवेदनशील और गम्भीर।

दूसरी कहानी संग्रह की कहानियाँ (पार्टनर एक पेड़ की मौत दूसरे किले में औरत, यह रहगुज़र न होती, रिपन स्टीटेर परवीन अटतर, कनफ़ेशन) संकेत हैं कि शायद जीवन–पूर्णता या सार्थकता की संभावना इसी अपूर्णता या अधूरेपन में है।

अलका सरावगी की कहानियाँ समकालीन कहानियों के प्रचलित ढ़र्रे को तोड़ती है। आधुनिक जी वन की विसंगतियों विडम्बनाओं संवेदनशीलता को चित्रित करती है। इनकी कहानियाँ आधुनिक जीवन यथार्थ को संश्लिष्ट एवं गझिन रूप में चित्रित करती है। समकालीन महिला कथाकारों में अलका सरावगी एक महत्वपूर्ण कथा लेखिका के रूप उभर कर सामने आ रही है। वर्तमान जीवन की तमाम विडम्बना विसंगतियों को अपने लेखन का विषय बनाया है।

लेकिन अलका सरावगी के 'कलि–कथा वाया बाईपास' उपन्यास को छोड़कर अन्य रचनाओं को उतनी सराहना नहीं मिली जितनी की मिलनी चाहिए थी। इनकी रचनाओं को इतिहास बोध और

नारी–विमर्श के विशेष संदर्भ में देखने की जरूरत है। इनका लेखन हिन्दी साहित्य के लिए जीवन की अनन्त सम्भावनाएँ तलाशता है।

अतः अलका सरावगी के समस्त लेखन को सामने रखकर सही संदर्भ में मूल्यांकन की आवश्यकता है।

युवा कथाकार ने अपनी रचनाओं में जीवन की अनेकमुखी समस्याओं को संवेदना के जिस ध रातल पर प्रस्तुत कियाा है वह सबके जीवन का सच है। लेखिका का मानना है किसी कथा में जीवन का सच, जीवन को देखने के तरीके और मूल्यबोध कथा को लिखने का सच सभी शामिल है लेखिका ने सच को जिस दृष्टिकोण से देखा है यही विशेषतन उन्हें समकालीन कथाकारों में श्रेष्ठ उपनिवेशवादी लेखिका बनाती है।

I UnHk%

1. उपन्यास मूल्यांकन के नये आयाम– सं0 प्रभाकर सिंह, प्रोग्रेसिव बुक सेंटर, वाराणसी, संस्करण–2016, पृ0 43
2. वहीं
3. साहित्य का स्त्री स्वर, रोहिणी अग्रवाल, साहित्य भण्डार, इलाहाबाद, संस्करण–2012, पृ0 22
4. आधुनिक हिन्दी उपन्यास, सं0 नामवर सिंह, भाग–2, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण–2010, पृ0 13

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

efäc¨/k d lkfgR; e dk0; gr ,o fopkj/kkjk

M,0 deYkkdkUr ;kno*

कला को किसी भी क्षेत्र में प्रारम्भ में उसे 'दैवीय उत्पत्ति के सिद्धान्त' के अनुसार व्याख्यायित किया जाता रहा है। इसमें रचनाकार को प्राप्त वरदान के रूप में देखा जाता है। पाश्चात्य चिंतकों ने माना कि कविता की प्रक्रिया काव्य देवियों की प्रेरणा से होती है। भारतीय संदर्भ में भी उसे दैवीय कृपा से जोड़कर देखा गया। समय बदलने के साथ–साथ रचना प्रक्रिया के बारे में सो चने की पद्धति भी बदलने लगी।

भारतीय काव्य शास्त्रों में रचना की उत्पत्ति कलाकार के 'प्रतिभा' के कारण माना गया। प्रतिभा को नैसर्गिक माना गया। 'काव्यादर्श' में दण्डी ने कहा कि ''नैसर्गिक प्रतिभा, विस्तृत निर्दोश शास्त्राध्ययन तथा अमंद अभ्यास काव्य संवृत्ति के कारण होते हैं।''[1] काव्यशास्त्र में प्रतिभा को महत्वपूर्ण मानकर अध्ययन व अभ्यास को गौण माना गया। बाद के आचार्यों ने भी प्रतिभा को ही काव्य सृजन का आधार माना। रूद्रट तथा राजशेखर ने प्रतिभा के दो–दो भेद किये। रूद्रट ने प्रतिभा के 'सहजा' और 'उत्पाद्या' दो भेद किये जिसमें 'सहजा' जो स्वाभाविक होती है और 'उत्पाद्या' जो बाह्य जगत के साधनों द्वारा उत्पन्न की जा सके। अभिनव गुप्त ध्वनिवादी आचार्य ने कोई स्पष्ट रूप से इसकी व्याख्या तो नहीं की परन्तु कुछ सीमित संदर्भ में इसके बारे में बताया। इस विषय में डॉ0 भागीरथ मिश्र ने लिखा कि ''उन्होंने भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में पहली बार स्रष्टागत प्रतिभा अर्थात् सृजनशक्ति, सृजन की अंतःप्रक्रिया एवं बाह्य प्रक्रिया कृति के अवबोध और सृजन विषयक दोष गुण आदि सभी महत्वपूर्ण विषयों की विस्तृत विवेचना की और साथ ही व्यवहारिक भूमि पर स्थापना की, प्राचीन एवं नवीन सृजन के परिप्रेक्ष्य में, जाँच की।''[2] भारतीय काव्यशास्त्र में रचना पर बहुत ही नाम मात्र का या यों कहें कि उल्लेखात्मक दृष्टि से विचार किया गया। वस्तुतः ज्यादातर आचार्य भाववादी थे। कुल मिलाकर भारतीय काव्यशास्त्र में रचना प्रक्रिया के ऊपर बहुत ही नाम मात्र की सैद्धान्तिकी या विचार किया गया। काव्यशास्त्रियों ने प्रमाता वर्ग को केन्द्र में नहीं रखा। सिर्फ रसवादी आचार्य भामह व ध्वनिवादी आचार्य अभिनवगुप्त ने रस के साधारणीकरण के कारण प्रमाता वर्ग को ध्यान में रखा।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में रचना प्रक्रिया की शुरूआत प्लेटों से माना जाता है जिसने कला को 'अनुकृति की अनुकृति' कहा है। रचना को प्रत्यय या वास्तविकता का नकल मात्र माना तथा बाद के आचार्यों ने भी इसे दैवीय उत्पत्ति के सिद्धान्त के अन्तर्गत ही माना। औद्योगिक क्रांति के बाद इस धारणा से मुक्ति मिली। रचना प्रक्रिया को सर्जक व सर्जन के रूप में देखा जाने लगा।

डॉ0 अशोक चक्रधर लिखते हैं ''ऐतिहासिक विकासक्रम में आधुनिक मनोविज्ञान और कुछ वैज्ञानिक सिद्धान्तों ने रचना प्रक्रिया के सोच को नई दिशा दी। भाषा विज्ञान के विकास ने शब्दों की व्युत्पत्ति की खोज का एवं भाषा परिवारों के अन्वेषण का सिलसिला चलाया, उससे भी काव्य रचना प्रक्रिया समझने में मदद मिली।''[3] पाश्चात्य काव्य चिंतन में रचना प्रक्रिया पर वैज्ञानिक ढंग से विचार पहले पहल क्रोचे ने किया। जिसने सहजानुभूति का सिद्धान्त दिया। सहजानुभूति के सिद्धान्त में कवि उन घटनाओं, स्थितियों को सीधा व स्पष्ट अनुभव कर लेता है जिसे सामान्य जन नहीं कर पाता। क्रोचे ने सहजानुभूति की समग्र प्रक्रिया को चार भागों में विभाजित किया। ये अवस्थाएँ हैं एक, ''प्रभाव (इंप्रैशन)

*स्नातकोत्तर शिक्षक (हिन्दी) के0वि0आई0आई0टी0, झलवा, इलाहाबाद।

दो, अभिव्यंजना (एक्सप्रेशन) या आध्यात्मिक सौन्दर्यपरक संश्लेषण (स्प्रिचुअल ऐस्थेटिक सिंथेसिस) तीसरा, सुखात्मक संगति (हेडोनिस्टिक ऐकम्पनिमेंट) या सौन्दर्यानन्द (ऐस्थेटिक 'लौहर' चतुर्थ सौन्दर्यात्मक तथ्य का भौतिक दृश्य प्रपंच में रूपांतर (ट्रांसलेशन ऑफ दि ऐस्थेटिक फैक्ट इनटू फिजिकल फेनामिना) अर्थात् ध्वनियों, स्वर को (टोन्ज), हरकतों तथा रंगरेखाओं के संयोजनों में बदलना।''[4] क्रोचे कला को लिखित रूप में नहीं मानते थे अर्थात् उसके भौतिक रूप को नहीं स्वीकारते थे उनका मानना था कि जब कलाकार या रचनाकार किसी वस्तु की जो अनुभूति ग्रहण करता है उसी से उसको आनन्द की प्राप्ति हो जाती है और उस वस्तु को व्यक्त करने की आवश्यकता नहीं होती है। वे मानते हैं कि स्वयं प्रकाश ज्ञान द्वारा उत्पन्न सौन्दर्यात्मक दृश्य प्रपंचों में रूपांतरित करता है अर्थात् शब्दों, ध्वनियों रंग रेखाओं में संयोजित कर कलाकृति का आविर्भाव करता है। फिर भी क्रोचे इसके इस रूप को स्वीकार नहीं करते। कलाकार अवधारणा, वर्ग आदि से परे होता है। सहजानुभूति की अवधारणा के आस–पास भी लोगों ने रचना प्रक्रिया पर अपना विचार किया। काण्ट ने रचना प्रक्रिया के बारे में लिखा कि ''यह एक प्राकृतिक प्रक्रिया है जो अपने नियम स्वयं बनाती है जो असम्भाव्य होते हैं, इसलिए रचनाक्रम की शिक्षा नहीं दी जा सकती।''[5]

क्रोचे की तरह अलेक्जेण्डर ने रचना प्रक्रिया के तीन अवस्थाओं को बताया जिसमें पहली बाह्य जगत से सम्पर्क तथा दूसरी कलाकार के द्वारा व्यवहारिक लगावों से स्वयं को अलग कर लेना। तीसरी अवस्था में अनुभव को कर्म में बदलने की है।

फ्रायड ने रचना प्रक्रिया को मनोविश्लेषण सिद्धान्त के माध्यम से व्याख्यायित किया। जिनके अनुसार सृजन कर्म अवचेतन का व्यापार है। अवचेतन में दबी हुई काम वासनाओं को कलाकार कला के माध्यम से व्यक्त करता है। मनोवैज्ञानिकों ने काव्यरचना प्रक्रिया को चार चरणों में बांट कर देखा। प्रथम, प्रयत्न द्वितीय, अन्तर्विकास तृतीय, प्रकाशन चतुर्थ, प्रभावन। मनोविश्लेषणवादी सिद्धान्त ने रचना प्रक्रिया को अतिमानवीय सिद्धान्तों के चक्र से बाहर निकाला।

समाजवादी विचारकों ने काव्य प्रक्रिया को मानव श्रम से जोड़कर देखा। मैक्सिम गोर्की ने अपना पुस्तक 'सृजन प्रक्रिया और शिल्प' के बारे में लिखा है कि ''मेरे मानव से परे विचारों का कोई अस्तित्व नहीं है। मेरे नजदीक मानव तथा एकमात्र मानव ही सभी वस्तुओं और सभी विचारों का निर्माता है। चमत्कार वही करता है और वही प्रकृति में जो कुछ अति सुन्दर है उसका निर्माण मानव श्रम की प्रक्रिया में उत्पन्न होते हैं और यह ऐसी बात है, जिसकी कला, विज्ञान तथा प्रविधि का इतिहास पुष्टि करता है। विचार तथ्य के पीछे चलता है।''[6]

यथार्थ को देखने परखने का नजरिया युग बदलने के साथ बदलता रहता है। कलाकार उसी परिवेश से तथ्यों का संकलन करता है तथा अपने अनुभव को सारगर्भित करता है। मार्क्सवादी विचारकों ने रचना की सार्थकता उसके उद्देश्य में माना।

रचना प्रक्रिया को मुक्तिबोध खोज और ग्रहण का नाम देते हैं। कलाकार अभिव्यक्ति के समय भी रचना प्रक्रिया में काट–छांट करता रहता है। इस प्रक्रिया को समझने के लिए मुक्तिबोध एक उपमा देते हैं। ''वीरान मैदान, अंधेरी रात खोया हुआ रास्ता, हाथ में एक पीली मद्धिम लालटेन। यह लालटेन समूचे पथ को पहले से उद्घाटित करने में असमर्थ है। केवल थोड़ी सी जगह पर ही उसका प्रकाश है। ज्यों–ज्यों वह पग बढ़ाता जायेगा, थोड़ा–थोड़ा उद्घाटन होता जायेगा। चलने वाला पहले से नहीं जानता कि क्या उद्घाटित होगा। उसे अपने पीली मद्धिम लालटेन का ही सहारा है। इस पथ पर चलने का अर्थ ही पथ का उद्घाटन होना है और वह भी धीरे–धीरे क्रमशः।''[7]

रचना प्रक्रिया को मुक्तिबोध केवल मनोवैज्ञानिक धरातल पर नहीं स्वीकार करते उसको एक सांस्कृतिक प्रक्रिया मानते हैं। उनका मानना है कि काव्य रचना केवल व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया नहीं, वह एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है और फिर भी आत्मिक प्रयास है। उसमें जो सांस्कृतिक मूल्य परिलक्षित होते हैं, वे व्यक्ति की अपनी देन नहीं समाज या वर्ग की देन है।''[8] रचना को सांस्कृतिक प्रक्रिया की देन मानने के पीछे उनका तर्क था कि कला का संबंध जीवन से है और जीवन में सदैव बाह्य का आभ्यंतरीकरण होता रहता है। जीवन समाज से जुड़ा हुआ है। समाज में घटने वाली घटनाओं का सीधा प्रभाव व्यक्तित्व

पर पड़ता है। जिस प्रकार की संस्कृति का विकास समाज में होगी उसी प्रकार कला का निर्माण होगा। उदाहरण स्वरूप आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल एवं आधुनिक काल के काव्य को देखा जा सकता है। युग परिवर्तन व संस्कृति के परिवर्तन से विषयवस्तु तथा रूप दोनों में परिवर्तन हुआ। मुक्तिबोध ने कहा कि ''एक कला सिद्धान्त के पीछे एक विशेष जीवन दृष्टि हुआ करती है। उस जीवन दृष्टि के पीछे एक जीवन दर्शन होता है और उस जीवन दर्शन के पीछे, आजकल के जमाने में, एक राजनैतिक दृष्टि भी रहती है।''[9] इसके बावजूद संस्कृति को राजनीति से अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं क्योंकि संस्कृति किसी राष्ट्र की आत्मा होती है। जिसमें समाज, धर्म, दर्शन, साहित्य तथा कला आदि के जीवन मूल्य समाहित होते हैं। अपने विवादित ग्रंथ में मुक्तिबोध लिखते हैं कि ''समाज की गतिशीलता में राजनीतिक प्रक्रिया अनेक प्रतिक्रियाओं में से एक है। समाज को विकासशील बनाने वाली महत्वपूर्ण प्रक्रिया, सांस्कृतिक प्रक्रिया है। जीवन जैसा है, उसे अधिक सुन्दर, उदात्त और मंगलमय बनाने की इच्छा आरम्भ से ही मनुष्यों में रही, यही इच्छा जब सामाजिक स्तर का रूप ले लेती है, तब वह संस्कृति कहलाती है, जिसके अन्तर्गत धर्म, नीति, कला साहित्य आदि आते हैं। संस्कृति समाज की मूल जीवनदायिनी शक्ति है, राजनीति शक्ति से अधिक।''[10]

l UnHk

1. चण्डी : काव्यादर्श, एका0 103 उद्धृत अशोक चक्रधर : मुक्तिबोध की समीक्षाई, पृ0 26
2. डॉ0 भागीरथ मिश्र : अभिनव साहित्य चिंतन, पृ0 19–20
3. अशोक चक्रधर : मुक्तिबोध की समीक्षाई, पृ0 28
4. वी0 क्रोचे : ऐस्थेटिक, पृ0 96, उद्धृत डॉ0 ओम अवस्थी : रचना प्रक्रिया, पृ0 62, काण्ट : क्रिटिक ऑफ जजमेंट उद्धृत अशोक चक्रधर : मुक्तिबोध की समीक्षाई, पृ0 29
5. मस्किम गोर्की : सृजन प्रक्रिया और शिल्प के बारे में, पृ0 52
6. मुक्तिबोध रचनावली, भाग–5, पृ0 215
7. वही, पृ0 200
8. वही, पृ0 207
9. वही, पृ0 113

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

/kqoLokfeuh ukVd e o|okfgd LorU=rk

f'kojke ek;*

भारतीय समाज में प्राचीन काल से ही नारी को विवाह की स्वतन्त्रता रही है। कभी–कभी उसको इस अधिकार से वंचित भी कर दिया गया और उसके लिए प्रेम के क्षेत्र को भी संकुचित कर दिया गया। प्रसाद जी ने स्वतन्त्रता आन्दोलन के युग में नारी के अधिकार को अपने नाटक का विषय बनाया। प्रसाद जी जिस समय इस नाटक की रचना कर रहे थे वह भारत का संक्रमण काल था और नारी को विभिन्न सामाजिक बन्धनों से मुक्त कराया जा रहा था। अनके समाज सुधारकों ने अपने अथक् प्रयास से भारतीय नारी की दयनीय दशा में सुधार लाने का प्रयास किया। जहाँ अनेकों प्रकार के आन्दोलन चलाये जा रहे थे वहीं प्रसाद अपने साहित्य सृजन के माध्यम से नारी के इस ज्वलन्त प्रश्न को अतीत के माध्यम से हर समाज के समक्ष प्रस्तुत किया।

'ध्रुवस्वामिनी' में रामगुप्त के साथ ध्रुवस्वामिनी का पाणिग्रहण एक धार्मिक बन्धन स्वरूप ही है। सच तो यह है कि ध्रुवस्वामिनी के मन–मन्दिर में चन्द्रगुप्त की प्रतिमा प्रतिष्ठित है। लेकिन तब भी ध्रुवस्वामिनी के मन में मर्यादा की रक्षा का प्रश्न है। वह सामाजिक मर्यादा की रक्षा करती है, लेकिन कायर पुरुष रामगुप्त उसकी रक्षा से विमुख हो जाता है। तब ध्रुवस्वामिनी के समक्ष भविष्य के लिए समस्या उठ खड़ी होती है। इस पर अपने स्वाभिमान को छोड़कर कातर भाव से ध्रुवस्वामिनी अपने सतीत्व की रक्षा की प्रार्थना करती है– ^^eSa j{kk djkA eSa vkj viu xkjo dh j{kk djkA jkt vkt e 'kj.k dh ikFkuh gwA e Lohdkj djrh gw] fd vkt rd e rEgkj foykl dh lgpjh ugh gbZ] fdUrq ejk og vgdkj p.kksa gk x;k gwA e rEgkjh gkdj jgwxhA**[1]

भारतीय समाज में रूढ़ि–मर्यादा के कारण बहुत से लोगों का जीवन बर्बाद हुआ है। विवाह के इस अमर्यादित तथा कठोर बन्धन के कारण ही ध्रुवस्वामिनी का ही नहीं, अनेक भारतीय नारियों का जीवन नरक बना गया है। भारतीय समाज में विवाहोपरान्त स्त्री के अधिकार को हनन ही किया जाता है। और उनको आधारहीन बना दिया जाता है।

'ध्रुवस्वामिनी' रामगुप्त से घृणा करती हुई भी उसे अपना पति मानती है और अपने सतीत्व रक्षा के लिए उससे प्रार्थना करती है क्योंकि सामाजिक, नैतिकता जन्य भावनाएं एक की पत्नी होकर, दूसरे को प्यार करने में बाधा उत्पन्न करती है, परन्तु जैसे ही यह बन्धन कुछ शिथिल पड़ता है, वैसे ही वह चन्द्रगुप्त को आलिंगन कर बैठती है, किन्तु तत्क्षण अपने को संतुलित कर लेती है। इस प्रकार चन्द्रगुप्त को चाहकर भी, रामगुप्त की पत्नी होने के कारण कभी उससे प्यार नहीं कर पाती है। चन्द्रगुप्त को अपने बाहों में भर लेती है उस समय को याद कर रोमांचित होती है रत्यालाप करती– ^^fdruk vuHkfri.k Fkk og ,d {k.k dk vkfyxuA fdru lUrks"k lHkjk FkkA fu;fr u vKkr Hkko ls ekuks yl rh gbZ olq/kk dk f{kfr t d futu e lq;dkyhu 'khry vkdk'k lsfeyk fn;k gkA**[2]

ध्रुवस्वामिनी भी प्रेम वियोगिनी है। उसने चन्द्रगुप्त से प्रेम किया, और उसका विवाह रामगुप्त से हुआ। वह अपने जीवन में पति और प्रेमी दोनों से वंचित है। प्रेम के विरहजन्य कण्टक की अनुभूति हृदय में ही करती हुई व्यथित हेती है। चन्द्रगुप्त के साथ क्षणिक आलिंगन उसे आत्म–तुष्टि प्रदान करता है। अपने प्रेमी के साथ शकराज के दुर्ग में आते हुए, वह प्रेमजन्य असीम आनन्द का अनुभव करती है। और

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, डॉ0 हरी सिंह गौर केन्द्रीय विश्वविद्यालय, सागर, मध्य प्रदेश

वह कहती है– ^^----------rk fQj ogh D;k u gk\ ge nkuk gh pyxA eR; d xgoj e i'k dju d le; e Hkh rEgkjh T;kfr cudj c> tku dh dkeuk j[krh g vkj Hkh ,d foukn] iy; dk ifjgkl] n[k ldxhA ejh lgpjh] rEgkjk iV /koLokfeuh dk o'k] /koLokfeuh gh u n[k rk fdl dke dk**[3]

इस प्रकार संकटपूर्ण परिस्थितियों में प्रेमी का क्षणिक मिलन उसके नीरस जीवन में आशा का संचार करता है। और अन्त में वह रामगुप्त का परित्याग कर चन्द्रगुप्त को वरण कर लेती है।

कोमा का जीवन भी प्रेम वियोगनी नारी के सदृश है। उसने शकराज से प्रेम किया था, किन्तु जब शकराज उसकी अवहेलना कर, ध्रुवस्वामिनी की प्रतीक्षा में व्यग्र हो उठता है, तो वह अत्यन्त दुःखित हो जाती है। मिहिर देव के सामझाने पर वह कहती है– ^^¼ld :.k½ rkM Mky firk th! eu ftl viu vkl vk l lhpk] ogh nyk Hkjh oYyjh] ej vk[k cUn dj pyu e gh ijk l my> xb gA n n ,d >Vdk&m ldh gjh&gjh ifÙk;k dpy tk;A vkj og fNUu gkdj /ky e ykVu yxA u] ,lh dBkj vkKk u nkA**[4]

किन्तु शक दुर्ग में अपमानित जीवन व्यतीत करना उसके लिए अत्यन्त कठिन है। अतः अन्त में पिता के साथ जाने को वह प्रस्तुत हो जाती है। अतः शकराज की मृत्यु के उपरान्त वह उसके शव के साथ जलकर मर जाना चाहती है, पर रामगुप्त के सैनिक उसका मार्ग में ही वध कर देते हैं।

कोमा आचार्य मिहिरदेव की प्रतिपालिता कन्या है यौवन के स्पर्श से सद्यःप्रफुल्ल कुसुम–कलिका की भांति कोमल भावानाओं से ओत–प्रोत है। प्रणय का तीव्र आलोक उसकी आँखों में समाया है। वह प्रेम करने की ऋतु का आनन्द ले रही है, जिसमें चूकना, और सोच–समझकर चलना दोनों बराबर है। वह यौवन की चंचल छाया में निरपेक्ष बैठी हुई प्रेम के रस के आस्वादन की कामना कर रही है। शकराज उसके प्रेम का विषय है। प्रेम पूर्ण भावुकता उसके चरित्र की सबसे बड़ी विभूति है। परन्तु वह जीवन की यथार्थ स्थितियों का भी महत्व समझती है। इसी बल पर संघर्ष में पड़े हुए शकराज को वह समझाने का प्रयत्न करती है। उसकी भावुकता में दार्शनिकता का योग है। मानव शक्ति से परे भी एक महाशक्ति है, इसे यह मानती है। अभावमयी लघुता में मनुष्य जो आने को महत्वपूर्ण दिखाने का अभिनय करता है यह उसे अच्छा नहीं लगता। वह पाषाणों के भीतर बहने वाली मधुर स्त्रोत की शीतल जलधारा की भाँति निर्मल और शान्तिमय रहना चाहती है।

कोमा का शकराज के प्रति सात्विक प्रेम है। भारतीय नारी के सदृश कोमा के प्रेम में सर्वस्व समर्पण, त्याग और सेवा की भावना विद्यमान हैं। उसकी धारणा है, कि पत्नी को पति के अनुकूल आचरण करना चाहिए। चाहे वह अच्छा हो या बुरा।

वह शकराज से वाद–विवाद न कर केवल इतना ही कहती है– ^^tk ckr jkt dk vPNh yx] o gh e> Hkh dju pkfg,A**[5]

दूसरी रानी (ध्रुवस्वामिनी) के आगमन में उत्सुक शकराज से अपमानित हुयी भी कोमा धूमकेतु को देखकर, शकराज के अमंगल की आशंका से चिन्तित हो उठती है, और उसे दुर्ग में न रहने के लिए सचेत करती है। शकराज से प्रेम कर उसे केवल– 'निराशा, निपीणन और उपहास ही प्राप्त होता है। किन्तु वह उसके सब्र के साथ जलकर अपना जीवन समाप्त कर देना चाहती है। प्रेमी के लिए तन–मन और जीवन उत्सर्ग करने की यह भावना सात्विक प्रेम में ही सम्भव है, जिससे प्रेरित हुई कोमा शकराज के शव की याचना हेतु जाती है और शव के साथ अपनी ऐहिक–जीवन–लीला समाप्त कर देना चाहती है।

वैवाहिक स्वतन्त्रता को लेकर प्रसाद जी ने इस नाटक की रचना की थी। उनका विचार था कि किसी मजबूरी के कारण अगर किसी के साथ किसी का विवाह कर दिया जाता है तो स्त्री को स्वेच्छया अपनी मुक्ति कराके पुनर्विवाह कर सके। राममगुप्त की पत्नी होने पर भी अन्त में पण्डित के द्वारा ध्रुवस्वामिनी का पुनर्विवाह चन्द्रगुप्त से करा दिया जाता है जो अपने समय की एक अत्यन्त कठोर कदम था।

भारतीय समाज में नारी का पुनर्विवाह एक जटिल समस्या है। प्राचीन समय में पुनर्विवाह की प्रथा प्रचलित नहीं थी। प्रसाद जी ने ध्रुवस्वामिनी नाटक में धर्मशास्त्र का आधार लेकर नारी के पुनर्विवाह

और मोक्ष की व्यवस्था की है। ध्रुवस्वामिनी प्रारम्भ से ही चन्द्रगुप्त के प्रति आकर्षित है। उसका विवाह अयोग्य तथा अविचारी रामगुप्त से सम्पन्न हो जाता है। ऐसे पति से छुटकारा दिलाने के लिए ही प्रसाद जी ने इस नाटक के अन्त में उसका विवाह चन्द्रगुप्त से करा दिया है।

जब मन्दाकिनी भी पुरोहित से धर्म के बारे में पूछने लगती है और ध्रुवस्वामिनी के विवाह को एक भ्रमपूर्ण बन्धन में बँधी होने के कारण उसका विरोध करती है तब नाटक में पुरोहित अपनी व्यवस्था देता हुआ कहता है– ''यह रामगुप्त मृत और प्रव्रजित तो नहीं, पर गौरव से नष्ट, आचरण से पतित और कर्मों से राजकिल्विषी है। ऐसी अवस्था में रामगुप्त का ध्रुवस्वामिनी पर कोई अधिकार नहीं।''

जब रामगुप्त इस व्यवस्था को मानने से इंकार करता हुआ शास्त्र का हवाला देता है तो उसके प्रत्युत्तर में पुरोहित निडर होकर जवाब देता है और कहता है' ^^¼g ldj½ jktuhfrd nL;q! re 'kkL=kFkZ u djkA Dyho! Jh d".k u vtqu dk Dyho fdlfy, dgk\ ft lus viuh L=h dk nwljs dh vdxkfeuh cuus fy, Hkstus esa dNq lkp ugha og Dyho ugha rks vkj D;k g\ esa Li"V djrk gwa fd /keZ'kkL= jkexqIr lq /kqoLokfeuh dh ek{k dh vkKk nsrk gwA**[6]

इस प्रकार प्रसाद जी ने अन्त में चन्द्रगुप्त को मारने के प्रयास में सामन्त द्वारा रामगुप्त स्वयं मारा जाता है, यह दिखाकर स्वयं इस समस्या का हल निकाला तथा ऐसे अवसर पर पुनर्विवाह के अतिरिक्त अन्य दूसरा उपाय शेष नहीं रहता। इस प्रकार इस नाटक द्वारा प्रसाद जी ने नारी के वैवाहिक स्वतन्त्रता ओर पुनर्विवाह को प्रोत्साहन दिया है।

lUnHkZ %

1. ध्रुवस्वामिनि, पृष्ठ संख्या 18
2. ध्रुवस्वामिनि, पृष्ठ संख्या 22
3. ध्रुवस्वामिनि, पृष्ठ संख्या 23
4. ध्रुवस्वामिनि, पृष्ठ संख्या 32
5. ध्रुवस्वामिनि, पृष्ठ संख्या 30
6. ध्रुवस्वामिनि, पृष्ठ संख्या 47

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

gfj'kdj ijlkbZ dk lkfgR; esa jktuhfr % ;FkkFkZ dh e¨pZ ij

fefFkY¨'k d|ekj*

स्वातन्त्रयोत्तर भारत की राजनीतिक सच्चाई को उद्घाटित करने वाला हरिशंकर परसाई का रचना संसार एक आलोचनात्मक दस्तावेज है। एक ऐसा दस्तावेज जो मनुष्य की स्वतंत्रता के विस्तार और समाज को बेहतर बनाने का उद्यम करता है। उनका साहित्य राजनीतिक सामाजिक जीवन पर नियंत्रण करने तथा उसमें परिवर्तन लाने का सबसे अधिक कारगर अस्त्र है। परसाई जी अपने साहित्य या रचनाओं के माध्यम से युगीन राजनीतिक यथार्थ को उसकी व्यापकता एवं विषदता में भी पैनेपन के साथ प्रतिबिम्बित करने में सफल रहे हैं। वस्तुतः उनके छोटे–छोटे लेख, उपन्यास, कहानी और निबंध आपस में जुड़कर एक ऐसा विशाल कैनवास रचते हैं, जिसमें स्वाधीन भारत के राजनीतिक जीवन की हर हलचल, हर धड़कन,हर विकृति, हर विसंगति, हर विषमता और हर उभार को अपने–अपने रंगों में देखा जा सकता है।

हरिशंकर परसाई ने स्वतंत्र भारत की जिन्दगी, उसके अन्तर्विरोध, राजनेताओं और विभिन्न दलों में उभरती स्वार्थपूर्ण पाखण्डी प्रवृत्तियों, पश्चिमी देशों की अनुकृतियों, मध्यवर्गीय, दोगलापन, व्यक्तिगत पीड़ा के मोह, मानवीय संबंधों में ह्रास और आम आदमी के नाम पर उससे दुराव की साजिशों को अपनी रचनाओं में चित्रित कर अपने समय की सच्ची तस्वीर पेश की है। परसाई जी मार्क्सवादी रचनाकार हैं। वे साहित्य को राजनीति से अविच्छिन्न मानते हैं और कहते हैं कोई भी सजग एवं जागरूक व्यक्ति इससे कटकर नहीं रह सकता है। ''राजनीति हमारे जीवन–व्यापार का अंग है उससे नफरत करना या उससे अलग रहना हमारे जीवन को अधूरा करना है। लेखक को राजनीति से दूर रखने की बात जो लोग करते हैं, उनके निहित स्वार्थ होते हैं। वस्तुतः राजनीति को नकारना भी एक राजनीति है।''[1] किसी भी साहित्यकार के राजनीतिक लेखन से उसकी जीवन–दृष्टि और विचारधारा का पता चलता है। परसाई जी का राजनीतिक लेखन सोद्देश्य है। राजनीति के बारे में परसाई लिखते हैं, ''राजनीति से मुझे परहेज नहीं।जो लेखक राजनीति से पल्ला बचाते हैं, वे वोट क्यों देते हैं? वोट देने से ही राजनीति तय होती है। बुद्धिजीवी चाहे सक्रिय राजनीति में भाग न ले, पर वह अराजनैतिक नहीं हो सकता। जो अराजनैतिक होने का दावा करते हैं, उनकी राजनीति बड़ी खतरनाक और गंदी है।''[2] साहित्यकार का किसी भी विचारधारा के प्रति दुराग्रह नहीं होना चाहिए, बल्कि उसे विचारधारा पर स्वतंत्र होकर लिखना चाहिए।

परसाई मूलतः राजनीतिक साहित्यकार हैं। वे व्यंग्य–लेखों के अलावा अपने निबन्ध और कहानियों में भी आवश्यकतानुसार व्यंग्य का इस्तेमाल करते हैं। डॉ0 विश्वनाथ त्रिपाठी ने परसाई के राजनीतिक व्यंग्य निबन्ध के बारे में लिखा है, ''परसाई ने काफी संख्या में राजनीति से सम्बन्धित व्यंग्य निबन्ध लिखे हैं। परसाई वामपंथी रचनाकार हैं। वे पक्षधर, विचारक एवं लेखक हैं। राजनीतिक विषयों में उनकी तीव्र सहमति–असहमति है। लेकिन उनके राजनीतिक निबन्धों की नैतिकता भी उन्हीं मूल्यों पर टिकी है जिन पर कि उनके अन्य निबन्धों की नैतिकता। वे भारतीय राजनीति के विविध मुद्दों को लेकर अनेक विशेषतः दक्षिणपंथी पार्टियों पर तीव्र प्रहार करते हैं, किन्तु उनके प्रहार का उद्देश्य राजनीतिक नहीं, मानवीय एवं नैतिक होता है।''[3] यदि देखा जाये तो परसाई का समग्र लेखन एक अर्थ में उनके राजनीतिक दृष्टिकोण की ही उपज है। यदि मुक्तिबोध के कथन को याद किया जाय तो इस तथ्य का अहसास आसानी से किया जा सकता है कि ''परसाई जी का सबसे बड़ा सामर्थ्य संवेदनात्मक रूप से यथार्थ का आकलन है चाहे वह राजनीतिक प्रश्न हो या चरित्रगत।''[4]

*शोध–छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

हमारा देश सन् 1947 ई0 में आजाद हो गया। इस आजादी के बारे में परसाई जी की क्या मान्यता है? भारत के औसत आदमी की तरह वे भी आजादी के मूल्यों से प्रभावित रहे और एक सचेत प्राणी की तरह वे इस देश के बारे में क्या सोचते रहे हैं। उनकी इसी सोच की उपज है–''ठिठुरता हुआ गणतंत्र'' नामक उनकी रचना। आजादी के बाद भी जीवन–निर्वाह स्तर से नीचे जी रहे सम्पूर्ण आजादी के सत्तर प्रतिशत लोग और लाखों बाल–मजदूरों के लिए कुछ नहीं हुआ है। इसीलिए परसाई को गणतंत्र दिवस पर हो रहे उत्सव अथवा जलसे औपचारिक लगते हैं और इसमें शामिल होने की हिम्मत नहीं पड़ती है। वे कहते है, ''चार बार मैं गणतन्त्र दिवस का जलसा दिल्ली में देख चुका हूँ। पाँचवीं बार देखने का साहस नहीं। आखिर यह क्या बात है कि हर बार जब मैं गणतन्त्र समारोह देखता, तब मौसम बड़ा क्रूर रहता है। छब्बीस जनवरी के पहले ऊपर बर्फ पड़ जाती है। शीत लहर आती हैं, बादल छा जाते हैं, बूँदा–बाँदी होती है और सूर्य छिप जाता है। जैसे दिल्ली की अपनी अर्थनीति नहीं है, वैसे ही अपना मौसम भी नहीं है।''[5] इस मौसम को बदलने के लिए हर गणतन्त्र दिवस पर सत्ता के नेताओं के लम्बे–चौड़े भाषण होते हैं, लेकिन यह अब तक नहीं बदला। समाजवाद लाने का उनका वादा अभी तक भाषणों तक ही सीमित रहा है। इसके लिए एक सरकार दूसरे सरकार पर आरोप लगाती हुयी गरीबी हटाओ का नारा देती है, लेकिन जनता की खुशहाली के लिए या सामाजिक रूपान्तरण की बुनियाद के लिए कुछ भी नहीं किया गया। परसाई कहते हैं–''जब कांग्रेस टूटी नहीं थी, तब मैंने एक कांग्रेस मंत्री से पूछा था कि यह क्या बात है कि गणतन्त्र–दिवस को सूर्य छिपा रहता है सूर्य की किरणों के तले हम उत्सव क्यों नहीं मना सकते? उन्होंने कहा–जरा धीरज रखिए। हम कोशिश में लगे हैं कि सूर्य बाहर आ जाये। पर इतने बड़े सूर्य को बाहर निकालना आसान नहीं है। वक्त लगेगा। हमें सत्ता के कम से कम सौ वर्ष तो दीजिए।''[6]

परसाई जी भारत के राजनीतिक यथार्थ का आकलन करते हुए यहाँ की राजनीतिक व्यवस्था, राजनीतिक दलों और लोकतान्त्रिक प्रणाली की विसंगतियों एवं विषमताओं को प्रतिविम्बित किया है। इस प्रक्रम में परसाई जी ने राजनेताओं के वास्तविक चरित्र को बेनकाब किया है। वामपंथी दलों के नेताओं को छोड़कर आजाद भारत के प्रायः सभी प्रमुख राजनेताओं की चारित्रिक एवं राजनीतिक विसंगतियों को उन्होने अपने व्यंग्य–प्रहार का लक्ष्य बनाया है। पण्डित जवाहर लाल नेहरू, इन्दिरा गाँधी मोरारजी देसाई, चन्द्रशेखर,जगजीवन राम,चौधरी चरण सिंह, अटल बिहारी वाजपेयी, राजनारायण, संजय गांधी, राजीव गाँधी आदि सभी महत्त्वपूर्ण नेताओं के चारित्रिक पहलू उनकी रचनाओं में उभरे हैं। लोकतंत्र का आधार जन–विश्वास है। जनता के विश्वास को जीतने के लिए राजनेता कैसी–कैसी हरकत करते हैं, इस पर प्रहार करते हुए वे लिखते हैं कि ''इस देश का राजनेता जनता को बदचलन औरत समझकर उसे तरह–तरह से फुसलाता है–अपनी नेता छवि से, वादों से, नारों से, उछल कूद से, लोभ से, छाती पीट से, अश्रुपात से, हिन्दुवाद से, गांधीवाद से, समाजवाद से गाने गाता है, सीटी बजाता है हाव–भाव करता है।मगर तभी जनता पलटकर इस नेता को चप्पल जड़कर कहती है–हरामजादे मैं क्या तुझे जानती नहीं हूँ तू शोहदा है। मैं कोई बदचलन औरत नहीं हूँ''[7] जनता और राजनेताओं में परसाई जी ने हमेशा जनता का पक्ष लिया है और स्वयं राजनेताओं को बदचलन और छिनाल कहकर उनका उपहास उड़ाया है। राजनेताओं पर उनका यह व्यंग्य विद्वेषपूर्ण आक्षेप कहा जा सकता है लेकिन आम जनता की चिन्ताओं से जुड़ा होने के कारण यह निजी आक्षेप न होकर एक व्यापक जन– समुदाय का कटाक्ष बन जाता है और यही उसकी सफलता का राज भी है।

हमारे देश का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह रहा है कि हमारे राजनेता जनता में दिखावा तो देश को समाजवाद के पथ पर ले जाने का करते रहे हैं लेकिन जनता में समाजवाद की वैज्ञानिक सोच को पनपने ही नहीं दिया। इसके विपरीत उन्होंने धार्मिक अन्धविश्वासों, मिथ्याचारों एवं पाखण्डों को बढ़ावा देकर जनता को भरमाया और अपने पूरे आचरण में वे विज्ञान विरोधी आधुनिकता के शत्रु बने रहे। परसाई जी ने राजनेताओं की कथनी और करनी के इस अंतर को अपने निबन्ध 'हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता' में बखूबी उघाड़ा है। राजनेताओं के तान्त्रिकों को वैज्ञानिकों के ऊपर स्थान देने की विडम्बना को उजागर करते हुए परसाई जी लिखते हैं, ''कोई वैज्ञानिक तंत्र विद्या से, अनुष्ठान से नेताओं के शत्रु का नाश कर

सकता है, जूठ फेंक सकता है, चुड़ैल जगा सकता है। मारण अनुष्ठान कर सकता है भूत को जगा सकता है, कर्ण पिशाची सिद्ध कर सकता है जो सबको भेद दे शव का जगाकर उससे शत्रु नाश करा सकता है? नही कर सकता तो इस देश में वैज्ञानिक कार्य का क्या प्रयोजन? इसीलिए तो हर मंत्री, नेता वैज्ञानिक नहीं तांत्रिक रखता है।''[8] विज्ञान का जनता के जीवन को सुखी बनाने के लिए उपयोग न करके उलटे जनता को अपने हित साधन के लिए धर्मभीरू बनाए रखने की राजनेताओं की साजिश पर यह प्रच्छन्न व्यंग्य है।

आजादी के पश्चात् हिन्दुस्तान की जनता को लगा कि अब हमारे सपने पूरे होगें। जिसके लिए हमने स्वतन्त्रता संग्राम किया, जुलूस निकाले, जेल में गये, कड़ी से कड़ी सजा भुगत ली अनेकों को फाँसी भी मिली। लेकिन स्वतंत्रता से पहले हिन्दुस्तान की जनता ने जो ख्वाब देखा था वह ख्वाब स्वतंत्रता के पश्चात् टूट गया। यह सब परसाई जैसे व्यंग्यकार ने देखा और उनसे रहा न गया। इस कारण ही उन्होंने भारतीय राजनीति में व्याप्त अवसरवादी मूल्यहीनता और अस्थिरता पर करारा व्यंग्य किया है। 'लंका विजय के बाद' कहानी में परसाई जी ने सत्तालोलुपता की धाँधली का जीवंत चित्रण किया है। लंका पर विजय प्राप्त करने के बाद राम जब अयोध्या पधारे तो उनके साथ वानर भी आये और वे सभी जगह उत्पात मचाने लगे। वानरों के उत्पात को देखकर खिन्न होकर भरत, प्रभु रामचंद्र के पास गये और सुधार लाने की प्रार्थना करने लगे यह सुनकर मर्यादा पुरूषोत्तम राम के चेहरे पर चिंता एवं उद्वेग के भाव उभरने लगे। रामचंद्र जी ने वानरों को श्रम द्वारा सार्थक कार्य करने की आज्ञा दी, जिसका वानरों पर कोई असर नहीं हुआ। वानर अपने महान त्याग और बलिदान की दुहाई देने लगे–''हमने आर्य भूमि की रक्षा की है, इसलिए राज्य पर हमारा अधिकार है। राज्य के सब पद हमें मिलने चाहिए हम शासन करेंगे।''[9] इस प्रकार वानर राम–रावण युद्ध में किये गये बलिदान और घावों का बखान कर रामचंद्र पर दबाव डालने लगे। अतः वानर छल–प्रपंच कर सत्ता में अपना प्रभुत्व जमाते हैं वह छल–कपट द्रष्टव्य है–''हे भारद्वाज, इस समय वानरों ने बड़े बड़े विचित्र चरित्र किये। एक वानर अपने घर में तलवार से स्वयं ही शरीर पर घाव बना रहा था। उसकी स्त्री घबराकर बोली नाथ, यह क्या कर रहे हो? वानर ने हॅसकर कहा, प्रिये शरीर में घाव बना रहा हूँ। आज कल घाव गिनकर पद दिये जा रहे हैं। राम– रावण संग्राम के समय तो भागकर वन में छिप गया था। फिर जब राम की विजयी सेना लौटी तो मैं उसमें शामिल हो गया। मेरी ही तरह अनेक वानर वन से निकलकर उस विजयी सेना में मिल गये। हमारे तन पर एक भी घाव नहीं मिलता अब हम लोग स्वयं घाव बना रहे हैं।''[10] इस प्रकार परसाई जी ने पौराणिक कथा का आधार बनाकर आज के सत्तालोलुप नेताओं की धज्जियाँ उड़ाई हैं।

परसाई ने दल–बदल की नीति को अपने व्यंग्यशास्त्र का लक्ष्य बनाते हुए राजनीतिक जीवन की उस भीषण विसंगति को उजागर किया है जिसने आगे चलकर देश में एक हमेशा की राजनीतिक अस्थिरता को जन्म दिया। 'दल बदलने वाला' नामक रचना में परसाई जी ने स्पष्ट किया है कि सिद्धांन्तो की बातें करने वाले पद के लालची होते हैं। परसाई ऐसे सत्तालोलुप पदलोलुप दलबदलू प्रवृत्ति के नेताओं को निर्वस्त्र कर दिया है– '' मुख्यमंत्री ने कहा– अगर तुम अकेले कहते कि सिद्धान्तो की हत्या हो रही है तो मैं विश्वास न भी करता । पर तुम्हारे साथ छः विधायक और कहते हैं तो आओ हम तुम मिलकर सिद्धान्तों की रक्षा कर लें। मैं तुम्हे संसदीय सचिव बना देता हूँ क्या इससे आपके सिद्धान्तों की रक्षा हो जाायेगी? मैंने कहा – नही साहब इतने बड़े सिद्धान्तों की रक्षा इतने छोटे पद से कैसे हो सकती है? कम से कम डिप्टी मिनिस्टर बनाइए, तब रक्षा होगी।''[11] दलबदलू नेता मैं 'दल' बदलने के गुणों के साथ और भी गुण होते हैं। झूठे आश्वासन, भाई–भतीजावाद, चापलूसी, आत्म–सम्मान का अभाव इत्यादि। भारतीय राजनीति में दलबदल की प्रवृत्ति इस कदर फैल चुकी है कि यह पता ही नहीं चलता कि कौन किसके साथ है।

परसाई जी की एक महत्त्वपूर्ण रचना 'अकाल उत्सव' है जिसमें परसाई जी ने स्वप्न कथा के माध्यम से संसदीय लोकतंत्र की विसंगतियों को ही नहीं उघाड़ा अपितु देश की मौजूदा लोकतांत्रिक प्रणाली पर मर्मान्तक प्रहार भी किया है। इस स्वप्न कथा में परसाई जी ने जनवादी क्रांति को 'विज्वलाइज' करते हुए बेमानी निरर्थक तथा जन–विरोधी लोकतांत्रिक प्रणाली को ध्वस्त कर देते हैं ''देखता हूँ कि अकाल– उत्सव के मूड में ढोलक बजाकर नाचते गाते भूखे, अधमरे राजधानी में आ गये हैं और बड़ा

भयंकर दृश्य मुझे दिखता है। एक विधायक पहचान का मिलता है। उसके एक हाथ ही नहीं है। आस्तीन से खून टपक रहा है। मैं पूछता हूँ– यह क्या हो गया? वह कहता है– वही अकाल उत्सव वाले लोग मेरा हाथ खा गये। किसी विधायक की टांग खा ली गयी है। किसी मंत्री की नाक चबा ली गयी है, किसी का कान। भीड़ बढ़ती जाती है। विधायक और मंत्रीगण भाग रहे हैं। एकाएक सैकड़ों जमाखोरों और मुनाफाखोरों को लोग पकड़ लाते हैं और उन्हें भूना रहे हैं। कहते हैं–तुम्हारी भूख इतनी विकट है कि अपना ही भुना गोश्त खाये बिना तुम्हारा पेट नहीं भरेगा! सारे विधान भवनों में सन्नाटा। संसद और उसके अहाते में सन्नाटा। अब ये भूखे क्या खायें? भाग्यविधाताओं और जीवन के थोक ठेकेदारों की नाक खा गये, कान खा गये, हाथ खा गये, टांग खा गये। वे सब भाग गये। अब क्या खायें। आखिर वे विधान–सभा और संसद की इमारतों के पत्थर और ईंटे काट–काटकर खाने लगे।''[12] यह व्यंग्य सत्य की उस परिक्ल्पना पर आधारित है जो सच्चे लोकतंत्र का मूल आधार भी है। समाज के भूखे और पीड़ित लोगों के प्रति परसाई जी की चिन्ता और बेमानी तथा जनशक्ति से शून्य लोकतंत्र में उनकी अनास्था, उनकी समाजिक प्रतिबद्धताओं को पूर्ण प्रखरता से प्रतिबिम्बत करती है।

लोकतंत्र की वास्तविक प्राणशक्ति चुनाव को माना जाता है। इसके बिना लोकतांत्रिक व्यवस्था की कल्पना नहीं की जा सकती क्योंकि लोकतंत्र अगर साध्य है तो चुनाव उसका साधन । यद्यपि परसाई जी ने चुनाव प्रणाली की विसंगति पर व्यापक व्यंग्य–प्रहार तो नहीं किया, लेकिन कुछ एक चुभते हुए व्यंग्य उन्होंने अवश्य किए हैं। 'हम बिहार में चुनाव लड़ रहे हैं' उनकी एक ऐसी ही रचना है जिसमें उन्होनें चुनावों के जातिवादी गणित और चुनावों में विभिन्न दलों द्वारा चरित्र हनन के घटिया तरीकों के इस्तेमाल को फंतासी के कुशल प्रयोग द्वारा उद्घाटित किया है। परसाई जी फंतासी रचते हैं कि वे और भगवान कृष्ण बिहार से चुनाव लड़ने की तैयारी कर रहे हैं। लेकिन श्रीकृष्ण जिस किसी से भी अपने चुनाव लड़ने की बात कहते हैं और समर्थन मांगते है वह सबसे पहले उनकी जाति पूछता है और जाति के आधार पर ही वोट देने की बात कहता है, ''कुछ राजनीति करने वालों से बातें हुई। कृष्ण ने बताया कि चुनाव लड़ रहा हूँ। वे बोले–हाँ! हाँ! आप क्यों न लड़िएगा! आप भगवान हैं। आपका नाम है। आपका भजन होता है। आपकी आरती होती है। आपकी कथा होती है। आपका फोटू बिकता है। आप नहीं लड़ियेगा तो कौन लड़ेगा, आप तो यादव हैं न ? कृष्ण ने कहा मैं ईश्वर हूँ मेरी कोई जाति नहीं है। उन्होने कहा देखिए न इधर भगवान होने से तो काम नहीं चलेगा। आपको कोई वोट नहीं देगा। जात नहीं रखियेगा तो कैसे जीतियेगा। जाति के इस चक्कर से हम परेशान हो उठे– भूमिहार कायस्थ, क्षत्रिय, यादव होने के बाद ही कोई कांग्रेसी, समाजवादी या साम्यवादी हो सकता है। कृष्ण को पहले यादव होना पड़ेगा, फिर चाहे वे मार्क्सवादी हो जाएँ।''[13] देश की चुनाव प्रणाली पर यह तीखा व्यंग्य है। जहाँ प्रत्याशी की राजनीतिक विचारधार, उसकी ईमानदारी, निष्ठा और सच्चाई को नजर अन्दाज कर संकीर्ण जातीय भेद के आधार पर चुनाव लड़े व जीते जाते हैं। यहाँ परसाई जी के व्यंग्य की महीन धार चुनाव प्रणाली के जातीय आधार को नंगा कर देती है। वस्तुतः चुनाव प्रणाली वह चक्रव्यूह है जिसमें अपने समय का महान कूटनीतिज्ञ कृष्ण भी फंसकर रह जाता है। राजनीतिक विद्रूप को उघाड़ने के लिए कृष्ण के पौराणिक पात्र का परसाई जी ने सार्थक प्रयोग यहाँ किया है।

परसाई ने राजनीति में स्वार्थ की राजनीति करने वालों की भी खूब धज्जियाँ उड़ायी हैं। जिसमें लोग अपने फायदे के चक्कर में पूरी जनता को बरगलाकर रखना चाहते हैं। इसी तरह की राजनीति का उदाहरण परसाई की एक रचना ' चीनी डाक्टर भागा' है। इसमें परसाई जी ने 1982 के भारत चीन युद्ध की भूमिका पर यह बताने का प्रयास किया है कि कैसे एक नेता लोगों की भीड़ पैदा करता है और उन्हें भ्रमित करते हुए दूसरों का नुकसान कराता है। इस व्यंग्य कथा में एक नेता है जिन्हें लोग भैया साहब के नाम से बुलाते हैं उनका भाषण लगभग हर जगह हुआ करता था, उसमें अनिद्रा के शिकार लोग आधिक पहुँचते थे जो भाषण सुनते ही सोने लगते। लेकिन एक दिन तांगे पर प्रचार हो रहा था कि भैया साहब आज चीनियों के षणयंत्र का भण्डाफोड़ करेंगे, जिसकी जानकारी देश में और किसी के पास नहीं है। लोगों को भ्रम हुआ और वे सुनने पहुँचे। भैया साहब ने भाषण शुरू किया कि ''आप जानते हैं कि

देश भर में चीनी डाक्टर फैले हैं। ये हमारे बीच में हमारे बनकर कितने ही वर्षों से रह रहे हैं ये इसी पवित्र भूमि का अन्न खाते हैं, इसी का जल पीते हैं। पर ये लोग इसी भूमि से गद्दारी करते हैं।''[14] गद्दारी का प्रमाण वे देते हैं कि चीनी डाक्टर उनकी अक्ल की दाढ़ उखाड़ना चाहता था जिससे जनता एक कर्मठ देशभक्त खो देती। इस चीनी डाक्टर को भगाना उन्होंने अपना और देश का कर्त्तव्य समझा और लोगों में जोश भरना शुरू किया कि '' भाइयों कमर कस लो। देश आज पुनः बलिदान मांगता है। हम सत्याग्रह करेंगे..... सत्याग्रह की शक्ति के सामने डाक्टर टिक नहीं पाया..... चौथे दिन उसने अपना सामान बेचा और अपने बहनोई के जूतो की दुकान में काम करने कलकत्ता चला गया। शाम को वहाँ एक डाक्टर त्रिवेदी आ गये जो दाँत के ही डाक्टर थे।''[15] उनसे लोगो में पूछा कि आप यहाँ कहाँ से आ गये तो डाक्टर त्रिवेदी ने जवाब दिया ''बात यह है कि आप के यहाँ जो भैया साहब हैं, उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का ऐसा अच्छा ज्ञान है कि उन्होंने मुझसे हफ्ते भर पहले कह दिया था कि तुम तैयार रहो। यहाँ का चीनी डाक्टर भागेगा। लोगों ने पूछा कि आप उन्हे कैसे जानते हैं तो डाक्टर ने कहा कि वे मेरे सगे चाचा होते हैं मरीज ने कहा तभी.... देशभक्ति जागी थी।''[16] अर्थात् नेताओं के लिए अपने स्वार्थ और सम्बन्धों के आगे सब कुछ नश्वर है। वे अपने फायदे के लिए किसी भी हद तक जाने को तैयार रहते हैं। लेकिन इन सबसे बचने के लिए भारत की जनता को अपने बुद्धि विवेक से काम लेना होगा। परसाई ने अपने व्यंग्यों में जनता को जगाने का ही प्रयास किया है।

परसाई जी का देश के राजनीतिक यथार्थ का गहरा अध्ययन नौकरशाही के वास्तविक स्वरूप को समझने की एक नयी दृष्टि के साथ प्रतिबिम्बित हुआ है। नौकरशाही का मूल स्वरूप हमारे यहाँ जनविरोधी है, जनता के शोषण की प्रक्रिया को रोकने के स्थान पर वह उसे और तेज ही करता है। इस निरंकुश, भ्रष्ट, चापलूस, अवसरवादी तथा जनविमुख नौकरशाही के चरित्र को परत दर परत उघाड़ते हुए परसाई जी ने उसे जनता का शत्रु सिद्ध किया है। उनका व्यंग्य जनता को गहरे आत्मबोध का एहसास कराता है। परसाई जी 'फिल्म डिविजन के अंग्रेज' में नौकरशाही के रंग, दिखावे और अंग्रेजो की अंधभक्ति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि स्वतंत्र होने के बाद भी हमारे कितने अफसरों और सेक्रेटरियों को पछतावा होता रहता था कि हाय रे हम भारतीय क्यों हुए। अंग्रेज क्यों नहीं हो गये। साधो! ये सब तबियत से, वेशभूषा से, विचारों से और आस्थाओं से अंग्रेज हैं। ''ये तो टेम्स नदी को गंगा मानते हैं, कैलिफोर्निया को बद्रीनाथ मानते हैं। ये दुनिया में सबसे ऊँची चोटी गौरीशंकर को नहीं मानते, न्यूयार्क की एम्पायर स्टेट बिल्डिंग को मानते हैं। ये शास्त्री जी का दतर टेक्सास में खोलने की कोशिश करेंगे।''[17] अंग्रेज भक्त नौकरशाही पर यह करारा व्यंग्य है जो यत्नपूर्वक अपने को देश की बहुसंख्यक ग्रामीण जनता और उसकी समस्याओं से दूर रखती है और अभिजात्य का दिखावा व दंभ करती है।

भारतीय पुलिस की अमानवीयता और अत्याचार को लेकर परसाई जी ने बहुत व्यंग्य किया है लेकिन पुलिस तंत्र के सही स्वरूप और चरित्र को जानने के लिए उनकी एक कहानी 'इंस्पेक्टर मातादीन चांद पर' ही बहुत काफी है। इस कहानी में परसाई जी ने भारतीय पुलिस व्यवस्था को बिल्कुल नंगा करके रख दिया है जिससे उसके शरीर का एक–एक रोग, एक एक विकृति साफ–साफ नजर आने लगती है। इसमें वह कहते हैं कि हमारे यहाँ की पुलिस अपराधों एवं अपराधियों की खोज के प्रति इसलिए अधिक सचेत वह मुस्तैद नहीं रहती है क्योंकि व जानती है कि आपराधिक मामलों को रफा–दफा करके अपराधियों से अच्छा खासा पैसा बनाया जा सकता है। इसी विसंगति को उघाड़ते हुए जब परसाई जी वकोक्ति पूर्ण ढ़ंग से भ्रष्ट प्रशासन को स्वच्छ प्रशासन और रामराज कहते हैं तो व्यंग्य और भी गहरा हो जाता है।

समाज में बिना प्रतिभा व श्रम के आसान तरीकों से पैसा कमाने की बढ़ती प्रवृत्ति और स्वार्थी व लालची नौकरशाही और राजनेताओं ने राजतंत्र को इस हद तक भ्रष्ट किया कि राज्य व्यवस्था भ्रष्टाचार का उद्योग बनकर रह गयी। सामाजिक जीवन के साथ–साथ राजनीतिक व्यवस्था में फैले इस भ्रष्टाचार के प्रति भी परसाई जी की चिन्ता पूरे वेग के साथ व्यक्त हुई है। 'बकरी पौधा चर गई' उनकी एक ऐसी ही व्यंग्य रचना है जिसमें उन्होंने राजनीतिक तथा प्रशासनिक भ्रष्टाचार को उभारने के लिए प्रतीकों का सहारा

लिया है और इस प्रक्रिया में व्यवस्था की जनविरोधिता को भी उद्घाटित किया है। भ्रष्टाचार की बकरी बड़े अफसरों, मंत्रियों और नेताओं की मिलीभगत से योजनाओं के चबूतरे पर चढ़कर राष्ट्रीय विकास के पौधे को कैसे खा जाती है, इसी का सटीक वर्णन उन्होंने अपनी रचना में किया है। जब वे लिखते है–''विकास के पौधे को इसी तरह चरा जा रहा है। ब्लाक डेवलपमेंट अफसर की जीप 10 मील दूर पान खाने आती है। आधे मील सड़क बनवाने का खर्च दो लाख रूपया है। योजना का समान उठकर बाजार में बिकता है। नया पुल पहली बरसात में ही बैठ जाता है। इमारत बनते ही तिड़क जाती है।''[18] तो शासन के जनकल्याण की पोल खुल जाती है और भ्रष्टाचार का घिनौना चेहरा साफ–साफ नजर आने लगता है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि हरिशंकर परसाई अपने युग के राजनीतिक यथार्थ की बहुत गहरी समझ तथा निकट पहचान लेकर हमारे सामने आते हैं। राजनीतिक व्यवस्था के प्रति उनमें गहरा असंतोष है जिसकी आभिव्यक्ति राजनीतिक दलों, नेताओं, व्यवस्था और प्रशासन पर तीखे व्यंग्य प्रहारों के रूप में हुई है। राजनीतिक व्यवस्था के जन विरोधी चरित्र को उघाड़ने का काम उन्होने एक निश्चित सामाजिक सोद्देश्यता के तहत किया है और इसका सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष उसके वर्गीय आधार का उद्घाटन है। परसाई जी ने पूँजीवादी उत्पादन सम्बधों पर आधारित देश की राजतीतिक व्यवस्था के जन विरोधी चरित्र को उघाड़ते हुए जनता और शासन के बीच निरंतर बढ़ती दूरी, राजनीतिक दलों की सिद्धान्तहीनता और विचार शून्यता, राजनीतिज्ञों के दोहरे चरित्र, प्रशासन तंत्र की क्रूरता, चुनाव प्रणाली के भ्रष्ट स्वरूप, न्याय व्यवस्था, की पक्षधरता, स्वतंत्रता की निरर्थकता, भ्रष्टाचार, भाई–भतीजावाद की राजनीतिक विसंगतियों एवं विकृतियों को अपने व्यंग्य प्रहार का लक्ष्य बनाया है।

I UnHkk 'k

1. हरिशंकर परसाई–सदाचार का ताबीज (कैफियत) प्रकाशक–वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली–110002, पृ0सं0– 12
2. ऑखन देखी–सम्पादक–कमला प्रसाद, प्रकाशक–वाणी प्रकाशन नयी दिल्ली, 110002, संस्करण–द्वितीय–2000, पृष्ठ सं0–43
3. देश के इस दौर में–लेखक–विश्वनाथ त्रिपाठी प्रकाशक–राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली – 110002, पृष्ठ संख्या–57
4. मुक्तिबोध रचनावली, भाग–5, सम्पादक–नेमिचनद्र जैन पृष्ठ सं0–428
5. परसाई रचनावली, खण्ड 3 (सम्पादक मण्डल–कमला प्रसाद, धनंजय वर्मा, श्यामसुन्दर मिश्र, मलय, श्याम कश्यप) प्रकाशक–राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली–110002 पृष्ठ सं0–75
6. वही, पृष्ठ सं0–76
7. परसाई रचनावली, खण्ड 4 (सम्पादक मण्डल–कमला प्रसाद, धनंजय वर्मा, श्यामसुन्दर मिश्र, मलय, श्याम कश्यप) प्रकाशक–राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली–110002, पृष्ठ सं0–65
8. वहीं, पृ0सं0–121
9. परसाई रचनावली, खण्ड 1 (सम्पादक मण्डल–कमला प्रसाद, धनंजय वर्मा, श्यामसुन्दर मिश्र, मलय, श्याम कश्यप) प्रकाशक–राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली–110002, पृष्ठ सं0–355
10. वहीं, पृष्ठ सं0–356
11. वहीं, पृ0सं0 140
12. मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएँ–हरिशंकर परसाई–पृ0सं0 75 –76
13. वहीं, पृ0 सं0–250
14. वहीं,
15. वहीं, पृ0सं0–193–194
16. वहीं, पृ0सं0–194–195
17. परसाई रचनावली, खण्ड 5 (सम्पादक मण्डल–कमला प्रसाद, धनंजय वर्मा, श्यामसुन्दर मिश्र, मलय, श्याम कश्यप) प्रकाशक–राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली–110002, पृ0सं0–73
18. वहीं, पृ0सं0–33

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

vk/kfud fgUnh dfork e jke dk0; ijEijk

jkekJ; iVy*

आधुनिक हिन्दी कविता का प्रारम्भ भारतेन्दु युग से माना जाता है, भारतेन्दु युग की कविता राम काव्य पर पूरे काल में शून्य दिखाई पड़ती है। भारतेन्दु जी ने कुछ काव्य की रचना 'राम को विषय बना कर किया, जैसे श्री रामलीला, पुरुषोत्तम पंचक, श्री सीतावल्लभ स्त्रोत आदि यह अराधना स्तुति के लिए लिया गया था।

द्विवेदी युग में राम को आधार बनाकर बहुत सारी रचनायें लिखी गयी सभी रचनायें चरित्र प्रधान रही है। राम के चरित्र को उजागर किया गया है या रामायण के किसी पात्र को आधार बनाया गया है।

हम बात करते हैं द्विवेदी युग के महाकाव्य साकेत की। साकेत एक चरित्र प्रधान महाकाव्य है रचनाकार की दृष्टि घटनाओं की अपेक्षा पात्रों के चरित्र उद्घाटन की ओर ज्यादा रही है। चरित्रांकान की दृष्टि से भी कृति के नायक और नायिका का विशेष महत्व होता है तथा उन्हीं के चरित्रोद्घाटन तथ्यों की विशेष योजना की जाती है। किंतु साकेत के नायक– नायिकाओं के संदर्भ में इस पाश्चात्य लक्षण का अनुसरण किया गया है कि नायिका का नायक की पत्नी होना आवश्यक नहीं है, आलोच्य कृति का नायक तो राम ही है और लक्ष्मण उनका अनुचर होना ही अपना भाग्य समझते हैं। किंतु नायिका के पद पर सीता के स्थान पर उर्मिला ही अधिष्ठित है, कृतिकार का उद्देश्य उपेक्षित उर्मिला के चरित्र को उजागर करना है, किंतु उसे महाकाव्य को फलक पर प्रस्तुत करने के लिए उसके समक्ष राम कथा का आश्रय लेने की विवशता रही है। साकेत का प्रस्तुत कार्य रावण–वध न होकर उर्मिला और लक्ष्मण द्वारा राम के साथ चौदह वर्षों तक वनवास भोगकर लौटने में ही था, तथा राम के वन गमन का सीता–हरण ओर रावण–वध से अटूट संबंध था, अतः कवि ने इन घटनाओं का वर्णन तो किया है उसे उपेक्षित विस्तार न देकर, उन तथ्यों के चित्रण पर विशेष बल दिया है जिनसे उर्मिला और लक्ष्मण के चरित्रोद्घाटन में सहायता मिलती है तथा उर्मिला का चरित्र गौरवान्वित हो उठती है।

गुप्त जी का आस्तिक मन राम को पर ब्रह्म का अवतार तो मानता है, परंतु इस वैज्ञानिक युग में इस धारणा को तर्क संगत बनाने के लिय वह राम के व्यक्तित्व को संवारने तथा व्यापक बनाने का प्रयास भी करता है, यही कारण है कि साकेत के राम ईश्वर के रूप में चित्रित होते हुए भी उसका मानवीय रूप अधिक ग्राह्य हो सका है। इस संदर्भ में गुप्त जी के राम का कितना सार्थक कथन है–

lnk'k ;gk e ugh Lox dk yk;kA
ml Hkrry dk gh Lox cuku vk;kAA[1]

वंश परंपरा के अनुसार ज्येष्ठ भ्राता ही राज्य का अधिकारी होता है। कैकेयी ने भी कहा था राज्य का अधिकारी है ज्येष्ठ, लक्ष्मण वंश परंपरा खण्डन होना नहीं देख सकते ।

Hkyk o dku g tk jkT; y o]
fir Hkh dku g tk jkT; no\[2]

भरत राज्य लेने वाले कौन होते हैं और पिता को भी राज्य देने का क्या अधिकार है, सारा साम्राज्य तो प्रजा के लिए है हमारे देश में मुकुट तो ज्येष्ठ भ्राता ही पाता है।

*शोधार्थी, हिन्दी विभाग, डॉ0 हरीसिंह गौर केन्द्रीय विश्वविद्यालय, सागर, मध्य प्रदेश

अंत में हम यह कह सकते हैं कि साकेत का चरित्र प्रधान राम काव्य में एक प्रमुख स्थान है।

मैथिलीशरण गुप्त ने रामायण को आधार बनाकर लिखा गया काव्य पंचवटी है, जिस तरह परंपरागत वर्ण–व्यवस्था में आस्था रखने वालों के लिए साकेत में आदर्शयुक्त सामाजिक समानता के उदाहरण उपलब्ध होते हैं उसी तरह पंचवटी में भी सामाजिक समानता के अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं।

xg fu"kkn 'kcjh rd dk er]
j[kr Fk iHk dkuu e bUgA[3]
lekt uhp dgrk g]
ij g ;s Hkh rk ik.kh]
buu Hkh eu vkj Hkko g
fdr ugh o lh ok.khA

गुप्त जी समाज के संदर्भ में गांधी दर्शन का सहारा लेते हुए उच्चकोटि का आदर्श प्रस्तुत करते हैं। सतही तौर पर मृग और सिंह का एक घाट पर पानी पीना मात्र उक्ति ही प्रतीत होगी पर गुप्त जी इसके माध्यम से नितांन्त भिन्नता लिए हुए भारतीय समाज को समान आसन पर प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। पंक्तियों में देखिए–

vnk! vkF;s d fofiu jkT; e l[kiod lc thr g]
fl g vkj e x ,d ?kkV ij vkdj ikuh ihr gA[5]

उपर्युक्त उदाहरण में गुप्त जी के सामाजिक आदर्श के उस रूप का परिचय मिलता है, जिसमें समाज के अन्याय घटक समान धरातल प्रतिष्ठित है, किंतु गोस्वामी तुलसीदास की वर्ण–व्यवस्था अपरिवर्तन शील है। उनकी दृष्टि में शूद्र सदैव शूद्र रहने को लाचार है। आचार्य शुक्ल यह कह कर तुलसी को संकुलित वर्ण–व्यवस्था के समर्थ होने के आपेक्ष से बचा लेते हैं कि ''शूद्र से तुलसी का आशय अल्प विचार, बुद्धि, शक्ति और शील वाले समाज के कुछ लोगों से है। अतः इनको ऊँची स्थिति वालों के लिए सम्मान प्रदर्शित करना आवश्यक ही है।

उसमें कोई संदेह नहीं कि मानस में ऐसे भी स्थल आए हैं जिसमें तुलसी ने शूद्र तथा अनार्य जातियों को भी समान धरातल पर अपनाने की चेष्टा की है। इस तरह 'पंचवटी' मैथिलीशरण गुप्त की प्रमुख काव्य है।

द्विवेदी युग में एक महत्वपूर्ण प्रबंध काव्य अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का वैदेही– वनवास है। जिसमें सीता–परित्याग की कथा कही गयी है। उपाध्याय जी ने लोक में प्रचलित धोबी की कहानी को ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है। राम लोक–निंदा से चिंतित हो पहले भाईयों से मंत्रणा करते हैं, फिर गुरू से, वाशिष्ठ सीता को वाल्मीकि के आश्रम में भेजने का परामर्श देते हैं। राम इस रहस्य को सीता से छिपाते नहीं। जानकी गर्भवती होते हुए भी पति की इच्छा पूर्ति के लए यात्रा करना स्वीकार करती है और सास तथा बहिनों से विदा लेकर वन को चली जाती है। वाशिष्ठ उस संबंध में पत्र द्वारा वाल्मीकि को पहले ही सूचित कर चुके हैं। इस प्रकार यह कथानक अत्यंत सरल ढंग से विकसित होता है। अन्य प्रबंध–काव्यों की भांति इसकी मार्मिकता घटनाओं के उतार–चढ़ाव के अधिक वर्णन की सरलता में निहित है। पंचम सर्ग में राम–सीता के बीच जो संवाद चला है, उसमें कोई विशेषता नहीं है, फिर भी वह पाठक के मन को विषाद मन कर जाता है।

^^lnk vkidk pUnkuu voykd gh e thrh gA
:i&ek/kjh l/kk rf"kr cu pdkfjrk le ihrh gA^^[6]

आश्रम में लव–कुश का जन्म होता है। वे जब बारह वर्ष के हो जाते हैं तब एक दिन सूचना मिलती है कि भगवान राम ने अयोध्या में अश्वमेध यज्ञ का विधान किया है। सीता उसमें आमंत्रित हैं। आश्रम के निवासियों के साथ जानकी और लव–कुश को लेकर वाल्मीकि उस आयोजन में सम्मिलित होते है।

अयोध्या की समस्त प्रजा सीता को देखने के लिए उत्कंठित है। मंडप में वैदेही के पहुँचते ही राम उसका स्वागत करने के लिए आगे बढ़ते हैं। पति–पत्नी का सामना एक बार फिर होता है।

^^T;k gh ifr&ik.k u ifr&in ine dk
Li'k fd;k futho efr lh cu xb]
vkj g, vfrjd fpr mYyk l dk]
fn0; T;kfr e ifj.kr d iy e gb^^[7]

इस अभावों के होते हुए भी ''वैदेही–वनवास'' में एक मार्मिक काव्य–कथा है। सीता–परित्याग का तो प्रसंग ही ऐसा है कि वह प्राणी के हृदय को द्रवीभूत कर देता है। इस ग्रंथ में कवि ने आर्य–संस्कृति के चरित्र की आभा से आलोकित कर दिया है।

द्विवेदी युग के बाद छायावदी युग में 'राम की शक्ति पूजा' निराला द्वारा 1936 में रचित एक लम्बी कविता है जो उसके काव्य संकलन 'अनामिका' में संकलित है। 312 पंक्तियों की इस कविता की कथा पौराणिक है, परंतु निराला ने उसे सर्वथा मौलिक रूप में प्रस्तुत करते हुए प्रांसगिक बना दिया है राम–रावण का युद्ध चल रहा है इस युद्ध में 'राम' प्रबल पराक्रम दिखाने के बाद भी रावण पर विजय प्राप्त नहीं कर पाते। उनके बााण लक्ष्य भ्रष्ट हो रहे हैं, वानर सेना के वीर हतप्रभ हैं। रावण की सहायता शक्ति कर रही है अत'ः वह किसी से भी परास्त नहीं हो पा रहा है। एक मात्र हनुमान ही जैसे–तैसे राम की पराजय को टालते हुए युद्धरत हैं। राम निराश हैं, उन्हें लगता है कि अब रावण पर विजय कर पाना संभव नहीं है। जब उससे उसकी निराश के बारे में पूछा जाता है। तो वह दुःखी होकर कहते हैं कि अब तो दैव शक्तियां भी अन्यायी रावण का साथ दे रही हैं, अतः अब उस पर विजय पाना अंसभव है।

^^vU;k; ft/kj g m/kj 'kfDrA^^dgr Ny&Ny
gk x;s u;u] dN cn iqu% <yd nxty^^[8]

जामवंत विश्वस्त स्वर में राम को शक्तिपूजा का सुझाव देते हैं। राम ने शक्ति की साधना की देवी ने उसी परीक्षा भी ली जिसमें वह सफल हुए। वह हँसते हुए पूजा का एक कमल चुरा ले गई, राम ने जब अपना नेत्र चढ़ाने का संकल्प कर लिया तब देवी हंसते हुए प्रकट हो गयी और उन्हें विजयश्री का वरदान देकर उसके शरीर में समा गई।

^^gkxh t;] gkxh t;] g i:"kkRre uohuA^^
dg egk'kfDr jke d onu e gb yhu^^[9]

राम को भी शक्ति की पूजा कर शक्ति संचय, करना पड़ता है। युगीन आवश्यकताओं के अनुरूप शक्ति की मौलिक कल्पना हर व्यक्ति को करनी पड़ती हैं। वर्तमान युग में यह 'संगठन शक्ति' हो सकती है। शक्ति का यह स्वरूप सात्विक होता है 'तामासिक' नहीं। इसके बल पर उस तामसी शक्ति सम्पन्न रावण को पराजित किया जा सकता है।

राम की पूजा के बाद छायावादी कवियों में नागार्जुन ने राम कथा पर आधारित 'भूमिजा' की रचना की भूमिजा की रचना के मूल में लोकजीवन के साथ भारतीय नारी की जीवन गाथा कहीं अधिक प्रेरक है।

नागार्जुन ने रामकथा के भीतर से नारी जीवन की त्रासदी और नारी सुलभ संवदेनाओं को मार्मिक अभिव्यक्ति दी है। नारी के प्रति सम्मान और विनम्रता का भाव नागार्जुन के रचना की प्रमुख विशेषता है। यह कवि का संस्कार है। इसलिए वह सीता और अहल्या के जीवन के करूण प्रसंगो का चयन करता है। इसी के साथ रामकथा के महानायक राम को भी वह राजतंत्रीय परिवेश से निकालकर लोक भूमि पर प्रस्तुत कर लेता है।

सीता के अवतरण और उसकी भूसमाधि तथ अहल्या के शिलारूप को आधार बनाकर तीन खण्डों में भूमिजा की रचना की गयी है। कथा का उपजीव्य वाल्मीकि कृत रामायण हैं परंतु नागार्जुन ने तीन स्वतंत्र प्रसंगों को कथा का एक रूप दिया है, जिसके मूल में भी नारी जीवन के प्रति कवि का दृष्टिकोण तथा रामकथा की लोकभूमि का उपस्थापन है। नागार्जुन ने अपनी प्रकृति के अनुरूप भूमिजा को एक महाकाव्यात्मक औदात्य प्रदान किया है।

कथा प्रसंग यह है कि विश्वामित्र के साथ राम और लक्ष्मण उनका यज्ञ निर्विध्न पूरा कर और ताड़का, सुबाहु, आदि राक्षसों का वध कर, जनकपुर की ओर प्रस्थान करते हैं। वह ऋषि गौतम के आश्रम में पहुँचते हैं आश्रम की एक झोपड़ी में मुनी गौतम से अभिशाप से पत्थर हुई मुनि पत्नी अहल्या की मूर्ति जमीन पर स्थित थी। राम इस दृश्य को देखकर आश्चर्यचकित हो गए। राम की चिंतित देख लक्ष्मण पूछते हैं।

lk/kkj.k lh bl ifre k l vk;A
D;k g ft l g vk vkid k [knAA[10]

इस तरह हम भूमिजा को सीता और अहल्या पर आधारित नारी चरित्र प्रधान रामकाव्य कह सकते हैं।

प्रगतिशील कवियों में नरेश मेहता की 'संशय की एक रात' मुक्तक शैली में लिखा गया एक खण्ड काव्य है। जिसका कथानक अत्यंत संक्षिप्त है। राम सीता को वापस लाने के लिए सोचते हैं कि युद्ध करें या न करें इसी द्वन्दात्मक स्थिति से बहुचर्चित खण्ड काव्य का प्रांरभ होता है। अंत में यह संशयात्मक स्थिति दशरथ तथा जटायु की छाया के प्रवेश से तथा लक्ष्मण, विभीषण, हनुमान आदि के तर्क–वितर्क से समाप्त हो जाती है। और वे युद्ध के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं।

संशय की एक रात' चार सर्गों में विभाजित है। कवि ने समाज के सम्मुख व्यक्ति को झुकाकर यह सिद्ध किया है कि किसी भी युग में किसी का व्यक्तिगत मत नहीं चल सकता । उसे समाज में रहने के लिए समाज का निर्णय मानना ही पड़ेगा।

कवि मानव मूल्यों में कर्म के साथ ही सत्य की महत्ता को प्रतिपादित करता है। प्रस्तुत कृति में राम सत्य की महत्ता को स्वीकारते ही हैं पर उसकी दृष्टि में सत्य इस प्रकार चाहिए।

^^e lR; pkgrk g
;) l ugh]
[kM x l Hkh ugh
ekuork dk ekuo l lR; pkgrk gA^^[11]

इस कृति में राम की संपूर्ण संवदेना एकांतिक होते हुए भी सामाजिकता से ओत–प्रोत है।

आधुनिक हिन्दी कविता में राम–काव्य परंपरा चली आ रही है जिन कवियों ने रामायण को आधार बनाकर रचनायें की हैं वह सराहनीय है।

lUnHkZ %

1. मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृ. 167
2. मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृ. 59
3. मैथिलीशरण गुप्त, पंचवटी, पृ. 16
4. मैथिलीशरण गुप्त, पंचवटी, पृ. 8
5. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, गोस्वामी तुलसीदास, पृ. 23
6. विश्वम्भर 'मानव' रामकिशोर शर्मा, आधुनिक कवि , पृ. 38
7. सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, अपरा, पृ. 48
8. नागार्जुन, भूमिजा, पृ. 47
9. नरेश मेहता, संशय की एक रात, पृ. 31

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

f'kofl g lxj dk bfrgkl % oÙk&lxg.k dh nf"V ,o egÙo

foU/;kpy ;kno*

'हिन्दुई साहित्य का इतिहास' की 'प्रकाशकीय' में हिन्दुस्तानी एकेडमी के मंत्री एवं प्रसिद्ध भाषाविद् डॉ0 धीरेन्द्र वर्मा का कथन है कि ''हिन्दी में लिखा हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास शिवसिंह सेंगर कृत 'शिवसिंह सरोज' है जो 1877 ई0 में प्रकाशित हुआ था...।'' किन्तु यह भ्रांतिपूर्ण गलत बयानी है। असल में, 1877 ई0 में अर्थात् 'ज्येष्ठ शुक्ल 12 विक्रम संवत् 1934 में शिवसिंह सेंगर ने भूमिका लिखी थी।[1] शिवसिंह सरोज का प्रथम प्रकाशन अप्रैल 1878 ई0 में नवल किशोर प्रेस, लखनऊ से लीथो मुद्रण में हुआ था। इसकी पुष्टि डॉ0 किशोरी लाल गुप्त ने अपने शोध–प्रबन्ध–'सरोज–सर्वेक्षण' में भी की है। 'सरोज' के आठवें संस्करण के संपादक डॉ0 त्रिलोकी नारायण दीक्षित ने भी उक्त तिथि को ग्रंथ का प्रकाशन समय माना है। जार्ज ग्रियर्सन, आचार्य रामचंद्र शुक्ल तथा डॉ0 रामकुमार वर्मा ने वस्तुतः 'सरोज' के द्वितीय संस्करण को ही ग्रंथ का रचनाकाल मानकर उसका प्रकाशन समय 1883 ई0 घोषित कर दिया है– ''हिन्दी के कवियों का एक वृत्त–संग्रह ठाकुर शिवसिंह सेंगर ने सन् 1883 ई0 में प्रस्तुत किया था।''[2] अपने शोध–प्रबन्ध 'हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रंथों का आलोचनात्मक अध्ययन' में डॉ0 रुपचन्द पारीक ने धीरेन्द्र वर्मा के साथ अपनी सहमति दर्शाई है– ''अतः गणना करने पर डॉ0 धीरेन्द्र वर्मा द्वारा दी गयी 1877 ई0 की तिथि ही 'सरोज' की प्रथम प्रकाशन तिथि ठहरती है।'' यद्यपि अब यह मत सर्वमान्य हो चुका है कि 'सरोज' का प्रथम प्रकाशन 1878 ई0 ही था।

'सरोज–सर्वेक्षण' के प्रकाशकीय भूमिका में हिन्दुस्तानी एकेडमी के तत्कालीन सचिव उमाशंकर शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास को लिपिबद्ध करने की चेष्टा के संदर्भ में 'सरोज' से पूर्व तीन ग्रंथों का उल्लेख किया है–इस्त्वार द ला लितरेत्यूर ऐंदुई ए ऐंदुस्तानी (तॉसी), भाषा काव्य–संग्रह (पं0 महेशदत्त शुक्ल) तथा 'कवित्त रत्नाकर' (पं0 मातादीन मिश्र)। इनमें से तॉसी के ग्रंथ की जानकारी शिवसिंह सेंगर को नहीं थी। परवर्ती इतिहासकारों में तॉसी के ग्रंथ का उपयोग केवल जार्ज ग्रियर्सन कर पाये हैं। शेष दोनों ग्रंथों का आधार सरोजकार ने लिया है इनमें 'भाषा–काव्य–संग्रह' तो उनके ग्रंथ प्रणयन की मुख्य प्रेरणा बना। सरोज की भूमिका में शिवसिंह सेंगर ने लिखा है कि–

''मैंने सम्बत् 1933 में भाषा कवियों के जीवन चरित्र विषयक एक–दो ग्रंथ ऐसे देखे, जिनमें ग्रंथ–कर्त्ता ने मतिराम इत्यादि ब्राह्मणों को लिखा था कि वे असनी के महापात्र भाट हैं। इसी तरह की बहुत सी बातें देखकर मुझसे चुप न रहा गया। मैंने सोचा अब कोई ग्रन्थ ऐसा बनाना चाहिए जिसमें प्राचीन और अर्वाचीन कवियों के जीवन–चरित्र, सन्–संबत्, जाति, निवास–स्थान आदि कविता के ग्रंथों समेत विस्तार पूर्वक लिखे हों।''[3]

एक ग्रंथ की एक भूल ने शिवसिंह को प्रेरित किया कि वे एक ऐसा ग्रंथ लिखें जो ऐसी भद्दी भूलों से न भरा हो।...वह ग्रंथ जिसकी भूल ने 'सरोज' ऐसे ग्रंथ की उद्भावना को प्रेरित किया–'भाषा काव्य–संग्रह' है।[4] जिसके संपादक पं0 महेश दत्त शुक्ल थे। इसका रचनाकाल संवत् 1932 (1875 ई0) है, जो मुंशी नवल किशोर प्रेस, लखनऊ से छपा। इसको सेंगर महोदय ने सम्बत् 1933 में देखा। इस ग्रंथ में मतिराम का निम्न–लिखित विवरण दिया गया है–

*असि0 प्रोफेसर, हिन्दी, राजकीय पी0जी0 कालेज लालगंज, मीरजापुर

''ये कवि फतेपुर के जिले में असनी ग्राम के निवासी महापात्र भाट औरंगजेब बादशाह के समय में थे। इनके भाई का भूषण नाम था। मतिराम जी ने रसराजादि ग्रंथ बनाए और बादशाही दरबार में जन्म पर्यन्त रहे।''[5]

इस प्रकार महेशदत्त के 'भाषा–काव्य–संग्रह' की एक भूल सरोजकार के लिए प्रेरणा बन गयी। हिन्दी आलोचना में इस ग्रंथ का मूल्य सर्वप्रथम बाबू राधाकृष्ण दास ने पहचानते हुए इस पर नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग–5, 1901 ई0 में ''कुछ प्राचीन भाषा कवियों का वर्णन'' शीर्षक लेख लिखा। बाद में डॉ0 रामकुमार वर्मा ने अपने 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में इसे महत्त्व दिया। इधर 'हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रंथों का आलोचनात्मक अध्ययन' शीर्षक अपने शोध–प्रबन्ध में डॉ0 रुपचन्द पारीक ने 'भाषा–काव्य–संग्रह' को पर्याप्त महत्त्व देते हुए सरोजकार के मुख्य प्रेरक के रुप में प्रस्तुत किया है–

''ग्रंथ रचना की प्रणाली शिवसिंह सेंगर ने निश्चित रुप से महेश दत्त शुक्ल से ली है। यदि संग्रह और परिचय के कारण ही 'सरोज' को किसी भारतीय द्वारा लिखित हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास अथवा कविवृत्त संग्रह होने का महत्त्व और गौरव प्राप्त है तो यह महत्त्व और गौरव पं0 महेश दत्त शुक्ल को मिलना चाहिए, शिवसिंह सेंगर को नहीं।''[6]

मातादीन मिश्र द्वारा संकलित 'कवित्त रत्नाकर' भी 'भाषा–काव्य–संग्रह' की ही कोटि का ग्रंथ है जो दो भागों में 42 कवियों को समेटता है। इस ग्रंथ का भी काव्य–संग्रह और कविवृत्त उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है। इसका भी महत्त्व इतना ही है कि यह भी सरोज के आधार ग्रंथों में से एक है।[7] इसके अलावा शिवसिंह सेंगर ने जिन ग्रंथों को आधार बनाया उनमें प्रमुख हैं–राग कल्पद्रुम, कालिदास हजारा, कवि नाम माला, सुन्दरी–तिलक, भक्तमाल, सुजान चरित्र, काव्य–निर्णय तथा टाड कृत राजस्थान।

'शिवसिंह सरोज' के स्वरुप पर टिप्पणी करते हुए डॉ0 किशोरीलाल गुप्त ने अपने 'सरोज–सर्वेक्षण' के 'परिचय' शीर्षक भूमिका में बहुत स्पष्ट लिखा है–

कुछ लोगों को यह भी भ्रम हो सकता है कि यह सम्भवतः हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास है। बात ऐसी नहीं है। सरोज एक काव्य–संग्रह है। ग्रंथ के आरंभ में बारह पृष्ठों की भूमिका है। इसमें ग्रंथ लिखने का कारण, आधार ग्रंथों की सूची, संस्कृत साहित्यशास्त्र का निर्णय और भाषा–काव्य का निर्णय दिया गया है। तदन्तर 376 पृष्ठों में काव्य–संग्रह है। कुछ 839 कवियों की कविताएं कवि–वर्णानुक्रम से संकलित हैं। काव्य–संग्रह में पहले कवि का नाम दिया गया है, फिर उसका उदाहरण।...काव्य–संग्रह के अनन्तर 125 पृष्ठों में कुल 1003 कवियों के जीवन चरित्र दिये गये हैं।''[8] 'शिवसिंह सरोज' के प्रथम संस्करण (1878 ई0) का मुखपृष्ठ जो उनका परिचय कराता है, अधोलिखित है :

''शिवसिंह सरोज / जिस्को श्री सेंगर दंशावतंस श्रीमन्महाराजकुमार ठाकुर
रंजीत सिंह सेंगर तालुकेदार / कांथा जिले उन्नाव के पुत्र
शिवसिंह इनिस्पेक्टर पुलिस ने / बनाया
इस ग्रंथ में एक हजार भाषा कवि लोगों / के नाम और जीवन चरित्र सन् संवत्
कविता समेत लिखे गये हैं और संस्कृत / कवि गणों का स्वल्प वर्णन हुवा है
स्थान लखनऊ / श्रीयुत् मुंशी नवल किशोर जी के यंत्रालय में
छापी गई / अप्रैल सन् 1878 ईसवी''[9]

सरोजकार अपनी भूमिका में भाषाकाव्य–निर्णय नाम से हिन्दी कविता की एक क्षीण रुपरेखा देने की चेष्टा करते हैं जिससे उनमें निहित इतिहास–चेतना की झलक मिलती है। उसे यहाँ अविकल रुप से उद्धृत किया जाता है :

''महाराज विक्रमादित्य के समय तक भाषा–काव्य का प्रचार किसी प्रबन्ध और तवारीख में नहीं पाया जाता। राजा भोज की सभा में यह नव महान् कवि थे– धन्वंतरि, क्षपणक, अमरसिंह, शंकु, वेताल भट्ट, घट्टकर्पर, कालिदास, वाराहमिहिर, वररुचि। ये भी संस्कृत के कवि थे और कोई ग्रंथ भी उस समय का बनाया हुआ भाषा में नहीं देखा गया। भाषा काव्य का मूल खोजने के लिए मैंने बड़े–बड़े ग्रंथ यथावत् विधिपूर्वक बहुत उलटे–पुलटे पर कुछ भी पता नहीं चला। मैंने विचारा, कदाचित् भाषा का प्रथम आचार्य

चन्द कवीश्वर न हो, जिसने सं0 1125 (1068 ई0) में नाना छन्दों में 'पृथ्वीराज रासो' रचा है। जब 'पृथ्वीराज रासो' के पत्र उलटे, तो विदित हुआ कि चंद कवि से पहले भी बहुतेरे अच्छे–अच्छे कवीश्वर हो गुजरे हैं। तब मैंने टाड साहब की किताब 'राजस्थान' और 'राजतरंगिणी' इत्यादि हिन्दू राजाओं के प्राचीन इतिहास को देखना–भालना शुरु किया। किताब 'राजस्थान' में मुझको अवंतीपुरी के एक प्राचीन इतिहास में लिखा मिला कि संवत् सात सौ सत्तर में (713 ई0) अवंतीपुरी के राजा भोज के पिता राजा मान काव्यशास्त्र में महानिपुण थे। उन्होंने संस्कृत अलंकार विद्या पूषी नाम एक बन्दीजन को पढ़ाई। पूषी कवि ने संस्कृत अलंकार को भाषा दोहरों में वर्णन किया। इसी समय से भाषा–काव्य की जड़ पड़ी। और कुछ आश्चर्य की नहीं कि उन्हीं दिनों किसी–किसी कवि ने नायिका भेद इत्यादि के भाषा–ग्रंथ बनाये हों। परन्तु राजा भोज के समय में संस्त विद्या का अधिक प्रचार होने के कारण भाषा यथावत् उन्नति को प्राप्त न हुई हो। संवत् 812 में राउत खुमान सिंह, गुहलौत सिसौदिया, महाराजा चित्तौड़गढ़, भाषा–काव्य के बड़े अधिकारी हुए। संवत् 900 में 'खुमानरासा' नामक ग्रंथ भाषा में अपने नाम से नाना छंदों में बनाया। पीछे संवत् 1124 में चंद कवीश्वर ने पृथ्वीराज रासा भाषा में बनाना प्रारंभ किया, और 69 खण्डों में एक लक्ष श्लोक ग्रंथ को रचकर पृथ्वीराज चौहान का जीवन चरित्र सम्वत् 1120 से सं0 1149 तक का वर्णन किया। इन्हीं दिनों जगनिक और केदार कवीश्वरों ने चंदेलों और गोरियों के प्रबन्ध भाषा में लिखे। संवत् 1220 में कुमारपाल खींची महाराज अन्हलवारा के नाम से एक ग्रंथ भाषा में 'कुमार पाल चरित्र' बनाया गया जिसमें महाराज कुमारपाल के जीवन चरित्र और वंशावली का वर्णन है। सम्वत् 1357 में चंद कवीश्वर वंशोद्भव सारंगधर बन्दीजन ने, जो काव्य विद्या में महान् पंडित था, 'हमीर रासा' और 'हमीर काव्य' ये दो ग्रंथ भाषा में बनाये। 'हमीर रासा' में महाराज हमीर देव चौहान रणथम्भौर वाले का जीवन–चरित्र और 'हमीर–काव्य' में काव्य–विद्या के सब अंग वर्णन किये। संवत् 1457 महाराणा कुंभकर्ण चित्तौड़ गढ़ के राना ने 'गीत गोविंद' को संस्त से भाषा करके नाना छन्दों को प्रकट किया। उनकी रानी मीराबाई ने कवियों का ऐसा मान किया कि उस समय भाषा–काव्य बनाने की हिन्दुस्तान में बड़ी चर्चा हो गयी। जिस स्थान में राना कुम्भकर्ण और मीराबाई अपने ईष्ट देव के सामने अपनी बनाई हुई कविता को गाते और अन्य कवीश्वरों के काव्य को श्रवण करते थे, उसकी तैयारी में 99 लाख रुपये खर्च हुए थे। संवत् 1500 में भाषा–काव्य सारे हिन्दुस्तान में ऐसा फैला कि गाँव–गाँव, घर–घर कवि हो गये। इधर ब्रज भूमि में बल्लभाचार्य, विट्ठलस्वामी और हरिदास जी महात्माओं के शिष्य ऐसी कविता में निपुण हुए, जैसे न कोई हुए थे न कभी होंगे। सूरदास जी, कृष्णदास, परमानन्द, कुंभनदास, चतुर्भुज, छीतस्वामी, नन्ददास, गोविन्ददास ये आठ कवि अष्ठछाप के नाम से विदित हुए। इन आठों ने शृंगार रस के समुद्र ब्रज भूमि में बहाये, जिन समुद्रों ने सारे हिन्दुस्तान को आनन्द रुपी लहरों में मग्न कर दिया। उधर श्री गोस्वामी तुलसीदास, केशवदास, बलभद्र, ब्रह्माराजा, बीरबल, गंग, रहीम खान–खाना, नरहरि, करन इत्यादि ने नवरस को दशांग साहित्य समेत और संस्कृत साहित्य के बड़े–बड़े ग्रंथों के आशय भाषा में ऐसी विधि से प्रकट किए कि हर एक छोटे–बड़े राजा, बाबू, गनी–गरीब काव्यशास्त्र के विनोद में काल व्यतीत करने लगे। केशव कृत 'कविप्रिया' ने सब संस्त के पंडितों को इस बात पर आरुढ़ कर दिया कि वे सब संस्त को छोड़ भाषा–काव्य करने लगे। इसी कारण संवत् 1700 ई0 में चिंतामणि, मतिराम, भूषण, कलिदास, कवीन्द्र, दूलह, देव करन, सुखदेव, श्रीपति, ठाकुर, निवाज, बिहरीलाल, वीरतन, कान्ह, बेनी, मंडन, भगवत, भोज, नृपशम्भु, सुन्दर, सुरति मिश्र, देवीदास, मुबारक, रसखानि, रामकवि इत्यादि श्रेष्ठ कवियों ने भाषा काव्य के बड़े–बड़े अद्भुद् ग्रंथ बनाये। संवत् 1800 में जैसे अच्छे कवि हुए, ऐसे किसी शतक के भीतर नहीं हुए थे। भिखारीदास ने इसी शतक के भीतर संस्कृत साहित्य को भाषा में भलीभाँति से प्रकट किया। रघुनाथ, गोकुलनाथ, मुकुन्दलाल, मणिदेव, बनारसी, कुमार, किशोर, खुमान, ग्वालराय, दत्त, पद्माकर, गुमानमित्र, चंदनराय, नृपयशवन्त, शम्भुनाथ, विक्रम, सुखदेव (2), देवकीनंदन, जगत सिंह, शिवकवि, परताप साहि, रुपसाहि, मृदव, सुवंश, शिवलाल, मून, बलदेव बघेलखण्डी, रसलीन, बेनी, प्रवीन, पजनेस इत्यादि इसी शतक में हो गये हैं। संवत् 1900 अर्थात वर्तमान शतक में– लाल त्रिपाठी, सरदार बनारसी,

गणेश, द्विजदेव, क्षितिपाल, दीनदयाल गिरि, राजा रणधरी सिंह, राजा रघुराजराज सिंह सेवक, बिहारीलाल, भोज, इत्यादि बहुतेरे सतकवि कैलासवासी हो चुके और बहुतेरे विद्यमान हैं।

अब इस समय बहुधा कवि लोग नीचे लिखे हुए ग्रंथों को पढ़ते हैं। पिंगलों में सुखदेव मिश्र कृत वृत्तविचार, कंद विचार, फाजिल अली प्रकाश, भिखारीदास कृत छंदोर्णव। साहित्य में काव्य–विभूषण, फतेह–प्रकाश, रस–कल्लोल,काव्य–कल्पद्रम, काव्य–सरोज, ऋशिकुल–कल्पतरु, कवि वल्लभ, व्यंग्य–पचासा और श्रृंगार अलंकार में भाषा–भूषण, इस रहस्य, रसिक–प्रिया, कविप्रिया, सभा प्रकाश, काव्य रसायन, काव्य–विलास, व्यंगार्थ कौमुदी, अलंकार भाषा इत्यादि।''[10]

यद्यपि 'सरोज' के इस विवरण में अनेक भ्रांतियाँ हैं और सरोजकार के समय और संसाधनों की सीमाओं के नाते उनसे इससे अधिक की आशा करना भी व्यर्थ है। वर्णानुक्रम से लिखे गये उनके ग्रंथ की यह भूमिका स्पष्टतः हिन्दी (भाषा) काव्य के विकास की ऐतिहासिक चेतना और कालक्रमिकता की सूचना तो देती ही है। सूक्ष्मतापूर्वक अवलोकन करने पर हम देख सकते हैं कि शिवसिंह सेंगर ने शताब्दियों के आधार पर भाषा–काव्य के समूचे विकास को काल–विभाजित करने का भी प्रयास किया हैं। उन्होंने 12वीं शताब्दी से लेकर 18वीं शताब्दी तक के काव्य–विकास को सौ–सौ वर्षो के कालखण्ड में विवेचित करने का प्रयास किया है। और सूक्ष्मता से देखें तो उनकी दृष्टि में अनायास ही प्रवृत्ति मूलक काव्य चेतना भी निहित दिखलाई पड़ेगी। उनके उक्त विवरण में रासा काव्य, कृष्णकाव्य, रामकाव्य तथा रीतिकाव्य की परंपराओं का स्पष्ट विभाजन परिलक्षित होता है। 'शिवसिंह सरोज' की भूमिका में ही सेंगर लिखते हैं कि–

''जिन कवियों के ग्रंथ मैंने पाये, उनके सन्–संवत् ठीक–ठीक लिखे हैं, और जिनके ग्रंथ नहीं मिले, उनके सन्–संवत् हमने अटकल से लिख दिये हैं। जो कहीं एक कवि का नाम दुबारा लिखा गया हो; अथवा एक कवि का कवित्त दूसरे कवि के नाम से लिखा हो, तो विद्वज्जन इसे सुधार लें, और मेरी भूल को क्षमा करें। क्योंकि मुझे काव्य का कुछ भी बोध नहीं है। कवि लोग इस ग्रंथ में प्रशंसा के बहुत कवित्त देखकर कहेंगे कि इतने कवित्त वीर–पद्य के क्यों लिखे? मैंने सन्–संवत् और उस कवि के समय निर्माण करने को (के लिए) ऐसा किया है; क्योंकि इस संग्रह के बनाने का कारण केवल कवियों के समय, देश, सन्–संवत् बताना है।''[11]

सेंगर जी कथन से निम्न तीन बातें तो एकदम साफ हैं–

1. सरोज में दिये गये सन्–संवत् सब प्रामाणिक नहीं है, कुछ अटकल–अनुमान पर आधारित हैं।
2. सरोजकार अपनी सीमाओं को बखूबी जानता है और मुक्त कंठ से उसे स्वीकार करता है।
3. तीसरी और सबसे महत्त्वपूर्ण बात 'सरोज' के कवि–परिचय खण्उ में दिये गये– 'उ0' का मतलब रचनाकार की 'उपस्थिति' से है, 'उत्पन्न' से नहीं। ग्रियर्सन ने इसे 'उत्पन्न' समझा था। सेंगर की यह घोषणा और मंशा कि संग्रह बनाने का कारण केवल कवियों के समय, देश आदि को बताना या निर्माण करना है। ग्रंथ में प्रशंसा के बहुत वीर–पद्य (कवित्त) देकर 'कवि के समय निर्माण' करने की सेंगर की मंशा परिचय से कहीं आगे कवि के समूचे युगीन संदर्भ को उभारने की थी जो आगे के इतिहासकारों/अध्येताओं के नजरिए से भी और सेंगर के इतिहासबोध के नजरिए से भी क्षीण ही सही पर रेखांकित करने लायक पहल है।

सरोज के जीवनी–खंड में कवियों का इतिवृत्त ही नहीं दिया गया है; कभी–कभी उनकी कविता पर सरोजकार ने अपना अभिमत भी दिया है। कवियों की कविताओं पर जो टीका–टिप्पणी की गई है, वह निश्चय ही आलोचना का अंग है। अतः सरोज का अध्ययन आलोचना ग्रंथ के रुप में भी किया जा सकता है। शिवसिंह ने कवियों के सम्बन्ध में बहुत कम लिखा है और सभी कवियों के सम्बंध में उन्होंने अपना अभिमत दिया भी नहीं है। ये अभिमत प्रायः प्रशंसात्मक हैं। सेंगर ने बीर कवि दाऊ, काशीराज कवि, गंगाधर, मंडन, आलम, घनानंद, केशव, चन्दबरदायी, तुलसीदास, ठाकुर चिंतामणि, तोष, भिखारीदास, नन्ददास, भूषण, मतिराम, बिहारी, रसखानि, सेनापति तथा सुखदेव मिश्र आदि प्रमुख कवियों पर आलोचनात्मक अभिमत दिये हैं जबकि कबीर, जायसी, सूर, मीरा, पद्माकर द्विजदेव और भारतेंदु आदि के मात्र विवरण हैं; कोई आलोचनात्मक टिप्पणी नहीं।

सेंगर कुछ कवियों की प्रशंसा नहीं करते और बहुत स्पष्ट शब्दों में उन्हें साधारण कवि कहते हैं। अयोध्या प्रसाद शुक्ल के संबंध में वे लिखते हैं– ''यह कुछ विशेष उत्तम कवि तो नहीं थे, हाँ, कविता करते थे।'' सीताराम दास बनिया के लिए लिखा है, ''जोड़ गाँठ लेते हैं।'' डॉ0 किशोरी लाल गुप्त ने लिखा है कि ''सरोज के आलोचनात्मक अंशों को प्रभाववादी समीक्षा के अन्तर्गत रखा जा सकता है, जहाँ आलोचक अपना निर्णय भी देता चलता है। शिवसिंह के पहले कवियों के सम्बन्ध में किसी भी ज्ञात आलोचक ने इस प्रकार गद्य में अपना लिखित अभिमत नहीं दिया था। अतः हिन्दी के प्रारंभिक आलोचकों में शिवसिंह का नाम आदर से लिया जाना चाहिए।[12] हिन्दी में शिवसिंह सेंगर ने ही 'सरोज' के माध्यम से प्रभाववादी समीक्षा का उद्‌भव किया। प्रभाववादी समीक्षा का उद्‌भव सन् 1878 ई0 से मान सकते हैं, जब 'शिवसिंह सरोज' का प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ।[13]

यद्यपि इन सारी संभावनाओं एवं बीज रुप दृष्टियों के साथ 'सरोज' त्रुटियों का विशाल पट भी था। हलांकि फिर भी यह अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखता ही है। ग्रियर्सन के 951 कवियों में से 886 कवियों का आधार 'सरोज' ही है। मिश्रबंधु, आचार्य रामचंद्र शुक्ल और अन्य परवर्ती साहित्येतिहासकार भी सरोज के कम ऋणी नहीं हैं। आधुनिक करने की प्रेरणा तो वह देता ही है। नलिन विलोचन शर्मा ने सरोज का महत्त्व प्राचीनता तथा परिमाण दोनों दृष्टियों से माना है। उनके अनुसार–

''जहाँ तक साहित्येतिहास के रुप में सरोज के महत्त्व का प्रश्न है, यह ग्रंथ सही अर्थ में कवि–वृत्त–संग्रह भी नहीं कहा जा सकता, साहित्यिक इतिहास तो दूर की बात है, क्योंकि कवियों के जन्मकाल इत्यादि के संबन्ध में जो विवरण हैं, वे भी अत्यंत संक्षिप्त और बहुधा अनुमान पर आधारित हैं। फिर भी इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि ग्रियर्सन ने 'Modern Vernaculer Literature of Northern Hindustan' में 'सरोज को ही आधार बनाया है, और उसके अभाव में मिश्रबंधुओं को 'विनोद' तैयार करने में काफी कठिनाई होती।''[14]

l UnHk%

1. भूमिका; रामचंद्र शुक्ल का पहला हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामनिरंजन परिमलेन्दु साहित्य– भण्डार, इलाहाबाद
2. प्रथम संस्करण का वक्तव्य, हिन्दी सहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, 1929 ई0
3. भूमिका; शिवसिंह सरोज– डॉ0 त्रिलोकी नारायण दीक्षित (संपादक, आठवाँ संस्करण)
4. भूमिका; सरोज–सर्वेक्षण– सर्वेक्षण– डॉ0 किशोरीलाल गुप्त, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद पृ0– 33
5. भाषा–काव्य–संग्रह; पृ0– 136; संदर्भ : भूमिका; 'सरोज सर्वेक्षण'
6. हिन्दी–साहित्य के इतिहास ग्रंथों का आलोचनात्मक अध्ययन : रुपचंद पारीक; पृ0– 56
7. सरोज–सर्वेक्षण– डॉ0 किशोरी लाल गुप्त, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद 1935 ई0, पृ0– 43
8. उपरिवत्; पृ0– 19
9. उपरिवत्; डॉ0 गुप्त द्वारा ग्रंथारंभ में लगाई गयी शिवसिंह सेंगर की हस्तलिखित प्रतिलिपि की नकल
10. भूमिका; 'शिवसिंह–सरोज'– संपादक : डॉ0 त्रिलोकी नारायण दीक्षित (आठवाँ संस्करण) पृ0– 8–12
11. उपरिवत्; भूमिका (संपा0– डॉ0 त्रिलोकीनारायण दीक्षित)
12. सरोज–सर्वेक्षण; पृ0– 117–118
13. भूमिका; रामचंद्र शुक्ल का पहला हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामनिरंजन परिमलेन्दु, साहित्य–भण्डार, इलाहाबाद
14. साहित्य का इतिहास–दर्शन : नलिन विलोचन शर्मा, विहार राष्ट्र–भाषा परिषद्, पटना, पृ0–77

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

x.¨'k'kdj fo|kFkh dh fuek.k&Òfe

vfLerk frokjh*

हिंदी प्रदेश में नवजागरण की शुरुआत 19वीं सदी के अंतिम दौर में हुई और बीसवीं सदी के दूसरे दशक में उसे सबसे मौलिक पहचान गणेशशंकर विद्यार्थी (1890–1931) ने दी। वे एक ओर यदि लोकमान्य बालगंगाधर तिलक और आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के मानस शिष्य थे, तो दूसरी ओर फ्रांस की राज्य क्रांति और रूस की समाजवादी क्रांति से भी प्रभावित थे। इसीलिए राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन की जो रूपरेखा उनके मानसपटल पर विकसित हुई, उसमें साम्राज्यवाद के साथ–साथ सामंतवाद भी निशाने पर था, गांधी के अहिंसावादी लोकप्रिय रास्ते के साथ–साथ भूमिगत सशस्त्र क्रांतिकारी आंदोलन का महत्व भी निर्विवाद था।

उन्होंने राष्ट्रीय मुक्ति के प्रश्न को राजनीतिक–आर्थिक संदर्भों के साथ–साथ साहित्य, संस्कृति और समाज के संदर्भों से जोड़ा; इसीलिए उनके साथ गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, भगत सिंह, चन्द्रशेखर आजाद, रामप्रसाद 'बिस्मिल', अशफाकउल्ला खाँ, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', कृष्णदत्त पालीवाल, दशरथ प्रसाद द्विवेदी, श्रीराम शर्मा, देवव्रत शास्त्री आदि कवि–लेखक–पत्रकार और क्रांतिकारी साथियों की एक कतार भी थी।

गणेशशंकर विद्यार्थी के पूर्वज जौनपुर के रहने वाले थे। सन् 1857 ई. के स्वतन्त्रता संग्राम के पश्चात उनके प्रपितामह बाबू देवीप्रसाद हथगाँव (जिला–फतेहपुर) चले आये थे और वहाँ के प्रसिद्व रईसों में माने जाने लगे थे। हथगाँव[1] बादशाही जमाने से कायस्थों का प्रसिद्ध केन्द्र रहा है। इसी वंश में विद्यार्थी जी का जन्म हुआ था। बाबू देवीप्रसाद के पुत्र का नाम बाबू वंशगोपाल था। वे आबकारी इन्स्पेक्टर थे। इन्हीं इन्स्पेक्टर के लड़के विद्यार्थी जी के पूज्य पिता बाबू जयनारायण जी थे। जयनारायण जी के भी दो पुत्र हुए। एक बाबू शिवव्रत नारायण (शिव बाबा) और दूसरे गणेशशंकर विद्यार्थी (गणेश जी)।

श्रीयुत जयनारायण जी उर्दू और फारसी के प्रकाण्ड पंडित थे। अंग्रेजी का अध्ययन भी उन्होंने अपने स्वध्याय उद्योग से किया था। वे ज्योतिष के अच्छे ज्ञाता भी थे। सन् 1923 में फतेहपुर वाले भाषण के लिए उन्होंने छह मास पहले ही विद्यार्थी जी को आगाह कर दिया था और कहा था कि वे व्याख्यान आदि जरा सम्भल के दें। ज्योतिष के अनुसार यह वर्ष अच्छा नहीं है। शिकोहाबाद (मैनपुरी) के थानेदार वाला 'प्रताप' का मानहानि का मुकदमा जिस हाईकोर्ट में गया उस समय विद्यार्थी जी के मित्र पं. शिवनारायण जी मिश्र ने उनसे (विद्यार्थी जी के पिता से) पूछा था–''चाचा जी, इस मुकदमें में हम लोगों की हार होगी या जीत?'' उत्तर मिला था कि हाईकोर्ट से तुम लोगों की विजय होगी और अन्त में उनकी बात ठीक निकली।[2] बाबू जयनारायण जी की दर्शन के प्रति भी अभिरूचि थी। वे अध्यापक होने के साथ ही फारसी के पारंगत विद्वान् थे और दाराशिकोह के द्वारा संकलित एवं अन्य अनूदित उपनिषदों का उन्होंने बड़े प्रेम और मनोयोग के साथ अध्ययन किया था। इसी अध्ययन के परिणामस्वरूप उन्होंने 'उपनिषद्–सुधा' नामक एक विशद् पुस्तक लिखी जो 'प्रताप' प्रेस से प्रकाशित हुई थी। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जी ने इस पर अपना मत दिया था– 'यह पुस्तक जिज्ञासुओं के बड़े काम की है।'[3] यहाँ यह बात आश्चर्यजनक प्रतीत होती है कि अपनी ज्योतिषविद्या से बाबू जयनारायण जी को यह ज्ञात था कि विद्यार्थी जी का देहावसान किसी भीषण दुर्घटना से होगी। इस आघात की पूर्वकल्पना से वे बहुत दुःखित थे।

*शोध–छात्रा; हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

बालक गणेश जी का जन्म इलाहाबाद के अतरसुइया मुहल्ले में उनके ननिहाल में 26 अक्टूबर, सन् 1890 को हुआ था। इनकी माता श्रीमती गोमती देवी धार्मिक विचार की महिला थीं और रामचरितमानस का नित्य पाठ किया करती थीं। विशेष पठित न होते हुए भी वे बहुश्रुत थीं और व्यावहारिक ज्ञान की कोष थीं।[4] उपदेशपूर्ण कहानियों का तो वे भण्डार थीं। गणेश जी की नानी भी उनकी माता की तरह धर्म–परायण महिला थीं। गणेश जी जब गर्भ में थे, तब उनकी नानी ने स्वप्न के आधार पर यह निश्चय कर लिया कि बालक का नाम गणेश रखा जाएगा और यदि कन्या हुई तो गणेशी रखा जाएगा। ईश्वर की कृपा से उनकी कामना पूर्ण हुई और बालक का जन्म हुआ। नामकरण का तो पहले से ही निश्चय हो चुका था। जन्म के समय बालक गणेश की आँखें कुछ छोटी–छोटीं थीं, पर जैसे–जैसे समय बीतता गया, उनकी आँखों ने बढ़कर उचित आकार प्राप्त कर लिया और वे इतनी स्नेहिल हो गईं कि उन्होंने सारे देश को अपने प्रेमपाश में बाँध लिया।

विद्यार्थी जी की उम्र जब पाँच साल की थी, तब उनके पिता जी ग्वालियर रियासत के मुंगावली नामक स्थान में ऐंग्लो वर्नाक्यूलर स्कूल में सेकेण्ड मास्टर नियुक्त हुए थे। अतः विद्यार्थी जी के बाल्याकाल का अधिकांश भाग वहीं बीता और उनकी शिक्षा का प्रारम्भ भी वहीं से हुआ था। पिताजी ने उन्हें शुरू में उर्दू पढ़ाना प्रारम्भ कराया; अंग्रेजी पढ़ना बाद को शुरू हुआ। सन् 1901 में जब विद्यार्थी जी ग्यारह साल के थे, उनके पिता का स्थानान्तरण मुंगावली से भेलसा को हो गया।[5] विद्यार्थी जी भी उनके साथ वहाँ पर कुछ दिन रहे। 1905 ई0 में विद्यार्थी जी ने अंग्रेजी से मिडिल पास किया। मिडिल में उन्होंने हिन्दी द्वितीय भाषा के रूप में पढ़ी थी।

मिडिल पास करने के बाद, पिता ने उन्हें कानपुर अपने बड़े बेटे शिवव्रत नारायण के पास भेज दिया कि वे कहीं नौकरी लगवा देंगे। लेकिन शिवव्रत जी पिता की तुलना में कहीं अधिक व्यापक दृष्टि वाले पुरुष थे। आर्यसमाज की गतिविधियों में सक्रिय थे और उन्हीं की प्रेरणा से तत्कालीन प्रमुख पत्र–पत्रिकाओं के गणेश जी तब तक नियमित पाठक बन चुके थे। अतः बड़े भाई ने एंट्रेंस की किताबें खरीदकर उन्हें फिर पिता के पास वापस भेज दिया कि प्राइवेट तौर पर तैयारी करो और इम्तिहान दो। इस तरह अंग्रेजी, फारसी, इतिहास और गणित विषय लेकर गणेश जी ने द्वितीय श्रेणी में एंट्रेंस पास किया और 1907 में इलाहाबाद जाकर कायस्थ पाठशाला में एफ0ए0 में दाखिला लिया। वस्तुतः यह इलाहाबाद काल ही गणेशशंकर के भावी व्यक्तित्व का निर्णायक दौर बना। लेखन के बीज तो उनमें शुरू से ही पड़ गए थे और मिडिल की पढ़ाई के दौरान ही 'हमारी आत्मोत्सर्गता' नामक एक महत्वपूर्ण लेख भी लिख डाली था, लेकिन पत्रकारिता और गंभीर लेखन से उनका वास्तविक संपर्क इलाहाबाद से ही शुरू हुआ। 'स्वराज्य' अख़बार के जरिए उन्होंने उर्दू में लिखना शुरू किया और पंडित सुंदरलाल के सान्निध्य से वे हिंदी की ओर आकृष्ट हुए।

विद्यार्थी जी को 'कर्मयोगी' से विशेष प्रेरणा मिली। पं0 सुन्दरलाल जी ने लिखा है, ''वह (कर्मयोगी) पत्र बहुत ही मार्के का और लोकप्रिय था। जब वह पत्र निकलता था, श्री गणेशशंकर विद्यार्थी, जो उन दिनों शायद विद्यार्थी ही थे– मेरे पास बहुत आया–जाया करते थे। हममें बड़ा प्रेम था। वह शुरू से ही होनहार थे। देशभक्ति की ज्वाला बड़े जोरों के साथ उनके हृदय में शुरू से ही धधकती थी। 'कर्मयोगी' के लिए उन्होंने बहुत कुछ लिखा थी। मुझे इस चीज का गर्व के साथ स्मरण है कि स्वर्गीय गणेश जी ने हिन्दी लिखना 'कर्मयोगी' के दतर में बैठकर ही शुरू किया और सीखा। उनकी पत्रकारिता का वहीं से प्रारम्भ होता है।''[6]

स्वास्थ्य कारणों से उन्होंने पढ़ाई बीच में छोड़ दी फिर कानपुर में करेंसी दफ्तर, पी.पी.एन. हाई स्कूल, बीमा कंपनी आदि, एक के बाद एक कई नौकरियाँ बदलीं, लेकिन कहीं भी ज्यादा दिन टिक नहीं पाए। राष्ट्रीय भावनाएँ आड़े आती रहीं। शुरू की दो जगहों से तो उन्हें महज इसीलिए इस्तीफा देना पड़ा कि खाली वक्त में वे 'कर्मयोगी' अखबार पढ़ा करते थे। कुछ दिनों होम्योपैथी प्रैक्टिस और ट्यूशन करके भी काम चलाया और अन्ततः स्वाधीन राजनीतिक जीवन के साथ स्वतंत्र पत्रकारिता को अपना पेशा बनाया।

उनकी बेकारी और स्थायित्व के लिए सभी साथी चिंतित रहते। अपने–अपने स्तर पर वे प्रयत्न भी कर रहे थे। तभी महावीर प्रसाद द्विवेदी को 'सरस्वती' के लिए एक सहकारी संपादक की जरूरत हुई। महाशय काशीनाथ, द्विवेदी जी को जानते थे। उन्हीं की कोशिश से 2 नवम्बर, 1911 को 25 रूपये मासिक वेतन पर गणेशशंकर विद्यार्थी 'सरस्वती' में द्विवेदी जी के सहकारी के बतौर नियुक्त हो गए।

'सरस्वती' में विद्यार्थी जी ने एक साल तक काम किया। श्रीकांत एम.ए. और गजेंद्र नामों से कई लेख और टिप्पणियाँ इस बीच सरस्वती में उनकी निकलीं और अपनी प्रतिभा व लगन से उन्होंने आचार्य द्विवेदी को मुग्ध कर लिया। द्विवेदी जी ने एक जगह लिखा भी है– 'उनकी शालीनता, सुजनता, परिश्रमशीलता और ज्ञानार्जन की सदिच्छा ने मुझे मुग्ध कर दिया। उधर वे मुझे शिक्षक या गुरु मानते थे, इधर मैं स्वयं ही कितनी बातों में उन्हें अपना गुरु समझता था।' ....लेकिन सरस्वती की अपनी सीमाएँ थीं। वह एक साहित्यिक पत्रिका थी, जबकि विद्यार्थी जी का झुकाव राजनीतिक विषयों की ओर अधिक था। इलाहाबाद से ही मदनमोहन मालवीय का अखबार 'अभ्युदय' निकलता था, जो राजनीति प्रधान था, लेकिन निरंतर घाटे पर चल रहा था। वे विद्यार्थी जी जैसी क्षमता वाले किसी व्यक्ति की तलाश में थे, जो 'अभ्युदय' के अक्षरों में जान फूँक सके। अतः 29 दिसम्बर, 1912 से गणेश जी 'सरस्वती' छोड़कर 'अभ्युदय' में चले गए। वेतन हो गया चालीस रुपए मासिक। देखते–देखते अभ्युदय की ग्राहक संख्या बढ़ने लगी और उसमें प्रकाशित लेखादि की पाठकगण मुक्तकंठ से सराहना करने लगे।

'अभ्युदय' में काम करते अभी साल–भर भी नहीं होने पाया था कि 23 सितंबर, 1913 को अचानक उनका स्वास्थ्य खराब हो गया और उन्हें कानपुर आ जाना पड़ा। इसी दौरान दशहरे की छुट्टियाँ भी पड़ रही थीं। कानपुर में महाशय काशीनाथ, नारायण प्रसाद अरोड़ा और वैद्य शिवनारायण मिश्र आदि मित्रों के साथ बातों का सिलसिला कुछ ऐसा चला कि फिर विद्यार्थी जी का इलाहाबाद और अभ्युदय वापस लौटना न हो पाया और मात्र एक–सवा महीने की अपर्याप्त तैयारियों के बीच 'प्रताप' अखबार का शुभारंभ हो गया। 'प्रताप' हिंदी की राष्ट्रीय पत्रकारिता और गणेशशंकर विद्यार्थी के स्वतंत्रचेता पत्रकार–मानस की प्रथम सार्थक अभिव्यक्ति था।

I UnHk%

1. हथगाँव कस्बा फतेहपुर, उ0प्र0 से 10 मील उत्तर मुगल रोड पर स्थित है।
2. विद्यार्थी जी के संस्मरण; देवव्रत शास्त्री।
3. सरस्वती; अप्रैल 1921; पृ0 05.
4. संस्मरण; बनारसी दास चतुर्वेदी; सरस्वती : अप्रैल, 1954; पृ0 60.
5. गणेश शंकर विद्यार्थी; (विनिबंध) साहित्य अकादमी, पृ0 45.
6. सरस्वती; अगस्त, 1931; पृ0 27.

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

fujkyk d lkfgR; e ukjh dk Lo:i

fodkl pkjfl;k*

आधुनिक हिन्दी साहित्य के छायावादयुगीन चार प्रमुख कवियों में सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने अपने साहित्य का विषय कल्पना और भावुकता के स्थान पर यथार्थ को बनाया। यह यथार्थ आन्तरिक भावों, बाह्य जगत, प्राकृतिक दृश्यों, सामाजिक बिम्बों तथा नारी चिन्तन का सामाजिक यथार्थ है। निराला ने साहित्य के माध्यम से उस मौलिक शक्ति की कल्पना की है जो रहस्यवाद या कोरी भावनाओं के चक्कर में नहीं पड़ी, बल्कि इन चमत्कारों को देखकर अकर्मण्य नहीं बैठने की वकालत करते हैं और उस संघर्ष के समय उससे लड़ने के उपाय खोजते हैं, नारी मुक्ति के प्रश्न को उठाते हैं। 'पंचवटी प्रसंग', 'वह तोड़ती पत्थर', 'सरोज स्मृति', 'भिक्षुक', 'विधवा' और 'राम की शक्ति पूजा' जैसी कविताओं में मौलिक सत्य की कल्पना करते हैं जो नारी की यथार्थ स्थिति का अवलोकन है।

Þ'kfDr dh djk ekfyd dYiuk] djk iwtu
NkM nk lej tc rd u flf) gk] j?kqUnuAÞ[1]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल निराला के विषय में लिखते हैं– "बहुवस्तुस्पर्शिनी प्रतिभा निरालाजी में है।"[2] अर्थात् निराला जी ने अपनी प्रतिभा के माध्यम से बहुत से सामाजिक विषयों को यथार्थ के माध्यम से प्रस्तुत किया है, किसान, मजदूर, महिला, भिक्षुक, कुकुरमुत्ता या स्वयं राम ये सभी इसके उदाहरण हैं।

निरालाजी पहले कवि हैं जिन्होंने छन्दों से कविता को मुक्त करने की बात की। 'परिमल' की भूमिका में लिखते हैं कि– "मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है। मनुष्यों की मुक्ति कर्म के बंधन से छुटकारा पाना है और कविता की मुक्ति छन्दों के शासन से अलग हो जाना है।"[3] छन्दों से मुक्ति के बाद वह सामाजिक मुक्ति का प्रयास करते हैं। रामविलास शर्मा लिखते हैं– "इसमें सन्देह नहीं, निराला का व्यक्तित्व विद्रोही था; उन्होंने निर्भीक चिन्तन की परम्परा स्थापित की, निराला–सम्बन्धी लेखों में तथ्य निरूपण और साहित्य मूल्यांकन की अपेक्षा व्यक्ति पूजा की भावना अधिक रही है।"[4]

निराला अपनी 'स्मृति' कविता में अपनी दिवंगत पत्नी का अत्यन्त मार्मिक शब्दों में स्मरण करते हैं–

^og dyh lnk dk pyh xbZ ubZ nfu;k lq
og lkjHk lq ifjr vkt fnxUrA*

'सरोज स्मृति' में कवि 'निराला' अपनी कन्या के शोक से क्षणभर के धैर्य में सारे जीवनभर की कमाई गवाँ बैठते हैं। अपनी आर्थिक असमर्थता पर पश्चाताप व्यक्त करते हुए कहते हैं–

Þ/kU;q e firk fujFkd Fkk
dqN Hkh rqj fgr u dj ldkAÞ[5]

आगे लिखते हैं–

Þn%[k gh thou dh dFkk jgh]
D;k dgq vkt tk ugh dgh!Þ[6]

अब विगत कर्मों के जल से उसकी आत्मा के विकल तर्पण का ही विकल्प कवि के लिए बचता है–

ÞdU;q xr dekZ dk vi.k]
dj] djrk e rjk ri.kAÞ[7]

*शोध छात्र, हिन्दी तथा आधुनिक भारतीय भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

निराला की कविता 'वह तोड़ती पत्थर' में निराला ने मजदूर नारी के सौन्दर्य को पहली बार काव्य का विषय बनाया–

Þog rkM+rh iRFkj(
n:[kk e#u m l: bykgkckn d: iFk ij&
og rkM+rh iRFkjAÞ

निराला ने अपनी कविता 'बहू' शीर्षक कविता में नारी के साध्वी रूप के प्रति श्रद्धा व्यक्त की है–

Þm l e: dkb: pkg ugh: gA
fo"k;&ok luk r:PN dkb: ijokg ughAÞ

रामस्वरूप चतुर्वेदी निराला के विषय में लिखते हैं कि– "सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' आधुनिक युग के सर्वाधिक मौलिक क्षमता से सम्पन्न कवि हैं।"[8] निराला सामाजिक संरचना में निहित किसी भी भेदभाव के विरोधी थे। अपनी रचनाओं में उन्होंने खुलकर सामंती व्यवस्थाजन्य विकृतियों और विषमताओं पर व्यंग्य किया है। इस व्यवस्था में स्त्री और शूद्र को निकृष्ट समझने का चलन था। सामंती व्यवस्था के पतन काल में भी यह चलन बन्द न हुआ। समझा जाता है कि पूंजीवाद के उदय के साथ सामाजिक व्यवस्था में बदलाव की प्रक्रिया स्वतः शुरू हो जाती है, किन्तु हमारे इतिहास में ऐसा नहीं मिलता। नवजागरण के अग्रदूतों ने दलितों और स्त्रियों को समानता का दर्जा दिलाने का जो प्रयास किया, उसका वांछित परिणाम सामने नहीं आ पाया। निराला ने नारी–स्वाधीनता को उसी तरह लक्ष्य बनाया, जिस तरह स्वाधीनता–प्राप्ति को अथवा सामाजिक–आर्थिक गैरबराबरी की समाप्ति को। स्त्री को दासत्व से मुक्ति दिलाने के लिए कविता, कहानी, उपन्यास के अतिरिक्त उन्होंने अलग से लेख लिखे ओर सामाजिक मंचों से भी उन्होंने स्त्री–मुक्ति का उद्घोष किया। उन्होंने लिखा है– "हम लोग स्वयं जिस तरह गुलाम हैं, उसी तरह अपनी स्त्रियों को भी गुलाम बना रखा है, बल्कि उन्हें दासों की दासियाँ कर रखा है। इस महादैन्य से उन्हें शीघ्र मुक्ति देनी चाहिए, तभी हमारी दासता की बेड़ियाँ कट सकती हैं।"[9] निराला ने लिखा है, प्रत्युत पुण्य है। हमारे देश के लोग इस समय आधे हाथों से काम करते हैं। उनके आधे हाथ निष्क्रिय हैं। जब स्त्रियों के भी हाथ काम में लग जायेंगे, कार्य की सफलता हमें तभी प्राप्त होगी। स्त्रियाँ इसलिए उत्पीड़ित हैं कि वे अशिक्षित हैं। अशिक्षा के कारण वे स्वालम्बी नहीं हैं। पुरुषों पर निर्भर हैं। यह निर्भरता ही उनके पिछड़ेपन का असली कारण है। खेतों में काम करने वाली स्त्रियाँ अपेक्षाकृत स्वतंत्र हैं।

डॉ0 रामविलास शर्मा ने लिखा है– "स्त्री–शिक्षा में निराला की दिलचस्पी का एक विशुद्ध साहित्यिक कारण भी था। लड़का जब एक माँ से खड़ी बोली न सुनेगा, तब तक वह सहज भाव से खड़ी बोली को मातृभाषा के रूप में ग्रहण करके, हिन्दी का महान लेखक नहीं बन सकता। विशेष रूप से अवध तथा अन्य पूर्वी क्षेत्रों में जहाँ हिन्दी सांस्कृतिक भाषा बन चुकी थी, वहाँ अभी घरों में प्रवेश न कर सकी थी। पुरुष खड़ी बोली बोलता था तो घर से बाहर..... वार्तालाप अवधी या भोजपुरी में होता था।"[10] स्त्री यदि पढ़ी–लिखी है तो घर में भी खड़ी बोली में बातचीत होगी। इसका यह मतलब नहीं है कि निराला खड़ी बोली के प्रचार के लिए ही स्त्री–शिक्षा पर जोर देते थे। रामविलास शर्मा जी यह भी कहते हैं कि– "भारतीय नारी की आदर्श मूर्ति गढ़ कर स्त्रियों की समस्या हल नहीं की जा सकती। विपुरुषों के अधिकार सम्बन्धी जो परिवर्तन हुए हैं, उनके संदर्भ में ही नारी की परवर्तित स्थिति पर विचार हो सकता है। किसी समय स्त्री–पुरुष में मौलिक अधिकार–भेद माना जाता था, दोनों की शक्ति अलग, कार्यक्षेत्र अलग। निराला ने घर में बंद रहने वाली स्त्री की घुटन, उसकी यंत्रणा से पर्दा उठा दिया।" निराला स्त्री की सम्पूर्ण स्वतंत्रता चाहते थे।

भारतीय समाज में स्त्री की दशा को दयनीय बनाने के लिए शास्त्रकारों ने जगह–जगह व्यवस्थाएँ दी हैं। कुछ शास्त्रकार ऐसे भी हैं, जो भेदभाव का विरोध करते हैं और सामाजिक समानता की बात करते हैं, किन्तु सामाजिक–राजनीतिक सत्ता पर जिनका कब्जा रहा, उन्होंने सभी शास्त्रों का एक जैसा अपने हक में इस्तेमाल किया। निराला ने इस भेद को समझा और रूढ़िवाद का विरोध किया। किसी समय जो नियम प्रगतिशील होता है, समय बदलने के साथ वही नियम प्रतिक्रियावादी हो सकता है। सामाजिक

गतिशीलता को समझने वाले रचनाकार पुराने नियमों और पुरानी परम्पराओं की पुनर्व्याख्या करते हैं और समयानुसार उसे त्यागते या अपनाते हैं।

अर्थात् आदर्श को परखने का आधार यह समाज है। आकाश में ही सारे आदर्श टंगे हुए हैं। निराला स्पष्ट कहते हैं कि यदि बहुपत्नीत्व प्रथा जायज है तो बहुपतित्व प्रथा भी जायज है। पुरुष अपने लिए अलग व्यवस्था बनाता है और स्त्रियों के लिए दूसरी व्यवस्था बनाता है।

निराला ने धर्म विवाह के नाम पर हर बाल विवाह का उपहास इन शब्दों में उड़ाया है– "आठ वर्ष की बालिका के विवाह से अकुंठित गति प्राप्त करने वाले पंड़ितों ने खूब खुलकर शास्त्रार्थ किया और सिद्ध भी कर डाला कि बिना आठ साल की लड़की का विवाह किए हिन्दू–धर्म की रक्षा हो नहीं सकती। समाज के अंग से यह पंडित–पाप दूर न होगा, तब तक शिशुता से यौवन की ज्योति नहीं निकल सकती। लोग इसी तरह पुस्तकों के पन्नों में स्वतंत्रता और धर्म की तलाश करते फिरेंगे, मनुष्य के विचारों की प्रकृति में नहीं।"[11] स्पष्ट है कि निराला बाल–विवाह का मजाक उड़ाते हैं। उन पंडितों की भी खबर लेते हैं, जो बाल–विवाह को धर्म से जोड़ते हैं। इस तरह निराला स्त्री स्वाधीनता के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डालते हुए उनके विरुद्ध चलने वाली सभी साजिशों का विरोध करते हैं।

अन्ततः हम कह सकते हैं कि निराला के काव्य में नारी का स्वरूप रीतिवादी व रोमांटिक कवियों से भिन्न है। जिसके अनेक रूप हैं, वह प्रेयसी है, वधू, विधवा है, श्रमिक नारी भी, वह तोड़ती पत्थर, अट्टालिकाओं के बीच, सड़क के किनारे, गर्मी की धूप और लू सहती हुई, पत्थर तोड़ने वाली एक भारतीय श्रमिक नारी है।

I UnHkh %

1. राग विराग, सम्पादक–रामविलास शर्मा, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण–2014, पृ0 100
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, अशोक प्रकाशन, संस्करण–2010, पृ0 422
3. www.hi.wikipedia.org
4. परम्परा का मूल्यांकन, रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, संस्करण–2016, पृ0 119
5. राग विराग, सम्पादक–रामविलास शर्मा, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण–2014, पृ0 80
6. वही, पृ0 91
7. वही, पृ0 91
8. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण–2016, पृ0 122
9. निराला : प्रबन्ध प्रतिमा, पृ0 134–135
10. डॉ रामविलास शर्मा : निराला की साहित्य–साधना, भाग–2, पृ0 39
11. निराला : सुधा, मई 1930, सम्पादकीय

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

lÙkk dk lp % fodkl ;k iyk;u

fi;k Hkkjrh;k*

प्रस्तुत उपन्यास प्रदीप सौरभ की कलम से निकला हुए एक ऐसा उपन्यास है कि जो धर्म, राजनीति बाजार और मीडिया आदि के द्वारा सामाजिक विकास की प्रक्रिया किस प्रकार प्रेरित एवं प्रभावित हो रही है बखूबी चित्र प्रस्तुत करता है। गुजरात में मोदी सरकार के काले कारनामों ओर राष्ट्रप्रेम के पीछे छिपा हुआ जो दोहरा व्यक्तित्व है उसे उभारने की पहल और गोधरा काण्ड जिसमें इतनी अधिक संख्या में नर मेधाएं धर्म और जाति के नाम पर हुई दंगों का विश्लेषित रूप प्रस्तुत उपन्यास में उभरता है साथ ही इन सामाजिक दंगों के फलस्वरूप उत्पन्न हो रही अनैतिक, असामाजिक एवं भयावह विकृतियां वेश्यावृत्ति, देह बाजार आदि का जन्म हुआ। कितनी ही औरतों का बलात्कार और हत्या कर दी गयी और सरकार चुप खड़ी तमाशा देखती रही। इतना ही नहीं मीडिया को किस तरीके से सत्ता द्वारा खरीद लिया जाता है, उन्हें डरा–धमका के उनका तबादला कराके इसका भी चित्र उपन्यास में बखूबी देखा जा सकता है।

आज पता नहीं क्यों प्रदीप सौरभ का लिखा उपन्यास मुन्नी मोबाइल बहुत याद आ रहा है। कुछ महीनों पहले ही पढ़ा था। यह याद भी अनायास नहीं है, इसके कारण हैं और वाजिब कारण हैं[1], चूंकि उत्तर प्रदेश में भाजपा की पार्टी को पूर्ण बहुमत मिला है। मुख्यमंत्री बनाया है, अब तक का सबसे विवादित चेहरा योगी आदित्यनाथ को जिसकी बहुत चर्चा भी है, कि क्यों ऐसा किया बी0जे0पी0 ने। ये इतनी सरल बात नहीं है कि लोगों ने वोट दिया है विकास के नाम पर उन्होंने यूं ही किसी को भी मुख्यमंत्री बना दिया। भाजपा चाहती है कि जो इतनी बड़ी जीत हुयी है उत्तर प्रदेश में हिन्दुत्व के लिए जनादेश है। ये परिभाषा सामने रखने से मुझे लगता है कि आम जनता ने तो विकास के नाम पर वोट दिया है, जिसके परिणामस्वरूप सबका साथ सबका विकास के तहत कार्य शुरू भी कर दिया गया है, जिसमें सफाई अभियान पहला मुद्दा है और इसके तहत शुक्रवार के दिन सभी पुलिसकर्मियों को अपने इलाके की सफाई करवाने के नाम पर उन मजदूरों को हटाया जा रहा है जो सड़कों के बगल फलों एवं सब्जियों की दुकानें लगाया करते थे। चाय की दुकान वाले से बात करने पर पता चला कि उसके घर में 10–12 सदस्य है और उनकी रोजी का सहारा सिर्फ चाय की दूकान थी जिसे आखिर इनको कोई स्थान निर्धारित किए बिना ही कैसे हटा सकते हैं सब्जियों एवं फलों को मॉल में शिफ्ट कर दिया जा रहा है। छोटे–छोटे बूचड़खाने को बन्दकर उनका बड़े स्तर पर व्यापार किया जायेगा यानी इनका राष्ट्रीयकरण होगा एवं कंपनीराज की स्थापना करके। गौरक्षा के खौफ ने तो आम जनता के दिल में इतना घर कर लिया है कि गांव में कोई गाय खरीदने या पालने को ही तैयार नहीं है जब कि जानवर ही उनकी पूंजी हुआ करती है और तो और एक नया एजेंडा आया है ऐंटी रोमियो एस्क्वायड, जिसके जिम्मे लड़कियों की सुरक्षा का कार्यभार सौंपा गया है और ये फरमान दिया है योगी आदित्यनाथ ने जिन्होंने अपने एक लेख मातृशक्ति में लिखा है ''(जो कि योगी के वेबसाइट पर संकलित है) कि स्त्री शक्ति की रक्षा बचपन में पिता करता है यौवन में पति करता है और बुढ़ापे में पुत्र करता है। इस प्रकार स्त्री सर्वथा स्वतंत्र या मुक्त छोड़ने योग्य नहीं है। वे इस बात को भी कहते हैं कि जो महिलाएँ पंचायत में आरक्षण के चलते वहाँ पंचायत चला रही हैं वह जीत कर आयी है। उनके बारे में कहते हैं कि पहले इसका आकलन करिए कि इससे इनका घरेलू काम–काज (बच्चों को संभालने का काम, खाना पकाने का काम, घर को संभालने का काम) नहीं यह काम खराब तो नहीं हो गया है। कहीं इस पर असर तो नहीं पड़ गया है। जांच कर लीजिए और

*शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

अगर असर पड़ा है तो तैंतीस प्रतिशत (33 प्रतिशत) आरक्षण मत पारित करिए। शास्त्रों का हवाला देते हुए आगे ये भी कहते हैं कि यदि पुरूष महिलाओं का काम करें तो उनमे दैवीय भावना (दैवीय शक्ति) आती है लेकिन अगर महिलाएं पुरूष का काम करें तो (राजनैतिक, सामाजिक, चर्चा–परिचर्चा, आन्दोलन, विमर्श) तो उनमें दैत्य वाली भावना आ जाती है।''[2] एक संगोष्ठी के उपरान्त कविता कृष्णन के वक्तव्य से। साथ ही ये भी बताना चाहूँगी कि एंटी रोमियो एस्क्वॉयड के तहत किस वर्ग की लड़कियों की सुरक्षा की बात की जा रही है। मध्यवर्गीय और निचले तबके के लोगों को क्योंकि ये दल प्रायः सड़कों और पार्कों में ही काम करता है जब कि धनाढ्य या पूंजीपति लोग तो बड़े–बड़े होटलों एवं रेस्टोरेन्टों में जाया करते हैं। पब्लिक प्लेस पर नहीं। एंटी रोमियों एस्क्वायड महिलाओं के लिए बहुत ही खतरनाक एस्क्वायड है। ये महिलाओं पर हिंसा करने वाले एस्क्वायड हैं भला कैसे? कोई साधारण वर्दीधारी पुलिसवाला भी बिना किसी ट्रेंनिग के, बिना जेंडरेसंसटाइजेशन के वह अगर अपनी आम समाज की समझदारी लेकर चला आये तो किसी रेप पीड़िता लडकी में और किसी खराब चरित्र (खराब चरित्र वाली लड़की ये शब्द प्रयोग करना मुझे पसन्द नहीं है चूंकि समाज ने स्त्रियों की दो श्रेणियाँ अच्छी और खराब में बना दिया है तो उसी भाषा में समझाने मात्र के लिए) वाली लड़की में अन्तर नहीं कर पाता। उसके लिए हर ऐसी लड़की हर महिला (जो कहीं बाहर निकली हुयी है, जिसके साथ कह रही है बलात्कार हुआ है हर ऐसी महिला खराब चरित्र वाली है और चरित्र को लेकर जितनी वो चीजें सोचते हैं चाहे वह महिला का चरित्र हो या पुरूष का चरित्र हो आम समाज की समझदारी इसमें पितृसत्तात्मक समझदारी होती है उसे ये नहीं पकड़ पाते हैं कि चाहे बलात्कार का मामला हो या छेड़खानी का ये मामला चरित्र का है ही नहीं। उसकी आँखों या चाल–चलन से नहीं पकड़ सकते। ये है महिला की मर्जी का मामला, जबकि पुलिसवाले भी बहुत मोरल पुलिसिंग करते हैं। लड़के–लड़कियों को परेशान करते हैं, उनसे ये पूछते हैं कि ये तुम्हारे कौन लगते हैं, किन्तु सरकार ने ये जिम्मेदारी एक गैर संवैधानिक सेना को दे दी है) ऐंटी रोमियों एस्क्वायड क्या है? कौन लोग होंगे इसमें कौन सी महिलाएँ कौन से पुरूष होंगे वो कह रहे हैं हम लोग लड़कों की आँखों से समझ जायेगें कि उनके मन में क्या मंशा है। वो रोमियों है कि नहीं है। लड़कों की आँखों में मेरे लिए प्यार है या मेरे लिए हिंसा है। यह सिर्फ एक महिला बेहतर समझ सकती है कोई और नहीं पहचान सकता। उन्होंने रोमियों का नाम ऐसे ही नहीं चुना है। रोमियो–जुलियट की प्रेम कहानी बहुत बड़ी प्रेम कहानी, कुछ हीर–राझा जैसी ही है। दुनिया में चर्चित किसी बड़े प्रेम कहानी का उदाहरण बताने में आपको परेशानी होगी जो कि माँ–बाप की मर्जी से किया गया प्रेम हो। चाहे प्रसिद्ध उपन्यास हों कहानियाँ हों या गाँव में गाये जाने वाले गीतों की प्रेम कहानियां हों मैंने तो कभी नहीं सुना क्योंकि प्रेम का मतलब ही होता है मर्जी से प्रेम करना और अक्सर मर्जी टकराता है सामाजिक नियमों से बन्धनों से जाति के बन्धनों से समुदाय के बन्धनों से और इन बन्धनों को तोड़कर ही तो प्रेम उपजता है। मैं कहती हूँ भाई आखिर एक पुरूष ही दूसरे पुरूष से महिला की सुरक्षा क्यों करेगा? कुछ ऐसे नियम निकाले सरकार ऐसी व्यवस्था करे, जिससे एक महिला स्वयं अपनी सुरक्षा कर सकें, क्योंकि ये एस्क्वायड टाइप के लोग तो सिर्फ उनको पकड़ेंगे जो सामान्य स्तर के रोड पर चलते–मस्खरी करने वाले चन्द आवारा लड़के हैं, किन्तु अपने आत्मीय लोगों (गुरूओं–सगे–सम्बन्धियों बड़े–बड़े नेतागण आदि प्रतिष्ठित पुरूषों) के अत्याचार और यौन हिंसा से इन्हें कौन बचायेगा, क्या ये एस्क्वायड वहाँ तक पहुँच सकते हैं?, नहीं पहुँच सकते।

गौर कीजिए कहीं ऐसा तो नहीं कि ये हिन्दूवादी सोच फिर से सामाजिक व्यवस्था को उसी मनुस्मृति वाले जमाने में तो नहीं ले जा रही है।[3] उक्त उपन्यास की कुछ पंक्तियाँ देखे जिसमें बताया गया है कि किस तरीके से मोदी सरकार धर्म ग्रंथों को लेकर जनता को बेवकूफ बनाती है। आनंद भारती ने एक बाद पूछा– आपमिथुकीय चरित्रों के माध्यम से क्यों बता रहे हैं?' मोदी ने जवाब दिया ''जनता इसी भाषा को समझती है। इनके प्रयोग से बात सीधे लोगों के दिल तक उतर जाती है।'' विकास और सुरक्षा के नाम पर मनुष्य से उसके जीने का अधिकार एवं संविधान द्वारा प्रदत्त मौलिक अधिकार, स्वतंत्रता का अधिकार छीन रही है। देश में कंपनीराज की स्थापना करना दरअसल मोदी सरकार के विकास की कार्पोरेट परस्त बातें है, उसके कारण अभी मोदी जब योगी को लेकर इतनी चर्चाएँ हो रही है तो इन्होंने

पार्लियामेंट से फाइनेंस बिल पास कर दिया है जिसके अनुसार कारपोरेट फंडिंग पर कोई सीमित दायरा नहीं रखा गया है। यानी बड़ी कपनियाँ किसी राजनीतिक दल को कितना पैसा देगी। उसका कोई दायरा सीमित नहीं किया गया है। वो जितना रकम चाहे दे सकते हैं। यानी कपनियाँ जो हैं वह सारी राजनीतिक पार्टियों को अपनी जेब में रखेगी और खुलकर रखेंगी और इसका रास्ता उसी सरकार ने खोल दिया है, इसलिए ये दोनों साथ में चलते हैं। सोचने वाली बात है कि हम देश को कहां ले जा रहे है मै आम जनता की बात नहीं करती। उनके पास फुरसत ही कहां अपनी जीविका जुटाने के अतिरिक्त इन षड़यंत्रों पर विचार करने के लिए और विवेक की कमी है किन्तु बुद्धजीवियों से मैं कहना चाहती हूँ कि क्यों ऐसा हो रहा है संतुष्ट कोई नहीं है परेशान सभी हैं किन्तु पहल कोई नहीं कर रहा कारण क्या है? क्यों कोई खतरा मोल नहीं लेना चाहता। समस्त बुद्धिजीवियों से मेरी अपील है कि राजनैतिक मुखौटों के पीछे छिपे सच को उजागर करें और एक और प्रदीप सौरभ जनम ले जो किसी उपन्यास के बहाने ही सही अन्याय के खिलाफ आवाज तो उठाये। जनता के सामने सच लाने का साहस तो रखे। ब्रेख्त ने कहा था– ''जिस गुनाह के बारे में हम चुप हैं, उसमें हम शामिल हैं इस संस्कृति के विकास में हमारा भले ही कोई सक्रिय योगदान न हो, लेकिन अगर हम प्रतिरोध नहीं कर रहे हैं तो जाहिर है हम इस पर सहमत हैं।''

iLrqr miU;kl dk ,d n`'; % विपक्ष के नेता जगत प्रकाश नडडा थे। वे आनंद भारती को पटाकर मोदी के पास ले गये थे। असल में मोदी चाहते थे कि राज्य में बनने वाली धूमल सरकार के असली इंजीनियर के तौर पर दिल्ली के अखबार में उन्हें पेश किया जाये। उनका महिमामण्डन किया जाये। बताया जाये कि यदि मोदी ना होते तो हिमाचल प्रदेश में धूमल सरकार न बनती।..... केटूभाई को हटाकर मोदी स्वयं मुख्यमंत्री बनने की इच्छा रखते थे। उन्होंने पूरा जोड़–तोड़ किया। वह पार्टी के नैचुरल च्वाइस के तौर पर नहीं उभरे थे। फिर भी पार्टी को लगा कि मोदी होने वाले चुनाव में कुछ करिश्मा कर दिखाएंगे। करिश्मा करने के लिए गोधरा की आग मोदी के लिए संजीवनी साबित हुयी। मुख्यमंत्री बनने के बाद विधायक बननने के लिए दो–दिन पहले ही मोदी राजकोट विधान सभा सीट से चुनाव जीते थे।.... साबरमती एक्सप्रेस अग्निकाण्ड के बाद वह जब गोधरा स्टेशन मौका–ए–वारदात पर पहुँचते, तो गुस्साई भीड़ उन पर चढ़ बैठी..... मोदी गमगीन मुद्रा में थे। उन्होंने गोधरा में मृतकों का पोस्टपार्टम कराने के बजाय लाशों को अहमदाबाद ले जाने का फैसला किया। यदि मोदी यह फैसला नहीं करते तो सैकड़ों लोगों की जान बचायी जा सकती थी। असल में वह लाशों पर राजनीति की रणनीति बना रहे थे पूरा खाका उनके दिमाग में खिंच चुका था। लाशें अहमदाबाद लायी गयी। सरखेज–गांधीनगर हाइवे स्थित सोला अस्पताल में लाशों के पहुंचने पर विश्व हिन्दू परिषद और बजरंगदूत के कार्यकर्ता वहाँ इकट्ठा हो गये। लाशों के पहुँचने पर विश्व हिन्दू परिषद और बजरंगदल के कार्यकर्ता इकट्ठा हो गये।

ये है आज के सत्ताधारी नेताओं की असली शक्ल जो मुर्दों पर भी राजजनीति करने से बाज नहीं आते।

lUnHkZ %

1. उपन्यास–मुन्नी मोबाइल– प्रदीप सौरभ, प्रथम संस्करण 2009, आवृत्ति 2011, पृ0 25
2. संगोष्ठी के उपरान्त कविता कृष्णन के वक्तव्य से।
3. वही (उपन्यास), पृ0 41

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

Hkkjr e jk"Vªh; pruk ,oa jk"Vªokn dk fodkl

Mk- Hkqu'oj yky lkg*

Hkfedk % राष्ट्रवाद लोगों के किसी समूह की उस आस्था का नाम है जिसके तहत वे खुद को साझा इतिहास, परम्परा, भाषा, जातीयता और संस्कृति के आधार पर एक जुट मानते हैं। इन्हीं बन्धनों के कारण वे आत्म निर्णय के आधार पर अपने सम्प्रभु राजनीतिक समुदाय अर्थात राष्ट्र की स्थापना करते हैं। राष्ट्रवाद के आधार पर बना राष्ट्र उस समय तक कल्पनाओं में ही रहता है जब तक उसे एक राष्ट्र–राज्य का रुप नही दे दिया जाता। हालांकि दूनिया में ऐसा कोई राष्ट्र नहीं है जो इन कसौटियों पर पूरी तरह से फिट बैठता हो इसके बावजूद अगर विश्व का एटलस उठा कर देखी जाए तो धरती की एक–एक इंच जमीन राष्ट्रों की सीमाओं के बीच बंटी हुई मिलेगी। राष्ट्रवाद का उदय 18वीं और 19वीं सदी के युरोप में हुआ था, लेकिन अपने सिर्फ दो ढ़ाई सौ साल पुराने ज्ञात इतिहास के बाद भी यह विचार बेहद शक्तिशाली और टिकाऊ साबित हुआ है।

राष्ट्रीय सीमाओं के भीतर रहने वाले लोगों को अपने अपने राष्ट्र का अस्तित्व स्वाभाविक प्राचीन, चिरंतन और स्थिर लगता है। इस विचार की ताकत का अंदाजा इस हकीकत से भी लगाया जा सकता है कि इसके आधार पर बने राष्ट्रीय समुदाय वर्गीय, जातिगत और धार्मिक विभाजनों की को भी लांघ जाते है। राष्ट्रवाद के आधार पर बने कार्यक्रम और राजनीतिक परियोजना के हिसाब से जब किसी राष्ट्र–राज्य की स्थापना हो जाती है तो उसकी सीमाओं में रहने वालों से अपेक्षा की जाती है कि वे अपनी विभिन्न अस्मिताओं के ऊपर राष्ट्र के प्रति निष्ठा को ही अहमियत देंगे। वे राष्ट्र के कानून का पालन करेंगे और उसकी आंतरिक और बाह्म सुरक्षा के लिए अपने प्राणों का बलिदान भी दे देंगे। राष्ट्रवाद अनिवार्य तौर पर किसी न किसी कार्यक्रम और परियोजना का वाहक होता है जबकि देशभक्ति की भावना ऐसी किसी शर्त की मोहताज नहीं है।

राष्ट्रवाद एक विश्वास पन्थ या राजनीतिक विचारधारा है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने गृह राष्ट्र के साथ अपनी पहचान बनाता या लगाव व्यक्त करता है। यह एक ऐसी अवधारणा है जिसमें राष्ट्र को सबसे अधिक प्राथमिकता दी जाती है।

jk"Vªokn % राष्ट्र की व्याख्या ऐसे जन समूह के रुप में की जा सकती है जो कि एक भौगोलिक सीमाओं में एक निश्चित देश में रहता हो, समान परम्परा समान हितों तथा समान भावनाओं से बंधा हो और जिसमें एकता के सूत्र में बांधने की उत्सुकता तथा समान राजनैतिक महत्वकांक्षाएँ पाई जाती हों इसमें राष्ट्रवाद में राष्ट्रीयता की भावना सबसे अधिक होती है।

राष्ट्रीयता की भावना किसी राष्ट्र के सदस्यों में पायी जाने वाली सामुदायिक भावना है जो उनका संगठन सुदृढ़ करती है। भारत में अंग्रेजो के शासनकाल में राष्ट्रीयता की भावना का विशेष रुप से विकास हुआ यह विकास विशिष्ट बौद्धिक वर्ग का महत्वपूर्ण योगदान है। भारत में अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार से एक ऐसे विशिष्ट वर्ग का निर्माण हुआ जो स्वतंत्रता को मूल अधिकार समझता था और जिसमें अपने देश को अन्य पाश्चात्य देशों का इतिहास पढ़कर उसमें राष्ट्रवादी भावना का विकास हुआ।

Hkkjr e jk"Vªokn dk mn; dk dkj.k % भारत में राष्ट्रवादी विचारधारा का अंकुर 17वीं शताब्दी के मध्य से उगने लगा था, किन्तु यह धीरे–धीरे विकसित होता रहा अन्त में 1857 ई. में पूर्ण हो गया। अतः

*सहायक प्राध्यापक (राजनीति विज्ञान), बस्तर विश्वविद्यालय, जगदलपुर, छ.ग.

भारतीय राष्ट्रीय जागृति का काल 19वीं शताब्दी का मध्य मानना उचित ही होगा। वास्तव में सामाजिक तथा धार्मिक जागृति के परिणामस्वरुप राजनीतिक जागृति का उदय हुआ। डॉ. जकारिया का मत भारत का पुनर्जागरण मुख्यतः आध्यात्मिक था। इसने राष्ट्र के राजनीतिक उद्धार के आन्दोलन का रुप धारण करने से बहुत पहले अनेक धार्मिक और सामाजिक सुधारों का सूत्रपात किया। भारत में राष्ट्रवादी विचारों के उदय निम्नलिखित कारण माने जाते हैं–

1- lkekftd rFkk /kkfeZd vkUnksyu %& भारत में राष्ट्रीय जागृति पैदा करने में 19वीं शताब्दी में हुए सामाजिक तथा धार्मिक आन्दोलनों का बहुत बड़ा हाथ रहा है। इस प्रकार के आन्दोलनों में ब्रह्म समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन, एवं थियोसोफिकल सोसायटी आदि जिसके प्रवर्तक क्रमशः राजाराम मोहनराय, स्वामी दयानंद स्वामी, विवेकान्द एवं श्रीमति एनी बेसेन्ट आदि थे। इन सुधारकों ने भारतीयों में आत्मविश्वास जागृत किया तथा उन्हें भारतीय संस्कृति की गौरव गरिमा का ज्ञान कराया।

स्वामी दयानंद सरस्वती ने अपने ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश में लिखा है "विदेशी राज्य चाहे वह कितना ही अच्छा क्यों न हो स्वदेशी राज्य की तुलना में कभी भी अच्छा नहीं हो सकता" स्वामी दयानंद सरस्वती पहले व्यक्ति थे जिन्होंने सबसे पहले यह नारा लगाया था कि "भारत भारतीयों के लिए है"। विवेकानंद भारत का नाम लेकर जीते थे वे मातृभूमि के अनन्य भक्त थे और उन्होंने भारतीय युवकों को उसकी पूजा करना सिखाया। थियोसोफिकल सोसायटी की नेता श्रीमति एनी बेसेन्ट ने भारतीय राष्ट्रवाद के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। जब भारतीयों की अपनी संस्कृति की श्रेष्ठता का ज्ञान हुआ तो उन्होनें अंग्रेजो के विरुद्ध स्वाधीनता की प्राप्ति हेतु आन्दोलन आरम्भ कर दिया।

2- Hkkjr dh jktuhfrd ,drk %अंग्रेजो के समय लगभग सम्पूर्ण भारत का प्रशासन एक केन्द्रीय सत्ता के अधीन आ गया था। समस्त भारत पर ब्रिटिश सरकार का शासन होने से भारत एकता के सूत्र में बंध गया। इस प्रकार देश में राजनीतिक एकता स्थापित हुई। यातायात के साधन तथा अंग्रेजी शिक्षा इस एकता की नींव को और अधिक कोस बना दिया जिससे, राष्ट्रीय आन्दोलन को बल मिला। राजनीतिक दृष्टि से हिमालय से कन्याकुमारी तक सम्पूर्ण भारत एक सरकार के अधीन था और इसने जनता में राजनीतिक एकता को जन्म दिया।

3- if'peh f'k{kk dk iHkko %& भारतीय राष्ट्रीयधारा में पश्चिमी शिक्षा ने सराहनीय योगदान दिया। 1825 ई. में लार्ड मैकाले के सुझाव पर भारत में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी भाषा को निश्चित किया। इसका मुख्य उद्देश्य भारत की राष्ट्रीय चेतना को जड़ से नष्ट करना था । परन्तु पाश्चात्य शिक्षा से भारत को हानि की अपेक्षा लाभ अधिक हुआ इससे भारत में राष्ट्रीय चेतना जागृत हुई अतः दृष्टि से पाश्चात्य शिक्षा भारत के लिए एक वरदान सिद्ध हुई।

अंग्रेजी शिक्षा के कारण भारतीय नेताओं के दृष्टिकोण का विकास हुआ जिसमें दादा भाई नौरोजी, फिरोजशाह मेहता, गोपालकृष्ण गोखले, उमेश चन्द्र बनर्जी आदि नेता अंग्रेजी शिक्षा की ही देन हैं।

4- Hkkjrh; lekpkj i= rFkk lkfgR; %राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रगति तथा विकास में भारतीय साहित्य तथा समाचार पत्रों का भी काफी हाथ था। इसके माध्यम से राष्ट्रवादी तत्वों को सतत् प्रेरणा और प्रोत्साहन मिलता रहा। उस समय प्रसिद्ध समाचार पत्रों में संवाद कौमुदी बाम्बे समाचार (1882), बंगदूत (1831), गस्तगुतार (1851), अमृत बाजार पत्रिका (1868) इण्डियन मिरर, हिन्दू, पैट्रियार, बंगलौर, न्यु इण्डियन केसरी आदि के नाम विशेष रुप से उल्लेखनीय है।

भारतीय साहित्यकारों ने भी देश की भावना को जागृत करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। श्री बंकिमचन्द्र चटर्जी ने वन्देमातरम के रुप में देशवासियों को राष्ट्रीय गीत दिया। इसी प्रकार केशवचन्द्र सेन रवीन्द्रनाथ टैगोर, आर. सी. दत्त रानाडे आदि ने अपने विद्वतापूर्ण साहित्य के माध्यम से भारत में राष्ट्रीयता की भावना से परिपूर्ण उत्कृष्ट साहित्य का सृजन किया। इन साहित्यक कृतियों ने भारतवासियों के हृदयों में सुधार एवं जागृति की अपूर्ण उमंग उत्पन्न कर दी।

5- Hkkjr dk vkfFkZd 'kks"k.k %ब्रिटिश सरकार की आर्थिक शोषण की नीति ने भारतीय उद्योगों को बिल्कुल नष्ट कर दिया था यहां के व्यापार पर अंग्रेजो का पूर्ण अधिकार हो गया था। भारतीय वस्तुओं

पर जो बाहर जाती थी भारी कर लगा दिया गया और भारत में आने वाले पर ब्रिटिश सरकार ने आयात पर बहुत छूट दे दी। इसके अतिरिक्त अंग्रेज भारत से कच्चामाल ले जाते थे इंग्लैण्ड से मशीनी द्वारा निर्मित माल भारत में बेचते थे जो लघु एवं कुटीर उद्योग धंधो के निर्मित माल से बहुत सस्ता होता था परिणामस्वरुप भारतीय बाजार यूरोपियन माल से भर गये एवं कुटीर उद्योग धंधो के पतन हो जाने से करोड़ो की संख्या में लोग बेरोजगार हो गये। भारत का धन विदेशों में जा रहा था।

अतः भारत दिन प्रतिदिन निर्धन होता गया अंग्रेजो के इस आर्थिक शोषण के विरुद्ध भारतीय जनता में असन्तोष था। वह इस शोषण से मुक्त होना चाहती थी इसलिए भारतीयों ने राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय रुप से भाग लेना प्रारम्भ कर दिया ।

6- tkfr foHkn uhfr % 1957 ई.के बाद ब्रिटिश शासकों जाति विभेद की नीति अपनायी। इस नीति के अनुसार वे भारतीयों को घृणा की दृष्टि से देखने लगे। भारतीयों को ऐसा जन्तु समझते थे जो आधा वनमानुष और आधानीग्रो था जिसे केवल भय द्वारा ही समझाया जा सकता था। और जिसके लिए जनरल नील तथा उसके साथियों का घृणा और आतंक का व्यवहार ही उपयुक्त था।

अंग्रेजों की इस जाति भेदभाव की नीति का भारतीयों पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। अब उनके हृदय में ब्रिटिश शासन के प्रति विद्रोह की ज्वाला भड़क उठी। इस तथ्य से राष्ट्रीयता की भावना का तीव्र गति से संचार हुआ। गैरेट के अनुसार भारतीय राष्ट्रीयता की बढ़ोत्तरी में उपरोक्त कटुता की भावना एक बहुत बड़ा कारण थी।

7- ;krk;kr vkj lapkj lk/kuksa dk fodkl % यातायात तथा संचार के साधनों के विकास में भी राष्ट्रीय आन्दोलन ने महत्वपूर्ण योगदान दिया। ब्रिटिश सरकार ने देश में रेलों तथा सड़कों का जाल बिछा दिया। डाक, तार, टेलीविजन आदि की व्यवस्था हुई। इसके पीछे अंग्रेज सरकार का मुख्य उद्देश्य यह था कि विद्रोह को दबाने के लिए अंग्रेजी सेनाएं शीघ्रता से भेजी जा सकेगी एवं दूर दूर के प्रान्तों की सूचना शीघ्र प्राप्त हो जाएगी। इस विकास से भारतीयों को काफी लाभ हुआ। अब वे एक स्थान से दूसरे स्थान का भ्रमण कर आन्दोलन को और अधिक उग्र बनाने लगे जिनसे जन साधारण में जागृति आई। परिणामस्वरुप एकता की भावना अधिक प्रबल हो गई और राष्ट्रीय आन्दोलन की बल प्राप्त हो गया। गुरुमुख निहाल सिंह के शब्दों में संचार के इन साधनों ने सारे देश को एक कर दिया और भौगोलिक एकता एक मूर्तरुप वास्तविकता में बदल दिया।

8- fonsh vkUnksyu dk ÁHkko % 19वीं. शताब्दी में यूरोप में जो स्वाधीनता संग्राम लड़े गए उन्होंने भी भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को काफी प्रभावित किया। फ्रांस की 1848 ई. की क्रांति ने भारतीयों में बलिदान की भावना जागृत की इटली तथा यूनान की स्वाधीनता ने उनके उत्साह में साधारण वृद्धि की एवं अमेरिका का स्वतंत्रता संग्राम आदि ने भी भारतीयों को उत्साहित किया तथा उनमें साहस पैदा किया। परिणामस्वरुप वे स्वाधीनता प्राप्त करने के संघर्ष में जुट गए।

fu"d"kZ % उक्त आधार पर राष्ट्रवाद के जन्म के लिए ब्रिटिश सरकार की नीति ब्रिटिश सरकार की विरोधी नीति राष्ट्रवाद के जन्म में सहायता प्रदान की। ब्रिटिश शासन में ही भारत में राजनीतिक एकता स्थापित हुई पाश्चात्य शिक्षा का प्रसार हुआ और यातायात के साधनों का विकास हुआ। इनसे यदि एक ओर ब्रिटिशशासन को लाभ हुआ तो दूसरी ओर अप्रत्यक्ष रुप से राष्ट्रवाद के जन्म में भी योगदान मिला।

ब्रिटिश शासन के विकासशील स्वरुप ने यदि राष्ट्रवाद के जन्म के लिए अप्रत्यक्ष से योगदान किया तो उसके प्रतिक्रियावादी स्वरुप ने इस प्रक्रिया को तेज किया। ब्रिटिश शासन द्वारा भारत का आर्थिक शोषण, भारतीयों के साथ भेदभाव, उन्हें सरकारी नौकरियों में स्थान न मिलने, प्रेस पर प्रतिबंध, हथियार रखने पर प्रतिबंध, साम्राज्यवाद के विस्तार के लिए युद्ध लड़ना जैसे कामों ने यह स्पष्ट कर दिया कि ब्रिटिश शासन भारत के हित में नहीं है। अधिकांश राष्ट्रीय नेताओं का मत था कि भारत की आर्थिक दुर्दशा का मूल कारण भारत में अंग्रेजी शासन है। यही कारण है कि भारत में देश प्रेम व राष्ट्रवादी भावना का विकास हुआ।

lUnHkZ %

1. सुनलिनी कुमार(2008) नैशनलिजम, राजीव भार्गव और अशोक आचार्य (सम्पा),पॉलिटिकल थियरी : ऐन इंट्रोडक्शन, पियर्सन लोंगमेन, नयी दिल्ली।
2. एस. सेठ (1995) मार्म्सिस्ट थियरी ऐंड नैशनलिस्ट पॉलिटिक्स,सेज, नयी दिल्ली।
3. मेजर जनरल इयान कारजोडो भारतीय सेना का गौरवशाली इतिहास।
4. विद्या धर महाजन और सावित्री महाजन (1971) constitutional history of india includinr the nationalist movement (6th edition) fnYyh ,l- pan
5. जैन गिरिलाल (1994) The hindu phenomenon ubZ fnYyh UBS Publishers Distributors

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

jkx njckjh dk jkx

l"kek*

श्रीलाल शुक्ल हिन्दी की यथार्थवादी परम्परा की सशक्त कड़ी हैं। यथार्थवादी उपन्यासकारों ने जिस पीड़ित वर्ग की पक्षधरता की बात अपने उपन्यासों में रखी और जिसे प्रेमचंद, निराला, रांगेय राघव, रेणु, राही मासूम रजा, यशपाल, अमृतलाल नागर, भीष्म साहनी, भैरवप्रसाद गुप्त आदि उपन्यासकारों ने आगे बढ़ाया, उसे श्रीलाल शुक्ल ने 'व्यंग्य' की एक विशिष्ट शैली के माध्यम से एक नयी अर्थवत्ता दी, जिसका सशक्त और जीवंत प्रमाण है 'राग दरबारी'।

राग दरबारी मात्र एक उपन्यास ही नहीं है, मात्र व्यंग्य लीला या क्रीड़ा ही नहीं है, बल्कि जीवन से सत्य से अपने आप से जीवंत और प्रत्यक्ष साक्षात्कार है। यह स्वातंत्र्योत्तर भारत की समग्र व्यवस्थाओं का जीवंत और प्राणवान दस्तावेज है। इसमें आप जीवन की विषमा या विद्रूपता ही नहीं देखते, समाज की जीर्ण–शीर्ण परंपराओं और जड़ित–गलित स्थिति को ही नहीं देखते, अपनी कमियों और त्रुटियों से भी परिचित होते हैं।

श्रीलाल शुक्ल का उपन्यास 'रागदरबारी' सन् 1968 ई0 में प्रकाशित हुआ और सन् 1969 में साहित्य अकादमी सम्मान् प्राप्त हुआ। उसके बाद अन्य अनेक भाषाओं में उसका अनुवाद हुआ और यह उपन्यास दूरदर्शन पर भी फिल्माया गया। राग दरबारी में भारतीय गाँव के सजीव, यथार्थवादी चित्रण ने हिन्दी साहित्य जगत् में काफी खलबली मचायी। रागदरबारी की कथाभूमि शिवपालगंज नामक गाँव है जो उत्तर प्रदेश के अवधी भाषी क्षेत्र में कहीं किसी बड़े नगर से कुद मील दूर पर स्थित है। रंगनाथ स्वास्थ्य लाभ लेने के लिए अपने मामा के यहाँ जाने के लिए एक ट्रक से लिट माँगता है। उस ट्रक का हुलिया बताते हुए लेखक लिखता है –

'वहीं एक ट्रक खड़ा था। उसे देखते ही यकीन हो जाता था, इसका जन्म केवल सड़को के साथ बलात्कार करने के लिए हुआ है। जैसे कि सत्य के होते हैं, इस ट्रक के भी कई पहलू थे।''[1] जिस तरह ट्रक बिल्कुल जर्जर होते हुए सड़क को रौंदते हुए चला जा रहा है ठीक उसी प्रकार देश की शासन व्यवस्था भी बिल्कुल जर्जर होते हुए आम जन को सत्य को रौंद रही है। आगे रंगनाथ कहता भी है– ''ड्राइवर साहब, तुम्हारा गियर तो बिलकुल अपने देश की हुकूमत जैसा है। उसे चाहे जितनी बार टॉप गियर में डालो, दो गज़ चलते ही फिसल जाती है और लौटकर अपने खाँचे में आ जाती है।''[2]

श्रीलाल शुक्ल ट्रक के माध्यम से यह कहना चाहते हैं कि देश इतने वर्षों की प्रगति और विकास के नारों के बावजूद निहित स्वार्थों और अनेक अवांछनीय तत्त्वों के सामने घिसट रहा है। ड्राइवर के लाख कोशिश के बावजूद गियर कुछ फर्लांग के बाद फिसल कर अपने खाँचे में आ जाता था ठीक उसी प्रकार जब तक देश की व्यवस्था में बदलाव नहीं होगा तब तक देश का विकास नहीं हो सकता।

''कहा तो, घास खोद रहा हूँ। इसी को अंग्रेजी में रिसर्च कहते हैं।''[3] रंगनाथ के इस कथन से अंदाजा लगाया जा सकता है कि उच्च शिक्षा की क्या स्थिति है आगे श्रीलाल शुक्ल शिक्षा–पद्धति और शिक्षा की स्थिति को और स्पष्ट करते हुए कहते हैं– ''वर्तमान शिक्षा–पद्धति रास्ते में पड़ी कुतिया है जिसे कोई भी लात मार सकता है।''[4] शिक्षा जैसी संस्थाओं में भी भ्रष्टता इस कदर फैल गया है कि योग्य व्यक्ति के स्थान पर सिफारिश के बल पर अयोग्य भी योग्य हो जा रहे हैं इस तरह शिक्षा व्यवस्था खुद एक तरफ

*शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी–221005

योग्य लोगों को लात मार रहा है तथा दूसरी तरफ पढ़े–लिखे बेरोजगार रोजगार की तलाश करते–करते इसे लात मार कर निजी व्यवसाय की तरफ प्रवृत्त हो रहे हैं।

रुप्पन रंगनाथ से कहता है– ''दादा इस देश की शिक्षा–पद्धति बिलकुल बेकार है। ''तुम इस कालिज का हाल नहीं जानते। लुच्च्वों और शोहदों का अड्डा है। मास्टर पढ़ाना–लिखना छोड़कर सिर्फ पालिटिक्स भिड़ाते हैं।''[5] रुप्पन के इस कथन से विद्यार्थियों की भी रुचि का पता चलता है और अध्यापकों की भी। शिवपालगंज स्थित छंगामल इण्टरमीडिएट कॉलेज के स्वरूप और पढ़े–लिखे लोगों पर व्यंग्य करते हुए रचनाकार कहता है– ''यहाँ से इंटरमीडिएट पास करने वाले लड़के सिर्फ इमारत के आधार पर कह सकते थे कि हम शांतिनिकेतन से भी आगे हैं; हम असली भारतीय विद्यार्थी हैं; हम नहीं जानते कि बिजली क्या है, नल का पानी क्या है, पक्का फर्श किसको कहते हैं; सेनिटरी फिटिंग किस चिड़िया का नाम है। हमने विलायती तालीम तक देसी परम्परा में पायी है और इसीलिए हमें देखो, हम आज भी उतने ही प्राकृत हैं! हमारे इतना पढ़ लेने पर भी हमारा पेशाब पेड़ के तने पर ही उतरता है, बन्द कमरे में ऊपर चढ़ जाता है।''[6] इससे पता चलता है कि पढ़े–लिखे लोग अपने पर्यावरण के प्रति कितने सचेत हैं।

मास्टर मोतीराम को पढ़ाने से ज्यादा चिन्ता अपने आटाचक्की की भक्–भक्–भक् आवाज की रहती है। आज की शिक्षा पद्धति में भी अध्यापक को अध्यापन के अतिरिक्त इतने कार्य दिए जाते हैं कि उनका ध्यान और समय अध्यापन से ज्यादा उन कार्यों में ही व्यतीत हो जाता है। आजादी के इतने वर्षों बाद माननीय प्रधानमंत्री जी के प्रयास से वर्ष 2015 में पं0 बंगाल का नाडिया जिला खुले में शौच मुक्त पहला जिला घोषित हुआ। पर्यावरण स्वच्छ रखने की चिंता कहीं न कहीं श्रीलाल शुक्ल को भी थी तभी तो वे कहते हैं– ''थोड़ी देर में ही धुँधलके में सड़क की पटरी पर दोनों ओर कुछ गठरियों–सी रखी हुई नजर आईं। ये औरतें थीं जो कतार बाँधकर बैठी हुई थीं। वे इत्मीनान से बातचीत करती हुई वायु–सेवन कर रही थी और लगे–हाथ मल–मूत्र का विसर्जन भी।''[7] कैसी विडम्बना है एक तरफ तो औरतों को पर्दे में रखा जाता है और दूसरी तरफ खुले में शौच के लिए भेजा जाता है।

''दारोगा जी रुप्पन बाबू के आते ही कुर्सी से खड़े हो गए और विनम्रता–सप्ताह बहुत पहले बीत जाने के बावजूद, उन्होंने विनम्रता के साथ हाथ मिलाया।''[8] जब एक छात्रनेता के आने पर दारोगा जी की यह हालात है, तो वे लोगों के साथ न्याय क्या कर सकते हैं। लोगों का रक्षक स्वयं की सुरक्षा पर खतरा महसूस करता है और उन लोगों की हाँ में हाँ मिलाकर रहता है।

यदि हमारे शास्त्रों में जाति के आधार पर किसी को श्रेष्ठ और किसी को तुच्छ घोषित किया जाता है तो यह कितनी बड़ी विडम्बना है इस पर लेखक ने करारा व्यंग्य किया है– ''तब तक लंगड़ दरवाजे पर आ गया। शास्त्रों में शूद्रों के लिए जिस आचरण का विधान है, उसके अनुसार चौखट पर मुर्गी बनकर उसने वैद्यजी को प्रणाम किया।''[9] देश में जाति–प्रथा आज भी किस हद तक अपनी जड़ जमाये है इस पर खीज कर रचनाकार कहता है– ''इस देश में जाति–प्रथा को खत्म करने की यही एक सीधी–सी तरकीब है। जाति से उसका नाम छीनकर उसे किसी आदमी का नाम बना देने से जाति के पास और कुछ नहीं रह जाता। वह अपने आप खत्म हो जाती है।''[10]

रुप्पन रंगनाथ से कहता है वैद्य जी ''मैनेजिंग डायेक्टर थे, हैं, और रहेंगे।''[11] इससे पता चलता है कि किसी पद को भी लोग बाप की बपौती समझते हैं। इससे वैद्य जी की पहुँच का भी अंदाजा लगाया जा सकता है।

वैद्य जी किस प्रकार के व्यक्ति हैं इस पर बड़ा तीखा व्यंग्य रचनाकार ने किया है– ''हर बड़े रानीतिज्ञ की तरह वे राजनीति से नफ़रत करते थे और राजनीतिज्ञों का मज़ाक उड़ाते थे। गाँधी की तरह अपनी राजनीतिक पार्टी में उन्होंने कोई पद नहीं लिया था, क्योंकि वे वहाँ नये खून को प्रोत्साहित करना चाहते हैं, पर कोऑपरेटिव और कॉलिज के मामलों में लोगों ने उन्हें मजबूर कर दिया और उन्होंने मजबूर होना स्वीकार कर लिया था।''[12]

श्रीलाल शुक्ल की पैनी दृष्टि के आगे कोई क्षेत्र बच नहीं पाया जहाँ उनकी दृष्टि न गई हो। भारत की न्याय व्यवस्था की स्थिति क्या है इस पर लेखक के तेवर देखिए– ''पुनर्जन्म के सिद्धान्त की

ईजाद दीवानी की अदालतों में हुई है, ताकि वादी और प्रतिवादी इस अफसोस को लेकर न मरें कि उनका मुकदमा अधूरा ही पड़ा रहा। इसके सहारे वे सोचते हुए चैन से मर सकते हैं कि मुकदमें का फैसला सुनने के लिए अभी अगला जन्म तो पड़ा ही है।''[13] हमारे यहाँ न्याय–व्यवस्था की ये कैसी विडम्बना है कि समय यहाँ कोई महत्त्व ही नहीं रखता। आरोपी को सजा दिलाते–दिलाते पीडित स्वयं इस दुनिया से चला जाता है और आरोपी स्वच्छन्द रूप से जीवनयापन करता है। पात्र लंगड के माध्यम से यह बात साबित हो जाती है कि एक नकल के लिए वह तहसील का चक्कर ही लगाता रह जाता है।

''अब रिश्वत का देना और रिश्वत का लेना–दोनों बड़े झंझट के काम हो गये हैं।''[14] इससे यह पता चलता है कि जब कुछ पढ़े–लिखे समझदार लोग रिश्वत के मामले में हस्तकक्षेप करने लगे तो यह झंझट का काम समझा जाने लगा नहीं तो चुपचाप बड़े शान्ति से यह काम चल रहा था।

कोऑपरेटिव यूनियन जैसी संस्था में ग़बन होने पर वैद्यजी कड़ककर बोले, ''क्या स्त्रियों की भाँति फुस–फुस कर रहा है? कोऑपरेटिव में ग़बन हो गया तो कौन–सी बड़ी बात हो गई? कौन सी यूनियन है जिसमें ऐसा न हुआ हो?''[15] गलत कार्य को भी अकड़कर और जबरदस्ती सही साबित करना पुरुष अपना कर्तव्य समझता है इसी में उसे अपनी मर्दानी दिखती है। वैद्यजी का यह कहना कि कौन सी यूनियन है जिसमें ग़बन नहीं होता यह साबित करते हैं कि देश के हर कोने में इस तरह की भ्रष्टता व्याप्त है।

वैद्य जी और उनकी सत्ता के तीन स्रोत हैं– कॉलेज, कोऑपरेटिव यूनियन तथा गाँव–सभा। वेशभूषा, सिद्धान्तों तथा आदर्शों की दुहाई देने, बात–बात में गीता आदि धार्मिक ग्रन्थों से संस्कृत उक्तियों का उद्धरण देने से भले ही वह सात्विक वृत्ति का जन सेवक लगे, परन्तु उसके आचरण और क्रिया–कलाप से पता चलता है कि तथाकथित इन जननेताओं का अधोपतन किस सीमा तक हो सकता है और जिन जीवन मूल्यों की दुहाई देते–देते वे थकते नहीं, उनकी क्या दशा उन्हीं के हाथों हो रही है। कॉलेज का मैनेजर होने के नाते कॉलेज के पैसे से बेटे को आटा चक्की खुलवाते हैं। प्रिंसिपल के साथ मिलकर हिसाब–किताब में गोल–माल करते हैं, नाते–रिश्तेदारों को अध्यापक पद पर नियुक्त कराते हैं, सहकारी संघ के प्रधान होने के नाते ग़बन करवाते हैं, गाँव–सभा के पद पर मूर्ख सनीचर को बैठाकर उसकी दुकान पर अमरीकी दूध का पाउडर तथा अस्पतालों के लिए सरकार से मिली दवाइयाँ बिकवा कर अपनी जेब भरते हैं। प्रशासनिक अधिकारियों को खुश रखकर, उनके साथ सम्बन्ध सूत्र जोड़कर, दरोगा आदि का तबादला कराकर और अपने मन चाहे अधिकारी नियुक्त कराकर वह जनता पर मनमाना शासन करते हैं। उनकी बगुला–भक्ति का संकेत गयादीन की पुत्री बेला तथा अपने बेटे बद्री के प्रणय–प्रसंग से लगता है। जब वह समझ जाते हैं कि बद्री बेला से विवाह करने पर अटल है तो वह उसे अन्तर्जातीय विवाह की योजना का रूप देना चाहते हैं और गांधी का नाम लेकर प्रगतिशील चिन्तक तथा समाज सुधारक बताना चाहते हैं और जब गयादीन सहमत नहीं होता हो मन ही मन खुश होते हैं।

प्रजातन्त्र का मूल सिद्धानत है– प्रजा के लिए प्रजा के द्वारा, प्रजा की सरकार। अतः प्रजान्तत्र में चुनावों का बड़ा महत्त्व है। चुनाव का आदर्श है– निष्पक्ष, भय और प्रलोभन से दूर, स्वेच्छा से वोट देने की सुविधा। पर आधुनिक भारत में चुनाव न निष्पक्ष रह गये हैं, न जनता अपने वोट का मूल्य व महत्त्व समझती है। तभी तो राग दरबारी के इक्केवालों की तरह कहते हैं, ''वोट साला कौन छप्पन टके की चीज है। हमें कौन वोट का अचार रखना है कोई भी ले जाय।''[16] जनता यदि अपने वोट का महत्त्व समझती भी है तो कभी प्रलोभन में आकर, कभी आतंकपूर्ण माहौल के परिणामस्वरूप तथा कभी जाति, वर्ण, धर्म, सम्प्रदाय के नाम पर उसका उचित उपयोग नहीं कर पाती। राग दरबारी में तीन पदों के लिए चुनाव होता है– कॉलेज के मैनेजर का कोऑपरेटिव यूनियन के प्रधान का तथा गाँव सभा का। मैनेजर के चुनाव में वैद्यजी ठाकुर बलवंत सिंह के तमंचे तथा रुप्पन के छात्रों की लाठियों के बल पर चुनाव जीतते हैं, पण्डित जी जैसे व्यक्तियों को वोट दिये बिना ही कॉलेज के गेट से वापस लौटा दिया जाता है। अतः शोर–शराबे, नारेबाजी तथा जयघोष के साथ वैद्यजी पुनः मैंनेजर घोषित कर दिए जाते हैं। सहकारी संस्था के प्रधान के चुनाव के अवसरर पर बद्री पहलवान के गुण्डे छोटे पहलवान आदि नगर से आये चुनाव अधिकारी इदरीस के चुनाव प्रस्ताव को अपने शोरगुल में डुबो देते हैं। चुनाव–फुनाव नहीं होगा। उसकी जरूरत नहीं.

.....कैसा चुनाव? हुंह! चले बड़े चुनाव वाले.....उठो बद्री उस्ताद, न हो तो तुम्हीं बैठ जाओ। उठो, उठो, उस्ताद। लो लपक के। और अगले ही क्षण बद्री पहलवान लपक कर सिंहासन पर बैठ जाते हैं और नारो के बीच माला पहनकर अपने पास बैठे बद्री पहलवान को देखकर इदरीस साहब के दिमाग में सन्नाटा और आँखों के सामने अंधेरा छा जाता है। इस प्रकार कोऑपरेटिव यूनियन का चुनाव मखौल बनकर रह जाता है। गाँव सभा के प्रधान पद पर सनीचर जैसे मूर्ख को भी इसी धांधली, गुण्डागर्दी और रिश्वत के बल पर बिठा दिया जाता है।

सारांश यह है कि राग दरबारी परिवेश तथा समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार को व्यंग्य के धरातल पर उभारने वाली सशक्त कृति है। व्यंग्य इस उपन्यास की बनावट और बुनावट दोनों में है। वह उसकी शैली में ही नहीं, सम्पूर्ण रचना में है। लेखक एक ओर शिवपालगंज के सामुदायिक जीवन की कुरुपता को उजागर करता है और दूसरी ओर देश के व्यवस्था–तंत्र और प्रजातंत्र के विद्रुप चेहरे पर से नकाब उतारता है। हास्य मिश्रित व्यंग्य की अन्तर्धारा के व्यक्तिगत तथा सामाजिक विकृतियों, आधुनिक जीवन की विसंगतियों को हमारे सामने रखने में पूर्ण सफल हुआ।

I UnHk%

1. राग दरबारी– श्रीलाल शुक्ल, पृ0 7
2. वही, पृ0 8
3. वही, पृ0 9
4. वही, पृ0 12
5. वही, पृ0 31
6. वही, पृ0 18
7. वही, पृ0 12
8. वही, पृ0 15
9. वही, पृ0 35
10. वही, पृ0 24
11. वही, पृ0 31
12. वही, पृ0 32
13. वही, पृ0 33
14. वही, पृ0 37
15. वही, पृ0 39
16. वही, पृ0 202

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

jk"Vfirk egkRekxk/kh dk nfyrksa d ifr nf"Vdk.k ,d nk'kfud v/;;u

vHk; dekj lB*
ik- vf[ky'oj ilkn nc**

दलित–विमर्श समकालीन भारतीय समाज, राजनीति, साहित्य एवं दर्शन का एक महत्वपूर्ण विमर्श है। दलित वे लोग जो समाज में मानसिक, आर्थिक, सामाजिक, राजैनतिक, सांस्कृतिक, रूप से जिसे प्रबुद्ध तथा मजबूत व्यक्तियों द्वारा दबाया, कुचला या उनके ऊपर नियमों को थोपा गया है। लोगों को दलित की सेवा दी गयी है। जैसा कि महात्मा गाँधी जी ने कहाँ था कि कोई भी समाज या राष्ट्र अपने एक अंग को अस्पृश्य या दलित बनाकर अपनी समुचित प्रगति नहीं कर सकता है। अतः दलित दृष्टिकोण न केवल दलितों के सशक्तिकरण एवं उनके विकास हेतु बल्कि पूरे समाज एवं राष्ट्र की प्रगति के लिये भी अपरिहार्य है। मगर आज दलित लोग अपने मूल्य उद्देश्यों से भटक चुके हैं। स्वयं वे दलितों के मसीहा डॉ. भीमराव अम्बेडकर के सिद्धान्तों पर खरे नहीं उतरे जिसका फायदा ऊँची जातियाँ उन्हें जाति मनमुटाव करके उनका फायदा वोट बैंक में बनाती है। ऐसे कई तथाकथित दलितवादी विचारक (जिसमें दलित एवं सवर्ण दोनों शामिल हैं। महात्मा गाँधी आदि राष्ट्रनायको द्वारा दलित मुक्ति मे दिये गये योगदानों की अनदेखी करते हुये उन्हें दलित विरोधी करार दे रहे है और उन्हें अपमानजनक विशेषणों से नबाजने में लेगे हैं। ऐसे में गाँधी जी के दलित–विमर्श को पुनः समग्रता में देखने की जरूरत है। जैसा कि हम जानते हैं कि – ब्राह्मणवाद जिसकी वजह से एक बड़ी आबादी को अछूत बनाकर पशु से भी बदतर स्थिति में रखा गया था। दलित स्त्री जाति का बाल विवाह, बाल–वैधव्य, वेश्यावृत्ति, देवदासी प्रथा आदि शोषण होता था और उन्हें शिक्षा और सामाजिक समानता के अधिकारों से वंचित कर दिया गया था। गुलामी के समय अंग्रेजों ने भी इसका भरपूर लाभ उठाया और सम्राज्यवाद की स्थापना करने में कामयाब हो गये। उन्होने सांस्कृतिकता को नष्ट करने का भरपूर प्रयास किया। उसी प्रकार लार्ड मैकाले ने भी शिक्षा पद्धति में भारतीय शिक्षा व उसके विचारों को नष्ट करने की कोशिश किया था। जिसका उदाहरण कई वर्षों तक धू–धू कर जलती हुई तक्षशिला नालंदा विश्वविद्यालय की पुस्तकालय की स्थिति का हुआ था। इसके साथ ही भारतीय इतिहास गवाह है कि हमारी संम्पादाओं की लूट–खसोट भी हो रही थी। गाँधीवादी आलोचक डॉ. श्री भगवानदास के अनुसार "एक राष्ट्र के रूप में दलित भारत के मुख्य रूप से चार पक्ष थे–1. अछूतों का दलन, 2. स्त्रियों का दलन, 3. भाषा शिक्षा के स्तर पर दलन, 4.राजनैतिक दलन इसके अंतर्गत राजनैतिक पराधीनता से लेकर आर्थिक शोषण तक वे मुख्य समस्यायें शामिल थी। अतः राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने दलित मुक्ति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाया है। एक बार की घटना है कि महात्मा गाँधी ने अपनी माँ श्रीमती पुतली बाई से कहा था कि भंगी से छू जाने से पाप मानना गलत है। फिर अपने दक्षिण अफ्रीका में रहने के दौरान भी उन्होंने कहा कि भारत में एक बड़े समूह को अस्पृष्य बनाकर सवर्ण हिन्दुओं ने जो पाप किया है वे उसी का दण्ड दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद के रूप में भोग रहे हैं। लेकिन आलोचक गाँधी जी पर आक्षेप उठाते है कि हिन्दू स्वराज्य में, मेरे सपनों का भारत, में गाँधी जी ने क्यों नहीं कहीं अछूतों के बारे में सोचने का प्रयास किया।" फिर भी महात्मा गाँधी ने जगह–जगह पर– हरिजन–सवर्ण–सहभोज

*शोधार्थी, दर्शन विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर केन्द्रीय, वि.वि. सागर (म.प्र.) 470003
**शोध निर्देशक, डॉ. हरीसिंह गौर केन्द्रीय, वि.वि. सागर (म.प्र.) 470003

आयोजित कराए और अछूतों के मंदिर में प्रवेश हेतु आन्दोलन चलाया। इस दिशा में उनके द्वारा साप्ताहिक पत्र "हरिजन" और उनकी संस्था "हरिजन सेवक संघ" का योगदान भी अविस्मरणीय है। साथ ही गाँधी जी के वर्ण व्यवस्था संबंधी विचारों में आये बदलाव और उनके द्वारा अन्तर्जातीय व अन्तर्वर्णीय विवादों की पूरी जोर शोर से वकालत भी विशेष महत्व रखता है। अस्पृश्यता एक सौ सिर वाला दैत्य है। जो बुद्धि एवं सदाचार का एक विरोधी है। अतः हम सभी भारतीयों को इंसान धर्म मानव अछूत धर्म का विरोध करना चाहिए। क्योंकि 'ईश्वर अंशाजीवअविनाशी' कबीर की उक्ति है। सभी ईश्वर के अंश है कोई अछूत नही है। सभी पंचतत्व से मिलकर बने है तथा सभी में चमड़ा, माँस, रक्त – चमार की उपस्थित है अतः हमें मानव धर्म का पालन करना चाहिए। अतः हमें एक क्रूर, अमानवीय, असहिष्णु एवं आत्मघाती व्यवस्था का विरोध करना चाहिए। मैं यह मानता हूँ कि – अस्पृश्यता का मूल जड़ धर्म में नहीं वरन उच्चता के झूठे अहंकार में है। अर्थात अपने दुगुर्णो को अपने पैरों तले दबाकर रखने कर मनोवृत्ति के कारण अस्पृश्ता पैदा हुई है। गाँधी जी के अनुसार हिंन्दू धर्म शास्त्रों में तीन प्रकार के छुआ–छूत का उल्लेख मिलता है। जन्म से अस्पृश्प। शूद्र पुरूष। ब्राह्मण स्त्री के संयोग से पैदा होने वाली संतान। शास्त्र निषिद्व कार्य करने वाले लोग। अशुद्ध दशा में रहने वाले लोग।

लेकिन जब गंदा कार्य के बाद आदमी नहा–धोकर स्वच्छ हो जाता है तब उसकी अस्पृश्यता समाप्त हो जाती है। इस प्रकार की अस्पृश्यता न तो जन्मजात होती है और न ही स्थाई होती है। यह हर मानव की स्थिति है। जिस प्रकार शौच करते समय और शवदाह के समय व्यक्ति को अस्पृश्य माना जा सकता है। यह माता–पिता तथा बेटे के बीच भी पाई जाती है। गाँधी जी का मत था यदि रजस्वला माता बीमार हो जाये और हम उसकी सेवा न करें तो यह भी पाप होगा। अतः उस अवस्था में अस्पृश्य की सेवा करना ही मानव धर्म बना जाता है अतः कर्म के साथ पुनः कुछ समय के लिये पूरी दुनिया में प्रत्येक व्यक्ति अस्पृश्य हो जाता है। परंतु कर्म के बाद स्वच्छ होने पर उसे अस्पृश्य कहना पाप है। डॉक्टरी पेशा, प्रसव की स्थिति में माँ, मेहतर, नाई, धोबी, चर्मकार आदि कार्य करते समय अस्पृश्य अवश्य हो जाते हैं। गाँधी जी का मत था कि स्मृतियॉ और वेदों में जो अस्पृश्यता का उल्लेख है उसका संबंध जन्म से नहीं बाहरी आचरण से है। गाँधी जी कहते थे "यदि किसी दिन मुझे यह पता चले कि वेद, उपनिषद, भगवतगीता, स्मृतियाँ और अन्य शास्त्रों में जन्माधारित अस्पृश्यता का समर्थन है तो दुनिया की कोई ऐसी ताकत नहीं होगी जो मुझे हिन्दू धर्म से बाँधकर रखे, तब मैं हिन्दू धर्म को उसी तरह फेक दूँगा जिस तरह लोग सड़े हुये सेव को फेंक देते हैं वे लिखते हैं कि "यदि एक क्षण के लिये भी मुझे यह विश्वास हो जाये कि हिन्दू धर्म मुझसे किसी भी प्राणी को छूने में पाप समझने की आशा करता है तो मुझे हिन्दू कहलाने का हक नहीं रहेगा।" राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी कहते हैं कि मैं अस्पृश्यता के कलंक को अपने से मुक्त करने और पाप का प्रायश्चित करने के लिये हरिजन उत्थान में रूचि लेता हूँ। अतः हृदय परिवर्तन द्वारा इसे दूर किया जा सकता है। स्वराज के लिये अस्पृश्यता निवारण अपरिहार्य है और यह न केवल सभी भारतीयों, बल्कि पूरी मानवता के हित में है। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी और डॉ. भीमराव अम्बेडकर जी के विचारों में दलित मुक्ति के मुद्दों और विशेषकर मुक्ति के साधनों को लेकर काफी मतभेद है। फिर भी दोनों विचारक मानव–मुक्त संघर्षरत थे। इसी स्पष्टता ने गाँधी जी के सर्वोदय को प्रकट किया–अंतिम व्यक्ति का उदय ही सर्वोदय की परिभाषा को प्रकट करता है। इस प्रकार समग्रता में देखने पर गाँधी अंबेडकर एक दूसरे के प्रति नहीं, पूरक साबित होते हैं। "दर्शनशास्त्र मानव मूल्यों के समग्रता का अध्ययन है।" इस दृष्टिकोण से दर्शनशास्त्र यह बताने का प्रयास करता है कि प्रत्येक मानव का मूल्य उसकी समग्रता (विस्तृत सोच, दृष्टि सबके सार तत्व को समझना है), जिस प्रकार मिट्टी का घड़ा, मिट्टी के गिलास को छोटा समझकर तो यह अज्ञानता का दोष है। अतः गाँधी जी ने कहा था ईश्वर अल्हा तेरे नाम, सब को सन्मति दे भगवान। हमें ठीक उसी प्रकार गाँधी जी और आंबेडकर जी के विचारों को पुनः सही तरीके से समझने का प्रयास करना चाहिए। तथा सम्राज्यवाद–ब्राह्मणवाद का विरोध करना चाहिए। अतः मैं यह कहना चाहता हूँ कि ईश्वर द्वारा बनाई गई कोई वस्तु अछूत नहीं होती है वहाँ सभी बराबर हैं, वहाँ सब के साथ समाजिक न्याय की स्थापना की गई है। जो कि कर्मों के ऊपर आधारित है। तुलसीदास

जी ने भी यह कहा है कि कर्म प्रधान विश्व रचि रखा। जो जस करहि सो तस फल चाखा। दर्शनशास्त्र की एक किंवदन्ती के अनुसार – जयसी बहुत कुरूप था किसी ने उसके चहरे पर हँसी उडँया था तो उन्होने कहाँ था कि मोह का हँससी अर्थात मुझपे क्यों हँसते हो उस बनाने बाले पर हँसों।

lUnHkZ %

1. दलित दस्तक पत्रिका।
2. गाँधी : संपूर्ण गाँधी वांग्यमय, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1966 खंड – 33
3. सिंह श्री भगवान, गाँधी और दलित भारत जागरण, पूर्वोक्ता, पृ. 18–19
4. सरहिन्द पत्रिका

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

ykd thou dk vfHk0;Dr djrk dchj dk lfgR;

fcUnq iVy*

लोक क्या है? यह शब्द अपने आप में ही बहुत विशाल है। साधारणतः हम लोक का अर्थ जन सामान्य से लगाते हैं। ऋग्वेद में भी 'लोक' के लिए 'जन' शब्द प्रयुक्त हुआ है–

; be jkn lh mHk vgfeUner"VoA
fo'okfe=L; j{kfr cãn Hkkjr tue AA[1] ऋग्वेद 3/53/12

जन सामान्य या लोक जीवन का वर्णन कबीर की रचनाओं में बहुतायत हुआ है। कबीर लोकभावना के निर्भीक प्रवक्ता थे। वे अपनी सहज, सरल वाणी में लोक जीवन से सम्बन्धित समस्त विषयों का वर्णन करते चले गए। जीवन के सम्बन्ध में कबीर का दृष्टिकोण व्यापक एवं उदार होते हुए भी भावनात्मक ही था। उसमें व्यक्ति जीवन और लोक जीवन का अभेद्य पुट था। वे अपने को लोक के सम्बन्ध में नहीं देखते वरन लोक को अपने सम्बन्ध से देखते हैं। जहां वे अपने को और लोक को, दोनों को एक विशाल दृष्टिकोण से देखते हैं, उनके दृष्टिकोण में भक्तिपरक विनय, दैव्यपरक आध्यात्मिकता का प्रकाश होता है।

कबीर ने लोकभाषा और लोकशैली में लोकवार्ता तत्त्व से गर्भित रचनाएं की, जिसके कारण वह लोककवि बनकर लोकमानस में सदा के लिए बस गए। उनकी उलटवांसियां लोक साहित्य की एक विशिष्ट शैली में रची हुई हैं। इनकी रचनाओं से ऐसे अनेक पद लिये जा सकते हैं, जो पंजाबी, राजस्थानी, ब्रजभाषा, भोजपुरी, खड़ी बोली आदि लोकगीतों से गृहीत है। उनके अनेक गीत अब प्रामाणिक लोकगीत संग्रह के रूप में हमारे सामने आ चुके हैं।

कबीर साहित्य में बृहत्तर लोकभूमि के दर्शन होते हैं। हिन्दू समाज में वर्ग तथा जाति के स्वर पर लोक के विविध रूप प्रचलित थे। इनमें अभिजात वर्ग तथा शूद्र वर्ग के लोक संस्कार अन्दर से अभिन्न और ऊपर से भिन्न–भिन्न थे। कबीर का स्पष्ट रूप से यह कहना कि 'अरे इन दोउन राह न पाई'[2] अतिवादी पक्षों के प्रति भर्त्सनात्मक दृष्टिकोण का परिचायक है।

कबीर के साहित्य में लोक जीवन के आचार–विचार और उसकी प्रथाओं, परम्पराओं का प्रचुरता से उल्लेख हुआ है। उसमें लोकजीवन की विविध व्यवहारिक तथा सांस्कृतिक आयामों का प्रत्यक्ष ग्रहण भी हुआ है। यह लोकजीवन कबीलों, लोकजनों और ग्रामीणों से समन्वित था। इसमें आरण्यक संस्कृति से सम्बद्ध कृषि संस्कृति और शूद्र वर्ग के पेशेवर श्रमिक और व्यापारी वर्ग की संस्कृति भी आती थी।

भारतीय समाज को सुचारू रूप से चलाने के लिए कर्मानुसार वर्णाश्रम व्यवस्था का विधान किया गया था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णो में अगणित जातियां बन गई। कबीर की रचनाओं में इन चारों वर्णों का वर्णन है। ब्राह्मण समाज को भ्रम में डालकर वाह्याडम्बर एवं पाखण्ड से अपनी जीविका चलाते थे–

pkfj oan ifMr if<;k] gfj lk fd;k u gjrA
ckfy dchjk y x;k] ifMr <<s [krAA[3]

वैश्यों का जातीय पेशा व्यवसाय है। व्यापारी वर्ग अपनी वस्तुओं को हाट–बाजार में आकर्षक ढंग से सजाकर रखते थे–

tl cfu;k gkV ilkjk] lc tx dk lk fljtu gkjkA[4]

*शोध छात्रा, हिन्दी तथा आधुनिक भारतीय भाषा विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

कबीर की रचनाओं में परम्परागत लौकिक जीवनदर्शन के भी दर्शन होते हैं। तत्कालीन समाज में अनेक मूल्य और आदर्श परम्परागत ढंग से प्रचलित एवं मान्य थे। इनमें कुछ सामाजिक और जातिगत थे और कुछ नैतिक एवं धार्मिक। भारतीय लोकगीतों में कन्या, दुल्हन, गृहस्वामिनी, पुत्रवती आदि अनेक रूपों में उनके क्रियाकलापों और चिन्ताओं आदि का जैसा चित्र उपलब्ध होता है, प्रायः वैसा ही कबीर की उक्तियों में नारी का पारिवारिक तथा सामाजिक–सांस्कृतिक स्वरूप दिखाई पड़ता है। कन्या, पत्नी आदि रूपों में नारी के लोकतात्त्विक गुणों से कबीर का काव्य अभिमण्डित है।

igyh ukfj lnk dqyorh] lkl ll qjk ekuA
nqoj tBB lcfu dh l;kjh] fi; dk eje u tkuAA
vc dh ?kjfu ?kfj tk fn Fkk] ih; ls cku cU;s jA
dgs dchj Hkkx ciqjh dk] vkbs # jke lqU;s jAA[5]

कबीर के इस पद से स्पष्ट है कि भारतीय नारी का परम्परागत आदर्श कर्त्तव्य था अपने बड़े–बूढ़ों की सेवा–सुश्रुषा करना। कबीर एक स्थल पर परम पिता परमेश्वर को माता की संज्ञा देकर उनसे अवगुणों की क्षमा याचना करते है–

gfj tuuh es ckyd rqjk]
dkgq u vkx.k cdlq ejkA
lqr vijk/k dj fnu dqrq]
tuuh ds fpÙk jgq u rqrA
dj xfg dl dj tk /kkrk]
rÅ u gqr mrkj ekrkAA[6]

कबीर का कहना है कि उनका काव्य साधारण गीति संग्रह मात्र नहीं है, बल्कि आत्मसाधना के सार को हृदयंगम कराने वाला ब्रह्म विचार है जिसका अनुशीलन इस भवसागर में पड़े दुःखी लोगों को पार उतारने में सर्वदा समर्थ है–

rEg ftfu tkuk xhr gS] ;gq fut cã fopkjA
dsoy dfg le>kb;k] vkre lk/ku lkj jAA[7]

तत्कालीन समाज उस क्षण को धन्य मानता था जब किसी अतिथि का घर में आगमन होता था। इस आस्था की अभिव्यंजना करते हुए कबीर कहते हैं–

/kfu lq /kjh egjR; fnuk] tc fxg vk;s gfj dq tukAA[8]

कबीर की वाणी में लोक प्रचलित रीति–रिवाजों, खान–पान, वेश–भूषा, सौन्दर्य–प्रसाधन, पर्वों, खेलों आदि के भी उल्लेख मिलते हैं। इन वर्णनों से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज का उच्च वर्ग नाना प्रकार के स्वादिष्ट व्यंजनो का आहार करता था तथा सामान्य जन दाल–भात, खिचड़ी और चना–चबेना से ही सन्तुष्ट था। प्रातः काल उठकर आँगन में झाड़ू देना, खाँच लेकर गोबर की सफाई करना, बासी–भात खाना, घड़ा लेकर पानी भरने जाना ही साधारण मनुष्य की दिनचर्या थी–

cM Hkkj mfB vkxu ck<s] cM [kkp ys xkcj dk<sA
ckl Hkkr eqy ys yhgy [kk;] cMk ?kj ys ikuh ds tk;A[9]

आज भी गाँव में हमें यह दृश्य देखने को मिलता है जिसका वर्णन कबीर ने मध्यकाल में किया था। कबीर–वाणी में ऐसे अनेक उल्लेख मिलते हैं जिनसे तत्कालीन वेश–भूषा पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। उच्च वर्ग के लोग कीमती वस्त्र धारण करते थे, पान–सुपारी का सेवन करते थे–

Åty diMk ifgfj dfj] iku lqikfj [kkfgA
,d gfj dk uko fcu] ck/k teiqj tkfgAA[10]

कबीर की रचनाओं में स्त्रियों की वेश–भूषा के भी उल्लेख मिलते हैं। सामान्यतः स्त्रियाँ साड़ी का प्रयोग करती थी। सामान्य स्त्रियाँ लहँगा और चुनरी का उपयोग करती थी–

ekjh pqjh e ifj x;k nkx fi;kA
nyfgu vfx;k dkg u /kokbAA

कबीर ने अपनी रचनाओं में सामाजिक उत्सवों और पर्वों का भी उल्लेख किया है। उन्होंने रूपकात्मक शैली में होली, चाँचर, हिंडोला आदि का चित्रण किया है। होली लोक–जीवन का पर्व है। इस अवसर पर समस्त स्त्री–पुरूष अपनी मानसिक कुण्ठाओं को भुलाकर अबीर–गुलाल लगाते हुए असीम उल्लास का अनुभव करते हैं–

[kyk Qkx lc uj ukjh] gkFk ydV e[k e xkjhA
?kj ls fudlh cuh lUnjh] Hkkfr&Hkkfr ifgjs lkjhAA
vchj xyky fy, Hkj >kjh] feyu pyh fi; dk l;kjhA
viu viu >Mu fefy dfj] xkor fcfj;k r#u ckjhAA[11]

लोक–जीवन के उल्लास के अभिव्यक्त करने वाले इस पर्व पर झाँस–मंजीरा, डफ, ढ़ोलक आदि वाद्य–यन्त्रों की मधुर ध्वनि के साथ सामूहिक गान और नृत्य का भी आयोजन होता था–

ckt r rky eanx >k> MQ] rjgh rku uQhjhA
ljr fujr tgk ukpr fudl] ck<r jax vikjhAA[12]

कबीर ने कहरा, बसंत, चाँचर आदि लोकोत्सवों को विभिन्न प्रतीकों के माध्यम से यद्यपि आध्यात्मिक सन्देश दिया है फिर भी इससे उनके लोकानुभवों का भी परिचय मिल जाता है। ''चाँचर'' एक विशेष प्रकार का सामूहिक नृत्य–गान है जिसका आयोजन होली के अवसर पर होता था। कबीर ने इन काव्य रूपों के माध्यम से प्रतीकात्मक शैली में लौकिक जीवन की आध्यात्मीकरण किया है। इस प्रकार कबीर ने तत्कालीन समाज के न केवल कलुषित यथार्थ का चित्रण किया है अपितु लोकजीवन के विविध पक्षों को प्रस्तुत करते हुए नए जीवन–मूल्यों को स्थापित किया है।

तत्कालीन समाज में बाजीगर, नट तथा मदारी हस्तकौशल व मंत्रों द्वारा नाना प्रकार के खेलों से जनता का मनोरंजन करते थे जिसका वर्णन कबीर ने अपनी रचनाओं में किया है। छोटी–छोटी ग्रामीण लड़कियों के मनोरंजन का कबीर चित्रण करते हुए कहते हैं–

xfM;k xMok lk lkfy;k]
rft n cf/k yfjd;k [kyu dhAA[13]

बच्चे गुड्डा, गुड्डी के विवाह रचाते हैं। धूल के घरौंदे बनाते हैं तथा सूपेली मौनी आदि उपकरणों से अपना मनोरंजन करते हैं। यह खेल परम्परागत रूप में आज भी विद्यमान है।

मंगल गीत अर्थात् विवाह संरकार पर गाये जाने वाले गीतों का भी चित्रण कबीर की रचनाओं में मिलता है–

nyguh xkog exypkj
ge ?kfj vk, gk jktk jke Hkrkj
ru jfr dfj e eujr dfjg] iprÙk cjkrhA
x x x
ljr rrhl dkfrd vk;] efuoj lgl vB;klhA
dg dchj ge C;kfg py g] i:"k ,d vfouklhAA[14]

भारत एक कृषि प्रधान देश रहा है। मध्यकाल में भी कृषि कार्य होता था और आज भी हो रहा है। कबीर का काव्य किसान तथा विविध व्यवसायों में संलग्न लोगों के जीवन पर यथार्थ प्रकाश डालता है। उनके काव्य में कृषि–भूमि, सिंचाई, खेती, कृषि कार्य में आने वाली विविध वस्तुओं का कहीं पर प्रत्यक्ष रूप में और कहीं पर प्रतीकात्मक शैली में उल्लेख मिलता है। गाँव में किसान खेती करता था, किन्तु उसे न केवल दैवीय आपदाओं को झेलना पड़ता था, अपितु उसे गांव का मुखिया सताता था, शक्तिशाली लोग उसके खेत को उजाड़ देते थे, जिससे वे गाँव छोड़कर भाग जाते थे–

vc u cl bfg xkb xlkb]
rj uoxh [kj l ;ku gk jkeA[15]

कबीर ने कृषि के अतिरिक्त ग्रामीण उद्योग–धन्धों और व्यापारों का भी उल्लेख किया है। लघु उद्योग–धन्धों में कताई, रंगाई, बढ़ईगीरी, सिकलीगीरी, बर्तन बनाने, शराब बनाने आदि के कार्य प्रमुखता से हाते थे। उनके काव्य में बंजारा, लोहार, जादूगर, नट, वैद्य, जुलाहा, धोबी, भिखारी, नर्तक आदि के कार्यों के भी उल्लेख मिलते हैं। कबीर स्वयं जुलाहा थे और कपड़ा बुनने का कार्य करते थे। ^vl tkygk dkm eje u tkuk*] ^>huh >huh chuh pnfj;k(आदि अनेक पद उनके इसी व्यवसाय के सम्बद्ध होने के प्रमाण हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर का सहित्य लोक जीवन के उदाहरणों से भरा पड़ा है। उन्होंने जहाँ एक तरफ लोक में प्रचलित विभिन्न उत्सवों, पर्वों, मांगलिक गीतों व संस्कारो, रीति रिवाजों तथा परम्पराओं का वर्णन किया है वही कृषि तथा ग्रामीण उद्योग–धन्धों का भी चित्रण किया है। उन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से प्रेम, सद्भाव, अहिंसा आदि दिव्य गुणों की प्रेरणा देकर सामाजिक एकता का संदेश दिया है।

lUnHk &

1. ऋग्वेद, संस्कृत संस्थान, बरेली।
2. कबीर ग्रंथावली, डॉ0 श्यामसुन्दर दास, नागरी प्रचारिणी सभा, सं0 2027 वि0, साखी 17/6 (ख)
3. वही ,पद 103
4. वही, पृ0 229
5. वही, पृ0 111
6. वही, पद 5
7. वही, राग सारंग, पद 395
8. कबीर वाङ्मय, डॉ0 जयदेव सिंह/ डॉ0 वासुदेव सिंह, विश्वविद्यालय प्रकाशन, पृ0 483
9. चितावणी को अंग, पृ0 6011
10. कबीर शब्दावली, गंगाशरण शास्त्री, कबीर वाणी प्रकाशन केन्द्र, कबीरचौरा मठ, वाराणसी, पृ0 83
11. वही, पृ0 86
12. संत बानी संग्रह भाग 2, कबीर उपदेश 4, पृ0 20
13. कबीर ग्रंथावली, डॉ0 श्यामसुन्दर दास, पद 1, पृ0 117
14. वही, पद 222, पृ0 169

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

Hkeaxyhdj.k dh lSLdfr vkj ledkyhu fgUnh miU;kl

uerk flag*

भूमण्डलीकरण समकालीन विमर्शों में सर्वाधिक महत्वर्पूण अवधारणा के रूप में उभरा है। पिछली सदी के अन्तिम दशक के आरम्भ में सबसे प्रभावशाली ढंग से प्रयोग में आने वाला शब्द है 'ग्लोबलाइजेशन' इसी के लिए हिन्दी में 'भूमंडलीकरण' शब्द का प्रयोग प्रचलित है। सैद्धान्तिक अवधारणा की दृष्टि से 'ग्लोबलाइजेशन' शब्द का प्रयोग अमरीका निवासी 'चार्ल्स ताजे रसेल' ने किया, माना जा सकता है, जिन्होंने 1897 में एक प्रसंग में 'कार्पोरेट जाइंट[1] शब्द का प्रयोग किया था। रसेल द्वारा प्रयुक्त यह आर्थिक शब्दावाली अपने सटीक प्रयोग के कारण जल्दी ही चर्चा में आ गई और इसने 'ग्लोबलाइजेशन' की अवधारणा को जन्म दिया।

सोवियत संघ के विघटन और पूर्वी यूरोप में समाजवादी व्यवस्थाओं के पराजय का भी दौर यही था। 'उत्तर आधुनिकता', 'इतिहास का अन्त' जैसे विमर्शों का घटाटोप भी यहीं से शुरू होता है, जिसने वर्तमान भूमण्डलीकरण की अवधारणा को निर्मित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई हिन्दी में जिस भूमण्डलीकरण को लेकर व्यापक चर्चाएँ चल रही हैं, वह मूलतः एक आर्थिक परिघटना है और उसके लिए प्रयुक्त शब्दावाली से निष्पन्न हुआ है।

समाजशास्त्री अभिजीत पाठक भूमण्डलीकरण की विवेचना करते हुए लिखते हैं– ''यह सच है कि भूमण्डलीकरण आधुनिकता की ही एक तार्किक परिणति है। क्योंकि जैसा कि आधुनिकता, जिसका उद्भव पश्चिम में हुआ, अपने स्वभाव से ही वैश्विक है..... लेकिन जिसे हम भूमण्डलीकरण कहते हैं, उसकी जड़ें आधुनिकता में होने के बाबजूद हमारे समय में एक नए अर्थ और संवेग को पाता है।''[2]

इसी क्रम में भूमण्डलीकरण को परिभाषित करते हुए सामाजिक चिंतक 'एलब्रो' लिखते हैं– ''भूमण्डलीकरण उन सभी प्रक्रियाओं से सम्बन्धित है जिसके द्वारा विश्व के लोग एक वैश्विक व्यवस्था, भूमंडलीय व्यवस्था से जुड़ते हैं।''[3] वैश्विक व्यवस्था के तहत लोगों के जुड़ने की प्रक्रियाएं बाजार तथा संचार के साधनों द्वारा सुगम हुई है। अपनी प्रकृति के कारण भूमण्डलीकरण की अवधारणा इतनी तेजी से फैली कि 20वीं शताब्दी भूमण्डलीकरण की ही शताब्दी प्रतीत होने लगी।

भूमण्डलीकरण जिस आर्थिक परिदृश्य को निर्मित कर रहा है उसके दूरगामी सामाजिक, सांस्कृतिक भाषाई और राजनीतिक प्रभाव पड़ रहे हैं। भूमण्डलीकरण की उन्मुक्त बाजार की खुली व्यवस्था से पूरे विश्व में बाजारवादी और उपभोक्तावादी संस्कृति जिस तीव्र गति से निर्मित हो रही है, इसके चंगुल में विकासशील देशों का सामान्य जन, विशेषतः मध्य वर्ग इतनी बुरी तरह फंसता चला गया। समाज के बुद्धि जीवी वर्ग के लिए यह चिंता का विषय बन गया हैं।

यदि हिन्दी के कुछ सशक्त और चर्चित उपन्यासों के सन्दर्भ में बाजारवाद और उपभोक्तावाद की स्थितियों को विश्लेषित किया तो स्पष्ट होगा कि सामान्य मानव किस प्रकार बाजार और बाजार की शक्तियों का दास बनकर रह गया है। जिस प्रकार नई पीढ़ी पैसे की चकाचौध में बाजार में प्राप्त नई–नई वस्तुओं, उत्पादों, सुविधाओं आदि की प्राप्ति की होड़ में हैसियत से ज्यादा खर्च कर जीवन जी रहा है, उसका चित्रण अलका सरावगी के उपन्यास 'कलिकथा : वाया बाईपास' में गहन चिंतन के साथ किया गया है। यह उपन्यास मारवाणी सामाजिक–पारिवारक संस्कृति को लक्षित करके लिखा गया है, जिसके

*शोध छात्रा, हिन्दी–विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

प्रमुख पात्र किशोर बाबू की उस मारवाड़ी मनोवृत्ति से बिलकुल अलग हैं जिसने अपने को तिल–तिल गलाकर पैसा कमाना और जोड़कर रखना ही अपना संस्कार माना था, किन्तु उनकी नई पीढ़ी जिस प्रकार नई–नई वस्तुओं के ललक में बेतहाशा पैसा खर्च कर रही है, इस बात से किशोर बाबू चिंतित हैं। उनका जीवन दर्शन यह था– ''मारवाड़ियों ने इतना पैसा इसलिए कमाया कि उन्होने कभी मौज–मस्ती में पैसा उड़ाने के लिए कर्ज नहीं लिया। कभी दूसरे के पैसे मारने की नीयत नहीं रखी। बाप मर गया तो बेटे ने कर्ज चुकाया। बेटा नहीं चुकाया तो पोते ने चुकाया और तिल–तिल करके पैसा जोड़ा। माचिस की तीलियों तक का हिसाब रखते थे, मेरे पिताजी।''[4]

दूसरी और इन्हीं की अगली पीढ़ी 'लोन' और 'फाइनेन्स' पर जीती हूई महंगी से महंगी वस्तुएं खरीदती है। घर में महँगी गाड़ी आने पर बुदबुदाते किशोर बाबू अपने लड़के 'अमोलक' से केवल दो ही सवाल पूछते हैं– पहला 'रूपए कहाँ से लाए? दूसरा 'क्यों किया ऐसा अभी इस समय इन दोनो प्रश्नों का उत्तर अमोलक जिस रूप में देता है, वह पूरी उपभोक्तावादी संस्कृति की सच्चाई को अभिव्यक्त कर देता हैं अमोलक द्वारा प्रश्न का उत्तर यह दिया जाता है, ''पापा रूपये किसी से माँगने नहीं पड़े। आजकल सौ प्रतिशत 'फाइनेन्स' पर गाड़ी मिलती है बस किस्तों में रकम चुका देंगे।'' बहुराष्ट्रीय फाइनेन्स कम्पनियाँ व्यक्ति में उपभोग की तीव्र लालसा लगाकर ''उधार संस्कृति''[5] अपनाने के लिए विवश कर देती है। भूमण्डलीकरण के सांस्कृतिक संक्रमण के समय में व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार चमचमाती कार, ब्रांडेड कपड़े, चकाचौंध से परिपूर्ण जीवन शैली बनती जा रही है।

उपभोक्तावादी प्रवृत्ति ने सामान्य मानव के अन्दर जो परिवर्तन उपस्थित किया है इस मुददे को लेकर अमोलक और किशोर मे निरन्तर बहस चलती रहती है। अमोलक स्वयं इस स्थिति को इस रूप में कह जाता है– ''देखते नहीं कितने लोग कैसे–कैसे किसलिए आत्म–हत्या कर रहे हैं– कोई लड़की जहर खा लेती है क्योंकि उसका बाप उसे माधुरी दीक्षित वाला घाघरा–चोली नहीं ला देता अपने इर्द–गिर्द क्या हो रहा है उसकी कोई खबर है आपको? कभी मेरे दोस्त अक्षय की पत्नी ने आत्महत्या कर ली क्योंकि अक्षय उसे अपनी शादी की सालगिरह पर 'ताज बंगाल' नहीं ले गया था सेलीब्रेट करने' और कान्ता भाभी का तो सबको मालूम ही है– नए फर्नीचर और गहनों के सेट का दाम दिया नहीं भैया जी ने। इसलिए ऐन दिवाली के पहले जहर खा लिया उन्होंने। दो दीदियों के घर में बड़ी गाड़ी है हमारा मन नहीं होता क्या? क्या आप चाहते हैं कि भैया जी के साथ जो हुआ मेरे साथ भी वही हो।''[6]

इन पात्रों के माध्यम से समाज में बढ़ते उपभोक्तावाद की होड़ का भयानक सच सामने आया है। इस दौर में उपभोक्ता संस्कृति चलन में है संस्कृति पर बाजारवाद का वर्चस्व निरन्तर बढ़ता जा रहा है। भाषा साहित्य और संस्कृति को प्रदूषित करने में मीडिया कि अहम भूमिका है। टीवी चैनल रात–दिन संस्कृति को उत्पाद की तरह बिकाऊ बना रहे हैं जैसे– फैशन चैनल। आज के समय में सुन्दरता को पैदा करने, सवारने आदि के लिए सौन्दर्य–उत्पादों पर जो खर्च होता है, वह तो होता ही है– छोटे शहर की लड़की को जब महानगर कोलकत्ता की हवा बड़े–बड़े घर की बहू के रूप में लगती है उसके पैरों में पंख लग गए– ''पॉच सौ रूपए तो मरे ब्यूटी सैलून में हर महीने खर्च होते है। पाँच सौ रूपए हाथ खर्च में क्या होगा?'' यह सुनकर किशोर बाबू विमूढ़ हो जाते है। आज के समय में उपभोग ही जीने की कला है, जिसमें कोइ वर्चना नहीं है और वही संस्कृति है। आज की युवा पीढ़ी को क्लबों में देर–रात डांस करना आदि भी देखकर किशोर बाबू चिन्तन करते हैं। सोचते हैं– ''जिस घर को बनाने में उन्होंने अपनी सारी जिन्दगी लगाई, उसके नीचे दीमक लग चुकी है वह कभी भी धराशायी हो सकता हैं। मिट्टी में मिल सकता है।''[7] वैश्विक युग में संस्कृति के न जाने कितने रूप निर्मित हो गए हैं, जैसे– ब्रांडिग संस्कृति, बाजारवादी संस्कृति, उपभोक्ता संस्कृति आदि। आज के दौर में संस्कृति बहुत्यंजक शब्द है।

महानगरों में अन्तर्राष्ट्रीय ब्रांडों के एक–के–बाद एक खुलते शो–रूम इस उपभोक्तावाद को हर रोज नए–नए रूपों में ढालते जा रहे हैं। ''किशोर बाबू की पत्नी को समझ में नहीं आता कि इन शर्टों में ऐसा क्या रखा है कि इनके इतने रूपए दिए जाएँ, पर बच्चे बिना नामी 'ब्रांड' के कोई चीज खरीदते ही नहीं।'' कलकत्ते मैं थियेटर रोड पर लाकौस्टे, ऐरो, पियरे कार्डिन सबकी शर्टों की दुकान खुल गई है।''

ब्रांडिड संस्कृति ने भारतीय उपभोक्ता के जीवन–शैली को पूरी तरह बदल कर रख दिया है। जिसके कारण किशोर बाबू का पूरा परिवार ही व्यथित नहीं है, पूरा समाज इससे ग्रसित है। भूमण्डलीकृत भारत का समाज एक ऐसे उपभोक्तवाद समाज के रूप में विकसित हो रहा है, जहाँ बाजारबाद भारतीयों की एक नई जीवन–शैली बनकर उभरा है। भारत का मध्यवर्ग एक नई दुनिया में प्रवेश कर चुका है, जहाँ उपभोग का सम्बंध केवल उसकी आवश्यकताओं एवं सन्तुष्टि से नहीं रह गया है। यह व्यक्ति के पहचान से भी सम्बधित हो गया है। समाज वैज्ञानिक शिव विश्वनाथन का मानना है कि 'शॉपिंग' आज भारत के अनौपचारिक राष्ट्रीय खेल का रूप धारण कर चुका है। आकड़ों के आधार पर देखा जाय तो वर्ष उन्नीस सौ पच्चासी–छीयासी की तुलना में अगर उन्नीस सौ पच्चानबें–छियानबे के आकड़ों का अध्ययन किया जाय तो हम स्पष्ट रूप से यह पाते हैं कि आर्थिक सुधारों के पश्चात् स्थायी उपभोक्ता मदों की खरीददारी में तेजी से वृद्धि हो रही हैं। साइकिल, स्कूटर, मोटर साइकिल से लेकर रेफ्रीजरेटर, कलर टीवी, वाशिंग मशीन जैसी वस्तुएँ आम व्यक्ति के जीवन का अनिवार्य अंग बन चुकी हैं। इन वस्तुओं की उपलब्धता केवल शहरी भारत में नहीं, बल्की ग्रामीण भारत में भी तेजी से बढ़ रही है। आज टेलीविजन, वाशिंग मशीन या माइक्रोवेब ओवन के प्रति उपभोक्ताओ की मॉग बढ़ रही है। यदि शहरी क्षेत्र में इन उपभोक्ता उपकरणों की मांग दस प्रतिशत की दर से बढ़ रही है तो ग्रमीण स्तर में यह आंकड़ा पच्चीस प्रतिशत के चौकाने वाले हैं।[8]

इसी क्रम में अलका सरावगी का दूसरा महत्वपूर्ण उपन्यास 'शेष कादम्बरी' की रूबी दी अपने आस–पास जब नई–नई चमचमाती महंगी से मंहगी गाड़ियाँ देखती हैं तो उन्हें अपनी खटारा एम्बेसेडर कार को देखकर अफसोस होता है, वे सोचती हैं कि पिछले दस सालों में लोगों के पास इतना पैसा कहाँ से आ गया, ''वह पहले अपने को जमाने के साथ पाती थी, पर अब नई तरह–तरह की चमचमाती गाड़ियों के बीच अपने को बहुत अकेला और पिछड़ा हुआ पाती है। देखते–देखते लोगों के पास कितना पैसा बढ़ गया पहले मारवाड़ियों में कहावत चलती थी कि फलाना पहले महायुद्ध का अमीर है कि फलाना दूसरे महायुद्ध का अमीर है। पर आजादी के बाद ताो न जाने कितने नौदौलतिए बनते चले गए और सदी के अन्तिम दस सालों में तो अब समझना मुमकिन नहीं है कि किसके पास कितना पैसा कहॉ से आ रहा है हर तरफ गाड़ियॉ हैं, एक से–एक– नई चमचमाती।''[9] इन चमचमाती गाड़ियों की चकाचौंध और इस सबके पीछे भागती नई पाढ़ी और 'ऋण–कर्ज' ये सब तो अब उनके शब्द कोशों से हटकर 'फाइनेन्स' और 'लोन' भर ही रह गया है।''[10] ''इस तरह की भीड़ जो बैंक फाइनेन्स पर रोज नई–नई खरीदकर बढ़ाई जा रही है जिससे सेकेंडहैंड गाडियों का मार्केट एकदम गिर गया है सड़कें तो उतनी ही रहेगी, यह फर्स्ट–हैंड और सेकेंड–हैड की बढ़ोत्तरी का सिलसिला कब तक चलेगा? चलो, वे तो उस दिन को देखने को शायद ही बचेंगी, जब स्थितियाँ चरम बिन्दु पर पहुँच जाएँगी।''[11]

अलका सरावगी के तीसरे उपन्यास 'एक ब्रेक के बाद' में तो इन स्थितियों का और भी अधिक विस्तार और गहराई से चित्रण हुआ है, यह उपन्यास पूरी तरह 'कारपोरेट' जगत की दुनियाँ की सच्चाइयों को खोल कर रख देता हैं 'रिलायंस' 'इन्फोसिस,' 'सत्यम' जैसी कंपनियों के अफसरों के लिए अपने निजी हवाई जहाज मुहैया करा दिये जाते हैं, उनकी उँची–उँची तन्खाहों के साथ विभिन्न प्रकार के पैकेज– ''छुट्टियाँ बिताने के लिए प्राइवेट 'शिप' या–याट' होते है।'' इन्हीं अमीर लोगों का काम है कि सामान्य जन, विशेषतः मध्यवर्ग और यहाँ कि झुग्गी–झोपड़ी के निवासियों में भी उपभोग की विभिन्न वस्तुओं की ललक इस रूप में बढ़ा दे कि वे येन–केन प्रकाणेन उन्हें प्राप्त करने के स्वप्न जीवन में पालते रहे। भले ही इन सबके लिए इन्हें आपराधिक कामों में लिप्त होना पड़े ''जमाना ये दिल मांगे मोर का है। बस्तर के गॉव में अपनी झोपड़ी में बैठकर आदिवासी टी0वी0 पर वाशिंग मशीन में कपड़े धुलते देख रहा है और डबल–डोर फ्रिज मे जाने कब से ताजी लौकी और टमाटर की गाथा सुन रहा हैं। इस देश की एक अरब जनता अब एक साथ सपने देख रही है– फर्क यही है कि किसी के सपने छोटे तो किसी के ज्यादा बड़े सपने।''[12] टीवी के माध्यम से आज विज्ञापनों द्वारा लोगों की आवश्यकताओं पर नहीं, उनकी आवश्यकताओं के सृजन पर बल दिया जाता है। विज्ञापन कम्पनियाँ आक्रामक और आकर्षक विज्ञापनों द्वारा गैर जरूरी उत्पादों को खरीदने के लिए लोगों को विवश करती है।

मीडिया जगत तथा समाचार पत्र–पत्रिकाएं ही वे माध्यम हैं, जिस पर सवार हो कर यह उपभोक्तवादी संस्कृति तीव्र गति से पाँव पसारती जा रही है। टी0वी0 के दो–दो सौ चिंघाड़ते चैनल चौबीसों घंटे हमें, हमारे परिवार और पूरी भारतीय जीवन प्रणाली को इस पश्चिमी, अमेरिकी संस्कृति में ढाल रहे हैं। प्रायः तीस वर्ष पहले जिस टी0वी0 के प्रति हम नाक–भौ डिकोड़ रहे थे[13] तथा बहुत से विकसित राष्ट्रो ने टी0वी के बढ़ते प्रयोग को रोकने के कुछ असफल प्रयास किए ''यह सांस्कृतिक आक्रमण इतना महत्वपूर्ण हो गया है कि पिछले दिनों गेट समझौते की शर्तो में सिनेमा और टी0वी0 के निर्बंध प्रवेश के खिलाफ स्वयं यूरोपीय समुदाय, विशेषकर फ्रांस का स्वर अत्यधिक मुखर था क्योंकि उसे अमरीकी कला–व्यापार की स्पर्द्धा से अपनी सांस्कृतिक अस्मिता के नष्ट होने का खतरा दिखाई देता था।''[14]

'सांस्कृतिक अस्मिता' की लड़ाई विश्व के सभी विकासशील देशों के लिए विमर्श के रूप में उभरा है। जब आर्थिक और राजनैतिक नेतृत्व भूमण्डलीकरण के समक्ष समर्पण की नीति पर चल रहा हो, ऐसे समय में प्रतिरोधी संस्कृति और साहितय से ही आशा की जा सकती है कि भारतीय सांस्कृतिक विविधता को बचाए रखने में जन प्रतिरोधी चेतना से युक्त सार्थक अवदान प्रस्तुत करे। इससे समकालीन हिन्दी उपन्यास की शक्ति और सामर्थ्य का पता चलेगा, तो नये भूमण्डलीकरण यथार्थ के प्रभाव से बन रहे समाज के स्वरूप का भी आकलन हो सकेगा।

lUnHkZ %

1. उपन्यासों के सरोकार, डॉ0 ई0 विजय लक्ष्मी, राधाकृष्ण प्रकाशन, पटना, इलाहाबाद.
2. अभिजीत पाठक '' (2006) माडर्निटि, ग्लोबलाइजेशन एण्ड आइडेंटिटी : टुआर्डस ए रिलफ़लेक्सिव क्वेस्ट'', नई दिल्ली : आकार बुक्स,.
3. मार्टिन एलब्रो (1990), एम एलब्रो और एलिजाबेथ किंग सम्पादित ''ग्लोबलाइजेशन, नॉलेज एण्ड सोसाइटी, लंदन : सेज,
4. अलका सरावगी, कलि–कथा : वाया बाई पास पृ0– 83
5. भूमण्डलीकरण और हिन्दी उपन्यास : पुष्पपाल – पृ0 159
6. अलका सरावगी कलि कथा : वाया बाई पास – पृ0 198–199
7. वही पृ0 – 203
8. मधुमिता चक्रवर्ती, माहौल में बदलाव लाती बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ, हिन्दुस्तान, 20 अप्रैल 2007, पृ0– 06
9. अलका सरावगी, शेष कादम्बरी, पृ0 – 25,
10. पुष्पपाल, सिंह भूमण्डलीकरण और समकालीन हिन्दी उपन्यास, पृ0–162 राधाकृष्ण प्रकाश प्राइवेट लिमिटेड, पहला संस्करण : 2012
11. अलका सरावगी, शेष कादम्बरी, पृ0 – 25
12. अलका सरावगी, एक ब्रेक के बाद, पृ0 – 11
13. पुष्पपाल सिह, भूमण्डलीकरण और समकालीन हिन्दी उपन्यास– पृ0– 46, राधा कृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड पहला संस्करण : 1012
14. सुरेन्द्र मोहन, भूमण्डलीकरण के दौर में जनजीवन, जनसत्ता, 3 मई, 2008

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

vkfnoklh lkfgR; vkj vfLerk dk ladV

vt; dqekj pkjh*

vkfnoklh lkfgR; vkj vfLerk dk ladV %

किसी भी समुदाय की पहचान उसकी संस्कृति उसके जीवन के पूरे दायरे जीवन पर्यन्त अर्जित मूल्यबोध की पूंजी होती है और उसके लिए पहचान का संकट तब आता है, जब वह देखता है, कि उस पर और उसकी अस्मिता पर आक्रमण हो रहा है। तब उसकी पहचान के खो जाने का या टूट जाने का डर उसे भयभीत करता है। भारत जैसे बहुसांस्कृतिक देश में जिसका संविधान विविधता में एकता का संकल्प लिए हुए है, हर समुदाय का यह आशा करना आवश्यक रूप से स्वाभाविक है कि देश के समेकित गुलदस्ते में उसका भी फूल स्थान पा सके, या दिखाई दे। देश के भाषाई एवं सांस्कृतिक आधार पर पुनर्गठित करने के पीछे उद्देश्य था उक्त सभी के साहित्य और संस्कृति को सम्पोषित किया जाये।

''आदिवासी साहित्य के स्वरूप एवं प्रकृति के विषय पर डॉ. विनायक तुमराम ने 'आदिवासी साहित्य क्या है ? शीर्षक से विस्तारपूर्वक एवं गम्भीर विवेचन करते हुए लिखा है –

''आदिवासी साहित्य वनसंस्कृति से संबंधित साहित्य है, यह आदिवासी साहित्य उन वन जंगलों में रहने वाले वंचितों का साहित्य है जिनके प्रश्नों का अतीत में कभी उत्तर ही नहीं दिया गया। यह ऐसे दुर्लक्षितों का साहित्य है जिनके आक्रोश की ओर यहाँ की समाज व्यवस्था ने कभी ध्यान ही नहीं दिए। यह गिरिकन्दराओं में रहने वाले अन्यायग्रस्तों का क्रान्ति–साहित्य है। यहाँ की क्रूर और कठोर न्याय–व्यवस्था ने जिनकी सैकड़ों पीढ़ियों को आजीवन वनवास दिया, उस आदिम समूह का मुक्त साहित्य है यह। वनवासियों का क्षत जीवन जिस संस्कृति की गोद में छिपा रहा है, उसी संस्कृति के प्राचीन इतिहास की शुरूआत करने वाला है यह साहित्य। आदिवासी–साहित्य इस भूमि से प्रसूत आदिम वेदना तथा अनुभव का शब्दरूप है।''[1]

आदिवासी समाज और उनके संघर्ष की आवाज अब हिन्दी साहित्य में सुनायी पड़ने लगी है। लेकिन इसके पहले खलबली मचा चुके दलित साहित्य से भयभीत हिन्दी के पट्टेदार, बुद्धिजीवी अब आदिवासी साहित्य की इस सुगबुगाहट को लेकर सचेत है। आदिवासी साहित्य, साहित्य जगत की वह आवाज है जिसे हिन्दी साहित्य के कर्णधारों ने तो लगभग उराव आदिवासियों की देवी विन्दी की तरह पाताललोक के अंधेरों में धकेल रखा है।

आदिवासियों की अपनी पत्रिकाएँ जैसे 'अरवली उद्घोष', 'अखड़ा', वाङ्मय आदि दिनोदिन जगह बना रहीं है मुख्यधारा की कई पत्रिकाएँ जैसे 'युद्धरत आम आदमी', 'दस्तक', 'समकालीन जनमत' कथाक्रम आदि अपने आदिवासी विशेषांक निकाल चुकी है।

''आदिवासियों पर हिन्दी में लिखी गई कहानियाँ इन पर लिखे गये उपन्यासों के बाद देर से चर्चा में आयी। इसलिए कई पाठकों को ऐसा लगने लगा है जैसे आदिवासियों पर कहानियाँ लिखी ही नहीं जा रहीं है। आदिवासियों पर हिन्दी पत्रिकाओं जैसे – 'हंस', 'कथादेश', 'परिकथा', 'कथाक्रम', 'अखडा', 'युद्धरत आम आदमी', 'दलित अस्मिता', 'अरावली उद्घोष' आदि में पचासों सैकड़ों कहानियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। इस समय हिन्दी में लगभग पचास के आस–पास ऐसे लेखक हैं जो आदिवासियों पर अच्छी और औसत कहानियाँ लिख चुके हैं। या लिख रहे हैं। आदिवासी और गैर आदिवासी लेखकों के लगभग दस–पन्द्रह कहानी संग्रह प्रकाशित व चर्चित हो चुके हैं। आदिवासी साहित्यकारों के पास संसाधनों का

*शोध–छात्र, हिन्दी विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर वि.वि., सागर, म0प्र0

अभाव रहता है पर यह कहने में क्यों हिचका जाये कि संपादकों द्वारा भी उनकी उपेक्षा की जाती है। इसका परिणाम यह हुआ कि अच्छा, सरल, सहज प्रमाणिक व विश्वसनीय लिखने वाले लेखक चर्चा में नहीं आ पाये।''[2]

किन्तु केवल आदिम जीवन के चित्रण में आदिवासी–साहित्य का सृजन नहीं माना जा सकता। जिस सामाजिक व्यवस्था ने आदिमों का अस्तित्व नकारा, उन्हें वन जंगलो, गिरकुहरों में जबरदस्ती धकेला, लगोटी में जीने को बाध्य किया और उनके सामने कंदमूल परोसा, उस व्यवस्था पर विचार भी आदिवासी साहित्य करता है इसलिए आदिवासी साहित्य में विद्रोह व वेदना की एक खास प्रकृति दिखाई देती है।

आज तक आदिवासी जीवन के व्याख्याकार सलाहकार प्रस्थापित लोग ही रहे हैं। प्रस्थापितों ने आदिवासियों को अपमानित करने के साथ लांछनास्पद जिन्दगी गुजारने को विवश किया है। अतः आदिवासी साहित्य विस्थापन अपमान एवं शोषण के शिकार आदिवासी लोगों की चिंता और वेदना को प्रकट करता है।

कमलेश्वर कहते हैं कि – ''ऐसे विषम हालात में जब पूरे भारत में आदिवासी समुदाय के सामने जीवन शैली खतरे में हो, उनकी भाषाओं की मृत्यु हो रहीं हो तब वह और उसका साहित्य, यदि विद्रोह और असहमति की भाषा में बोलता हो, तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए।''[3]

आदिवासी साहित्य मानवीय मूल्यों, वंचितों और उपेक्षितों के अधिकारों की स्थापना और मानवीय संवेदना को उकेरने की एक नए ढंग से कोशिश करता है। ''वस्तुतः श्रवण कुमार मीणा कहते हैं कि – ''जनजातीय साहित्य वर्ण व्यवस्था, जातिवाद, अन्याय, शोषण आदि के मठों की धारणा को खंडित कर अभिव्यक्ति के खतरे उठा रहा है। जनजातीय एवं दलित साहित्य इतिहास की पुरातन धारणाओं, धर्मशास्त्रों की स्थापना का खण्डन 2005 में किया, इस तरह से आदिवासी आराध्य देव के साथ राज्य की नामकरण की नीति आदिवासी अस्मिता को संकट में रखने का काम किया है।''[4]

vkfnoklh vfLerk dk ladV %

tkfrxr ladV& भारत सरकार ने लगभग 7000 जनजाति समूहों की सूची बनाई है जिसे अनुसूचित जनजाति के रूप में शामिल किया गया है। इसी तरह 160 से ज्यादा समूह के जनजाति समूह में शामिल करने की बात कही जा रहीं है। ''जिस जाति व्यवस्था ने दलितों को जर्जर किया, उनका मनुष्यपण नकारा, हजारों साल अछूत बनकर जीने के लिए बाध्य किया तथा पशुपत जीवन प्रदान किया, उस क्रूर कठिन जाति–व्यवस्था की आँच वनों जंगलों की जनजातियों तक ज्यादातर पहुँची ही नहीं। जिस विषमता की ज्वालाग्नि में दलित जल उठा, वह विषमता की विषम ज्वालाग्नि जंगलों वनों तक उतनी तेज गति से नहीं पहुँच पाई उसकी तीव्रता का अहसास भी आदिवासियों को नहीं हुआ।''[5] आदिवासियों के लिए कमार विकास अभिकरण के अन्तर्गत इनके लिए अनेक महत्वपूर्ण योजना चल रही है जिसका लाभ उन्हें नहीं मिला या मिल पा रहा जिसका कारण है, जाति प्रमाण–पत्र का न होना दिखाई पड़ता है। वह शोषण, तिरष्कार एवं परम्पराओं को खारिज कर मानवता को स्थापित करना चाहता है।''

vkfnoklh vfLerk dk /kkfeZd ladV & आदिवासी प्रकृति प्रेमी, सहज, सरल, मिलनसार, प्रकृति से तालमेल पूर्वक जीवन बिताने वाले हैं। इनका धर्म प्राकृतवादी है। इसी का जिक्र सशण सरना धर्म के रूप में मिलता है। लेकिन इसके हिन्दूकरण का दौर गुलाम भारत से 1909 से चालू है। जब से धर्मों के आधार पर जनगणना शुरू हुआ। हिन्दू नेता आदिवासियों को हिन्दूकरण करने में लगे हैं।

''आज आदिवासी अपने कुल देवता को भूल गए या भूल रहे हैं। बूढ़ादेव, ठाकुर देव, बाबादेव, खोपला देव, मरका देव, लिंगादेव, करपाण्डुम आदि की जगह अब हिन्दी देवी देवता भगवान स्थापित किये जा रहे हैं। ये सांस्कृतिकरण बहुत बड़ी चुनौती है व इससे आदिवासी अस्मिता खतरे में है। एक ताजा उदाहरण आपके रामपुर शहर का है, बूढ़ा तालाब का नाम आदिवासी समाज के आराध्य देव बूढ़ा देव के नाम पर था। आज भी वहाँ आप जायेंगे तो बूढ़देव इस तालाब में है। हर साल गौड़वाना भवन से गौंड़ समाज बूढ़ा देव की पूजा अर्चना करने महिलाएँ कलस यात्रा लेकर जाती हैं, लेकिन अब इस तालाब का नाम स्वामी विवेकानंद सरोवर हो गया है।

vkfnoklh vfLerk dk /kkfe'd mRlo %

आदिवासी अपने धार्मिक उत्सव भूल रहे हैं छत्तीसगढ़, उड़ीसा, महाराष्ट्र, झारखण्ड, मध्यप्रदेश, यहाँ नवाखाई कांतिकेनी, सोहराई, सरना उत्सव, आदिपर्व छोड़ अब यह होली दिवाली मनाना शुरू कर दिया है।

vkfnoklh vfLerk vkj lkLdfrd [krjs %

आदिवासियों के पारंपरिक गीत, नृत्य, विलुप्ति के कगार पर हैं। घोटूल परम्परा खत्म हो रही है, नवयुवकों युवतियों का यह शिक्षा केन्द्र खत्म हो गया है। वस्तर की पहचान मानी जाने वाली 'घोटूल' आज खत्म हो गया है, जो दुनिया की महानतम सांस्कृतिक विरासत रही है। यहाँ गीत–संगीत, युवक–युवती परिचय की अनूठी परम्परा रही है।

''आदिवासियों'' के हिस्से जो एकाकीपन आया उसकी तीव्रता दलितों के हिस्से में आये एकाकीपन से निश्चित रूप से कहीं अधिक थी, इसलिए दलितों और आदिवासियों की जीवनशैली में जो लाक्षणिक अन्तर मिलता है, वह सांस्कृतिक भिन्नता के कारण है अनुभूति के निरालेपन के चलते है।''[6] इस तहर आदिवासी अपने सांस्कृतिक विरासतों को खोता चला गया।

vkfnoklh d ijaijkL=kr %

आदिवासी–साहित्य के प्रेरणास्त्रोत ज्ञात करने के पूर्व हमें आदिम समूहों की प्रेरणा पर विचार करना होगा ''आदिवासी, प्रकृति पर निर्भर रहने वाले मानव समूह है। वह जिस पर्यावरण में रहता है उसके परिवर्तन का प्रभाव थोड़ी बहुत मात्रा में उसकी आन्तरिक संरचना पर भी होता है। जंगलों के पशु–पक्षी, फल–फूल, नदी, सरोवर का चिर–सान्निध्य उसे प्राप्त हुआ है। गिरि कुहरों और वन जगलों में उसका स्वत्व मुक्त–मन होकर खिला है। प्रकृति के सानिध्य में वह बेहद खुश था। इस प्रकार उसका प्रकृति–प्रेम विलक्षण तथा उसकी प्रकृति निष्ठा दृढ़ है। प्रकति के सानिध्य में ही उसकी अकृतिम स्वतंत्रता का अनुभव होता है। अतः उसका नजरिया भी ऐसा ही होता है।

दृष्टव्य है –

oke.kk e ifnk gkx@fy[k&fy[k ejkx
ekjokMh gkx@rky&rky ejkx
pekj gkx@ tjk f?kl f?kl ejkx
ij gkx okjyh@rk txy d jkt cukxA

txy p jkt- i-1

इस तरह की है उनकी जीवन दृष्टि तथा जीवनानुभूति। इस अनुभूति तथा जीवन दृष्टि का प्रतिबिम्ब उसके लोक साहित्य में दिखाई देता हे। उसके सारे जीवन व्यवहारों को इस अनुभूति तथा जीवन दृष्टि ने जकड़ रखा है प्रकृति ही उसका सर्वस्व होने के कारण उसकी पहली प्रेरणा यदि कोई है तो वह 'प्रकृति' है''।[7]

आदिवासी समाज में बड़ी–बड़ी महान विभूतियाँ हुई है, जिन पर आदिवासी समाज आज गर्व करता है, बिरसा मुण्डा, तिलक मांझी, रानी गिडालू, कल्लूरी राजू, गुडाधूर, झलकारी देवी, रानी दुर्गावती जैसे महान काम करने वाले आदिवासी जननायक, नायिका हुये हैं जिनके कार्यों का जिक्र नहीं किया जाता। इनको स्कूलों के सेलेबस में शामिल नहीं किया जाता इनकों कक्षा में पढ़ाया जाये तो आदिवासी समाज के इन महान वीरों की जीवनगाथा जानकर आदिवासी समाज की वीरों की गाथा से इनमें स्फूर्ति आएगी।

vkfnoklh vfLerk dk Hkk"kkbZ ladV % आदिवासी समाज की गोड़ी, हलवी, भटरी, भीली, कुडुख, यह सभी आदिवासी बोली भाषाऐं बोली जाती है, इसके बावजूद इन भाषाओं को मान्यता नहीं है, इनमें से कई भाषाओं की अपनी लिपियाँ भी मौजूद हैं। किन्तु सरकारी नीतियाँ व मान्यताओं के नहीं मिलने से आज विलुप्ति के कगार पर खड़ी है। वहीं यह आशंका भी जताई जा रही है कि इस सदी के अन्त तक 90 फीसदी आदिवासी भाषाएँ विलुप्त हो सकती है। अण्डमान (भारत) में रहने वाले वो कबीले के आखिरी सदस्य वर्सीय बोआ सीनियर के निधन के साथ 6500 साल से बोली जाने वाली भाषा भी विलुप्त हो गई।

विलुप्ति के कगार पर आदिवासी – लगातार जनगणना में चौकाने वाले मामले सामने आ रहे हैं। अण्डमान निकोबार के बहुत से आदिवासी समूह विलुप्ति के दंश झेलने को तैयार हैं। ''यदि सामान्य कारकों को अपना काम करने दिया जाये तो बाहर के बेईमान लोग आदिवासियों की सारी जमीन और जंगल हड़पकर जनजातीय लोगों के जीवन में हस्तक्षेप करने लगेंगे''।[8] इस तरह भारत सहित दुनिया भर में आदिवासियों पर विलुप्ति का खतरा मडरा रहा है।

iyk;u] vLer ylV vkj ekuo rLdjh % आदिवासी क्षेत्रों जैसे झारखण्ड, उड़ीसा, छत्तीसगढ़, उत्तरपूर्वी राज्यों में आदिवासियों का पलायन लगातार जारी है। इसी कड़ी में अधिक से अधिक मानव तस्करी किया जा रहा है। झारखण्ड राज्य में मानव तस्करी व पलायन एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। झारखण्ड के कुल आदिवासी और दलित आबादी का एक तिहाई जनसंख्या पलायन को मजबूर है। ''पालयन के दौरान भयंकर बीमारी जैसे एड्स या इस तरह के यौन संबंधी संक्रमिक बीमारी के ये शिकार हो जाते है। आज दिल्ली मुम्बई जैसे बड़े महानगरों में सर्वाधिक झारखण्ड, उड़ीसा से महिलाएँ कई तरह के कामों के लिए हजारों की संख्या में लाई जा रही हैं। आज वर्तमान पीढ़ी के लिए पलायन अस्मत लूट और मानव तस्करी मुख्य चुनौतियाँ है।''[9]

अतः आदिवासी साहित्य और संस्कृति को संरक्षित किया जाये और आदिवासी अस्मिता के संकटों का जल्द से जल्द बहुआयामी स्तर पर इसका निराकरण किया जाये ताकि आदिवासी अस्तित्व को नई दिशा प्रदान की जाये।

lUnHkZ %

1. विनायक तुमराम, आदिवासियों की अब तक की साहित्य यात्रा, युद्धरत आम आदमी विशेषांक–2002, पृ. 18
2. कमलेश्वर, आदिवासी : अस्तित्व, अस्मिता और साहित्य, वर्तमान साहित्य, जून 2005, पृ. 22
3. केदार प्रसाद मीणा, आदिवासी कहानियाँ, अलख प्रकाशन, जयपुर, 2013, पृ. 07
4. श्रवण कुमार मीणा, मानवीय संवेदना के धरातल पर जनजातीय साहित्य, युद्धरत आम आदमी, जनवरी–मार्च, 2009, पृ. 76
5. डॉ. रामदया मुण्डा, आदिवासी अस्तित्व और झारखण्डी अस्मिता के सवाल, प्रकाशन संस्थान नई दिल्ली, संस्करण 2014
6. रमणिका, गुप्ता (सं.) आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, डॉ. तुमराम, पृ.21
7. रमणिका, गुप्ता सं. आदिवासी स्वर और नई शताब्दी–2 डॉ. विनायम तुमराम, अनु. डॉ. प्रतिभा मुदलियार, आदिवासियों की अब तक की साहित्य–यात्रा (युद्धरत आम आदमी, विशेषांक, 2002, पृ 27)
8. जवाहरलाल नेहरू, रूपीचेज, जिल्द 2 पृ. 582, कोडेड विपिन चन्द्र ''राष्ट्र के रूप में भारत का गठन, हासिएँ की वैचारिकी (सं) उमाशंकर चौधरी अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 2012, पृ. 2000
9. के.आर.शा, आदिवासी सत्ता, भिलाई, मार्च 2011

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

vijk/k ihfM+r 0;fDr;ksa dh fy, ifrdj .k ,oa lkekftd U;k; dh vo/kkj.kk

dey'k dqekj*

1- Hkfedk& अपराध से पीड़ित व्यक्तियों के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए अभी हाल ही में ज्ञान की एक नई शाखा के रूप में उत्पीड़न शास्त्र (Victimology) का विकास हुआ है। अभी तक अपराधशास्त्रियों ने अपना ध्यान केवल अपराध और अपराधियों पर ही केन्द्रित किया था और यह प्रतीत होता है कि इससे अपराध की दर में कमी भी नहीं आ रही है और इससे दुष्प्रभावित होने वाले पीड़ित व्यक्तियों के हितों की अनदेखी भी की जा रही है। अतः ज्ञान की इस नई शाखा के अन्तर्गत जहाँ एक ओर आपराधिक व्यक्तियों एवं उत्पीड़ित व्यक्तियों के अन्तर्सम्बन्धों एवं अन्तर्क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है वहीं दूसरी ओर यह भी जानने का प्रयास किया जाता है कि उन्हें किस प्रकार पुनर्वासित किया जाना चाहिए, उन्हें किस प्रकार सामर्थ्यवान बनाया जा सकता है एवं उन्हें किस प्रकार आदर की दृष्टि से देखा जा सकता है।

अतः दुनिया के तमाम विधिवेत्ताओं एवं दण्डशास्त्रियों का ध्यान इस तरफ आकर्षित हुआ कि पीड़ित व्यक्तियों को अपराध से जो क्षति हुई है उसकी पूर्ति कैसे की जाए जिससे सामाजिक न्याय की अवधारणा का उद्देश्य फलीभूत हो सके।

सामाजिक न्याय से तात्पर्य ऐसे न्याय से है जिसके माध्यम से प्रमुख सामाजिक संस्थाएँ मौलिक अधिकारों और कर्तव्यों का वितरण करती हैं और सामाजिक सहकारिता के द्वारा लाभों के विभाजन का निर्धारण करती है।[1] सामाजिक न्याय की अवधारणा एक मानक है जिसके द्वारा सामाजिक मूल संरचना के वितरणात्मक पहलू का मूल्यांकन किया जाना चाहिए।[2] सामाजिक न्याय, जीवन को अर्थपूर्ण और जीने योग्य बनाने का एक माध्यम या उपाय है। यदि समाज को बनाये रहना है तो सामाजिक न्याय युगधेम और आर्थिक न्याय आज का नियम है। अतः अपराध से पीड़ित व्यक्तियों को प्रतिकर प्रदान करके उनकी पीड़ा को कम करने का यह एक गतिशील उपाय है जिससे वे एक गरिमामय जीवन बिता सके।

2- ifjHkk"kk % 'पीड़ित' शब्द की परिभाषा को लेकर राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर काफी विवाद है क्योंकि वही यह निर्धारित करता है कि कौन व्यक्ति क्षतिपूर्ति का हकदार होगा, कभी–कभी ऐसा भी होता है कि कोई व्यक्ति पीड़ित होकर भी पीड़ित की परिभाषा के दायरे में नहीं आ पाता इसलिए पीड़ित को परिभाषित करने में विशेष सावधानी बरतने की आवश्यकता है।

सामान्यतः यह कहा जाता है कि पीड़ित व्यक्ति वह व्यक्ति है जिसे अपराध करने वाले व्यक्ति द्वारा शारीरिक आर्थिक, मानसिक या भावनात्मक रूप से क्षति पहुँचाई गयी है।

पीड़ित व्यक्ति की व्यापक परिभाषा सर्वप्रथम संयुक्त राष्ट्रसंघ ने सन् 1985 में दी हैं।[3]

अनुच्छेद–1

'पड़ित' व्यक्ति से तात्पर्य ऐसे व्यक्ति से है जिसे अपराध विधि के उल्लंघन में हुए कार्य या लोप से क्षति कारित होती है। इस व्यक्ति में शारीरिक या मानसिक, भावनात्मक या आर्थिक क्षति शामिल है, इसमें व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से उठाए जाने वाले कष्ट सम्मिलित हैं साथ ही साथ इसमें व्यक्तियों के उन मूलभूत अधिकारों का उल्लंघन भी शामिल है जो सदस्य राज्यों द्वारा अपने शक्ति के दुरुपयोग के कारण होना है।

*शोध–छात्र, विधि विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

अनुच्छेइ–2

इस घोषणा के अनुसार एक व्यक्ति को पीड़ित माना जाएगा भले ही अपराधी की पहचान न की गयी हो या अभियोजित या दोषसिद्ध न किया गया हो। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित व्यक्ति सम्मिलित हैं–

(i) पीड़ित व्यक्ति का प्रत्यक्ष घनिष्ठ एवं निर्भर व्यक्ति तथा परिवार के सदस्य।

(ii) पीड़ित की सहायता करने के कारण क्षतिग्रस्त होने वाला व्यक्ति भी।

दण्ड प्रक्रिया संहिता 1973 की धारा 2(ब) में सन् 2008 में संशोधन करके एक नई धरा 2(ब क) जोड़ा गया जिसमें पीड़ित को परिभाषित किया गया।[4]

धारा 2 (ब क) के अनुसार ''पीड़ित'' से ऐसा व्यक्ति अभिप्रेत है जिसे उस कार्य या लोप के कारण कोई हानि या क्षति कारित हुई है। जिसके लिए अभियुक्त व्यक्ति पर आरोप लगाया गया है और ''पीड़ित'' पद के अन्तर्गत उसका संरक्षक या विधिक वारिस भी है।

यह परिभाषा संयुक्त राष्ट्र संघ की परिभाषा की तुलना में काफी संकुचित है अतः दोनों परिभाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने पर म्निलिखित अन्तर दृष्टिगोचर होते हैं–

1. मूल अधिकारों के उल्लंघन को दण्ड प्रक्रिया संहिता में स्थान नहीं दिया गया है।

2. राज्यों द्वारा शक्ति के दुरूपयोग को भी दण्ड प्रक्रिया संहिता में शामिल नहीं किया गया है।

3. दण्ड प्रक्रिया संहिता के अन्तर्गत अभियुक्त को अभियोजित होना आवश्यक है जबकि संयुक्त राष्ट्रसंघ की परिभाषा में पहचान, अभियोग व दोषसिद्ध को परिभाषा से बाहर रखा गया है उक्त के न होने के बावजूद भी व्यक्ति पीड़ित माना जायेगा।

4. संयुक्त राष्ट्र संघ की परिभाषा में सामूहिक रूप से उठाए जाने वाले कष्टों को परिभाषा में शामिल कर परिभाषा को व्यापक बनाया गया है।

संयुक्त राष्ट्र संघ ने लोगों का ध्यान पीड़ित व्यक्तियों की तरफ आकर्षित किया जिससे पीड़ित व्यक्तियों का प्रतिकर प्रदान करने एवं उनका पुनवार्सित करने की दिशा में महत्वपूर्ण प्रयास किये जा रहे हैं जिससे सामाजिक न्याय की अवधारणा को बल मिल रहा है। अतः पीड़ित व्यक्ति से आशय ऐसे व्यक्ति या व्यक्तियों से है जो अपराध या अपराधी के कारण दुष्प्रभावित हुए हैं या जिन्हें क्षति या हानि कारित हुई है।

3- vijk/k ls ihfM+r 0;fDr;ksa ds fy, ifrdj % अपराध से पीड़ित व्यक्तियों के लिए प्रतिकर प्रदान करने की अवधारणा कोई नई अवधारणा नहीं है इसके उदाहरण प्राचीन काल में भी मिलते हैं यदि इतिहास का अध्ययन किया जाए तो हम पाते हैं कि इसका उल्लेख हमूराबी कोड में भी मिलता है और बड़े पैपाने पर यूनान में इसका प्रयोग होता था। प्रतिकर की अवधारणा का उल्लेख भारतीय परम्परा में धर्मशास्त्रों के अन्तर्गत आने वाले ग्रन्थों मुख्यतः मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति आदि में देखने को मिलता है परन्तु मध्यकाल में इस पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया और पीड़ितों के अधिकारों की अनदेखी की गयी किन्तु सन् 1940 के बाद अमेरिका यूरोप इत्यादि देशों में इस अवधारणा को लेकर पुनः आन्दोलन प्रारम्भ हुआ।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पीड़ितशास्त्र की परिचर्चाओं में सन् 1985 में एक महत्वपूर्ण आयाम जुड़ा जब संयुक्त राष्ट्रसंघ ने ''अपराध से पीड़ित व्यक्तियों के न्याय एवं शक्ति के आधारभूत सिद्धान्तों का संयुक्त राष्ट्र घोषणा पत्र 1985 पारित किया जिसमें पीड़ित को परिभाषित किया गया और पीड़ित व्यक्ति को प्रतिकर प्रदान करने एवं पुनर्वासित करने के सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा की गयी।

भारत में अपराध पीड़ित व्यक्तियों को प्रतिकर प्रदान करने के सम्बन्ध में दो महत्वपूर्ण विद्यायन है।

1. दण्ड प्रक्रिया साहित्य 1973 और अपराधी परितीक्षा अधिनियम 1958

2. भारतीय संविधान

1- n.M izfØ;k lfgR; 1973 vkj vijk/kh ifjh{kk vf/kfu;e 1958

दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 357 में प्रतिकर देने का आदेश देने की शक्ति न्यायालय को दी गयी है इस धारा की उपधारा 1 (ख) और उपधारा (3) में विशेषतः प्राप्तकर प्रदान करने के सम्बन्ध में

प्रावधान किया गया है। उपधारा (1) के अनुसार जब कोई न्यायालय जुर्माने का दण्डादेश देता है या कोई ऐसा दण्डादेश (जिसके अन्तर्गत मृत्यु दण्ड भी है) देता है जिसका भाग जुर्माना भी है। तब निर्णय देते समय वह न्यायालय यह आदेश दे सकता है कि वसूल किए गए सब जुर्माने या उसके किसी भाग का उपयोजन–

(ख) किसी व्यक्ति को उस अपराध द्वारा हुई किसी हानि या क्षति का प्रतिकर देने में किया जाए यदि न्यायालय की राय में ऐसे व्यक्ति द्वारा प्रतिकर सिविल न्यायालय में वसूल किया जा सकता है।[5]

उपधार (3) के अनुसार जब न्यायालय ऐसा दण्ड अभिरोपित करता है जिसका भाग जुर्माना नहीं है तब न्यायालय निर्णय पारित करते समय अभियुक्त व्यक्ति को यह आदेश दे सकता है कि वह उस कार्य के कारण जिसके लिए उसे ऐसा दण्डादेश दिया है, जिस व्यक्ति को कोई हानि या क्षति उठानी पड़ी है उसे वह प्रतिकर के रूप में इतनी रकम दे जितनी आदेश में विनिर्दिष्ट है।[6]

इस धारा का उद्देश्य दोषी व्यक्ति द्वारा अपराध के शिकार व्यक्ति को प्रतिकार देने तथा अभियोजन में उपगत व्ययों को चुकाने के लिए व्यवस्था करता है। दण्ड न्यायालय का कार्य अपराधी को दण्ड देना और व्यवहार–विषयक (सिविल) न्यायालय का कार्य दोषकर्ता द्वारा विक्षुब्ध पक्षकार को कारित की गयी क्षति अथवा हानि के लिए प्रतिकर दिलवाना है। यदि इन दोनों प्रक्रियाओं को सम्मिलित किया जा सकता है और उसके परिणामस्वरूप दाण्डिक और व्यवहार सम्बन्धी आदेशिकायें प्रभावित भी नहीं होती तो ऐसा करना उचित और इष्ट कर होगा क्योंकि इससे दो भिन्न न्यायालयों में उपचार प्राप्त करने में समय और धन की बचत होगी। धारा 357 इसी लक्ष्य को लेकर आगे बढ़ती है।

प्रतिकर देने का अधिकार किसी का सहायक नहीं है बल्कि यह दण्ड देने के अतिरिक्त धनराशि है, जो मजिस्ट्रेट धारा 357 के अन्तर्गत दिलाई जाती है।[7]

अपराधी परिवीक्षा अधिनियम 1958 की धारा 5 में छोड़े गये अपराधियों से प्रतिकर और खर्च देने की अपेक्षा करने की न्यायालय की शक्ति के बारे में बताया गया है।[8] प्रतिकर का संदाय करने वाला कोई आदेश इस प्रकार का होगा जो न्यायालय अपराध किये जाने से किसी व्यक्ति को हुई क्षति या नुकसान की भरपाई के लिए युक्तियुक्त समझे।

धारा 5 (2) में यह उपबन्ध किया गया है कि उपधारा (1) के अधीन संदाय के लिए आदेशित प्रतिकार की रकम दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 386 और 387 के उपबन्धों के अधीन जुर्माने के रूप में वसूल की जा सके।

प्रभू राम नाम हरियाणा राज्य[9] के मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया कि किसी अभियुक्त के अच्छे आचरण की परिवीक्षा पर छोड़े जाने का आदेश देने वाला न्यायालय उसे यह निर्देश भी देगा कि अपराध से हुई हानि या क्षतिग्रस्त होने वाले व्यक्ति को युक्तियुक्ति प्रतिकर का संदाय करें।

½2½- lfo/kku d vUrxZr ifrdkj inku dju dh U;k;ky; dh 'kfDr ¼ भारतीय संविधान के अनुच्छेद 14, 21, 32,136,142, और 226 के आधार पर उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों ने कई महत्वपूर्ण मामलों में या तो राज्य या फिर अभियुक्त को प्रतिकर प्रदान करने का आदेश दिया है।

अपने ऐतिहासिक महत्व के विनिश्चय रुदल शाह बनाम बिहार राज्य[10] में उच्चतम न्यायालय ने यह अधिनिर्धारित किया है कि उसे अनुच्छेद 32 के अधीन राज्य के कार्यों द्वारा पीड़ित व्यक्तियों को प्रतिकर प्रदान करने की शक्ति प्राप्त है। भीम सिंह बनाम जम्मू एण्ड कश्मीर–[11] के मामले में न्यायालय ने पिटीश्नर को उसके अनुच्छेद 21 में प्रदत्त दैहिक स्वाधीनता के अधिकार से अवैधरूप से वंचित किये जाने पर रू0 50000 प्रतिकर के रूप में दिलवाया।

एम0सी0 मेहता बनाम भारत संघ[12] के ऐतिहासिक निर्णय में प्रतिकर के सिद्धान्त को प्रतिपादित करते समय न्यायालय ने यह निर्धारित किया है कि न्यायालय को मूल अधिकारों के उल्लंघन के मामले में अनुच्छेद 32 के अधीन प्रतिकर दिलाने की शक्ति प्राप्त है। किन्तु यह साधारण सिविल विधि में नुकसानी पाने के दावे का स्थानापन्न उपचार नहीं हैं।

नीलवती बेहरा बनाम उड़ीसा–राज्य[13] के महत्वपूर्ण मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया कि जहाँ नागरिकों के मूल अधिकारों का राज्य द्वारा या उसके सेवकों या अभिकर्ताओं द्वारा उल्लंघन किया जाता है वहाँ अनुच्छेद 32, और 226 के अन्तर्गत न्यायालय को पीड़ित व्यक्ति को प्रतिकर दिलाने की शक्ति प्राप्त है। यह अधिकार प्राइवेट विधि के अधीन प्राप्त प्रतिकर पाने के अधिकार के अतिरिक्त है ऐसे मामलों में सम्प्रभु की उन्मुक्ति सिद्धान्त का प्रतिवाद लेकर राज्य अपने दायित्व से बच नहीं सकता है। इसी मामले में न्यायालय ने यह भी कहा कि अनुच्छेद 32 के अधीन उसको बहुत व्यापक शक्ति प्राप्त है और वह ऐसे मामलों में पूर्ण न्याय प्रदान करने के लिए नये तरीके इजात कर सकता है जिसमें से एक यह भी है कि पीड़ित व्यक्ति को धनीय प्रतिकर दिलाया जाए, का लोक विधि में उपचार शीघ्र उपलब्ध है। अन्तर्राष्ट्रीय सिविल एवं राकनीतिक अधिकारों की प्रसंविदा[14] का अनुच्छेद 9(5) भी यह कहता है कि गारण्टी किये गये अधिकारों के उल्लंघन के मामले में संविधान के अधीन प्रतिकर दिला कर पीड़ित व्यक्ति के साथ न्याय किया जा सकता है।

उच्चतम न्यायालय ने दिल्ली डेमोक्रेटिक वर्किंग वुमेन्स फोरम बनाम भारत संघ[15] के मामले में महिलाओं के साथ बढ़ते हुए यौन अपराधों के प्रति गम्भीर चिन्ता व्यक्त किया और ऐसे मामलों के शीघ्र परीक्षण तथा उन्हें प्रतिकर प्रदान करने एवं उनके पुनर्वास के लिए विस्तृत मार्गदर्शक सिद्धान्त विहित किया है न्यायालय ने यह भी कहा कि हमारे आपराधिक कानून में इस मामले में समुचित उपबन्ध नहीं हैं।

उपरोक्त सभी मामलों में भारत के उच्चतम न्यायालय एवं उच्च न्यायालयों ने अपने संवैधानिक अधिकारों का प्रयोग करते हुए अनुच्छेद 32 व 226 में पीड़ितों को प्रतिकर प्रदान किया तथा राज्य की शक्ति के दुरूपयोग के विरूद्ध सक्रियता दिखाते हुए पीड़ित व्यक्तियों को प्रतिकर प्रदान कर सराहनीय कार्य किया है। इसके अतिरिक्त एक महत्वपूर्ण मामला 'बोधिसत्व गौतम बनाम शुभ्रा चक्रवर्ती'[16] का मामला उच्चतम न्यायालय के समक्ष आया जिसमें दो सदस्यीय खण्डपीठ (न्यायमूर्ति श्री कुलदीप सिंह और सग्गीर अहमद) ने यह अभिनिर्धारित किया है न्यायालय को बलात्कार की शिकार महिला को अन्तरिम प्रतिकर देने की शक्ति है जब तक कि परीक्षण न्यायालय अभियुक्त के ऊपर लगाये आरोप का अपना निर्णय नही दे देता है। इस मामले में उच्चतम न्यायालय ने अन्तरिम प्रतिकर प्रदान करने का आदेश दिया था जो कि सामाजिक न्याय की अवधारणा को पूरा करने की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है।

इसके अतिरिक्त दण्ड प्रक्रिया संहिता में सन् 2008[17] में संशोधन करके जब पीड़ित को परिभाषित किया गया उसी समय दण्ड प्रक्रिया संहिता 1973 की धारा 357 में एक नई धारा 357–क भी जोड़ा गया जिसमें पीड़ित व्यक्तियों को प्रतिकर प्रदान करने के सम्बन्ध में विस्तृत दिशा निर्देश दिया गया है धारा 357 क के अनुसार[18]

(1). प्रत्येक राज्य सरकार केन्द्रीय सरकार के साथ मिलकर ऐसे पीड़ित या उसके आश्रितों को, जिन्हें अपराध के परिणामस्वरूप हानि या क्षति हुई है और जिन्हें पुनर्वास की आवश्यकता है प्रतिकर के प्रयोजन के लिए निधियाँ उपलब्ध कराने के लिए एक स्कीम तैयार करेगी।

(2). जब कभी भी न्यायालय द्वारा प्रतिकर के लिए सिफारिस की जाती है तब,यथास्थित, जिला विधिक सेवा प्राधिकरण या राज्य विधिक सेवा प्राधिकरण उपधारा (1) में निर्दिष्ट स्कीम के अधीन दिए जाने वाले प्रतिकर की मात्रा का विनिश्चय करेगा।

(3). यदि विचारण न्यायालय का, विचारण की समाप्ति पर, यह सामाधान हो जाता है कि धारा 357 के अधीन अधिनिर्णित प्रतिकर ऐसे पुनर्वास के लिए पर्याप्त नहीं है या जहाँ मामले दोषमुक्ति या उन्मोचन पर समाप्त हो जाते है और पीड़ित को पुनवार्सित करना है वहाँ प्रतिकर के लिए सिफारिस कर सकेगा।

(4). जहाँ अपराधी का पता नहीं लग पाता है या उसकी पहचान नहीं हो पाती किन्तु पीड़ित की पहचान हो जाती है और जहाँ कोई विचारण नहीं होता है, वहाँ पीड़ित या उसके आश्रित प्रतिकर दिये जाने के लिए राज्य या जिला विधिक सेवा प्राधिकरण को आवेदन कर सकेंगे।

(5). उपधारा (4) के अधीन ऐसी सिफारिशें या आवेदन प्राप्त होने पर, राज्य या जिला विधिक सेवा प्राधिकरण सम्यक जाँच करने के पश्चात्, 2 मास के भीतर जॉच पूरी करके पर्याप्त प्रतिकर अधिर्निणीत करेगा।

(6). यथास्थिति, राज्य या जिला विधिक सेवा प्राधिकरण पीड़ित की यातना को कम करने के लिए, पुलिस थाने के भार साधक से अन्यून पंक्ति के पुलिस अधिकारी या संबद्ध क्षेत्र के मजिस्ट्रेट के प्रमाण पत्र पर निःशुल्क उपलब्ध कराई जाने वाली प्रथम सहायता सुविधा या चिकित्सीय सुविधाओं या कोई अन्य अन्तरिम अनुतोष जिसे समुचित प्राधिकरण ठीक समझे, के लिए तुरन्त आदेश कर सकेगा।

इसके अलावा दण्ड विधि संशोधन अधिनियम 2013 में दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 357 में दो खण्ड धारा 357ख एवं धारा 357ग जोड़ा गया जो पीड़ित व्यक्तियों को सहायता प्रदान करने के दृष्टिकोण से बहुत महत्वपूर्ण है। धारा 357ख[19] के अनुसार भारतीय दण्ड संहिता (1860 का 45) की धारा 357 क के अधीन राज्य सरकार द्वारा संदेय प्रतिकर धारा 326क या 376घ के अधीन पीड़ित को जुर्माने का संदाय करने के अतिरिक्त होगा।

धारा 357ग में पीड़ितो का उपचार के विषय में बताया गया है इसके अनुसार सभी लोक या प्राइवेट अस्पताल, चाहे वह केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकार, स्थानीय निकायों या किसी अन्य निकाय द्वारा चलाये जा रहे हों, भारतीय दण्ड संहिता (1860का 45) की धारा 326–क धारा 376, धारा 376–क, धारा 376–ख, धारा 376–ग, धारा 376–घ, या धारा 376–ङ, के अधीन आने वाले किसी अपराध के पीड़ितों को तुरन्त निःशुल्क प्राथमिक या चिकित्सीय उपचार उपलब्ध करायेंगे और ऐसी घटना की पुलिस को तुरन्त सूचना देंगे।

4. अपराध से पीड़ित व्यक्तियों को प्रतिकर प्रदान करने सम्बन्धी प्रावधानों का अलोचनात्मक मूल्यांकन

अपराध से पीड़ित व्यक्तियों प्रतिकर प्रदान करने सम्बन्धी उपरोक्त प्रावधानों का मूल्यांकन करें तो कहा जा सकता है कि इसमें कोई सन्देह नहीं कि दण्ड प्रक्रिया संहिता में सन् 1998 में ही प्रतिकर के लिए प्रावधान कर दिया गया था। परन्तु यह संकल्पना उस समय इतनी कारगर रूप से लागू नहीं की जा सकी।

अतः अब यह आवश्यकता है कि दण्ड प्रक्रिया संहिता एवं अपराधी परिवीक्षा अधिनियम के प्रावधानों का पुनः मूल्यांकन किया जाय ताकि पीड़ितो को प्रतिकर प्रदान करने एवं उनको पुर्नवासित करने में कोई कठिनाई न हो।

जो प्रावधान विद्यमान है उनका अध्ययन करने से पता चलता है कि उसमें न्यायालय की भूमिका ज्यादा महत्वपूर्ण है। अतः यह न्यायालय के विवेक पर निर्भर करता है कि वह पीड़ित को प्रतिकर देने का आदेश दे या न दे। एक अन्य आधार पर भी इसकी आलोचना की जा सकती है कि पीड़ित को प्रतिकर वसूलने का कोई अधिकार भी नहीं दिया गया है। भारतीय विधायिका ने इस तरह का कोई अधिनियम भी नहीं बनाया है कि वह अपराध से पीड़ित व्यक्तियों को प्रतिकर प्रदान करने के लिए अधिकार प्रदान कर सके। दिल्ली घरेलू कार्यकारिणी संस्था बनाम भारत संघ[20] के मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि भारतीय संविधान के अनुच्छेद 38(1) के तहत एक Criminal Injuries compensation Board की स्थापना की जाय और यह प्रतिकर का निर्धारण करे, चाहे अपराधी दण्डित किया जाय या न किया जाय। अतः संक्षेप में हम कह सकते हैं कि वर्तमान विधिक व्यवस्था में बहुत सी खामियाँ हैं जिन्हें दूर करने की आवश्यकता है। [धारा 357 एवं धारा 357क][21] न्यायालयों को प्रतिकर प्रदान करने की कुछ शक्तियां अवश्य प्रदान करती हैं परन्तु वह इतनी पर्याप्त एवं प्रभावी नहीं है कि पीड़ितों को पुनर्वासित किया जा सके। बहुत से व्यक्तियों को लम्बी अवधि का कारावास हो जाता है तो वह जुर्माना न देकर कारावास में ही रहने का चुनाव कर लेते हैं जिसकी वजह से पीड़ितों को प्रतिकर का लाभ नहीं मिल पाता है।

इसके अलावा यह भी कहा जा सकता है कि एक अच्छी विधि हो भी लेकिन अच्छा प्रशासन न हो तो सामाज एवं विधि का उद्देश्य विफल हो जाता है और धीरे–धीरे उसकी उपयोगिता खत्म हों जाती है। विधि आयोग की 41वीं[22] रिपोर्ट में यह सुझाव दिया गया है कि न्यायालयों को इन प्रावधानों का उपयोग करना चाहिए और प्रतिकर को प्रोत्साहन देना चाहिए। अतः उच्चतम न्यायालय एवं उच्चन्यायालयों के प्रयासों से जो विधिक प्रावधानों में खामियां हैं उन्हें दूर किया जाना चाहिए और प्रतिकर

प्रदान करने की अवधारणा को प्रभावी ढंग से लागू किया जाना चाहिए ताकि सामाजिक न्याय का उद्देश्य फलीभूत हो सके।

5- fu"d"kZ ,oa lq>ko % उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि अपराध से पीड़ित व्यक्तियों को प्रतिकर प्रदान करने से न केवल पीड़ित व्यक्ति को पुनर्वासित किया जा सकता है बल्कि साथ ही साथ सामाजिक न्याय के उद्देश्य को भी पूरा किया जाता है क्योंकि जो व्यक्ति अपराध से पीड़ित होता है उसको समाज में कई उपेक्षाओं एवं कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। जिसके कारण वह समाज में अपने आप को पुनः स्थापित करने में कठिनाई का अनुभव करता है और प्रतिकर उसे अपने जीवन को पुनः स्थापित करने में सहायता करता है। चूंकि कोई भी अपराध राज्य के विफलता का परिणाम होता है तो यह राज्य का दायित्व होना चाहिए कि वह अपनी विफलताओं के कारण पीड़ित व्यक्ति को पुनर्वासित करने का हर सम्भव प्रयास करे और राज्य को अपने इस दायित्व को स्वीकार करना चाहिए। यदि पीड़ित व्यक्ति को प्रतिकर प्रदान किया जाता है तो इससे सामाजिक न्याय की अवधारणा की भी पूर्ति होती है परन्तु समस्या यह है कि अब तक जो भी प्रावधान प्रतिकर के सम्बन्ध में हमारी विधि व्यवस्था में हैं वह इतने पर्याप्त एवं प्रभावी नहीं है अतः आवश्यकता है कि उनका पुनः मूल्यांकन किया जाय और ऐसी नीतियों का निर्माण किया जाय ताकि पीड़ित व्यक्तियों को पुर्नवासित किया जा सके, उन्हें समर्थवान बनाया जा सके एवं समाज में उन्हें आदर की दृष्टि से देखा जाय।

lq>ko % अपराध पीड़ित व्यक्तियों के लिए प्रतिकर एवं सामाजिक न्याय की अवधारणा के सम्बन्ध में निम्नलिखित सुझाव इस प्रकार हैं–

1. 'पीड़ित' की परिभाषा को जो दण्ड प्रक्रिया संहिता में दी गयी है संशोधित करके संयुक्त राष्ट्र संघ की घोषणा 1985 के अनुच्छेद 1 एवं 2 के मन्तव्यों के अनुसार परिभाषित किया जाय।
2. दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 357 में प्रतिकर का निर्धारण अनिवार्य बनाया जाय।
3 प्रतिकर की राशि के निर्धारण में अपराध की गम्भीरता के अलावा अपराधी की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति को भी ध्यान में रखना चाहिए।
4. राजकीय क्षतिपूर्ति कोष की स्थापना की जानी चाहिए जिससे प्रतिकर की राशि प्रदान की जा सके।
5. प्रतिकर को अधिकार के रूप में मान्यता मिले, न कि अनुग्रह राशि के रूप में।
6. दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 265 क में सौदा अभिवाक् की व्यवस्था की गयी है जिसमें प्रतिकर की शर्त को लगाया जाना चाहिए।
7. विधि आयोग की 41वीं, 42वी रिपोर्ट में दिये गये सुझाव को ध्यान में रखना चाहिए।
8. मृत्यु दण्ड के मामलों में भी प्रतिकर का प्रावधान किया जाना चाहिए।
9 प्रतिकर के लिए एक संस्थागत संरचना होनी चाहिए।
10. प्रतिकर का उद्देश्य सामाजिक न्याय की अवधारणा को पूरा करने का होना चाहिए।

lUnHkZ %

1. राल्स, थियोरी ऑफ जस्टिस. पृ0 7
2. तत्रैव पृष्ठ, 9
3. अपराध से पीड़ित व्यक्तियों के न्याय एवं शक्ति के दुरुपयोग के आधार मूल सिद्धान्तों का संयुक्त राष्ट्र घोषणा पत्र 1985।
4. दण्डप्रक्रिया संहिता (संशोधन) अधिनियम, 2008 (2009 का 5) की धारा 2 द्वारा (31.12.2009 से) अन्तः स्थापित
5. दण्ड प्रक्रिया संहिता 1973, धारा 357 (1)(इ)
6. दण्ड प्रक्रिया संहिता 1973 धारा 357 (3)
7. राजेन्द्र बनाम जोश 2002 क्रि0 लॉ ज0 3111 (केरल)
8. अपराधी परिवीक्षा अधिनियम 1958, धारा 5
9. 1999क्रि0 लॉ जा 1972 (प0 हरि0)

10. (1983) 4 एस0 सी0 सी0 141
11. (1985)4 एस0सी0सी0 677
12. ए0आई0आर0 1987 एस0सी0 513
13. (1993) 2एस0सी0जी0 411
14. अन्तर्राष्ट्रीय सिविल एवं राजनीतिक अधिकारों की प्रसंविदा 1966
15. (1995) 1 एस0सी0सी0 14
16. (1996) एस0सी0सी0 490
17. दण्ड प्रक्रिया संहिता (संसोधन) अधिनियम, 2008 (2009 क 5) की धारा 2 द्वारा (31.12.2009) से अन्तः स्थापित
18. दण्ड प्रक्रिया संहिता 1973 की धारा 357–क
19. दण्डविधि (संशोधन) अधिनियम 2013 की धारा 23 द्वारा अन्तःस्थापित (दिनांक–03.2.2013)
20. (1995) 1एस0सी0सी014
21. दण्ड प्रक्रिया संहिता 1973 की धारा 357 एवं 357क
22. 41वीं विधि आयोग की रिपोर्ट

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

uk;dRo d vkbu e >Bk&lp

l;a ukFk flag*

यशपाल का उपन्यास 'झूठा–सच' दो भागों में प्रकाशित है। इसका पहला भाग 'वतन और देश' 1958 ई0 में तथा दूसरा भाग 'देश का भविष्य' 1960 ई0 में प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास की मूल प्रवृत्ति परिवेशजन्य है। इसमें उपन्यासकार ने किसी व्यक्ति चरित्र को नायक के रूप में उपस्थित न कर उन परिस्थितियों को नायक के रूप में उपस्थित किया है जो समूचे उपन्यास में व्याप्त है।

नेमिचन्द्र जैन ने लिखा है–'' 'झूठा–सच' अपने दो खंडो में 1942 से 1957 तक कालखंड को घेरता है, यद्यपि उसमें विस्तृत चित्रण 1946–48 के काल का ही है। इस प्रकार यह देश के विभाजन की पूर्ववर्ती पृष्ठभूमि, उसकी यथार्थ प्रक्रिया तथा परवर्ती परिणति, सभी को प्रस्तुत करता है। इसके लिए लेखक ने लाहौर में भोला पाँधे की गली में रहने वाले निम्न मध्यवर्गीय परिवारों और उनके विभिन्न सदस्यों के बाह्य जीवन, पारस्परिक व्यवहार और व्यक्तिगत आचरण, सामूहिक तथा वैयक्तिक संस्कार चेतना और मान्यताओं को विभाजन के सन्दर्भ में–उससे पहले, दौरान तथा बाद में–देखा है, और फलस्वरूप होने वाले परिवर्तन या रूपांतरण को दिखाने का प्रयास किया है।''[1] इसमें कवि दृष्टि का अभाव देखना[2] इसको अखबरों की विशाल कतरन कहना[3] या उसे देखकर युद्ध और शांति[4], गोदान[5] या रंगभूमि[6] की याद करना उतना ही असंगत और बेमानी है जितना कि इसमें मार्क्सवाद धूमिल पड़ जाने पर निराश होना है।''[7]

लेखक ने उपन्यास में मार्क्सवादी चिंतन के प्रभाव को स्वीकार अवश्य किया है, परन्तु उसे चरम सत्य के रूप में स्वीकार नहीं करते। इन्द्रनाथ मदान का मत यहाँ विशेष महत्त्व रखता है जिसमें वे कहते हैं–''मुझे लगता है कि झूठ और सच की समस्या को इस उपन्यास में अधिक शादी और तलाक के माध्यम से और कम पुरी के पतन द्वारा उठाया गया है।''[8] इस प्रकार इस मूल समस्या के केन्द्र में वे तमाम परिस्थितियाँ जो पात्रों को तीव्रता से प्रभावित करती है, नायक का स्थान ले लेती है। पात्र 'सेकेंडरी' होकर रह जाते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं की इसमें विभिन्न राजनीतिक पहलुओं का विषद् चित्रण हुआ है, परन्तु राजनीतिक पक्ष के साथ विराट मानवीय पक्ष भी उपन्यास में है। तारा, असद, कनक, जयदेव पुरी, सोमराज, नैयर, गिल, हाफिज आदि असंख्य पात्र इसमें आये हैं जो केवल राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति ही नहीं करते वरन् प्रेम, विवाह, सामाजिक दायित्व, आचार–व्यवहार एवं सामूहिक तथा वैयक्तिक संस्कार आदि मानव–जीवन के अनगिनत पक्षों का उद्घाटन करते हैं।

उपन्यास के कथानक को तीन चरित्रों के माध्यम से देखा जाना चाहिए। पहला तारा, दूसरा उसका भाई जयदेव पुरी और उस दोनों का परिवार। तीसरा कनक और उसका परिवार। तारा और पुरी दोनों एक ही परिवार के हैं। एक ही प्रकार की आर्थिक समस्या उनके सामने है। विभाजन की विपत्ति का पहाड़ उनके सिर पर एक समान टूट पड़ते हैं। पर सारे मामले में उन पर असर अलग–अलग होता है। केवल गहराई में देखने पर पता चलता है कि एक घटना का इतना पृथक असर दोनों पर हुआ है। तारा आरंभ से ही संवेदनशील, पढ़ने–लिखने में तेज, महत्त्वाकांक्षी लड़की है। उसे राजनीति में दिलचस्पी है। प्रारंभ से ही उसके व्यक्तित्व को उपन्यासकार ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि निम्न मध्यवर्गीय लड़की के क्रमशः जागृत और आत्मसजग होने का प्रभाव संप्रेषित होता है। यह प्रभाव भी मुख्यतः बाह्य घटनाओं और परिस्थितियों के माध्यम से है। उसके प्रारंभिक जीवन का सबसे रोचक और नियामक प्रसंग कम्युनिस्ट कार्यकर्ता असद से उसका कोमल किशोर सुलभ स्नेह संबंध है। इसको उपन्यासकार ने संभवतः सबसे अधिक संवेदनशीलता, सूक्ष्मता, भावात्मकता से प्रस्तुत किया है। समाज तारा और असद के प्रेम को सहन

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

नहीं कर सकता, इसलिए बलात् तारा की शादी एक अयोग्य वर से कर दी जाती है। जल्दी ही पंजाब का विभाजन हो जाता है और तारा का बलात्कार। लाहौर से तारा किसी तरह दिल्ली पहुँच जाती है, जहाँ कई नौकरियों को करने के पश्चात् एक स्थायी नौकरी उसे कुछ राहत देती है। वहीं अंत में शिक्षित और उदार डॉ0 प्राणनाथ से उसका पुनर्विवाह हो जाता है।

इस प्रकार तारा के व्यक्तित्व में भले ही प्रारंभिक अंश में एक आंतरिक–संगति और विश्वसनीयता है। किंतु दूसरे भाग में तारा का स्वरूप अति नाटकीय हो गया है और संयोग तत्त्वों, आकस्मिकता और अविश्वसनीय प्रसंगों का सहारा लेकर आदर्शवाद उस पर पूरी तरह आरोपित कर दिया गया है। 'नब्बू' द्वारा बलात्कार करने के पश्चात् उसे जघन्य यौन व्याधि लग जाती है। वह अपने नये प्रेमी डॉ0 प्राणनाथ से स्नेह सम्मान पाने के बावजूद विवाह की कल्पना से काँप जाती है, बड़ी नाटकीय परिस्थितियों को पार करती हुई वह भारत सरकार में अंडर सेक्रेटरी बन जाती है। दूसरा एक नया सिरदर्द उत्पन्न होता है। तारा के इस नये व्यक्तित्व से जयदेव पुरी का अहं आहत होता है और वह सोमराज जो तारा का पहला पति है उसको उकसाता है कि वह तारा पर अपने अधिकार जताए। उच्च अधिकारी होने के नाते तारा के आचरण की जाँच होने लगती है और अंत में वह बरी हो जाती है। डॉ0 प्राणनाथ उसे इलाज के लिए विदेश ले जाने को प्रस्तुत होते हैं। यह सब स्थिति इस कदर नाटकीय हो जाती है कि लगता है बुरा कर्म करने वाले को नारकीय जीवन प्राप्त हो और आदर्शयुक्त व्यक्ति को सब सुख मिले। इस प्रकार पहले भाग में उसका जो व्यक्तित्व नायकत्व पद ग्रहण करता है वह धीरे–धीरे दूसरे भाग में अशक्त हो जाता है और नायकत्व पद से वंचित होकर रह जाती है।

दूसरे पात्र जयदेव पुरी हैं जिसके व्यक्तित्व में उतार–चढ़ाव और विविधता अधिक है, पर उसमें आंतरिक संगति नहीं है। अभावग्रस्त परिवार से होने के कारण वह ट्यूशन भी पढ़ाता है और लड़कियों से प्यार भी करता है। सामाजिक विषमता के कारण अपने अभावग्रस्त परिवेश से त्रस्त जहाँ वह सम्पूर्ण सामाजिक–आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन चाहता है वहीं नये आदर्श स्थापित करने की उसकी चाह भी मरती नहीं। जात–पाँत तो पहले पहल उसके लिए कोई मायने नहीं रखते, परंतु बाद में आकर यह सब कुछ जैसे उसका अभिन्न अंग बनते जाते हैं। विषम परिस्थिति के आगे वह हारता भी है, परन्तु आसानी से टूटता नहीं। ''उसमें जीवन के प्रति गहरी आसक्ति है जो निराशा के घोरतम क्षणों में भी जीने का बल देती है।''[9] भारत के बँटवारे में ऐसे कई अवसर आते हैं जब वह उसका मुकाबला करता हुआ विजयी भी होता है और हारता भी है।

पहली कहानी उसकी कनक से प्रेम की कहानी है और दूसरी उर्मिला से प्रेम की। कनक से प्रेम होते हुए भी वह उर्मिला से शारीरिक संबंध रखता है और उससे 'गंधर्व विवाह' कर लेता है। फिर जल्द ही उर्मिला के गर्भ में अपनी संतान छोड़कर वह कनक से शादी कर लेता है, क्योंकि कनक यौन–दृष्टि से उससे सबल है। बाद में वह कनक को भी तलाक दे देता है। बाद में सूद के साथ मिलकर वह पूँजीपति बन जाता है। यहाँ आकर उसका स्वरूप एकदम बदला हुआ दिखाई पड़ता है। गिल के शब्दों में–''वह अब बँटबारे के पहले का लंपन प्रोलिटेरियट (बेठोर–साधनहीन) नहीं रहा है। अब वह पेटी बुर्जुआ (कुछ पूँजीवाले) के भाँति सोचता है। अब उसे सब ओर अवसर की कमी और व्यवस्था में विषमता नहीं दिखाई देती। उसे अब परिवर्तन और न्याय की नई धारणाओं की आवश्यकता नहीं जान पड़ती। उसकी जड़े जम रही है। अब वह उलट–फेर के विचार से घबराता है।''[10]

वस्तुतः अपनी विरोधाभास मनोवृत्ति के कारण पुरी आरंभ से ही अपने बदलते व्यक्तित्व का संकेत देने लगता है। प्रगतिशील विचारों के होते हुए भी वह अपनी बहन की शादी उसके मुसलमान प्रेमी असद से नहीं होने देता, जबकि वह स्वयं कनक को चाहता है और उससे मिलने के लिए तारा को माध्यम बनाता है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि कनक और जयदेव पुरी दोनों भिन्न जातियों से हैं जबकि तारा के प्रेम की बात सुनकर वह उबल पड़ता है और धक्का देकर उसे गिरा देता है। इन तमाम बातों से तारा की निम्न प्रतिक्रिया द्वारा उसके विरोधाभास की स्थिति बहुत स्पष्ट होती है ''दूसरों की लड़की को चोरी से संदेश भेजकर बुलाने में इनकी इज्जत नहीं बिगड़ती। परिवार की सब इज्जत मेरे ही बलिदान में है। यही न्याय, सत्य, देशभक्ति और हिन्दू–मुस्लिम एकता है?''[11] तारा तब भाई को प्रतिक्रियावादी कहती है।

उसे अब लगने लगता है कि पुरी भी अपने सिद्धांत में थोथा है। तारा पहले उसका अनुकरण करती है, उसे आदर्श समझती थी पर बाद में जाकर वह उसे ढ़ोंगी और केवल बात का धनी समझने लगती है। पुरी पड़ोसियों को समझाता है कि हिन्दू–मुसलमान साथ–साथ रहेंगे चाहे मुस्लिम लींग की मिनिस्ट्री बने, चाहे कांग्रेस की। इस पर तारा का मन वितृष्णा से भर जाता है और वह कह उठती है–''वाह रे पाखंड! कैसे निबाहने वाले है! इससे अच्छा तो रतन जैसे, जो अंदर और बाहर एक है। दुश्मन समझते हैं तो मित्रता का पाखंड नहीं करते। ऐसे झूठे, जहरीले लोगों के सम्पर्क से तो मृत्यु अच्छी।''[12] उपन्यास के पहले खंड में पुरी का व्यक्तित्व थोड़ा–बहुत गरिमा का आभास अवश्य देता है। उपन्यास के आरंभ में जब हम गाँधीवादी पुरी को जेल में देखते हैं तो लगता है कि यह चरित्र उपन्यास में इतना महत्त्वपूर्ण होगा कि नायक की सारी विशेषताएँ उसे छू जाएंगी। तब उसकी उग्रता, आवेश, विद्रोह भावना तथा सक्रियता सभी कुछ परिस्थितियों के संदर्भ में यथार्थ प्रतीत होता है। किंतु दूसरे भाग में उसका स्वरूप काफी बदल जाता है। उसकी संगति पहले भाग से बिल्कुल नहीं बैठती। वह द्विधाग्रस्त तथा अनिश्चित मना–सा लगता है, जैसे दूसरे खंड में लेखक ने उसके व्यक्तित्व को भिन्न दिशा देनी चाही है। इस संदर्भ में नेमिचन्द्र जैन की बात संगत लगती है–''उसका यह परिवर्तन मनोविज्ञान की दृष्टि से असंभव न होने पर भी कलात्मक सार्थकता की दृष्टि से अस्पष्ट और अनावश्यक लगता है। शायद इस परिवर्तन की आवश्यकता उसे व्यक्तित्व की अपेक्षा कलाकार को अधिक है।''[13] इसलिए तारा के प्रति उसका आक्रोश, जिस किशोर सुलभ ढंग से सोमराज को अपनी सगी बहन को सुखमय जीवन नष्ट करने के लिए भड़काया, अयथार्थ लगता है। इसका कोई ठोस आधार यशपाल नहीं दे पाते। इसी तरह जालंधर में उर्मिला और कनक से एकाएक विमुख होना या उसके प्रति उसके भावों और व्यवहार में गिरावट आना। इस सब परिवर्तन का भी कोई ठोस आधार नहीं दिख पाता।

इस प्रकार पुरी–कनक का प्रेम, उनके विवाह में सामाजिक तथा आर्थिक बाधाएँ, पंजाब–विभाजन की घटनाएँ, कनक की दृढ़ता और पुरी से विवाह, राजनीतिक विशारद सूद की कृपा से पुरी का आर्थिक उत्थान और चारित्रिक पतन और अंत में कनक से संबंध विच्छेद कुँवर नारायण के शब्दों में– ''आर्दशवादी पुरी का कथानक के सूक्ष्म ताने–बाने द्वारा धीरे–धीरे नायक पद से गिरना उपन्यास की उल्लेखनीय मनोवैज्ञानिक सफलताओं में से है।''[14] उपन्यासकार द्वारा पुरी के व्यक्तित्व के परिवर्तन पर इन्द्रनाथ मदान कहते हैं–''वह पुरी के व्यक्तित्व का विरोध भी शायद इसलिए करते हैं कि उसके संस्कार पुराने पड़ चुके हैं।''[15] जो धन की अमोघ शक्ति से पराजित होकर पतनशील हो जाता है। इस प्रकार इन्द्रनाथ मदान पुरी के सेक्स और जीवन में मार्क्सवादी चिंतनधारा के साथ फ्रायडियन विचारधारा का भी प्रभाव मानते हैं। कनक से पुरी की विरक्ति और उर्मिला से उसकी आसक्ति का विवेचन उनके अनुसार ''मनोविश्लेषण के धरातल पर किया गया है।''[16] इस प्रकार उन्हें यशपाल की दोनों चिंतनधाराओं का प्रयोग तो मिल जाता है पर इनको इस बात की शिकायत है कि ''पुरी की हीन–भावना का संकेत भी बार–बार दिया गया है, लेकिन उसकी अपराध–भावना का एक बार।''[17] इस तरह यह शिकायत अपने आप में ही सही और सार्थक लगता है। इसके अतिरिक्त पुरी का व्यक्तित्व मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अंकित हुआ है। इन्द्रनाथ मदान के ही शब्दों में–''यौन दृष्टि से कनक उससे सबल है। वह उसे संतोष नहीं दे पाता, उसका अपमान ही कर सकता है।...पुरी का व्यक्तित्व सरल न होकर जटिल है, विसंगतियों का पुंज है और लेखक की सहानुभूति से वंचित रह जाता है। इनकी सहानुभूति या तो नारी से है जो शोषित है या साम्यवादी पुरुष से है जो विचार में उदार है।''[18]

उपन्यास का तीसरा पात्र कनक है जो तारा और पुरी के परिवेश से एकदम भिन्न परिवेश की नारी है। वह आधुनिक शिक्षा प्राप्त युवती है। इन दोनों की अपेक्षा कनक का व्यक्तित्व इस अर्थ में जटिल है कि वह एक ऐसे वातावरण में पली है जिसमें पाश्चात्य एवं भारतीय संस्कृति का आभिजात्य गोलमोल है। पुरी के प्रति उसका अदम्य आकर्षण बड़ा सतही और अपर्याप्त है। उसकी भावनात्मक अभिव्यक्ति भी कुछ अधिक मुखर है जो कनक के व्यक्तित्व को कोई ऊँचा आयाम नहीं पाने देती। परवर्ती जीवन में वह और भी सामान्य और वैशिष्ट्हीन हो जाती है और अपने ढंग से जीवन के उलझते जाने पर भी उसकी कोई छाप नहीं रहती।

'झूठा–सच' में इस प्रकार अनेक पात्रों के होते हुए भी कोई ऐसा सशक्त पात्र नहीं है जिसे नायक पद के लिए रेखांकित कर सके। कभी तारा, कभी पुरी और कभी कनक एक–दूसरे को काटने का प्रयत्न अवश्य करते हैं, परन्तु उनकी स्वाभाविकता लेखक के पूर्वाग्रह के आगे कृषिम होकर रह जाती है। इसका परिणाम पात्रों का नायकत्व–गुणों से वंचित होकर मात्र पात्र ही रह जाना होता है। कुंवर नारायण के शब्दों में–''कम से कम 'झूठा–सच' में ऐसा कोई चरित्र नहीं जो किसी सूक्ष्म आत्ममन्थन से गुजरता हुआ दिखाई दे। चाहे वह क्रमशः अपने आदर्शों से गिरता नायक जयदेव पुरी हो, चाहे बिना किसी आदर्श के भी एक आदर्श नायकत्व की ओर उठती हुई उसकी बहन तारा हो, चाहे पुरी से अपना वैवाहिक संबंध जोड़ती और तोड़ती कनक हो–वे सब जीवन के प्रति एक बिल्कुल दैनिक और व्यवहारिक दृष्टिकोण रखकर चलते हैं। किसी भी परिस्थिति में उनका ध्यान तत्कालीन सामाजिक या पारिवारिक या आर्थिक कठिनाइयों से आगे, उन जटिलतर प्रश्नों की ओर नहीं जाता जिनका संबंध हमारे अस्तित्व की बुनियादी मजबूरियों से हैं।''[19] प्रायः ये सभी पात्र तात्कालीन परिस्थितियों से इस रूप में प्रभावित हैं कि उनका समूचा व्यक्तित्व उन्हीं पर निर्भर करता है। इसीलिए वह सजीव मानव का स्थान प्राप्त कर लेता है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि यही पात्र ही इस उपन्यास का नायक है।

वस्तुतः 'झूठा–सच' में यशपाल ने अत्यंत तटस्थता से विभिन्न वर्ग–समुदाय से संबद्ध, विविध परिस्थितियों से आबद्ध एवं अनेक समस्याओं से आक्रांत पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं को अंकित कर व्यापक समाज के विस्तृत चित्र फलक को उद्घाटित किया गया है। इसी संदर्भ में डॉ0 मक्खनलाल शर्मा का कहना है–''तालस्ताय के 'युद्ध और शांति' उपन्यास में जिस प्रकार नायक नहीं है, यही बात इस उपन्यास के संबंध भी कही जा सकती है। भारतीय समाज ही इसका नायक है।''[20]

समग्रतः 'झूठा–सच' एक असाधारण घटना की कहानी है, एक भूचाल की कहानी है और मानवता में छिपी पाशविकता की गाथा है। पहले भाग में वतन से उखड़े लोगों का, दूसरे भाग में देश में बसने और स्थापित होने का स्थान दिल्ली, किसी भी अर्थ में भोला पांथे की गली से भिन्न है। जहाँ पर उस गली के प्रायः सभी सदस्य और उनसे जुड़े हुए अन्य व्यक्ति अपने जीवन को नया आधार, नया अर्थ, नया भविष्य खोजने और रचने में प्रयत्नशील दीख पड़ते हैं। इस प्रकार यह उपन्यास एक भयंकर विस्फोट के फलस्वरूप एक छोटे सी गली से बढ़कर महानगर बन जाने की तीखी यातना भरी यात्रा की कहानी है। अतएव नायकत्व का स्थान इस उपन्यास में इन सभी स्थितियों को समेटने वाली विविध राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओं ने ग्रहण कर लिया है।

I UnHk% %

1. अधूरे साक्षात्कार– नेमिचन्द्र जैन, पृ0सं0 69–70
2. विवेक के रंग– सं0 देवीशंकर अवस्थी, पृ0सं0 279
3. अधूरे साक्षात्कार– नेमिचन्द्र जैन, पृ0सं0 72
4. वही, पृ0सं0 72
5. आलोचना, अंक–27, पृ0सं0 121
6. हिंदी वार्षिकी, प्रकाशचन्द्र गुप्त, पृ0सं0 80
7. आलोचना, अंक–27, पृ0सं0 121–122
8. अधूरे साक्षात्कार– नेमिचन्द्र जैन, पृ0सं0 59–60
9. विवेक के रंग– सं0 देवीशंकर अवस्थी, पृ0सं0 200
10. झूठा–सच (दूसरा भाग)– यशपाल, पृ0सं0 404
11. वही, पृ0सं0 112
12. वही, पृ0सं0 194
13. अधूरे साक्षात्कार– नेमिचन्द्र जैन, पृ0सं0 78
14. विवेक के रंग– सं0 देवीशंकर अवस्थी, पृ0सं0 203
15. आधुनिकता और हिंदी उपन्यास– इन्द्रनाथ मदान, पृ0सं0 62
16. वही, पृ0सं0 62
17. वही, पृ0सं0 62
18. वही, पृ0सं0 63
19. विवेक के रंग– सं0 देवीशंकर अवस्थी, पृ0सं0 201
20. हिंदी उपन्यास : सिद्धांत और समीक्षा–मक्खन लाल शर्मा, पृ0सं0 112

****

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

vdq'ky fpÙk % ,d fo'ys"k.k

t; idk'k ;kno*

चित्त 'आरम्णं चिन्तेतीति चित्तं विजानातीति अथो' जो आलम्बन का चिन्तन करता है, जानता है उसे चित्त कहते हैं। चिन्तेन्ति ऐतनाति चित्तं, जिसके द्वारा आलम्बन का चिन्तन किया जाता है वह चित्त है।

पालि त्रिपिटक में चित्त की चर्चा प्रायः सर्वत्र है अभिधम्म में चित्त, मन विज्ञान एक ही अर्थ में प्रयुक्त है। जो चिन्तन करता है वह चित्त है, जो मनन करता है, वह मन है तथा जो विषयों को जानता है वह विज्ञान है।

सम्पूर्ण बुद्ध वचन जो दुःख एवं उसकी निवृत्ति को लेकर प्रभूत हुआ है, वहाँ तत्तद् विवरण प्रसंग में मन विवेच्य विषय है। ''मनोपुब्बङ्गमा धम्मा मनो सेट्ठा मनोमया, फन्दनं चपलं चित्तं दुरक्ख दुन्निवारयं, चित्तं दन्तं सुखावहं आदि पद मन के स्वभाव का निर्देश करते हैं अर्थात् सभी धर्म या कार्य कलापों में मन ही अग्रगामी है। यदि प्रदुष्ट मन से किसी कार्य का सम्पादन होता है अथवा वाणी का निर्वचन होता है, तो वे दुःख का आवाहन करते हैं साथ ही प्रसन्न मन के संचालन से कायिक एवं वाचसिक कर्म का सम्पादन होता है, तो वे सुख का आवाहन करते हैं।

अंगुत्तर निकाय के एक निपात के अकर्मणीय वर्ग एवं अदान्त वर्ग में भगवान बुद्ध भिक्षुओं को यह कहते हैं कि मैं और कोई ऐसा धर्म नहीं देखता हूँ जो भावना न करने से अहितकारी हो जाता है जितना कि यह चित्त है। वहीं अन्य कोई दूसरा धर्म है जो भावना करने से इतना हितकारी महान कल्याणकारी हो जाता है जितना की यह चित्त है। मनुष्य के कायिक, वाचिक व्यवहारों का कारण मन है। मानसिक विचार ही क्रिया रूप में प्रगट होता है। मन में विचार और इच्छाएँ प्रतिक्षण उत्पन्न होती रहती हैं। जिससे क्रिया की उत्पत्ति होती है।

''चेतनाहं भिक्खवे, कम्मं वदामि''

चेतना को ही भगवान बुद्ध ने कर्म कहा है। सभी कुशल अकुशल कर्म चेतना के द्वारा कृत एवं प्रसूत होते हैं कर्म का मूल चित्त में ही है और कर्म से ही सम्पूर्ण संसार गतिमान है। कर्म से ही लोक का वैचित्य और विविधता है। संसार का दुःख एवं उससे विमुक्ति दोनों ही चित्त के अधीन है। चित्त का कुशल–अकुशल उसके साथ सम्प्रयुक्त होने वाले चेतसिक धर्मों का कारण ही होता है। कुशल मूल या अकुशल मूल मन को कुशल–अकुशल होने के लिए प्रेरित करते हैं।

अकुशल चित्त ''न कुसला ति अकुसला''

जो कुशल न हो वह अकुशल है। ''अकुशल शब्द से 'अ' उपसर्ग निषेधार्थक है।

''तीणी अकुसल मूलानि लोभो, दोसो, मोहो चित्त के तीन अकुशल मूल–लोभ, दोष, मोह तथा तीन कुशल मूल–अलोभ, अदोस, अमोह है यही छः मूल धर्म किसी भी कार्य के मूल हैं।

''लोभ लुब्भति लोभं'' लोभ का अर्थ है लेने की प्रवृति। धम्मसंगणि में विविध प्रकार की तृष्णाओं को लोभ कहा गया है।

''यो रागो सारागो अनुनयो, अनुरोधो, नन्दी नन्दीरागो, चित्तस सारागो इच्छामुच्छा अज्झोसानं गेधो, पलिगेधो संगो पंको एजामाया जनिका सञ्जननी सिब्बिनी जानि सरिता विसूत्तिका सुत्तं विसरा आयूहिनी दुतिया.... तण्हा समुद्दो अभिज्झा लोभो अकुसल मूलं अयं वुच्चयति लोभो।

दुट्ठमनो दुमनो, दुमनस्स भावो दोमनस्सं

*शोध छात्र, पालि एवं बौद्ध अध्ययन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी–221005

दोष दूसरों के प्रति अनिष्टात्मक भावना के आरोप से जनित आघात का नाम द्वेष है। इसकी प्रवृत्ति नौ प्रकार से देखी जाती है। अपने प्रति अपने प्रियजनों के प्रति भूत, वर्तमान एवं भविष्य में अनर्थपूर्ण आचरण करने की चिन्ता से तथा अप्रिय जनों के प्रति उक्त तीन कालों में अनर्थपूर्ण आचरण करने से इसके नौ भेद कहे गये हैं। चित्त के ऐसे चिन्तन से मन में जिस आघात, प्रति हिंसा, प्रतिरोध, कोप, प्रकोप, द्वेष मनो–प्रदोष आदि उत्पन्न होते हैं वे द्वेष हैं।

''तत्थ कतमो दोसो? अनत्थं में अचरीति आघातो जायति, अनत्थ में चरिस्सतीति आघातो जायति, पियस्स में मनापस्स अनत्थं अचरि पे अतचरति.पे... अव्यं चरिस्सतीति अघातो जायति, अट्टानेवा पन आघातो जायतिं यो एव रूपो चितस्स आघातो पटिघातो परिधं परिरोधो कोपो पकोपो सम्पकोपो दोसो पदोसो सम्पदोसो चित्तस्स व्यापत्ति विरोधो परिविरोधो चण्डिकं असुरोपो अनत्तमनता चित्तस्सअयं वुच्चति दोसो।

ekg % मोह का अर्थ अज्ञान है। अदर्शन, अनभिसमय, अननुबोध, अप्रतिबोध, दुर्मेध, असम्प्रजन्य, अविद्या आदि इसके पर्याय कहे जाते हैं। वस्तुतः चार आर्य सत्य, पूर्वान्त, अपरान्त, पूर्वान्तापरान्त एवं धर्मों की उत्पत्ति क्रम में इदम्प्रत्ययता (प्रतीत्यसमुत्पाद) के अज्ञान को मोह कहते हैं।

''तत्थ कतमो मोहो? दुक्खे अञ्जाणं, दुक्खसमुदये अञ्ञाणं, दुक्खनिरोध गामिनिया पटिपदाय अञ्ञाणं पुब्बन्ते अञ्ञाणं अपरन्ते अञ्ञाणं, पुब्बेन्तापरन्ते अञ्ञाणं, इदप्पच्चया परिच्चसमुप्पत्रेसु धम्मेसु अञ्ञाणं यं एवं रूपं अञ्ञाणं अदस्सनं अनभिसमयो अननुबोधो..... अविज्जा परियुधान, अविज्जा लंगी मो हो अकुसल मूलं अयं वुच्चति मोहो।

अकुशल मूल अकुशल कर्म पथ को उत्पन्न करते हैं जो काय, वाणी एवं मन के द्वारा होते हैं। जो दस प्रकार के होते हैं।

eu %

1. पाणातिपात	–	जीव हत्या
2. अदिन्नादानं	–	बिना दिये उस वस्तु को लेना
3. कामसुमिच्छाचारो	–	परस्त्री गमन
4. मुसावादो	–	असत्य वचन
5. पिसुणावाचा	–	चुगली करना
6. फरुसावाचा	–	कटुवचन बोलना
7. सम्फप्पलापो	–	व्यर्थ भाषण करना
8. अभिज्झा	–	दूसरे के वस्तु के प्रतिलोभ
9. व्यापादो	–	क्रोधित हो दूसरे सत्व के प्रति हिंसा
10. मिच्छादिट्ठी	–	असम्यक् दर्शन

इस दस अकुशल कर्म पथों में काय के माध्यम से होने वाले कर्म तीन है– पाणातिपात, अदिन्नादानं, कमिसुमिच्छाचारो। चार मुसावादो, पिसुणावाचा, फरुसावाचा, सम्फप्पलापो ये चारवाक् के द्वारा तथा शेष तीन अभिज्झा ब्यापादो, मिच्छादिट्टी मन के द्वारा होने वाले कर्म है।

विसुद्धिमग्ग में अकुशल मूल तथा अकुशल कर्म पथ को ''चर्या, एवं इर्यापथ में कहा गया है। ये छः चर्या इस प्रकार है।

1. राग चर्या, 2. द्वेष चर्या, 3. मोह चर्या, 4. श्रद्धा चर्या, 5. बुद्धिचर्या, 6. वितर्कचर्या

एत्थ चरियाति छः चरिया– राग चरिया, दोस चरिया, मोह चरिया, सद्धाचर्या, बुद्धिचर्या, वितक्क चरिया। विसु0 141

चर्या जो प्राप्त हो गया है उसे बचाकर रखने की इच्छा ही राग है।

राग काम सुख को खोजता है (तृष्णा ही राग है)

द्वेष चर्या यह सत्वों के प्रति परिवर्जन (अस्वीकार) के रूप में प्रवृत्त होता है।

मोहचर्या मूढ़िर विद्यानुकार असम्प्रख्यानरूपा

यह मोह प्रज्ञाचक्षु को अन्धा करने वाला धर्म है।

श्रद्धाचर्या त्रिरत्न, चार सत्य के प्रति चित्त प्रसाद का नाम श्रद्धा है।

श्रद्धाउप्रमाद प्रश्रब्धिरूपेक्षा हीरपत्रया।

मूलद्वयमहिंसा च वीर्य च कुसले सदा। (अ0को0भा0)

cf)p;k % प्रज्ञा के रूप में प्रवृत्त है।

ford % यह क्षुद्र परिकल्पनाएँ करने के कारण चञ्चल होता है।

वितक्केतीति वितक्को अभिनिरोपन लक्खणो।

जो आलम्बन के विषय में तर्क करता है, वितर्क करता है उसे वितर्क कहते हैं। आलम्बन में चित्त को (अभिनिरोपन) आरोपित करना इसका लक्षण है।

अकुशल विर्तक तीन है।

तयो अकुसला वितक्का : काम वितक्को, ब्यापाद वितक्को, विहिंसा वितक्को।

1. काम वितक्को : तथ्य कतमो काम वितक्को? काम परिसंयुत्तो तक्को वितक्को मिच्छासङ्कप्पो अयं वुच्चति काम वितक्को (विभङ्ग 117.4, पृ0 43)

काम राग से युक्त भी चित्त वितर्क का नाम कामवितर्क है।

यह काम वितर्क प्रज्ञा का विरोधी है, नाशकारक, निर्वाण की ओर न ले जाने वाला है। स्व और पर दोनों के लिए दुःखद है। यह दोनों को कुमार्ग की ओर ले जाने वाला है।

व्यापाद वितक्क : क्रुद्ध होकर दूसरे सत्त्व के प्रति हिंसा का भाव ही व्यापाद है।

ब्यापाद परिसंयुत्तो वितक्को ब्यापाद वितक्को। ब्यापाद वितक्को अधिये अमनापे सत्ते वा संङ्खारे वा कुज्झित्वा। ओलोकनकालतो पट्ठाय याव विनास। उप्पज्जति (सुमङ्गल विलासिनी), पृ0 232

विहिंसा वितक्क : अकारण, विना किसी हेतु के जीव हत्या को विहिंसा कहते है?

विहिंसा पठिसंयुतो वितक्को विहिंसावितक्को।

वितक्कमथितस्स जन्तुनो, तिब्बरागस्स सुमानु पस्सिनो

भिय्यो तृहापदद्रुति, एस खो दलहं करोतिबन्धनं। (धम्मपद)

lUnHkZ %

1. अभिधम्मत्थसङ्गहो– प्रो0 रामशङ्कर त्रिपाठी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, पृ0 25
2. बौद्धमनोविज्ञान– प्रो0 ब्रह्मदेव नारायण शर्मा, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, पृ0 43
3. अभिधर्म बिन्दु – प्रो0 हरिशंकर शुक्ल– काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, पृ0 12
4. विभज्यवाद – प्रो0 ब्रह्मदेव नारायण शर्मा– सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, पृ0 205
5. धम्मपद – डॉ0 भिक्षुधर्मरक्षित– मोतीलाल बनारसीदास, पृ0 1
6. बौद्धमनोविज्ञान और आधुनिक मनोविज्ञान– प्रो0 भागचन्द्र जैन, पृ0 7
7. Herbert V. Guenther, Philosophy and psychology in the Abhidharma, Motilal Banarasidas, Varanasi- Pg. 4
8. अट्ठसालिनी– पी0वी0 वापट– लक्ष्मन नारायण चापेकर, पूना, पृ0 3.539
9. अंगुत्तर निकाय– स्वामी द्वारिक दास, बौद्ध भारतीय प्रकाशन, वाराणसी, पृ0 7–10
10. दीघनिकाय–(iii) स्वामी द्वारिका दास शास्त्री, बौद्ध भारतीय प्रकाशन, वाराणसी, पृ0 170
11. खुद्दक निकाय –(iv), स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, बौद्ध भारतीय प्रकाशन, वाराणसी, पृ0 231
12. मज्झिम निकाय (Vol-I) स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, बौद्ध भारतीय प्रकाशन, वाराणसी, पृ0 63
13. नेत्तिप्रकरण, स्वामी द्वारिका दास शास्त्री, बौद्ध भारतीय प्रकाशन,
14. अभिधर्मकोश भाष्य– ''वसुबन्धु'' के0पी0 जायसवाल, पृ0 167
15. विसुद्धमग्ग– स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, बौद्ध भारतीय प्रकाशन, वाराणसी, पृ0 141

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

Hkkjr e Hkfe lajpuk dk lekt'kkL=h; v/;;u

lit ; Hkkjrh*

'kks/k lkjk'k % भारत में भूमि सम्बंध और भूमि संरचना के चरित्र के सम्बंध में विवाद है। भूमि सम्बंध और संरचना का अर्थ अधिकांश भूमि का नियंत्रण किसके पास है, यह भूमि किस रुप में उपयोग में लायी जाती है, इस भूमि के लाभ किसको मिलते हैं। एम एन श्रीनिवास और योगेन्द्र सिंह का मानना हैं कि ग्रामीण क्षेत्रों में भूमि का नियंत्रण राजनैतिक शक्ति को निर्धारित करता है, भूमि सम्बंध सम्पूर्ण समाज के चरित्र को तै करते हैं। माओवादी विचारधारा को मानने वाले विद्वान कुछ भूमि को सामंती मानते है,जबकि विप्लव दास गुप्ता, पी सी जोसी आदि का मनना है कि भारतीय कृषि अर्द्धसामंती है,अर्थात आधी संरचना सामंती है, आधी संरचना पूंजीवादी है। जबकि ऊषा पटनायक, शोषिल डिस्लवा जैसे विद्वान भारतीय कृषि को पूंजीवादी कृषि कहा हैं।उपरोक्त तीनों विशेषताएं भारतीय कृषि में मौजूद है। भूमि सुधार का तात्पर्य अन्यायपूर्ण कृषि सम्बंधों को बदलकर सामाजिक न्याय को लागू करना, कृषि उत्पादन को बढाना, कृषि का विकास करना, यदपि सरकार के द्वारा विचौलियों को समाप्त करने, जमींदारी उन्मूलन, महालवाडी एवं रैयतवाडी व्यवस्था के उन्मूलन का क्रांतिकारी प्रयास असफल हो गये । लेकिन इसके दूरगामी प्रभाव पडे, जिसने पूरे वर्ग संरचना को ही बदल डाला।

भारत में भूमि सम्बन्ध और भूमि संरचना के चरित्र के सम्बन्ध में विवाद है, भूमि सम्बन्ध और संरचना का अर्थ है अधिकांश भूमि का नियंत्रण किसके पास है, यह भूमि किस रूप में उपयोग में लायी जाती है, इस भूमि के लाभ किनको मिलते है, भूमि का नियंत्रण –एम0एन0 श्रीनिवास, योगेन्द्र सिंह आदि के अनुसार– ग्रामीण क्षेत्रों में राजनैतिक शक्ति को निर्धारित करता है, भूमि सम्बन्ध सम्पूर्ण समाज के चरित्र को तैय करते हैं। इसलिए भूमि सम्बन्धों का आकलन महत्वपूर्ण हैं। बामपंथी संगठन इस आकलन को सबसे अधिक महत्व देते हैं।

अनेक विद्वानों ने जैसे माओवादियों के समर्थक विद्वानों ने कहा भारत में भूमि सम्बन्ध सामंती हैं इसका अर्थ है।

1. जन्म और वंश के आधार पर भूमि का नियंत्रण किया जाता हैं।
2. भूमि के नियंत्रण ग्रामीण क्षेत्र के सभी आर्थिक श्रोतों पर हावी होते हैं।
3. जमीन पर नियंत्रण के कारण सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का नियंत्रण करते हैं।
4. सामंती सम्बन्ध में भूमि का लाभ देकर कृषि कार्य करवाया जाता है।

अनेक विद्वान जैसे विप्लव दास गुप्ता, पी0सी0 जोशी आदि मानते हैं कि भारतीय कृषि अर्द्धसामंती हैं अर्थात् आधि सामंती संरचना है और आधी संरचना पूंजीवादी हैं। कृषि कार्य में पारम्पारिक तकनीकों और वस्तुओं का भी उपयोग होता हैं एवं कुछ आधुनिक तकनीक भी प्रयोग में लाये जाते हैं। मजदूरों को मजदूरी देकर कृषि कार्य में लगवाया जाता है। ये ऐसे कार्य हैं जिनमें भूस्वामी भी लगता हैं, कृषि के कार्य में लाभ के लिए निवेष भी किया जाता है और कुछ पारम्परिक कारणों से भी कार्य किया जाता है।

ऊषा पटनायक, शोशिल डिस्लवा जैसे विद्वान ये मानते हैं भारत में प्रभावी कृषि सम्बन्ध पूंजीवाद से हैं, जिसमें आधुनिक प्रौद्योगिकी का प्रयोग होता हैं, आधुनिक उपकरणों का प्रयोग होता है। इसके साथ ही साथ नये बीज और आर्थिक संगठन के नये उपाय किये जाते हैं।

*असिस्टेंट प्रोफेसर, समाजशास्त्र, राजकीय महाविद्यालय, जक्खिनी, वाराणसी

इन अध्ययनों के आकलन के आधार पर स्पष्ट होता है कि भारत में भूमि सम्बन्ध अलग–अलग प्रकार के हैं। हरियाण, पंजाब, उत्तर प्रदेश और महाराष्ट्र में भूमि सम्बन्ध पूँजीवादी हो गये हैं। वे कृषि की जाँच के लिए, कृषि कार्य के संगठन के लिए आधुनिक सिद्धान्तों का प्रयोग करते हैं नये बीज, आधुनिकवाद का प्रयोग करते असम में बंगाल के कुछ क्षेत्र में बिहार में अर्द्धसामंती कृषि है। ऐसे क्षेत्रों में जन्म, जाति, वंश के कारण भी महत्वपूर्ण हैं। साथ ही साथ इसमें आधुनिक तकनीकों को अपनाने की प्रक्रिया इसके विपरीत उड़ीसा के अधिकतर अंचलों में बिहार के अनेक–अनेक अंचल में, उत्तर प्रदेश और राजस्थान के अंचलों में सामंती प्रणाली अधिक प्रचलित है।

भारत में भूमि सम्बन्ध बहुत असमान रहे हैं, अंग्रेजों ने भी अपने जमाने में इसके सुधार के प्रयास किये आजादी के पहले ही कांग्रेस पार्टी ने भूमि सुधार समिति का गठन किया पी0सी0 जोशी के अनुसार घोषित रूप से भूमि सुधार का उद्देश्य था, अन्यायपूर्ण कृषि सम्बन्धों को बदलकर सामाजिक न्याय को लागू करना, कृषि उत्पादन को बढ़ाना, कृषि का विकास करना, जोशी ने अपनी पुस्तक Gand Reforms in India में लिखा कि– भूमि सुधार का वास्तविक उद्देश्य था अर्द्धसामंती लक्षणों और तत्वों को दूर करना, इसके साथ ही साथ कृषि उत्पादन बढ़ाना और कृषि की अधिसंरचना को विकसित करना उन्होंने कहा कि पश्चिम के देश एवं विश्व बैंक आदि ने भी यह स्वीकार किया कि कृषि सुधार से ग्रामीण असंतोष दूर होगा।

भूमि सुधार का पहला उपाय बिचौलियों को दूर करना था जमीदारी उन्मूलन महालवाड़ी उन्मूलन रैयतवाड़ी उन्मूलन के उपाय किये गये। यह कहा गया इन उपायों के द्वारा भूमिहीन लोगों को भूमि दी जायेगी इसके अन्तर्गत आवश्यकता से अधिक जमीन रखने वाले व्यक्तियों की भूमि को जब्त करना था। ए0एम0 खुसरों ने कहा– ''अपने आप में यह उपाय बहुत क्रांतिकारी थे परन्तु इसे लागू नहीं किया जा सकता।''

अन्य उपायों में रैयतों को भूमि प्रदान करना था पटाईदारी को उपज का अधिक हिस्सा देना था भूमि हथबंधी अथवा एक सीमा तक नियंत्रित करना था और चकबन्दी के उपाय करने थे भूमि राज्य का विषय है इसलिए राज्यों ने अलग–अलग समयों में इसे लागू किया। अधिकांश मामालें में भूमि सुधार के उपाय असफल हो गये इसे अनेक कारण थे।

1. राजनैतिक अभिनय में इच्छा शक्ति नही थी वास्तव में ग्रामीण भूस्वामी राजनैतिक अभिजन के समर्थक थे वे उनको नुकसान नहीं पहँचाना चाहते थे।
2. पी0सी0 जोशी के अनुसार भारत की न्याय व्यवस्था और इससे जुड़े भूमि सुधार के कानून को लागू करने में बाधक हो गये।
3. जोशी के अनुसार सम्पूर्ण भारत में इन उपायों को सरकार कर्मचारियों को लागू करना था इससे राजस्व विभाग के कर्मचारी जुड़े हुए थे। परन्तु भूमि की व्यवस्था से इनका निहित स्वार्थ जुड़ा था इसीलिए इन्होंने इसे लागू नहीं किया।
4. एम0ए0 खुसरों के अनुसार इस कानून में ही बहुत अधिक खामियाँ थी जो राजनैतिक लोगों के उद्देश्यों को प्रकट करती थी इसलिए ये कानून लागू नहीं हुए।

इसके बावजूद भूमि सुधार का प्रभाव हुआ।

1. दक्षिण भारत और पश्चिम भारत में भूमि सम्बन्ध बहुत अंशों में बदल गये।
2. पिछड़ी जातियों का उभार अनेक कारणों से हुआ प्रधान हरिशंकर प्रसाद के अनुसार भूमि सुधार इसका एक कारण था।
3. भारत में हरितक्रांति के अनेक कारणों में भूमि सुधार भी एक कारण थे।
4. इसके कारण ग्रामीण क्षेत्रों में कई संरचना बदल गयी।
5. विश्व बैंक के परामर्शदाता यूल्फ लैंडीजिस्की ने कहा भारत में यदि भूमि सुधार पूरी तरह लागू हो जाते तब भारत में राजनैतिक आन्दोलन की सम्भावना समाप्त हो जाती।

भारत के कृषि क्षेत्र में तनाव लम्बे समय से व्याप्त रहे हैं। अंग्रेजी राज के पहले भारतीय समाज की जड़ता अनेक कारणों से भूमि सम्बन्धों की जड़ता में निहत थे। प्रौद्योगिकी बहुत ही पिछड़ी हुई थी पूरी सामाजिक संरचना भूमि से जुड़ी थी और जजमानी जैसे सम्बन्ध श्रम विभाजन के जाति पर आधारित थे धार्मिक कर्मकाण्ड भूमि सम्बन्धों को पकड़े हुए थे अंग्रेजी राज में अंग्रेजों के द्वारा लगान को बहुत अधिक बढ़ा दिये जाने से व्यापक रूप से कृषि तनाव उभर गया आजादी के पहले अधिकतर आन्दोलन लगान को कम करने के लिए बटाईदारों की हिस्से के लिए रैयतों की सुविधा के लिए किये गये विशेष रूप से वामपंथी संगठनों ने किसान आन्दोलन को संगठित किया।

हैदराबाद राज्य के तेलंगाना क्षेत्र में कम्यूनिष्ठों ने किसानों के माध्यम से सशस्त्र संघर्ष से एक स्वतंत्र देश बनाना चाहा भारत सरकार ने सेना के हस्तक्षेप के द्वारा उस आन्दोलन को भी समाप्त किया और निजाम की इच्छाओं को भी नियंत्रित किया। बंगाल में तेभागा का आन्दोलन चला बटाईदारों को उपज का दो हिस्सा देने की माँग हुई, तत्कालीन संयुक्त प्रांत के अनेक हिस्सों मे निजाइबोल आन्दोलन हुआ जिसमें सरकारी जमीन के नियंत्रण का प्रयास किया गया। यह आन्दोलन तो समाप्त हो गये परन्तु उन क्षेत्रों में कृषि असंतोष और सामाजिक आन्दोलन की चिन्गारी बची रही।

1960 के दस्तक में कृषि क्षेत्र में बामपंथी उग्रवादियों का उदय हुआ आरम्भ में ये सशस्त्र संघर्ष के द्वारा क्रांती करना चाहते थे, इनका प्रभाव क्षेत्र बहुत सीमित था, 1968 में भारत सरकार के एक अध्ययन के अनुसार ये बिहार और आन्ध्र प्रदेश में सबसे अधिक प्रभावी थे परन्तु धीरे–धीरे इन्होंने सामाजिक मुद्दों को शामिल किया, जाति विभाजनों के आधार पर अपने संगठन को बनाया, ये आपस में एक जुट होने लगे। वर्तमान भारत में बामपंथी आबादी किसान आन्दोलन से सबसे आधिक जुड़े हैं यह आन्दोलन राजनैतिक सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक है। वर्तमान भारत में 14 राज्यों में ये प्रभावशाली हैं, सम्भवता आन्ध्र प्रदेश, झारखण्ड, उड़ीसा, छत्तीसगढ़ और बिहार में ये सबसे अधिक प्रभावशाली हैं वैकल्पिक सत्ता और वैकल्पिक संरचना की वकालत करते हैं।

I UnHk%

1. ग्रामीण समाजशास्त्र–लवानिया जैन
2. दैनिक जागरण 15.3.2015
3. स्वयं के विचार

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

jhfrdkyhu uhfr dfork ,oa nksgkl

iYyoh feJk*

हिन्दी साहित्य–इतिहास में रीतिकाल की पहचान प्रायः दरबारी साहित्य या श्रृंगारिक साहित्य के आधार पर की जाती रही है। जबकि इस दौर में दरबारी–श्रृंगारिक साहित्य के अलावा सामान्य मनुष्य के दैनंदिन जीवन से सम्बन्धित रचनायें भी प्राप्त होती हैं। किन्तु इस दौर के श्रृंगारिक साहित्य को मुख्य धारा के साहित्य के रूप में मान्यता दी गयी तथा इसकी व्याख्या सामन्ती मनोवृत्ति से प्रेरित काव्य के रूप में की गई। इसी आधार पर इस कालखण्ड का नामकरण एवं मूल्यांकन किया गया।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि सर्वप्रथम ग्रियर्सन ने रीतिकालीन साहित्य को पतनशील साहित्य कहा। शिव सिंह सेंगर द्वारा लिए गए 'शिव सिंह सरोज' में रीतिकाल के बारे में इस प्रकार की नकारात्मक टिप्पणी नहीं मिलती। भले ही ग्रियर्सन ने विक्टोरियन नैतिकता के प्रभाव में आकर रीतिकाल का नकारात्मक मूल्यांकन किया; किन्तु ग्रियर्सन द्वारा किए गये मूल्यांकन का प्रभाव परवर्ती इतिहासकारों एवं आलोचकों पर भी दिखाई पड़ता है।

रीतिकाल के तीन प्रमुख काव्य विषय–श्रृंगार, वीर एवं नीति है। तीनों ही काव्य विषयों की जड़ें काफी गहरी एवं पुरानी हैं। भारतीय साहित्य की परम्परा का अवलोकन करने पर पता चलता है कि तीनों ही काव्य विषयों पर रचनायें होती रही हैं। रीतिकाल में श्रृंगार की धारा अनायास ही नहीं आ गई है। समाज और संस्कृति की समय सापेक्ष अपनी अलग विशेषताएँ होती हैं। समय बदलने के साथ ही सोचने, समझने और उसे अभिव्यक्त करने का तरीका भी अलग हो जाता है। रीतिकाल की विशेषता यह है कि इस दौर का श्रृंगारिक काव्य विशुद्ध लौकिक काव्य है। रीतिकालीन वीरकाव्य भी पौराणिकता की बजाय ऐतिहासिकता तथा नीतिकाव्य भी धार्मिकता की बजाय सांसारिकता के अधिक निकट आ जाता है। इस प्रकार, रीतिकाल की सभी प्रमुख प्रवृत्तियाँ धार्मिकता से शुद्ध सांसारिकता की ओर प्रस्थान करती हैं।

चूंकि मेरा लेख रीतिकालीन नीतिकविता एवं देवीदास पर केन्द्रित है अतः मैं इस काल में लिखे गए नीतिकाव्य एवं देवीदास के कवित्तों के आधार पर अपनी चर्चा का विस्तार करूंगी।

नीतिकाव्य की परम्परा की शुरूआत संस्कृत साहित्य से होती है। पालि, प्राकृत, अपभ्रंश से लेकर हिन्दी साहित्य के आदिकाल तक के साहित्य में हमें बिखरे हुए नीतिकथन प्राप्त होते हैं। भक्तिकाल में कबीर, तुलसी, रहीम के यहाँ नीतिकथन काफी मात्रा में प्राप्त होते हैं। रीतिकालीन, नीतिपरक रचनायें भक्तिकालीन रचनाओं (कबीर, तुलसी, रहीम के नीतिपरक दोहे) से निकलकर विकसित होती हैं।

रहीम के बाद नीतिकाव्य की परम्परा का स्वतंत्र विकास रीतिकाल में दिखता है। वृन्द, गिरिधर कविराज्य, दीनदयाल गिरि (लगभग 5–6 कवियों) की रचनाएँ रीतिकालीन नीतिकाव्य के अन्तर्गत परिगणित होती हैं। 'नागरी प्रचारिणी सभा' काशी द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास' के सप्तम् भाग में लगभग छत्तीस नीति विषयक कवियों एवं सौ से अधिक नीतिपरक रचनाओं की सूची प्राप्त होती है। रीतिकालीन नीति एवं वीर काव्य, मात्रा की दृष्टि से श्रृंगारिक काव्य से कम नहीं है। लेकिन इस काल का मूल्यांकन श्रृंगारकाल के आधार पर ही किया जाता रहा है।

नीतिकाव्य धारा के अन्तर्गत कई महत्वपूर्ण कवि हुए हैं; जिनका रीति की प्रवृत्तियों से कोई लेना–देना नहीं है और न ही श्रृंगार की सजावटी वृत्ति से कोई सम्पर्क ही है। उनकी रचनाएँ विशुद्ध

*शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी–221005

सामाजिक सन्दर्भों की रचनाएँ हैं और विशेषता यह है कि काव्यशिल्प की दृष्टि से भी वे उतनी ही समुन्नत हैं जितनी की उस काल की कोई भी श्रेष्ठ से श्रेष्ठ रचना है।

देवीदास इस काल के महत्वपूर्ण कवि हैं, किन्तु उनके संबंध में हिन्दी साहित्य के आरंभिक इतिहासकार कोई सूचना नहीं देते। धीरेन्द्र वर्मा द्वारा सम्पादित 'हिन्दी साहित्य' के द्वितीय खंड के ग्यारहवें अध्याय 'नीति एवं जीवनी साहित्य' के अन्तर्गत एक नीतिकाव्यकार के रूप में उनके नाम का उल्लेख भर कर दिया गया है। उनके रचनाकाल के सम्बन्ध में एक टिप्पणी है– ''इनमें देवीदास का रचनाकाल 16वीं सदी का पूर्वाद्ध है।'' उनकी रचनाओं के संबंध में कोई जानकारी नहीं दी गई है। (1959:461)

इनका कुछ विस्तृत विवरण पं0 रामनरेश त्रिपाठी ने अनुमान के आधार पर कविता कौमुदी में दिया था। जिसके आधार पर भोलानाथ तिवारी ने 'हिन्दी साहित्य कोश' में देवीदास को राजस्थान के प्रसिद्ध नीतिकार के रूप में स्वीकार किया है तथा इनके ग्रंथ का नाम 'देवीदास रा कवित्त' बताया है।

उल्लेखनीय है कि डॉ0 महेन्द्रनाथ दूबे ने देवीदास के कवित्तों का सम्पादन देवीदास के 'राजनीति के कवित्त' नाम से किया है। उन्होंने विभिन्न हस्तलिखित प्रतियों का मिलान करके वैज्ञानिक ढंग से देवीदास के राजनीति से सम्बन्धित कवित्तों का पाठ तैयार किया है। इस पुस्तक में उन्होंने देवीदास को रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियों का समकालीन माना है। ''श्री देवीदास का जीवनकाल, जो सन् 1676 से 1731 ईस्वी तक अनुमान्य है, वह पूरा का पूरा रीतिकाल या श्रृंगारकाल की ही सीमा में पड़ता है। (1999:14)

'राजनीति के कवित्त' को पढ़कर सर्वप्रथम जो तथ्य ज्ञात होता है वह यह कि देवीदास कोई नौसिखुआ कवि नहीं बल्कि अत्यंत मंजा हुआ विचारवान चिंतक कवि था। देवीदास न तो भक्त था, न धर्मोपदेशक न विलासप्रिय श्रृंगारी और न ही चाटुकार दरबारी। उनकी रचना तत्कालीन राजदरबारों, कवियों एवं सामान्य जनमानस के बहुत ही स्पष्ट चित्र अंकित करती है। समाज में आम आदमी को धर्मभीरूता, भाग्यवादिता, प्राकृतिक न्याय की आशा और सही गलत के पहचान की अज्ञानता के कारण बहुत सी आपदाओं का सामना करना पड़ता है। देवीदास ऐसी ही कुछ आपदाओं से बचने के मार्ग सुझाते हैं, जिसे उन्होंने 'राजनीति के कवित्त' नाम दिया है। कवि श्री देवीदास ने समसामयिक समाज में जो देखा था उसके अनेक विवरण उनकी इस रचना में उपलब्ध हैं। राजनीति की चर्चा के कारण सबसे पहली दृष्टि तो राजाओं, रजवाड़ों की स्थिति की ओर ही जाती है। जिसके बारे में उनके विचार बहुत ही स्पष्ट हैं–

''मूढ़ नृप जो जा प्रजाहि मारि खायौ चाहै।
राजन कूँ पारिनौ प्रजा अजा समान है।

प्रजा बेचारी तो एक सीधी सादी बकरी के समान है। अगर उसे मारकर खाते रहने में ही राजा की दिलचस्पी है तो देवीदास के अनुसार ऐसा राजा तो महामूर्ख है।

रीतिकाल में राजदरबारों में कविता मनोरंजन की वस्तु थी। राजा, महाराजा, सामंत आदि कवियों को दरबार में बुलाकर कविताओं का दंगल सा रचाते थे। एक दूसरे की कविताई को नीचा दिखा सकने वाली कविता को सुनाने के लिये ललकारते रहते थे।

''लेहु पट पढ़ौ जु पढ़ौ जु पै लड़ावै भूप।''

देवीदास ऐसे लड़ाने वाले राजाओं के दरबार में कविता सुनाने की अपेक्षा अपनी जीभ जकड़े रहना ही अधिक उचित समझते थे। केवल कौवे जैसी प्रवृत्ति वाले कवि ही कांव–कांव करते ऐसे दरबारों में आसन जमाते हैं स्वाभिमानी कवि को भले ही सम्मान न मिले किन्तु वह ऐसे दरबारों में कविता नहीं पढ़ते।

''कहा भयो काहू जौ कियौ न सनमान कोऊ
पढ़ौ या कहै न तौ रहै जे जीभ जकरे।
काक से कुकवि हैं कुजाइ गहि बेठै तो वे
कानन सँताइबे कुँ काँइ काँइ न करे।।''

वे राजाओं राजकुमारों की आन्तरिक स्थिति से भली–भांति परिचित थे। इनकी धन सम्पत्ति, शान–शौकत को वे ऊपर से चढ़ाया गया मुलम्मा या कलई ही समझते हैं।

राजा राव उमराव शाहजादे
देशपति महीपति दौलत चढ़ाई है
देवीदास ऐते सब दुखहि के भाजन हैं
ऊपर ते सुखकी नैकु कलई चढ़ाई है।

देवीदास ने उस जमाने के राजाओं की अनीति की कटु आलोचना की है। प्रजा के हित की चिंता छोड़ सबसे असंपृक्त होकर, यथार्थ की कठिनाइयों से आंखे मूंदे, गाव तकिया पर सिर रखे बस अपने सुख के संसार में डूबे रहते हैं।

''तजै राजनीति करै गाजत अनीति।''
''उँचौ मुँह कियै गाउ तकिया सौं टिकि बैठो
सबसूँ अलेप बिना नेह मुँह रूखनो।''

ऐसे तेज–त्यागहीन राजा को वे प्रजा का पालनहार मानने की बजाय महासंकटकारी ही मानते हैं।

''देवीदास तेग त्यागहीन सब भाँत बचौ
कहिये बिचार यह ठाकुर कि दूषनौ।

उस दौर में राजदरबारों में कवियों का जमघट लगा रहता था। कविगण अपने धन, यश, मान, प्रतिष्ठान के लिये राजा–महाराजाओं के मनोनुकूल ही कविता करते थे। देवीदास असाधारण प्रतिभा के साधारण कवि थे। वह न तो धनवान थे और न ही पहलवान, सुरक्षात्मक साधनों से लैस भी नहीं थे। सबसे अधिक साहस की बात तो यह है कि एक राजा के पड़ोस में रहने पर भी उन्होंने अपने कवि कर्म से कोई समझौता नहीं किया। वे बिल्कुल भोले–भाले व्यक्ति थे, फिर भी उस जमाने के प्रभावशाली देशी राजाओं को भी डंके की चोट पर कह सकते थे–

''नाहिन अनीति के सहनवार हम तेरी
पौर के रहनवार बाभन है, भोरे हैं।''

देवीदास ने अपनी प्रतिभा का कुछ नया ही अंदाज विकसित किया था। अपनी इस कृति में, वे जनता को कठिनाइयों से बचाने और सुखी जीवन जीने के उपाय बताने का बराबर कोशिश करते हैं।

lUnHkZ %

1. हिन्दी साहित्य, धीरेन्द्र वर्मा (सं0), द्वितीय खण्ड, भारतीय हिन्दी परिषद्।
2. हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास (सप्तम भाग), डॉ0 भगीरथ मिश्र, सं0 2099 वि0 नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
3. दूबे, डॉ0 महेन्द्रनाथ (सं0), कवि श्री देवीदास रचित राजनीति के कवित्त, प्रथम संस्करण, 1999, वाणी प्रकाशन क0मु0 हिन्दी तथा भाषा विद्यापीठ, आगरा।
4. 'रसिकेश' डॉ0 रामसरूप शास्त्री, हिन्दी में नीतिकाव्य का विकास (सं0 1900 वि0तक), 1962, दिल्ली पुस्तक सदन।
5. तिवारी, भोलानाथ, हिन्दी नीतिकाव्य, प्रथम संस्करण, 1958, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा।

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

vkfndky ls Hkkjrh; lekt esa foKkiu ds cnyrs Lo:i % ,d O;k[;k

vt; idk'k tk;loky*

मानवीय विकास व सभ्यता के दृष्टिकोण से देखा जाय तो व्यापार और उद्योग के क्षेत्र में जहाँ विकास हुआ वहीं प्रचार की आर्थिक विकास सदैव से ही परिवर्तनशील रहा है। अत्यन्त प्राचीन काल में जब मनुष्य जंगली अवस्था में था उसने एक नियमित तथा सुखी जीवन व्यतीत करने के लिए कृषि उद्योग लगाए ताकि अन्य छोटे स्तर के उद्योगों का आश्रय लिया जा सके। यद्यपि विकास व सभ्यता का यह प्रथम चरण था परन्तु यह अवश्य मानना है, कि मानव जीवन के विकास के दृष्टिकोण से यह एक सराहनीय कदम था। यह युग व्यक्तिवाद का युग था। धीरे–धीरे मनुष्य में नई चेतना तथा जागृति उत्पन्न हुई वह एकाकी जीवन को त्याग कर सामाजिक बना जिस कारण सहकारिता और सामुदायिकता का विकास हुआ। यद्यपि उत्पादन की प्रणालियों में भी परिवर्तन किये गये तथा प्रत्यक्ष उत्पादन के स्थान पर परोक्ष उत्पादन की रीति को स्वीकार कर लिया गया, परन्तु इतना होने के उपरान्त भी बातारों का विधिवत तरीके से विकास नहीं हो पाया था। व्यापार अभी अविकसित में था। इन सब बातों पर गौर किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि व्यापार और उद्योग के साथ ही विज्ञापन की आवश्यकता पड़ी और किसी–न–किसी रूप में प्रचार को व्यापार के प्रमुख उद्देश्य के रूप में महत्व दिया गया।

जैसा कि माना जाता है विज्ञापन विभिन्न सामाजिक व सांस्कृतिक पहलुओं को प्रभावित करता है। यह लोगों के जीवन स्तर, जीवन शैली, पसन्द, रूचि, प्राथमिकता, सांस्कृतिक मूल्यों आदि को प्रभावित करता है। विज्ञापन का शाब्दिक अर्थ है सार्वजनिक रूप से घोषणा करना, जानकारी देना, या सूचना देना। विज्ञापन आधुनिक सभ्यता की तरह काफी पुराना है । पहले विज्ञापन का अर्थ कोई घोषणा करना या सूचना देना था। प्राचीन ग्रीक में विज्ञापन को सूचनाएँ प्रेषित करने के लिए प्रयोग किया जाता था। इसी प्रकार भारत में भी विज्ञापन विभिन्न सभ्यताओं के साथ पुष्पित व पल्लवित हुई।

सिन्धु सभ्यता से ही प्रचार के लिए दूसरे रूप में विज्ञापन का प्रयोग होता रहा। ईसा से लगभग ढाई–तीन हजार वर्ष पूर्व विद्यमान सिंघु घाटी सभ्यता के हड़प्पा और मोहनजोदड़ो से प्राप्त अवशेषों द्वारा यह ज्ञात होता है कि भारत में विज्ञापन का प्रयोग होता था। सिन्धु नगरों से प्राप्त हजारों मोहरों पर मानव पशु–पक्षी, वृक्ष आदि की आकृतियाँ बनी है। प्रायः इन मुहरों पर जो लिपि में चित्राक्षर लेख है उन्हें अभी तक पढ़ा नहीं गया है। विद्वानों के अनुमान के अनुसार इन लेखों में व्यक्तियों–व्यापारियों अथवा देवताओं के नाम हैं। इन मोहरों के अकन बेबीलोनिया से प्राप्त मोहरों से मिलते हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि भारत और बेबीलोनिया के मध्य व्यापार होता था। अर्थात् यह कहा जा सकता है कि सिन्धु सभ्यता के समय लिपि विद्यमान थी और जिसके माध्यम से लोग विचारों का आदान–प्रदान करते थे जिसके आधार पर यह माना जाता है कि लिपि का उपयोग व्यापारिक कार्य हेतु किया जाता था। उस प्रकार उत्पादन के विक्रय के लिए इस प्रकार के लिपि और मोहरों का प्रयोग किया जाता था। इस लिपि को संचार और प्रचार का माध्यम माना गया होगा।

''सैन्धव सभ्यता के लोग वाणिज्य व्यापार में विश्व के अन्य समकालीन सभ्यताओं से अधिक उन्नतशील थे। लेन–देन में वस्तु–विनियम प्रणाली प्रचलित थी। निर्मित वस्तुओं तथा अनाज का निर्यात

*शोध–छात्र, व्यावहारिक कला विभाग, दृश्यकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

तथा धातुओं का आयात होता था। मेसोपोटामिया में हड़प्पा की अनेक मुद्राएँ मिली हैं जिनसे प्रतीत होता है कि वहाँ से व्यापारिक सम्बन्ध था। सिन्धु सभ्यता के व्यापार के बारे में इतिहासकार गार्डन व सामग्रियाँ हजला–फरात के बाजारों में बिकती थीं। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि अन्तर्देशीय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उन्नतावस्था में था। वस्तुतः सैंधव सभ्यता एक व्यापार प्रधान सभ्यता थी।"[1]

वैदिक सभ्यता के लोग भी व्यापाार और उद्योग–धन्धों में निपुण थे। ऋग्वेद में व्यापारी को वणिक कहा गया है विभिन्न उद्योग–धन्धों द्वारा उत्पादित वस्तुओं की बिक्री चुर या ग्राम में होती थी। यह अन्तर्देशीय व्यापार बेले–गाड़ियों द्वारा होता था और व्यापार वस्तु–विनिमय द्वारा होता था। ऋग्वेद में कहीं–कहीं सामुद्रिक व्यापार का भी उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में यह उल्लेख है कि पणि (व्यापारी) लोग अधिक धन–अर्जन के निमित्त सामान से लदे अपने जहाजों को दूर–दूर तक ले जाते थे। संभवतः वे बेबीलोन से व्यापार करते थे।[2]

महाकाव्यों से वाणिज्य के विकास क्रम को सूचना मिलती है। रामायण में एक स्थल पर राम ने भरत को कृषि गोरक्षा और वाणिज्य की हित रक्षा के लिए सलाह दी है। महाभारत में भी कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य को लौकिक जीवन का आधार स्वीकार किया गया है। रामायणकालीन जनपद के वणिक व्यापार के लिए दूर–दूर तक जाते थे। उस समय अनेकानेक वस्तुओं का उत्पादन होता था तथा उनके व्यापार के लिए व्यापारी दूर–दूर के बाजारों में जाकर अपनी वस्तुओं को बेचता था।

अर्थात् यह कहा जा सकता है कि जब व्यापार होता था तो किसी–न–किसी रूप में उत्पादनों का प्रचार भी किया जाता था।

बौद्ध धर्मावलम्बी सम्राट अशोक ने धर्म के प्रचार के लिए अनेक शिला लेखों का निर्माण कराया जिसके ऊपरी हिस्से पर पशुओं के आकार नीचे ब्रह्मी लिपि में धर्म लेख उत्कीर्ण होते थे। इस धर्मलेख का एक प्रकार का विज्ञापन कहा जा सकता है। वर्तमान में विज्ञापनों में जिन शब्दों और चित्रों का प्रयोग किया जाता है निश्चय ही उनका जन्म लिपि और चित्रों में हुआ है।

सिन्धु सभ्यता की लिपि चित्र लिपि थी जिसमें छः सौ से अधिक चित्र अक्षर तथा आठ मूल अक्षर है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्राचीन लिपियों से अनेक लिपियों का विकास हुआ और धीरे–धीरे सभ्यताओं के विकास के साथ–साथ अक्षर और अक्षरों के मेल से वाक्य बनने लगे अशोक के शिलालेखों को हम आधुनिक पोस्टर के सदृश मान सकते है। उस समय आम जनता की भाषा पालि थी। भाषागत अल्पसंख्यकों के लिए उसने खरोष्ठी और यूनानी–लिपियों के प्रयोग की भी सुविधा दी। अशोक अपने धर्म–प्रचार द्वारा तत्कालीन धार्मिक संकीर्णताओं में ग्रस्त समाज को सुधारवादी विचार के अन्तर्गत मान्यता मिली। इस प्रकार विज्ञापन के तरीके में नवीन विचारों के उत्पत्ति का आरम्भ हुआ।

जैसे चित्रों द्वारा किसी देश की सभ्यता के बारे में पता चलता है उसी प्रकार विज्ञापनों द्वारा भी यह ज्ञात होता है कि उस समय की सभ्यता और संस्कृति किस प्रकार की थी। क्योंकि समय–समय पर एक विकासक्रम के अनुसार सभ्यताएँ बदलती रही हैं।

मिट्टी का पात्र मिला है। इन दोनों पर जहाज का जो चित्र उत्कीर्ण है वह क्रीट, मिस्त्र और सुमेर के जहाजों से काफी मिलता–जुलता है। एक चित्र में मस्तूल और उसे सहारा वाले शहतीर को दिखाया गया है। इस चित्र में एक आदमी को पतवार चलाते हुए भी प्रदर्शित किया गया है।

पिछले कुछ दशकों में हड़प्पा काल और उत्तर हड़प्पा काल के एक दर्जन से अधिक बंदरगाहों का पता लगाया जा चुका है। अवरा, लखाबावल, प्रभास (सोमनाथ) और मेघम जैसे उत्तर काल के बंदरगाहों का तो हाल ही के वर्षों में की गई खुदाई से पता चलता है। इस प्रकार प्रामाणिक पुरातात्त्विक अवशेषों के अनुसार भारत में जहाजरानी की शुरूआत अब से कोई 5000 साल पहले होना निश्चित सा लगता है। जहाज निर्माण की कला, समुद्री अभियंत्रण और नौकायान के क्षेत्र में विभिन्न प्रयोगों के बाद इस अवस्था तक पहुँचने में भी कम से कम एक हजार वर्ष अवश्य ही लगे होंगे।

कुछ मशहूर व्यापारियों और उन विदेशी यात्रियों को, जो अक्सर अपने व्यापार के लिए इस देश में आते थे, नौकाध्यक्ष बिना किसी विघ्न– बाधा के उतरने देता था, लेकिन जिनके बारे में औरत के भगाने

का संदेह होता था, डाकू घबराए हुए आदमी, छद्म वेश में यात्रा करने वाले नये–नये संन्यासी, बीमारी का बहाना करने वाले, बिना खबर दिए कीमती माल ले जाने वाले, छिपाकर विष ले जाने वाले तथा बिना पारपत्र के यात्रा करने वाले गिरतार करवा दिए जाते थे। बिना आज्ञा के घाट पर उतरना अपराध समझा जाता था और उसके लिए दण्ड की व्यवस्था थी।

''भारत में बने स्तूप, स्तम्भ, भवन किले, मीनार, सब भारत की समृद्ध कला का यशोगान करते हैं। वात्स्यायन ने कामसूत्र नामक अपने ग्रंथ में जिन चौंसठ कलाओं की गणना की थी उसमें चित्रकला का भी स्थान है। अजन्ता–एलोरा की गुफाएँ हो या खजुराहो और कोणार्क के मन्दिर, सब धर्म और कला के केन्द्र हैं और उनका विज्ञापन करते हैं। आज विज्ञानों में जिन शब्दों और चित्रों का प्रयोग होता है, निश्चय ही उनका जन्म आदि लिपि और आदि चित्रों में निहित है।''[3]

मानवीय सभ्यता विश्व में सबसे अधिक परिवर्तित विषय रहा है, समाज सभ्यता तथा विश्व के निर्माण और पतन में मनुष्य की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। मनुष्य ने समय–समय पर वांछित उद्देश्यों से प्रेरित होकर परिवर्तन हितार्थ सृष्टि और समाज के बदलते तथा उसमें सुधारात्मक प्रवृत्तियों कारण यह है कि मनुष्य सदैव से ही परिवर्तन पसन्द करने वाला प्राणी रहा है। प्राचनी काल से लेकर आधुनिक युग तक मनुष्य ने विकास हेतु अनेक क्रान्तिकारी कदम उठाये। समय–समय पर अनेक नवीन नीतियों तथा विधियों का प्रयोग किया गया जिनका उद्देश्य आर्थिक विकास को प्राप्त करना था।[4]

प्रत्येक नई विचारधारा को प्रचलित एवं लोकप्रिय बनाने के लिए प्रचार व प्रोपोगेण्डा करना पड़ता है। लोगों को उन नई बातों से अवगत कराया जाता है ताकि वे उन्हे पूर्णतया समझ सके और उनके अनुसार आचार कर सकें। अल्प विकसित देशों में अनपढ़ रूढ़िवादी तथा अन्धविश्वास जनता किसी भी प्रकार के क्रान्तिकारी परिवर्तन को अपनाने के लिए तैयार नहीं होती। प्रचीन व प्रसार जहाँ जन सहयोग को बढ़ावा देता है वहाँ उसके साथ– ही– साथ जन विरोध को भी कम करता है। इस प्रकार यह आभास होता है कि विज्ञापन का प्रमुख आधार किसी देश की सभ्यता होता है।

fu"d"kl % विज्ञापन संस्कृति का दर्पण है और एक सामाजिक संस्था है, जो जनसाधारण को ज्ञान एवं शिक्षा प्रदान करता है। इतना ही नहीं, विज्ञापन नागरिकों को समाज के प्रति उनकी जिम्मेदारियों के बारे में स्मरण कराता है। विश्व के अनेक सभ्यताओं में प्रचार के द्वारा अपने धर्म, दर्शन आदि को विश्व में फैलाया।

lUnHkZ %

1. अशोक महाजन विज्ञापन–तृतीय संस्करण–2004 हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, पृष्ठः 20
2. कोलेश्वर राय प्राचनी भारत (प्रारम्भिक काल से 1206 ई0) पंचम संस्करण, किताब महल ऐजेन्सीज, इलाहाबाद। पृष्ठ 45
3. आर0 एस0 शर्मा एन्शियेन्ट इण्डिया पृष्ठः 32
4. एम0 पी0 सिंह, आर्थिक विकास एवं नियोजन खण्ड (स), पृष्ठः1 एस0 चन्द्र एण्ड कम्पनी लि0 नई–दिल्ली

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

Ykkd thou vkj lkfgR;

MkO fot ; dekj jtu*

लोक साहित्य दो शब्दों से मिलकर बना है। 'लोक' और 'साहित्य' यह दो शब्दों का ऐसा गठबंधन है, जो एक दूसरे का संपूरक है; तथा दोनों के मेल से एक मजबूत आधार खड़ा होता है। जहाँ कहीं भी लोक होगा वहाँ उसकी संस्कृति और साहित्य भी मौजूद होंगे। समस्त संसार में शायद ही ऐसा कोई परिवेश हो जहाँ लोक हो और वहाँ उसकी संस्कृति न हो। ''लोक साहित्य वह मौखिक अभिव्यक्ति है जो भले ही किसी व्यक्ति ने गढ़ी हो, पर जिसे सामान्य लोक–समूह अपना मानता है और जिसमें लोक की युग–युग की वाणी–साधना समाहित रहती है, जिसमें लोक मानस प्रतिबिम्बत रहता है, जिसका प्रत्येक शब्द, प्रत्येक स्वर प्रत्येक लय और प्रत्येक लहजा लोक का अपना होता है और उसके लिए अत्यन्त सहज और स्वाभाविक होता है।''[1]

लोक साहित्य का अभिप्राय उस साहित्य से है जिसकी रचना लोक करता है। लोक–साहित्य उतना ही प्राचीन है जितना कि मनुष्य, इसलिए उसमें जन–जीवन की प्रत्येक अवस्था, प्रत्येक वर्ग, प्रत्येक समय और प्रकृति सभी कुछ समाहित है। डा0 सत्येन्द्र के अनुसार –'' 'लोक' मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो अभिजात्य संस्कार शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना अथवा अहंकार से शून्य है और जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है।''[2] जो साहित्य साधारण जनता से जुड़ा हो उसे ही लोकसाहित्य कहना चाहिए। क्योंकि साधारण जन–जीवन, विशिष्ट जीवन से कई स्तरों पर भिन्न होता है, यही वजह है कि लोकसाहित्य में जो आदर्श होता है वह विशिष्ट साहित्य से अलग होता है। किसी राष्ट्र अथवा परिवेश का लोकसाहित्य वहाँ की आदिम सभ्यता से लेकर वर्तमान युग की उन सभी प्रवृत्तियों का प्रतीक होता है जो साधारण जनस्वभाव के अन्तर्गत आती हैं। इस साहित्य में जनजीवन की सभी प्रकार की भावनाएँ बिना किसी कृत्रिमता के घुली–मिली रहती हैं। यही वजह है कि लोकसाहित्य किसी भी संस्कृति के विशेष अध्ययन में बहुत सहायक सिद्ध होता है। लोकसाहित्य की मौखिक परम्परा ही अधिक मिलती है, लिपिबद्ध रूप में इसकी उपलब्धता बहुत कम है।

लोकजीवन की जैसी रूचिकर, स्पष्ट तथा प्राकृतिक अनुभूतिमयी अभिव्यंजना का चित्रण लोकगीतों व लोक–कथाओं में मिलता है, वैसा अन्यत्र सर्वथा दुर्लभ है। लोकसाहित्य में लोक–मानव का हृदय बालेता है। प्रकृति स्वयं गाती–गुनगुनाती है। लोक–साहित्य में निहित सौन्दर्य का मूल्यांकन सर्वथा अनुभूतिजन्य है।

आदिकाल से श्रुति एवं स्मृति के सहारे जीवित रहने वाले लोकसाहित्य के कुछ विशेष सिद्धान्त हैं। इस साहित्य में मुख्य रूप से वे कृतियाँ ही मान्य होती हैं अथवा जीवन पाती हैं जो अनेक लोगों के कष्टों से अनेक रूपों में बन या बिगड़कर एक सर्वमान्य रूप धारण कर लेती हैं जैसा कि यह रचना संसार आदिकाल से अब तक चला आ रहा है। ऐसी बहुत सी साहित्यिक सामग्री या साहित्यिक विचारधारा आज भी प्रचलित है जो एकरूपता ग्रहण नहीं कर पायी है। लोकसाहित्य को अपौरुषेय की संज्ञा विद्वानों ने परम्परागत एवं सामूहिक प्रतिभाओं से निर्मित होने के कारण ही दिया। निश्चय ही परम्परागत लोक–साहित्य किसी एक व्यक्ति की रचना उसकी चेतना या उसके विचारों का ही परिणाम नहीं है। वैसे तो इसके कई प्रमाण दिए जा सकते हैं कि एक ही गीत, कहानी या कहावत एक स्थल पर जिस रूप में होता है दूसरे

*असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

स्थल पर पहुँचते–पहुँचते उसका वह स्वरूप बदला सा दिखता है। लम्बे समयान्तराल के बावजूद भी गाये जाने वाले आल्हाखण्ड को आज तक एकरूपता प्राप्त नहीं हो सकी जबकि यह लोक में महाकाव्य के रूप में प्रचलित रहा। किन्तु लोकमानस इस तरह के किसी भी कार्य में प्रतिबद्धता स्वीकार नहीं करता। फुटकल गीतों में तो केवल पंक्तियाँ ही इधर–उधर होती हैं। लेकिन प्रबंधगीतों एवं कथाओं में घटनाएं भी बदलती रहती हैं। इन तमाम घटनाओं के होते हुए भी उन प्रबंधों एंव कथाओं के परिणामों में प्रायः कोई परिवर्तन दिखलाई नहीं पड़ता। परिणाम एवं लोक–प्रचलित सत्य और तथ्य को आधार मानकर लोकमानस में घटनाचक्र मनमाने ढंग से भी चलाए जाते रहे हैं। उदाहरणस्वरूप राम से संबन्धित कथा को ही लें। 'नाना भाँति राम अवतारा, रामायन सत कोटि अपारा' जैसी बातें सोलह आने सत्य हैं। राम के कथा सम्बन्धी लोकमानस में जितनी विविधताएँ प्रचलित हैं यदि उन सबको जुटाया जाए तो वह लोक–रामायण विचित्र प्रकार का ग्रंथ होगा, जो अब तक के सभी रामाख्यानों से भिन्न अस्तित्व का होगा। उदाहरणस्वरूप लोकगीतों में रामजन्म के कई कारण बताए जाते रहे हैं। जैसे भंगिन द्वारा राजा दशरथ को संतानहीन होने पर ताना मारने की घटना जिसके फलस्वरूप राजा दशरथ का पुत्र–प्राप्ति हेतु वन में जाकर तपस्या करना। यहाँ व्यक्ति गौड़ है और लोक की मान्यता प्रमुख है, जिसका सामना इसी लोक में राजा और रंक दोनों को समान रूप से करना पड़ता है।

ऐसे अनेक उदाहरण मिल सकते हैं जो परिणाम में तो नहीं किन्तु घटनाओं के मामले में एक है। इस प्रकार के परिवर्तन को लोक साहित्य बहुत ही आसानी से स्वीकार कर लेता है। लोक साहित्य की एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अनेक रुपों में होते हुए भी यह अनेकता में एकता की भावना से युक्त होता है। भाषा के कलेवर को बदलकर भी भाव–पक्ष में कोई परिवर्तन नहीं दिखता। एक ही रचना जो किसी जगह पर वहाँ की बोली में पाई जाती है, वही बहुत दूर दूसरी बोली में भी मिल जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि लोकमानस अपनी बोली और भाषा की संस्कृति का भी आदान –प्रदान करता है। लोकसाहित्य की यात्रा इतनी लम्बी है कि वह क्षेत्रों एवं देशों की सीमा का अतिक्रमण करती दिखायी देती है। मनुष्य भले ही अपनी सीमा को निर्धारित करता है लेकिन लोक–साहित्य इसे स्वीकार नहीं करता ऐसा शायद इसलिए संभव हुआ होगा कि अपनी यात्रा–काल में प्राचीन मानव जब कभी दूर गया होगा तो अपना साहित्य साथ ले गया होगा। ऐसा मनुष्य के साथ ही संभव है, वह जहाँ भी जाता है अपनी बोली, भाषा और संस्कार अपने खूँट में बाँधे ले जाता है और एक नए समाज में उसकी छाप छोड़ देता है, जिसे एक नया समाज स्वीकार करने की स्थिति में पहुँच जाता है।

लोक जनमानस के स्वभाव में अपनी रुचि भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। यदि उन्हें किसी कवि की रचना पसन्द आ गई तो उसे तोड़–मड़ोर कर अपनी बोली और संवेदना के अनुकूल बना लेती है। ऐसा करते समय कभी वे कवि का नाम निकाल देते हैं या कभी रहने देते हैं। प्रमाण के लिए आज भी ऐसे लोकगीत सुने जा सकते हैं– जो सूर, कबीर, तुलसी, रैदास एवं मीरा के प्रकाशित ग्रन्थों में जिस तरह मिलेंगे लोक के कण्ठ पर उनका वह रूप नहीं मिलता। यह प्रवृत्ति हिन्दी ही नहीं अन्य भाषाओं के लोकसाहित्य में भी पाई जाती है।

लोकसाहित्य के बहुआयामी रूप की चर्चा हमने अभी तक लोकवार्ता के रूप में ही सुनी या देखी है और उसी के साथ–साथ लोकसाहित्य के सम्बंध पर विचार विमर्श किया है। अब लोकसाहित्य के विविध स्वरूपों पर विचार करना समीचीन होगा। लोकसाहित्य के मुख्यतः तीन रूप प्राप्त होते हैं – (1) कहानी (2)गीत (3)कहावतें आदि। इनमें से लोक कथाओं को भी तीन रूपों में बाँटा जाता है। ये हैं धर्मगाथा, लोकगाथा तथा लोककहानी। यहाँ अध्ययन की दृष्टि से धर्मगाथा की एक अलग प्रणाली है। शेष दोनों लोककहानी और लोकगाथा लोकसाहित्य के अध्ययन का माध्यम बनते हैं। डा0 कृष्णदेव उपाध्याय ने इन दोनों का अस्तित्व अलग–अलग स्वीकार करते हुए लोकसाहित्य को चार रूपों में बताया है। (1) गीत (2) लोक गाथा (3) लोककथा तथा (4) प्रकीर्ण साहित्य।

हमारी परम्परा में आजीवन कोई न कोई संस्कार होते रहते हैं। पुंसवन, जन्म से पूर्व किया जाने वाला संस्कार है। जिसे लेकर संस्कारों की कुल संख्या 16 है। इन संस्कारों में जो प्रधान संस्कार

हैं वे हैं–पुत्र जन्म, मुण्डन, यज्ञोपवित, विवाह, गवना और मृत्यु। केवल मृत्यु संस्कार को छोड़कर लगभग प्रत्येक संस्कारों के अवसर पर स्त्रियों के द्वारा अपने सुमधुर कण्ठों से लोकगीतों की अभिव्यक्ति होती है तथा वे अपने हर्ष और खुशी को प्रकट करती हैं। इसके अतिरिक्त लोकगीतों की एक विशाल परम्परा मिलती है, जिसमें अलग–अलग प्रवृत्तियों के आधार पर लोकगीत उपलब्ध होते हैं । जैसे –ऋतु सम्बन्धी गीत। इस अवसर पर जो गीत गाया जाता है, वह अलग–अलग मौसमों के हिसाब से अपने वर्ण्य विषय को प्रस्तुत करते हैं। कजली सावन के महीने में गायी जाती है, यह ऐसा समय है जब प्रकृति में सर्वत्र हरियाली फैली होती है। भक्त कवि सूरदास ने अपनी बन्द आँखों से इस मौसम का बड़ा ही मनोहर वर्णन किया है–

^^tgk¡ nq[kk rgk¡ ';kee;h gSA
';kedqt] ouk ;equk';ke]
';ke ';ke ?kuk ?kVk Nk;h gSA**[3]

इस प्रकार लोक में होली, नाग पंचमी, बहुरा, गोधन,पिंडिया, छठ तथा जाति और श्रम संबंधी गीत भी लोक में प्रचलित हैं।

लोकगीत के संबंध में श्री सामर ने लिखा है–'' चूँकि लोक–संगीत का सृजन अनंत काल से होता आया है, इसका इतिहास बहुत पुराना और विचार क्षेत्र बहुत व्यापक है, इसलिए इसकी अपनी विशिष्ट परम्पराएँ होनी भी स्वाभाविक हैं। सच पूछिए तो जिस लोक संगीत की परम्पराएँ नहीं होतीं, वह लोक संगीत ही नहीं है। किसी व्यक्ति –विशेष का रचा हुआ गीत जब सामाजिक क्षेत्र में उतरकर समाज की धरोहर बन जाता है और उस व्यक्ति का व्यक्तित्व उस गीत से हट जाता है तथा समस्त समाज का व्यक्तित्व उस पर अंकित हो जाता है, तभी वह गीत लोकगीतों की श्रेणी में आता है। आगे उनका मत है कि इन गीतों में भाषा तथा भाव की दृष्टि से क्षेत्रीय तथा जातीय विशेषताएँ अवश्य होती हैं, परन्तु इनकी आत्मा एक होती है और इनका व्यवहार लगभग एक ही प्रयोजन से होता है। ऐसे गीत चूँकि सामाजिक धरोहर होते हैं, इसलिए अधिकतर सामूहिक रूप से ही गाए जाते हैं। लोकगीतों में वैयक्तिक रूप से गाने की परम्परा लगभग नहीं के बराबर है।''[4]

ykdxhr dk egRo %

लोक गीत अपनी सरलता और स्वाभाविकता के कारण ही मोहक और मनोरंजक होता है। इसमें अलंकार, छंद, शब्द चयन आदि का आडम्बर तो निश्चय ही नहीं होता है, परन्तु इसके माध्यम से जो लोक–परम्परा झाँकती है उसकी तुलना शायद किसी से भी नहीं की जा सकती इसीलिए लोकगीत का महत्व भी असीम हो जाता है। लोकगीत समाज की धरोहर ही नहीं लोकजीवन का दर्पण भी है, जिसमें लोक की परम्पराएँ साफ और स्पष्ट दिखाई और सुनायी पड़ती हैं। लोकगीतों का अध्ययन करने पर हम समस्त समाज के व्यक्तित्व का, अर्थात एक समाजविशेष की विशिष्टताओं का परिचय पा सकते हैं। इसमें महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि इन गीतों के साथ जन–मानस की आत्मा अंकित होती है और उन्हें बड़े रस के साथ लोग गाते हैं। उत्सव, त्योहार, शादी–विवाह तथा पर्व–समारोह के अवसरों पर इनके बिना सभी आनंद–क्षण फीके होते हैं । इसी प्रकार मनोविनोद तथा उमंग के समय गाए जाने वाले लोकगीतों का अपना महत्व है। ये गीत विशिष्टजनों के मनपसन्द होते हैं तथा मौज, मजे, आनन्द,उल्लास और विनोद के क्षणों में तो गाए जाते ही हैं ऋतुओं के सौन्दर्य के साथ भी इनका सौन्दर्य जुड़ा हुआ होता है जो मन को एक अनिर्वचनीय आनन्द और तृप्ति से भर देता है और जीवन की वास्तविकताओं का सामना करने की अनन्त प्रेरणाएं प्रदान करता है।

मानव–जीवन के विभिन्न पक्षों की सरल तथा स्वाभाविक–अभिव्यक्ति लोक–गीतों में जितनी मिलती है उतनी और किसी में नहीं। श्री देवेन्द्र सत्यार्थी का कथन है– '' भारत का कोई भी चित्र भारतीय प्रथाओं, रीति–रिवाजों और हमारे आन्तरिक जीवन की मनोवैज्ञानिक गहराई को इतने स्पष्ट तथा सशक्त ढंग से व्यक्त नहीं कर सकता, जितना लोक–गीत कर सकते हैं।''[5] डा0 दूबे लोक–गीतों के महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि– '' वेद और स्मृतियाँ भारतीय संस्कृति के जिन पक्षों के संबंध में मौन हैं,

लोक–गीत अन्ततः उनके संबन्ध में भी कुछ कह सकते हैं। आर्येतर सभ्यता की अनेक प्रार्थनाएं, जो आर्य–प्रभुत्व की स्थापना के बाद भी भारत में बनी रहीं, लोक–गीतों की सहायता से समझी जा सकती हैं। इतिहास के अंधेरे पृष्ठों को भी लोक–गीत और लोक–कथाओं से यदा–कदा प्रकाश की कुछ किरणें मिल सकती हैं। यद्यपि लोक–गीत में किसी घटना का वर्णन होना ही इतिहास के लिए प्रमाण नहीं माना जा सकता, फिर भी लोक–गीतों की दिशा–संकेत के आधार पर इतिहास अन्वेषक अपने कार्य को आगे बढ़ा सकता है।''[6]

ykd&xkFkk,¡ %

कल्पना मानव की आदि सहचर है। कल्पना की सहायता से मानव समुदाय, आदिकाल से ही बहुत कुछ सोचता और कहता आया है। लोक–कथाएँ इसी का सर्वाधिक प्रचलित और लोकप्रिय रूप हैं। स्पष्टतः लोक–कथाएँ मानव के कल्पनाशील मष्तिष्क की वैचित्र्यपूर्ण स्वप्न सृष्टि हैं अर्थात लोककथा में कल्पना तत्व अधिक होता है, वास्तविक बहुत कम। इसकी विषय–वस्तु की कोई सीमा नहीं है। लोक–कथा हमारे आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक जीवन से संबंधित हो सकती है और ऐसी भी लोक–कथाएं भी हो सकती हैं, जिनका इनमें से किसी से कोई संबंध न हो।

लोकगाथा अंग्रेजी के वैलेड शब्द का समानार्थी है। वैलेड के लिए हिन्दी में ग्राम–गीत, नृत्य–गीत, आख्यान–गीत, वीरगाथा, वीरगीत, वीर–काव्य आदि अनेक शब्द मिलते हैं। श्री हर्षकोविट्स ने उचित ही लिखा है, ''लोक–गाथाओं की उत्पत्ति कैसे और कहाँ से हुई, इस विषय पर सम्भवतः कोई संतोषजनक उत्तर देना संभव नहीं है।''[7] इसी संबंध में लोक–गाथाओं के उपर श्री वोआस का मत है कि ''लोक–गाथाएँ दैनन्दिन जीवन के अनुभवों के आधार पर कल्पना की उड़ानों का परिणाम हैं।''[8]

जब मानव अपनी कल्पना द्वारा एक घटना को नवीन रूप में प्रस्तुत करता है तो वही लोक–कथा बन जाती है। यहाँ यह प्रश्न खड़ा हो सकता है कि मानव ऐसा करता ही क्यों है? इसका हल ढूढ़ने का जब हम प्रयास करते हैं, तब पता चलता है कि मानव के मस्तिष्क की एक प्रमुख विशेषता यह होती है कि उसका मस्तिष्क प्रारम्भिक काल से ही कल्पनाशील है। इस कल्पनाशील मस्तिष्क को अपनी खुराक चाहिए और इसके पोषण हेतु मानव को खुराक की व्यवस्था करनी पड़ती है और तभी मस्तिष्क कुछ रोचक कथाओं को रचता है। रचने की इसी प्रक्रिया में लोक–कथा की उत्पत्ति होती है। कुछ विद्वानों का यह तर्क है कि मनुष्य में अनेक इच्छाएँ, आशाएँ या अभिलाषा अज्ञात मन में दबी हुई होती है। वास्तविक जीवन में इन इच्छाओं और आशाओं की पूर्ति सम्भव नहीं होती। तब मनुष्य कल्पित नायक और नायिका की शरण लेता है और उनके माध्यम से अपनी उन इच्छाओं और आशाओं को अभिव्यक्त करता है कभी–कभी समाज में ऐसी घटनाएँ घट जाती हैं, जिनमें मानव अपनी उन अपूर्ण इच्छाओं की पूर्ति होते देखता है। उसी घटना को लेकर एक चित्रकार की तरह उस पर कल्पना की तूलिका से रंग भरकर वह एक कथा को तैयार करता है जो अपनी रोचकता के कारण लोक–कथा हो जाती है। लोक–कथा और साहित्यिक कहानी–किस्सों में अन्तर है और वह इस अर्थ में कि लोक–कथाओं की समाज में कहानी से कहीं अधिक लोकप्रियता होती है। लोक–कथाएँ समाज के प्रत्येक वर्ग के लोगों में इस प्रकार फैल जाती हैं कि वे उनकी संस्कृति का एक आवश्यक अंग हो जाती हैं। आदि समाज में जहाँ किताब या पत्रिकाओं का प्रचलन नहीं है या जिन समाजों में लोग लिखना नहीं जानते वहाँ भी मौखिक रूप से लोक–कथाओं का प्रचलन हो जाता है और लोग इसे बड़े चाव से सुनते और याद रखते हैं।

''लोक–गाथा, ग्राम–गीत लोक–गीत का एक रूप है । ग्राम–गीत, जिसे हम लोक–गीत भी कहते हैं कई प्रकार का होता है और लोक–गाथा इसी का एक रूप है। लोक–गाथा में कोई कथा अवश्य होती है। पर सभी लोकगीतों या ग्रामगीतों के लिए कथा–तत्व आवश्यक नहीं।''[9]

लोककथा में कथा शब्द कहानी के पर्याय की तरह दृष्टिगत होता है। किन्तु दोनों को एक ही समझ लेना भ्रामक होगा। लोककथा और कहानी एक ही शब्द नहीं है। जब भी कथा शब्द का प्रयोग किया जाता है, तो उसमें होती तो कोई कहानी ही है लेकिन वह किसी विशेष प्रकार की घटना से जुड़ी होती है। जैसे –रामायण की कथा, महाभारत की कथा, सत्यनारायण की कथा और गणेश चौथ की कथा

आदि। इस तरह के प्रयोगों से यह स्पष्ट होता है कि कथा एक ऐसा माध्यम है जो किसी के द्वारा कही जाती है और उसे सुनाने का धार्मिक प्रयोजन भी होता है। इसे जो लोग भी सुनते हैं उन्हें आध्यात्मिक संतुष्टि मिलती है। ''कथा कोई ऐसी वार्ता है जो किसी के द्वारा कह कर सुनाई जाती है और सुनाने का धार्मिक अभिप्राय होता है। सुनने वाले लोगों को धार्मिक सन्तोष प्राप्त होता है, धर्मलाभ होता है। अन्य कोई मान्यता पूरी होती है या पूरी करने के लिए वह सुनी जाती है। अतः जो कहानी धार्मिक अभिप्राय से अनुष्ठान के साथ सुनाने के लिए हो वह कथा की जाएगी जिसके साथ परम्परा जुड़ी हुई है और लोकमानस का तत्व जिसमें विशेष हो वह लोककथा कही जायेगी।''[10]

ykddFkkvksa dk egRo %

लोककथाओं का महत्वपूर्ण काम यह है कि इनके द्वारा श्रोताओं का मनोरंजन होता है। दैनन्दिन के उबाऊ जीवन में लोककथाएँ रस का संचार करती हैं तथा साथ ही साथ इनसे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से ज्ञान की भी वृद्धि होती है। लोकगाथाओं के माध्यम से लोग अपनी संस्कृति के सम्बंध में बहुत सी नवीन धारणाओं का अर्जन करते हैं। ये लोकगाथाएँ जनजातीय समाजों में बच्चों की शिक्षा हेतु सबसे महत्वपूर्ण साधन हैं। लोकगाथाएँ सामाजिक नियंत्रण में भी सहायक सिद्ध होती हैं क्योंकि इन कथाओं का प्रभाव मानव मस्तिष्क पर विशेषकर बच्चों पर बहुत ज्यादा पड़ता है और वे लोककथाओं में प्रस्तुत आदर्शों का अनुसरण करते हैं।

lanHkZ %

1. डॉ0 अमरनाथ, हिन्दी आलोचना की परिभाषिक शब्दावली, पृ0– 316
2. डा0 सत्येन्द्र, लोक साहित्य विज्ञान, पृ0– 03
3. डॉ0 कृष्णदेव उपाध्याय, लोकसाहित्य की भूमिका, पृ0–82
4. रवीन्द्रनाथ मुखर्जी, सामाजिक मानवशास्त्र की रूपरेखा, पृ0– 343
5. वही, पृ0– 347
6. वही, पृ0– 347
7. वही, पृ0– 357
8. वही, पृ0– 347
9. डॉ0 धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी साहित्य कोश, भाग–एक, पृ0– 592
10. वही, पृ0– 591

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

dk'kh e; {k iatk dh ijEijk

Mk0 mek'kdj xIrk*

काशी की गणना भारत के प्राचीनतम धार्मिक नगरी के रूप में की जाती है। यहाँ शैव धर्म के साथ–साथ यक्ष पूजा की परम्परा भी प्रचलित थी। बौद्ध एवं जैन साहित्य से ज्ञात होता है कि यहाँ नागों एवं यक्षों की पूजा की जाती थी। बौद्ध साहित्य में शिव की गणना यक्षो में की गई है। महामायूरी ग्रंथ में काशी के प्रधान यक्ष को महाकाल कहा गया है, जो शिव का एक उपनाम है।[1] जातक कथाओं में जनसाधारण को यक्षों से बहुत भयभीत चित्रित किया गया है। यक्षों के राजा वैश्रमण से आमजन भय खाते थे। जातक ग्रंथों में काशी में यक्षपूजा के निमित्त विभिन्न पशुपक्षियों की बलि देने का वर्णन मिलता है।[2] बनारस के बरम और वीरपूजा में प्राचीन यक्ष पूजा के अवशेष बच गए है। यक्षिणियों का स्वभाव भी क्रूर होता था और वे अपने रूप, रस, गंध, स्पर्श से मनुष्य को आकर्षित कर उन्हें अपना शिकार बनाती थी। यक्ष मनुष्यों के ऊपर आते भी थे।[3]

जैन साहित्य से ज्ञात होता है कि ईसा पूर्व की शताब्दियों में यक्ष पूजा प्रचलित थी तथा उत्तर भारत के प्रत्येक नगर में यक्षों के चैत्य होते थे। जैन ग्रन्थ उत्तराध्ययन में वर्णन मिलता है कि कुछ यक्ष उच्च श्रेणी के होते थे, जो तपस्वियों का आदर करते थे।[4] इसी ग्रन्थ में गंडि तिंदुग नामक यक्ष का उल्लेख है, जो मातंग ऋषि के गंडितिंदुक उपवन की रक्षा करता था। यक्ष अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या एवं पूर्णिमा के दिन लोगों की सहायता करते थे। पुत्र कामिनी स्त्रियों के मनौती मानने पर यक्ष उन्हें पुत्र प्राप्ति का वरदान देते थे। यक्ष लोगों की रोगों से भी रक्षा करते थे। एक स्थान पर कहा गया है कि मणिभद्र यक्ष की प्रार्थना करने पर उसने माता के रोग से नगर की रक्षा की।[5] 24 तीर्थंकरों के पश्चात् जैन देवकुल में सबसे प्रमुख स्थान यक्ष एवं यक्षिणियों को प्राप्त हुआ। वे तीर्थंकरों के उपासक या शासक देवता के रूप में संघ की रक्षा करने वाले माने गए है। जैन ग्रन्थ तिलेयपण्णति में 24 यक्ष यक्षिणियों की सूची का वर्णन है। जैन मान्यता के अनुसार कैवल्य प्राप्ति के पश्चात् प्रत्येक तीर्थंकर ने अपना उपदेश इन्द्र द्वारा निर्मित समवशरण सभा में दी थी। जिसमें इन्द्र ने प्रत्येक तीर्थंकर के साथ सेवक देवता के रूप में एक यक्ष एवं यक्षी युगल को नियुक्त किया था।[6]

यक्षों की कल्पना 2 रूपों में की गई है। प्रथम लोकमंगलकारी, अद्भुत सामर्थ्य एवं मनोरम रूप वाले तथा द्वितीय भयानक रूप वाले। रामायण में वर्णन है कि प्रजापति ने जल का संरक्षण करने के लिए विशेष जनों का सृजन किया, उनमें से यक्ष भी है।[7] मत्स्य पुराण में यक्ष हरिकेश की कथा से काशी की यक्ष पूजा पर विस्तृत प्रकाश पड़ता है तथा यह भी ज्ञात होता है कि शिवपूजा के आन्दोलन द्वारा ही यक्ष पूजा का शैव धर्म में समावेश हो गया। हरिकेश यक्ष पूर्णभद्र यक्ष का पुत्र था। वह शुद्ध आचरण वाला एवं शिवभक्त था। अतः कुपित होकर पूर्णभद्र ने उसे घर से निष्कासित कर दिया। हरिकेश यक्ष ने वाराणसी में आकर शिव की आराधना की। तब शिव ने प्रसन्न होकर वरदान मांगने को कहा, इस पर हरिकेश ने वाराणसी में सदा स्थित रहने का वर मांगा। शिव ने उसे काशी का क्षेत्रपाल नियुक्त किया।[8] इस कथा से स्पष्ट होता है कि जिस समय काशी में यक्ष पूजा प्रचलित थी, उस समय यहाँ शिव पूजा भी जारी थी। सम्भवतः यक्ष पूजा और शैव धर्म में कशमकश जारी रही। अंत में दोनों धर्मों में समन्वय हो गया अथवा शैव धर्म में यक्ष धर्म को मिला लिया गया तथा जितने भी यक्ष थे, वे सभी शिव के पार्षद हो गये। मत्स्य पुराण में ही एक स्थान पर कहा गया है कि महायक्ष कुबेर ने श्री काशी में आकर अपना स्वभाव

*एसो0 प्रोफेसर, इतिहास, राजकीय महाविद्यालय, जक्खिनी, वाराणसी

छोड़ दिया और गणेशत्व पद को प्राप्त हो गए। सम्भवतः गुप्तकाल में शैव धर्म की यक्ष धर्म पर पूर्ण विजय हो गई।[9]

पुरातात्विक साक्ष्यों से भी काशी में यक्ष पूजा की संसूचना प्राप्त होती है। राजघाट, सारनाथ एवं अकथा की खुदाई में अनेको यक्ष एवं कुबेर की मूर्तियॉ प्राप्त हुई है। राजघाट से त्रिमुखी यक्ष की मूर्ति प्राप्त हुई है, जो वर्तमान समय में भारत कला भवन में सुरक्षित रखी है।[10] राजघाट से ही उत्खनन में मिट्टी की बनी मृण्मूर्तियों में विविध मुख एवं आकार वाली यक्ष मूर्तियॉ प्राप्त हुई है।[11] अकथा पुरास्थल से प्रस्तर की बनी एक यक्ष प्रतिमा मिली है, जो अकथा यक्ष के नाम से जानी जाती है। यह मूर्ति सारनाथ संग्रहालय में सुरक्षित रखी है।[12]

काशी से बड़ी संख्या में कुबेर प्रतिमाए भी प्राप्त हुई है। कुबेर को यक्षों का प्रधान माना गया है। जिसके कारण उनकी प्रतिमाओं में यक्षों के लक्षण विद्यमान हैं। कुबेर को धनद, धनपति, वैश्रवण एवं अलकापति भी कहा गया है। कुबेर का अर्थ निम्न या भोड़ा शरीर वाला होता है, जिसके कारण प्रतिमा विज्ञान में कुबेर को थुलथुल शरीर वाला, धनपति एवं यक्षस्वामी, धन की थैली लिए हुए सम्पन्न सेठ के रूप में प्रदर्शित किया गया है।[13] किन्तु वैभव एवं सौभाग्य के स्वामी होने के कारण ब्राह्मण, बौद्ध एवं जैन तीनों कलाओं में कुबेर को सम्मानित स्थान दिया गया है। उनकी प्रतिमा में लम्बोदर एवं 2 बड़े दांत दिखाई पड़ते है, किन्तु शरीर मूल्यवान आभूषणों से सुसज्जित है तथा हाथ में दण्ड माला या धन की थैली है।[14]

वाराणसी जनपद के पश्चिम दिशा में स्थित जक्खिनी गांव में यक्षिणी देवी का मन्दिर स्थित है। इस मन्दिर में रखी दक्षिणी मूर्ति चौकोर पत्थर पर बनायी गई है। यक्षिणी का अंकन सौम्य रूप में है। इस मन्दिर का उल्लेख आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया के प्रपत्र में पंजीयन डी.एन.एसें 5454/1990 के रूप में किया गया है।

I UnHkh %

1. जर्नल यू.पी.हिस्ट्री सोसायटी भाग 15 पार्ट 2 पृ. 27
2. जातक 1/126/127
3. रतिलाल मेहता, प्री बुद्धिस्ट इण्डिया पृ. 324
4. उत्तराध्ययन 3/14
5. जगदीश चन्द्र जैन, लाइफ इन एशियण्ट इण्डिया, पृ. 220
6. रत्नेश कुमार वर्मा, खजुराहो के जैन मन्दिरों की मूर्तिकला, पृ.19
7. वाल्मीकि रामायण, उत्तर 13, 30, गीता प्रेस, पृ. 1988
8. मत्स्य पुराण 180/88/99
9. मोतीचन्द्र, काशी का इतिहास, वाराणसी पृ. 34
10. वासुदेव शरण अग्रवाल, भातीय कला, वाराणसी चित्र 188 फलक 78, पृ. 122
11. ए के नाराायण एवं पी एल अग्रवाल, एक्सविसन एट राजघाट (1957–58) 1960–65 चतुर्थ भाग BHU फलक XXXIV, 1.5ए 21
12. सी.जी. लिन–बोडिन : एन अर्ली यक्ष फ्राम अकथा नियर सारनाथ वाराणसी
13. ललित विस्तार, 8, पृ. 84
14. वासुदेव उपाध्याय, प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान, वाराणसी पृ. 170

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

iR;{k izek.k % dk'eh;j 'kSo n'kZu ds vkyksd esa

lo;'k f=ikBh*

izek.k lyhu f'koinnyl}Hkoo'kk&
PNjhj ik.kkfnfe rd rdekrfLFkfre;%A
;nk dkyk ikf/k% iy;ine kl kn;fr r]
Rknk nwoh ;kl k ylfr ee lk LrkfPNoe;hAA

प्रमाणमीमांसा तत्वमीमांसा का सर्वाधिक आवश्यक एवं महत्वपूर्ण पक्ष है। प्रमाणमीमांसा के बिना समस्त दर्शनशास्त्र अपूर्ण हैं।काश्मीर शैवदर्शन की प्रमाणमीमांसा एक सर्वथा नवीन विषय का अनावरण करती है। प्रमाणों में प्रत्यक्ष–प्रमाण सभी प्रमाणों का मूलाधार है। सभी प्रमाण प्रत्यक्ष की पूर्वकल्पना करते हैं। अनुमानादि तत्पृष्ठभावी हैं।

वस्तुतः अन्य प्रमाण भी अपने महत्व एवं उपादेयता में उतेन ही सम्माननीय हैं जितना कि प्रत्यक्ष प्रमाण; अतः किसी एक की श्रेष्ठता कहना उचित नहीं। प्रत्येक प्रमाण की अपनी सीमा है जिसमें स्वतन्त्र रूप से उसका व्यापार होता है। प्रत्यक्ष प्रमाण का व्यापार क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत होने पर भी मर्यादा बद्ध है। प्राचीन न्याय के अनुसार प्रत्यक्ष इन्द्रिय संन्निकर्ष से उत्पन्न अत्यपदेश्य, अव्यभिचारी एवं व्यवसायात्मक ज्ञान है।[1]

नव्य नैयायिक गबेश प्रत्यक्ष को साक्षात प्रतीति मानते हैं।[2] सांख्य दर्शन में प्रत्यक्ष को इन्द्रिय उत्तेजना के रूप में कहा गया।[3] योग–दर्शन में प्रत्यक्ष को इन्द्रिय सन्निकर्ष से उत्पन्न मानसिक परिणाम कहा गया है।[4] कुमारिल के अनुसार न्याय के समान ही इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष है।[5] प्रभाकर के अनुसार प्रत्यक्ष विषय का साक्षात–ज्ञान है।[6]

अद्वैत वेतान्त के अनुसार अपरोक्षत्व प्रत्यक्ष की मुख्य विशेषता है। यह एक साक्षात ज्ञान है जो कि विषय एवं प्रमाता के अभेद सिद्धान्त पर आधारित है।[7] रामानुज के अनुसार साक्षात्कारी ज्ञान प्रत्यक्ष है, और उसका करण प्रत्यक्ष प्रमाण है।[8]

जैन दर्शन के अनुसार भी प्रत्यक्ष, विषय का साक्षात एवं अपरोक्ष ज्ञान है। यह दो प्रकार का है– मुख्य एवं संव्यावहारिक। प्रथम मन एवं इन्द्रिय से स्वतन्त्र है एवं द्वितीय इससे सीमित।

बौद्धों के अनुसार अर्थ से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष है, यह कल्पना रहित एवं अभ्रान्त ज्ञान है।[9]

काश्मीर शैवदर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष वस्त्वनुसारी अनुभव है। यह अक्ष का विज्ञान है। यह अर्थ से उत्पन्न साक्षात ज्ञात है।[10]

काश्मीर शैवदर्शन ने किसी भी मत को पूर्णरूप से स्वीकार नहीं किया है। क्योंकि अन्य सभी दर्शन प्रत्यक्ष की एकांगी प्रक्रिया का ही प्रदर्शन करते हैं तथा असंतोषजनक परिभाषाओं का उद्घाटन करते हैं।

काश्मीर शैवदर्शन के मत में न तो न्याय के इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष को मुख्य कारण के रूप में स्वीकार किया गया है और न आत्मा की ओर प्रत्यक्ष प्रक्रिया को मना गया है, और न सांख्य के समान जड़ बुद्धि की अर्थ प्रकाशता को स्वीकार किया गया है, और न मात्र पुरूष प्रकाशत्व को स्वीकार किया गया है।

यहाँ पर न तो अद्वैत वेदान्त की अन्तः करण वृत्ति का बाह्यत्व प्रदर्शित है व न ही प्रमातृसत्ताऽतिरिक्तसत्ताभावरूप में अभेद की परिभाषा, अपितु मतों के विरोध का परिष्कार करके इनमें

*शोधच्छात्र, धर्मागम विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

पूर्व दृष्ट ईषत् परिवर्तन करके इन्द्रियार्थ सन्निकर्षकों सहकारी रूप में, आत्मा और विषय दोनों की प्रकाशरूपता स्वीकार करके दोनों में प्रतिबिम्ब फेंकने के सामर्थ्य को दिखलाकर द्विपक्षीय प्रत्यक्ष प्रक्रिया का उल्लेखकर, बुद्धि को चिन्मयी स्वीकार करके, बुद्धि स्थल पर बुद्धिवृत्त को मानकर प्रमातृप्रमेय के तादात्म्य अर्थात् तद्रूपता का स्वीकार करके, काश्मीर शैवदर्शन में सम्पूर्ण मतों का समन्वय किया गया है।

इस प्रकार इन्द्रियार्थ सन्निकर्षरूप सहकारी कारण के साथ बाह्योन्मुखप्रकाशरूप में बुद्धि प्रवृत्ति को प्रत्यक्ष प्रमाण कहा जाता है। यह स्वाभास् एवं अभिनवोदय ज्ञान है। जो कि अन्य ज्ञानों के व्यवधान से प्रमातृप्रमेयतादात्म्य रूप साक्षात् प्रत्यक्ष प्रमा को उत्पन्न करती है।

प्रायः समस्त दर्शनों में साक्षात्कारी प्रमा को प्रत्यक्ष कहा गया है, परन्तु साक्षात् का अर्थ सभी दर्शनों में एकसा नहीं है– नव्य नैयायिक गबेश एवं इनके मत को सामान्यरूप से मानने वाले अन्य मतों के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान में साक्षातता विषय से सम्बन्धित है। साक्षात् ज्ञान इन्द्रिय द्वारा विषय की चेतना हैं।

इस प्रकार यहाँ साक्षातता विषय से सम्बन्धित है, ज्ञान से नहीं।[11] कुछ नैयायिक साक्षात् का प्रयोग विषय के लिये न करके ज्ञान के लिए करते हैं। इनके अनुसार साक्षात् का अर्थ अव्यवहित है। जो ज्ञान किसी अन्य ज्ञान के तत्वाधान के बिना उत्पन्न होता हैं, वह ही साक्षात् ज्ञान प्रत्यक्ष है।[12]

अद्वैत वेदान्ती साक्षात् का प्रयोग उपर्युक्त दोनों ही अर्थों में नहीं करते हैं। इनके अनुसार 'वृत्ति' प्रत्यक्ष की आवश्यक दशा है, जोकि सन्निकृष्ट विषय से सम्भव है। इस प्रकार साक्षातता वर्तमान विषय के स्वभाव पर आधारित है, इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष पर नहीं।[13] काश्मीर शैवदर्शन में प्रत्यक्ष को साक्षात्कारी प्रमा कहा जाता है।[14] यहाँ पर साक्षातता न तो इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष पर आधारित है और न साक्षातता का अर्थ है।

वर्तमानता जो कि वर्तमान विषय के स्वभाव पर आधारित है, सिद्धान्त में साक्षातता का तात्पर्य 'स्फुटता' से है। यह 'स्फुटता' न तो इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष रूप है और न वर्तमान रूप वरन् इसका अर्थ है– 'अव्यवहितत्व'।[15]

प्रत्यक्ष प्रमा अव्यवहित होने से ही साक्षात ज्ञान है। इसमें अन्य किसी ज्ञान का व्यवधान वाळिछत नहीं है। इस प्रकार यहाँ 'ज्ञानकरणकज्ञानरूप' में प्रत्यक्ष की परिभाषा ही पूर्णरूपेण चरितार्थ होती है।[16] प्रत्यक्ष ज्ञान में विषय की स्फुटता दिखाते हुये कहा गया है– 'इदं नीलम्' इस प्रत्यक्ष ज्ञान में जो विषय की स्फुटता है, वह उसके नैसर्गिक सृष्टि के कारण है। जबकि स्मृति आदि ज्ञानों में स्फुटता नहीं होती। इस प्रकार प्रत्यक्ष निरपेक्ष एवं अज्ञात प्रमा है।[17] जो इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष रूप सहकारी करण से – वाह्योन्मुखप्रमातृप्रकाशरूप प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा उत्पन्न होता है।

काश्मीर शैव दर्शन में प्रत्यक्ष प्रक्रिया के अन्तर्गत चार तथ्य हैं–

1. विषय का इन्द्रिय पर प्रतिबिम्ब।
2. विषय का बुद्धि पर प्रतिबिम्ब।
3. प्रमाता की विषय की ओर उन्मुखता। (प्रत्यक्ष प्रमाण)
4. प्रमाता से विषय का तादात्म्य (प्रत्यक्ष प्रमाण)

इस प्रकार इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के द्वारा विषय का प्रमाता से तादात्म्य ही प्रत्यक्ष है। यह तादात्म्य की तद्रूपत्व है।[18]

काश्मीर शैवदर्शन के अनुसार संविद्रूपी समुद्र में प्रमातृ प्रमेय की दो धारायें हैं। इनमें से प्रमाता, स्वप्रकाश एवं प्रमेय प्रकाशस्वरूप हैं; जब प्रमाता विषय का स्पर्श करता है; तब ज्ञान की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। जब विषय का प्रत्यक्ष होता है तब इन्द्रिय–प्रणाली द्वारा रेटिना पर जो विषय का प्रतिबिम्ब पड़ता है; उसे भौतिक प्रतिमा कहते हैं।

भौतिक प्रतिमा; स्वयं प्रकाशात्मा से आने वाले प्रकाश से प्रकाशित होकर बुद्धि पर नवीन रूप से विषय के प्रतिबिम्ब का निर्माण करती हैं; यह मानसिक प्रतिमा कहलाती हैं। इन्द्रिय विशेष पर बनी हुई

प्रतिमा बुद्धि पर बनी प्रतिमा से भिन्न होती है। प्रत्यक्ष के समय, मन, इन्द्रिय को विषय पर कार्य करने के लिये प्रेरित करता है।

विषय यद्यपि बाह्यकारण (रेटिना) पर प्रतिबिम्बित होता है, परन्तु किसी भी सम्वेदना को उत्पन्न नहीं करता। वास्तविक इन्द्रिय, अनेक की संवेदनाओं से युक्त भौतिक–प्रतिमा रूप अपने विषय के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करती है। यह भौतिक प्रतिमा प्रमातृप्रकाश से प्रकाशित होती है और उसी प्रकाश के माध्यम से अपना प्रतिबिम्ब बुद्धि पर फेकती है; तथा मानसिक प्रतिमा कहलाती है। रेटिना पर प्रतिमा का निर्माण एक अकेले कार्य के द्वारा उत्पन्न नहीं होता वरन् संयुक्त कार्यों से निर्मित होता है।[19] जिसे यद्यपि विभक्त किया जा सकता है परन्तु सामान्य रूप में इसे विभाग का ज्ञान नहीं होता।

विषय में संपर्क में आता हुआ प्रमाता का प्रकाश विषय से अनेक प्रकार से उपरक्त होता है तथा विषय के प्रत्यक्ष को उत्पन्न करता है।

इस प्रकार काश्मीर शैवदर्शन समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाते हुये कहता है कि– प्रमातृ, प्रकाश की वाह्य विषय के प्रति उन्मुखता ही प्रत्यक्ष प्रमाण है।[20]

I UnHk%

1. इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानं अव्यपदेश्यमव्यभिचारि–व्यवसायात्मकम् प्रत्यक्षम्। न्यायसूत्र 1/1/4
2. प्रत्यक्षस्यं साक्षारकारित्वं लक्षणम् (त.चि.म. भा.) पृष्ठ– 539–43
3. प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं (सांख्यकारिका 5)
4. इन्द्रिय प्रणालिकया चित्तस्य वाह्यवस्तुपरागारतादि्वषया–सामान्य विशेष रूपार्थस्य विशेषावधारण प्रध ानवृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणमिति। (योगसूत्र पृ0–4)
5. सत्साम्प्रयोगे पुरूषस्येन्द्रियाणां बुद्धि जन्य तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनात्। मानमेयोदय, पृ0– 23, श्लोकवार्तिक–सूत्र–4
6. साक्षात प्रतीतिः प्रत्यक्षं/मेयमातृप्रमासु सा। –मानमेयोदय, पृ0 23
7. (क) प्रत्यक्षप्रमाचात्र चैतन्यमेव 'यत्साक्षाद्परोक्षाद्ब्रम्ह'–वेदान्त परिभाषा, पृ0 19
   (ख) घटादेर्विषयस्य प्रत्यक्षत्वं तु प्रमात्रभिन्नत्वम्।, वेदान्तपरिभाषा पृ0 59
8. साक्षात्कारी प्रमाकरणं प्रत्यक्षं। यतीन्द्रमतदीपिका – प्र0 खण्ड, पृ0 5
9. (क) प्रत्यक्षं कल्पनापोढ़ं नामजात्यादयसंयुक्तं। – प्रमाणसमुच्चय
   (ख) तत्र प्रत्यक्षं कल्पनापोढ़म्भ्रान्तम्। – न्याविन्दु 4
10. (क) वस्त्वनुसारीहि अनुभवों, वस्तु च स्वात्मनिष्ठम्। –ई0प्र0वि0 भाग–2, पृ0 193
    (ख)प्रत्यक्षं चाक्ष विज्ञानं (तं वि. भाग–1, पृ0 116)
11. साक्षात्कारिणीचप्रमा संबोध्यते या इन्द्रियजा। तर्कभाषा (तर्करहस्य दीपिका सहित) पृ0 96
12. ज्ञानाकरणकं ज्ञानामिति तु वये। – तं. चिन्तामणि भाग–1, पृ0–552
13. नहि इन्द्रिय जन्यत्वं प्रत्यक्षत्वे तन्त्रं दूषितत्वात्। किन्तु योग्यवर्तमान बिषयकत्वे सति प्रमाण चैतन्यस्य–विषय चैतन्याभिन्नत्वमित्युक्तम्। – वेदान्त परिभाषा, पृ0–73
14. (क) तच्च एन्द्रियके बोधे सुखादिसंवेदने योगिज्ञाने च अविवादमेव, मुख्यतयैव प्रमेय रूपे आभासे साक्षात् विश्रान्तेः। – ई0 प्र0 वि0वि0 भाग–2, पृ0– 836
    (ख) अनेकात्मकैक साक्षारकारात्मकं प्रत्यक्ष। – प्र0 वि0 वि0 भाग–3, पृ0–142

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

tuokn vkj n/kukFk flag dk dFkk lkfgR;

inhi tk;loky*

जनवाद' शब्द अंग्रेजी के 'डेमोक्रेसी' का हिन्दी संस्करण है। डेमोक्रेसी शब्द के 'डेमो' का अर्थ है–जनता। अब्राहम लिंकन ने (1809–1865) जनवादी व्यवस्था को जनता का, जनता द्वारा, जनता के लिए बताया है। वस्तुतः डेमोक्रेसी शब्द में मानव समूह का व्यापक हित समाहित है। जनवाद कला, साहित्य और जीवन के प्रति मार्क्सवादी दृष्टिकोण है। हिन्दी साहित्यकोश के अनुसार–'साहित्य की जो मार्क्सवादी विवेचना हुई, उससे जनवाद का प्रादुर्भाव हुआ।[1] हिन्दी साहित्यकोश के अनुसार हिन्दी साहित्य में 'जनवाद' कम्युनिस्ट स्रोतों से ही आया है। जनवादी काव्य या साहित्य से तात्पर्य– व्यवस्था विरोधी काव्य से है। उस व्यवस्था का विरोधी साहित्य जिसमें नब्बे प्रतिशत की कमाई पर दस प्रतिशत लोग मौज कर रहे हैं। जहां मेहनत करने वालों को उनके श्रम का उचित मूल्य नहीं मिलता, खून–पसीना बहाकर उत्पादन करने वाले लोग भूखों रहते हैं, जहां कपड़ा बनाने वाले लोग नंगे रहते हैं, जहां मकान बनाने वाले खुद फुटपाथों पर सो कर जीवन–यापन करते हैं, जहाँ मासूम बच्चे स्कूल जाने के बजाय होटलों की प्लेट धोने तथा भीख माँगने के लिए अभिशप्त हैं, जहाँ देश के शासक निहित स्वार्थों के चलते देश को बेंच देने के लिए आमादा हैं, जहाँ राजनीतिक पार्टियों का अस्तित्व साम्प्रदायिक दंगों और जातीय घृणाओं की खेतियों पर निर्भर है और जहाँ शोषकों को जनता का खून पीने तथा कुछ भी करने की पूरी आजादी है। 'जनवाद' एक ऐसा दमकता मशाल है जिसे विश्व की शोषित, उत्पीड़ित जनता ने अपने मजबूत हाथों में उठाया है।[2] दूधनाथ सिंह का जनवादी साहित्य आम जनता की जिन्दगी को उसकी सम्पूर्ण प्रातिनिधिकता तथा समग्रता से प्रस्तुत करती है। उनका सम्पूर्ण साहित्य जनवादी चेतना से ओत–प्रोत है। उनके साहित्य में संघर्षरत आम–आदमी का चित्रण मिलता है। वह आम आदमी जो हर तरह के शोषण, दमन तथा भ्रष्टाचार का शिकार रहा है जो हर तरफ से उपेक्षित और तिरस्कृत किया गया है। जिसकी जिन्दगी अभावों का पर्याय बन चुकी है। दूधनाथ सिंह के साहित्य में व्यवस्था की मार झेलते निम्न एवं मध्यवर्ग की स्थितियों का यथार्थ परक ढंग से चित्रण मिलता है। इसमें निर्धन जनों के प्रति विशेष करुणा और सवंदेना व्यक्त की गई है। वह कहते हैं कि सामान्य जनता अपनी आजीविका चलाने के लिए घोर परिश्रम करता है। लेखक ने 'नमो अंधकारं' उपन्यास में आम–आदमी की आर्थिक विसंगतियों का चित्रण अत्यंत सजीव ढंग से किया है। सामान्य आदमी अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति किस प्रकार से करता है, इस संदर्भ की एक बानगी देखिये–''सब लोग कुछ–न कुछ करते ही हैं। सन्त प्रसाद पढ़ाता है। सिंह साहब कोचिंग चलाते हैं किसी की कोई उपरी आमदनी नहीं है। सभी कतर–ब्यौंत करते हैं। इधर तानते हैं तो उघार हो जाता है, उधर तानते हैं तो इधर। कभी–कभी ज्यादा तानते हैं तो चादर चर्र–से फट जाती है। उसी पर पेबंद साटने के लिए कोई साफ टुकड़ा भी नहीं मिलता। तब उसे उसी तरह खुला छोड़ देते हैं। जिन्दगी, चल रही है।[3]

दूधनाथ सिंह एक संवेदनशील कथाकार हैं। उनका मासूम बच्चों के प्रति विशेष लगाव रहा है। यही कारण है कि उन्होंने बालकों के आर्थिक और सामाजिक शोषण के विविध यथार्थपरक चित्र खीचा है–'बाल–श्रमिकों को मुक्त करवाना है। सूचना यह है कि पलामू जिले के लगभग तीन हजार बच्चे काम में लगे हैं, बॅधुआ हैं। उम्र आठ बरस से सोलह सत्रह तक। एक बच्चा एक कालीन तीन माह में तैयार करता है। मिलता क्या है? साढ़े चार सौ रूपल्ली खाने में खेसारी की दाल और घोड़ा–चावल। तुम पूछोगे,

*पूर्व शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सोलह–सत्रह से ज्यादा क्यों नहीं? पन्द्रह साल तक ऑखों से आन्हर। नाखून घिस कर लगभग गायब। अगुलियॉ ठूँठ, कोढ़ियों जैसी। खेसारी की दाल खाने से घुटने दस साल में टेढ़े। झुँड के झुँड मचकते हुए बालकों को देखना हो तो पलामू के गॉवों में जाओ।[4] निश्चित रूप से दूधनाथ सिंह ने पिछड़े हुए गाँवों में बाल–श्रम से पीड़ित बालकों की दुर्दशा पर अपनी संवेदना प्रकट की है। इस परिवार की आर्थिक स्थिति इस तरह बदहाल है कि एक मासूम बच्चे तक का पर्याप्त भोजन देने में असमर्थ है। 'जार्ज मेकवान' कहानी का 'जार्ज' पात्र जो पेशे से चित्रकार है लेकिन उसकी भी आर्थिक स्थिति अत्यन्त कमजोर है। इसी आर्थिक विपन्नता के कारण ही वह मलिन बस्ती में रहने के लिए बाध्य है।

दूधनाथ सिंह ने समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार पर तीखा प्रहार किया है। 'नमो अंधकारं' उपन्यास में कथा–पात्र गुरु जी दुखहर्ना की बेटी अनुसूया को लेक्चरर' की पदवी दिलवाते हैं और बदले में उसके पति जो जंगल में 'फारेस्ट आफिसर हैं, को फोन पर उसके द्वारा चंदन की लकड़ी बेचकर किये जाने वाले भ्रष्टाचार का बखान कर अपने लिए पैसे मँगवाते हैं–'पचास हजार का ड्राफ्ट तुरन्त भेजो। तुम्हारी बीवी की नौ महीने की तनखा होती है और तुम्हारी केवल पन्द्रह दिन की। हो सकता है तुम्हारे भ्रष्टाचार को मैं कम ऑक रहा होऊँ।[5] इससे स्पष्ट होता है कि समाज में भ्रष्टाचार अपना पैर किस हद तक फैला चुका है। पैसे की लालच ने मनुष्य की मनुष्यता को जैसे अपने आगे बौना कर दिया है। आज इस तरह के सैकड़ों उदाहरण हमें समाज में मिलते हैं।

दूधनाथ सिंह के उपन्यासों में वर्ग संघर्ष स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। 'निष्कासन' उपन्यास में वर्ग संघर्ष उच्च वर्ग और दलित वर्ग के साथ है, इस उपन्यास की नायिका दलित वर्ग से है। उसकी आर्थिक विपन्नता के कारण उसे हर जगह संघर्ष करना पड़ता है। वह विश्वविद्यालय में प्रवेश से लेकर हॉस्टल में रहने व खाने तक संघर्ष करती है। हर जगह उसका शोषण होता है। वह न्याय के लिए हर जगह भटकती है। लेकिन उसे न्याय नहीं मिलता है। अन्ततः वह पराजित होकर आत्महत्या कर लेती है। उसकी यह आत्महत्या वर्ग–विषमता की सीमा की पराकाष्ठा है। लेखक यहाँ पर पाठकों को सोचने के लिए बाध्य करता है कि समाज में वर्ग–विषमता की खाई खत्म होनी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को उसका अधिकार मिलना चाहिए। ''अगर छोटी बहन भी एक वक्त खाना छोड़ दे, तब भी एक मुश्त इतने पैसे कहाँ से आयेगे? कोई किश्तों में चुकाना तो है नही। वे कमरे पर लौटीं और चुपचाप पड़ गयीं। थोड़ी देर बाद दोनों उठी और दूसरी लड़कियों से पूछा चिपकनेवाली लड़कियों में से ज्यादातर ने मुँह बनाया वे सभी महिमामंडित सवर्ण घरों से आती हैं, और गप के दौरान अक्सर हमारा खानदान हमारा खानदान बोलती हैं उन्होंने मुँह बनाया और दोनों बहनों को ऊपर से नीचे तक देखा भी। कुछ ने नाक भौ सिकोड़ी। कुछ ने रुमाल या दुपट्टा या तौलिया उठाकर नाक पर लगाया जैसे मुह पोछने जा रही हों दोनों बहनें इस कमरे से उस कमरे भटकती रहीं। फिर वे उन कमरों की ओर गयीं जिनमें उन्हीं की बिरादरी रहती थी।[6]

वर्ग संघर्ष की दृष्टि से उनकी कृति 'आखिरी–कलाम' और 'नमो अंधकारं' उल्लेखनीय है। इनमें लेखक ने वर्ग–संघर्ष की समस्याओं का बड़ा ही यथार्थ परक चित्र खीचा है। इस दृष्टि से उनका कथा–साहित्य अत्यंत महत्वपूर्ण है। कहना गलत न होगा कि 'निष्कासन' उपन्यास में वर्ग संघर्ष का रूप दलितों और सवर्णों के बीच की लड़ाई है। आजादी के 65 वर्ष के बाद भी वर्ग–विषमता समाप्त नहीं हुई है। कुल मिलाकर देखा जाय तो दूधनाथ सिंह के कथा–साहित्य में अर्थ चेतना एवं वर्ग–संघर्ष के विभिन्न आयाम चित्रित हुए हैं। दूधनाथ सिंह ऐसे कथाकार हैं जिनके कथा–साहित्य में युगीन चेतना की अभिव्यक्ति सीधे रूप में हुई है। वह अपने समय के सामाजिक सरोकारों से सीधे रूप से जुड़ती है। आज समाज में वर्ग–भेद की समस्या ज्वलन्त है। प्रभुसत्ता सम्पन्न वर्ग आज भी दिन–रात वैभव में खेलता है और उसके विपरीत निर्धन वर्ग रोज़ी–रोटी के जुगाड़ में रात–दिन मेहनत करता है। लेखक ने अपने कथा–साहित्य में वर्ग संघर्ष की इसी भावना को गहराई से अभिव्यक्त किया है। उनकी समूची संवेदना निम्न वर्ग के साथ है। उनके साहित्य में निम्न वर्ग के प्रति उदार चेतना दिखाई पड़ती है।

दूधनाथ सिंह की 'हुड़ार' कहानी में समाज में फैली कुरीतियों को एक निम्न जाति की महिला के माध्यम से प्रदर्शित करने का प्रयास किया गया है। एक निम्न जाति की महिला को अभिजात्य वर्ग किस

प्रकार शारीरिक यातना देता है। उसके उत्पीडन को संवेदनात्मक रूप से व्यक्त किया गया है। दूधनाथ सिंह के कथा–साहित्य में व्यवस्था की अमानवीयता एवं क्रूरता का यथार्थ चित्रण हुआ है।लेखक ने अपने कथा–साहित्य में वर्तमान कानून व्यवस्था पर तीखा प्रहार किया है। इनकी कहानियाँ देश की दूषित कानून व्यवस्था पर व्यंग्य करती दिखाई देती हैं। इनकी कहानियों के पात्र ऐसी दूषित व्यवस्था का विरोध ही नहीं करते, वरन् उसे जड़ से उखाड़ फेकने के लिए प्रयास करते हैं। इस दृष्टि से दूधनाथ सिंह की 'स्वर्गवासी' 'विजेता' 'प्रतिशोध' आदि कहानियाँ उल्लेखनीय हैं। उनकी कहानियों के पात्र व्यवस्था को दूषित करने वाले वर्ग के चरित्र को उद्घाटित करते है तथा उनकी नीतियों का पर्दाफाश करते हैं।

वर्तमान समय में दफ्तरशाही की समस्या अपना विकराल रूप लेता जा रहा है। लेखक ने अपने कथा पात्रों के माध्यम से अपना रोष व्यक्त किया है। आज देश के किसी सरकारी दफ्तरों में चले जायें, तो बिना पैसा (घूस) दिये कोई काम नहीं होने वाला है। वहां तो 'बाप बड़ा न भैया, सबसे बड़ा रूपया' कहावत चरितार्थ है। कथाकार ने अपनी कहानियों में दफ्तरशाही का सजीव चित्रण किया है। उन्होंने इसके विरूद्ध तीक्ष्ण प्रतिक्रिया व्यक्त की है। वर्तमान में टूटते पारिवारिक मूल्य एवं विघटन को कथाकार ने अपने कथा–साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान दिया है। उनकी कहानियां भारतीय जीवन–मूल्यों और आपसी सम्बन्धों के विघटन को गहराई से चित्रित करती हैं। दाम्पत्य जीवन को लेखक ने बहुत ही मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया है। इस दृष्टि से इनकी 'सुखान्त' 'स्वर्गवासी' कहानियां महत्वपूर्ण हैं।

दूधनाथ सिंह की नारी विषयक दृष्टि प्रगतिशील है। इनकी कहानियों में नारी अपने ऊपर होने वाले अत्याचार का डटकर सामना करती है। वह अब पुरुषों की कठपुतली बनकर नहीं रहना चाहती है। उनका मानना है कि वह अब दासीया सम्भोग की वस्तु नहीं है वह अपना जीवन अधिकार के साथ जीना चाहती है। दूधनाथ सिंह की नारी पात्र स्वयं आत्म निर्भर होना चाहती हैं। वे बन्धन से मुक्त होना चाहती हैं। आज की नारी प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों के साथ कंधे–से कंधा मिलाकर निरन्तर आगे बढ़ रही हैं। 'लेखक की 'माई का शोकगीत' कहानी में उनकी नारी दृष्टि प्रगतिशील एवं सकारात्मक रही है। इस कहानी में कथा–पात्र गंगा माई गांधी की चेली है। वह घर–घर जा करके स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग पर बल देने को कहती है। कहानी में वह अपनी सखी 'कनियॉ' को उसके पति के अत्याचारों से बचाने में असमर्थ रहती है। गंगामाई महात्मा जी का अलख जगाते हुए कनिया के घर पहुंचती है और भारत माता को छुड़ाने की बात करती है। तभी कनिया कहती है– 'पहिले हमके छुडाओं न सखी। हम भी तो काल–कोठरी में बन्द है। हमारी भी तो कुर्ती फट गयी है। हम तो बेपर्द हो गये हैं। इहॉ भी एक ठो राच्छस पहरा दे रहा है।[7] इसी कहानी में गंगामाई पुरुषों पर व्यंग्य करती हुई कहती है– ''ये दुनिया औरत खातिर कसाईखाना ही है।'' निश्चित रूप से इस व्यंग्य के पीछे एक पीड़ित शोषित नारी की संवेदना को उजागर करने का प्रयास किया है। दूधनाथ सिंह जनवादी रचनाकार की कोटि में आते हैं। वह अपनी वैज्ञानिक सोच रखते हैं। इसलिए किसी भी बात को बिना तथ्यों और तर्को की कसौटी पर कसे उसे स्वीकार नहीं करते हैं। वर्षो पुरानी परम्पराओं एवं सामाजिक मूल्यों का विघटन जिस तरह हो रहा है उससे मनुष्य की धार्मिक आस्था प्रभावित हुई है। भौतिकवाद के बढ़ते प्रभाव से मनुष्य की आध्यात्मिकता नष्ट होती जा रही है और वह धर्म के प्रति उदासीन होता जा रहा है।

दूधनाथ सिंह के कथा–साहित्य में धर्म पर तीक्ष्ण प्रहार किया गया है। ''आखिरी कलाम' उपन्यास के कथानायक प्रो0 तत्सम पाण्डेय घोर नास्तिक हैं। वह अपनी बहू गायत्री और पोते रविकान्त के आस्तिक व, कर्मकाण्डी व पूजा पाठ पर जोर देने पर नफरत करता है। कथा नायक तत्सम पाण्डेय का नौकर बिल्लेश्वर भी अपने मालिक की भॉति धर्म को एक सिरे से नकारता है–''धरम–करम अन्दर की चीज है। उसे बाहर क्यों दिखाते हो? दिखाते हो, इसीलिए झगड़ा है। सब कहते हैं, ईश्वर एक है, उसकी इबादत के रास्ते अलग–अलग हैं। एक तो ईश्वर को लेकर ही लफड़ा है। जो दिखता नहीं वही सारे झगड़े की जड़ है।[8] लेखक भली–भॉति जानता है कि ईश्वर, भगवान, खुदा कर्म–काण्ड, धर्म–मजहब, पुनर्जन्म और भाग्य इत्यादि के सारे विधान झूठे हैं। लेखक पाठकों को सचेत करता है कि सत्ताधारी वर्ग आम जनता को दिग्भ्रमित करने तथा गुमराह करके अपने वश में किए रहने के लिए तमाम तरह के खतरनाक साजिश रचता है। इस दृष्टि

से दूधनाथ सिंह के साहित्य में वैज्ञानिक दृष्टि मिलता है। इनके कथा–साहित्य में जिस जन–सामान्य का चित्रण हुआ है वह गरीबी, भुखमरी, फटेहाली, बेरोजगारी, एवं शोषकों के शोषण नीतियों का शिकार होते रहे हैं साथ ही व्यवस्था के चौतरफा हमलों को झेलती हुई जिन्दगी जी रहे हैं। लेखक अपने कथा–पात्रों के माध्यम से सर्वहारा वर्ग को एकजुट होकर संगठित रहने की वकालत करता है। लेखक का दावा है कि जिस दिन वह शक्ति–संगठित होकर अपने हक के लिए आवाज उठायेंगे, उस दिन दुनिया का कोई भी तानाशाह उनकी आवाज को नहीं दबा सकेगा। दूधनाथ सिंह के कथा–साहित्य में जनता की इस ताकत का व्यापक चित्रण हुआ है। आज के समाज का बहुसंख्यक वर्ग समस्याओं के जाल में जकड़ा हुआ छटपटा रहा है। मुसीबतें कदम–कदम पर मुँह बाये खड़ी हैं। हर आदमी घुट–घुट कर जीने के लिए विवश है और जिन्दगी एक प्रश्नचिह्न बन गयी है। किन्तु यह भी शत्–प्रतिशत सत्य है कि यह स्थिति हमेशा नहीं रहेगी। वह इतिहास बोध से लैस है। मानव–समाज के लम्बे ऐतिहासिक विकास में कई बार इस तरह की समस्याओं का सामना हुआ है। बड़ी बात यह है कि उनका समाधान भी निकाला गया है। आज हमारी जिन्दगी भले ही संकटों से घिरी हुई हो, लेकिन कल ये संकट अवश्य ही दूर होंगे। इसलिए इन सबके बावजूद निराश या हताश नहीं है। आम–आदमी में अदम्य आशा, विश्वास, साहस और जिजीविषा है। दूधनाथ सिंह का कथा–साहित्य हमें सकारात्मक लक्ष्य या मंजिल की ओर अग्रसर करती हुई प्रेरित करती है। उसमें जिन्दगी के प्रति एक आत्म विश्वास भरती है।

दूधनाथ सिंह के कथा–साहित्य की महत्वपूर्ण विशेषता है उसकी संघर्षशीलता और क्रांतिकारी चेतना। इनके साहित्य का सर्वहारा वर्ग का पात्र क्रांति का उद्घोष करता हुआ नजर आता है। वह शोषक–शासक वर्ग के समूचे भेड़िया तंत्र के विरूद्ध जेहाद छेड़ने और उनके लूट के सिंहासन पर धावा बोलने का आह्वान करता है अतः कहा जा सकता है कि दूधनाथ सिंह ने अपने कथा–साहित्य में आज की जिन्दगी के विविध पक्षों और आयामों को समग्रता में विस्तार से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इनकी कहानियों को पढ़ते हुए आज के समूचे समाजिक यथार्थ के तमाम तरह के रूपों से सीधा साक्षात्कार होता हैं। 'माई का शोकगीत, धर्मक्षेत्रे–कुरुक्षेंत्र, सुखान्त इत्यादि कहानी–संग्रह इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। अपनी कुछ खास निजी विशेषताओं के कारण दूधनाथ सिंह की कहानियों को विशेष ख्याति प्राप्त है। कहना गलत न होगा कि उनकी (कथा साहित्य) कहानियाँ काफी वैविध्यता को समेटे हुए है।

समग्रतः दूधनाथ सिंह का कथा–साहित्य जनवादी चेतना से ओत–प्रोत है। इनकी जनवादी दृष्टि–प्रगतिशील रही है। वह आधुनिक भाव–बोध और संवेदना के रचनाकार हैं। वह जनवादी विचारधारा के कथाकार हैं, जो मार्क्सवाद से प्रेरित हैं। जनवादी लेखकों में दूधनाथ सिंह का महत्वपूर्ण स्थान है। उनका साहित्य सामान्य जन की जिन्दगी के बीच उगते हुए उसकी आशाओं–आकांक्षाओं, उसके स्वप्नों तथा संघर्षों को वाणी देता है। लेखक ने अपने कथा–साहित्य में जहाँ एक ओर समाज में व्याप्त कुरीतियों, भ्रष्टाचार राजनीतिक स्वार्थपरकता, उच्च स्तरीय घूसखोरी को दर्शाया है, वहीं दूसरी ओर पारिवारिक विघटन, अन्तर्सम्बन्धों का तनाव, दाम्पत्य जीवन की समस्याओं का यथार्थ परक चित्र खींचा है। उनके साहित्य में उनके प्रगतिशील विचारों की झलक स्पष्ट रूप से दिखाई देती है।

I nO% %

1. हिन्दी साहित्यकोशः भाग–एक, पृ0 330
2. रामनारायण शुक्ल उत्तरार्द्ध, अंक–9, अप्रैल, 1975 पृ0 35
3. दूधनाथ सिंह, 'नमो अधंकारं' पृ0 70
4. दूधनाथ सिंह 'नमो अधंकारं पृ0 76
5. दूधनाथ सिंह – 'नमो अंधकार' पृ0 28
6. दूधनाथ सिंह 'निष्कासन' पृ0 14
7. दूधनाथ सिंह, कहानी–संग्रह– 'माई का शोकगीत, पृ0 108
8. दूधनाथ सिंह, आखिरी कलाम पृ0 292

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

i:lkn dh lkUn;:i pruk

xkiky ;kno*

हिन्दी साहित्य को आलोकित करने वाले बहुमुखी प्रतिभा के धनी जयशंकर प्रसाद एक सजग कवि, नाटककार, कहानीकार उपन्यासकार, निबन्ध–लेखक तथा समीक्षक सभी रूपों में जाने जाते हैं। अपनी रचनाओं में प्रसाद जी ने अपने युग की सांस्कृतिक चेतना का रसात्मक संस्करण प्रस्तुत किया है। आधुनिक हिन्दी काव्यधारा में स्वच्छन्द चेतना का प्रवर्तन, अन्तर्मुखी अनुभूतिमयी भावधारा का मोह इसी प्रतिभा सम्पन्न कवि के द्वारा सम्भव हो सका। इस सन्दर्भ में डॉ. विजयेन्द्र स्नातक का कहना है–''निश्चय ही प्रसाद साहित्य संस्कृति एवं तत्व चिंता के क्षेत्र में एक मेधावी मनीषी, आलोचना के क्षेत्र में एक आलोकवाही साहित्य चिंतक और सर्जन के क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी प्रबुद्ध और रस वेत्ता–सृष्टा तथा विविध साहित्य शैलियों के आविष्कर्ता हैं।''[1]

जयशंकर प्रसाद की काव्य–चेतना निरन्तर उर्ध्वगामिनी रही है। वह तो सतत् स्वच्छन्द मार्ग पर प्रवाहित होती रही। उसमें इनके मानसिक विकास क्रम का प्रतिबिम्ब झलकता है। प्रारम्भ से ही प्रसाद ने किसी भी प्रकार की साहित्यिक सीमा के भीतर बद्ध होना उचित नहीं समझा। इन्होंने सर्वप्रथम द्विवेदी युगीन अनैसर्गिक काव्य व्यापार के विरुद्ध विद्रोह का स्वर उठाया काव्य को नियमों के जटिल बन्धनों से मुक्त कर, मानव जीवन के मार्मिक प्रसंगों को स्पर्श करने योग्य बनाया। इन्होंने कविता की रूद्ध गति को पूर्णतः उन्मुक्त करने का प्रयास अपनी प्रारम्भिक कृतियों में किया। इस सन्दर्भ में आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी का कहना है– ''वास्तव में सौन्दर्यसत्ता किसी काव्य सांचे की बंदिनी नहीं''[2]

प्रसाद जी का साहित्यिक जीवन 'इंदु' से प्रारम्भ होता है। 'इन्दु' के विकास के साथ ही कवि की काव्य चेतना भी स्पष्ट और पुष्ट होती हुई दिखायी पड़ती है। प्रसाद की काव्य प्रतिभा के विकास में इंदु का उतना ही हाथ है जितना किसी शिशु के विकास में मां के दूध का होता है।

छायावादी काव्य की दृष्टि से 'झरना' प्रसाद जी की रचनाओं का प्रथम संग्रह है। यही से प्रसाद की काव्य प्रतिभा में निखार आता है। प्रसाद जी की रचना आँसू हिन्दी साहित्य का एक श्रेष्ठ काव्य है। इस सन्दर्भ में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है– आँसू प्रसाद का विरह काव्य है। यह बड़ी ही मनोरम कविता है। हिन्दी में इसकी गणना थोड़ी–सी उत्कृष्ट रचनाओं में की जा सकती है।''[3]

आँसू में जो सौन्दर्य परिलक्षित होता है उस सन्दर्भ में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी लिखते हैं– ''आँसू काव्य में केवल स्थूल प्रेम या सौन्दर्य नहीं है, वे प्रेम और सौन्दर्य–रूप आत्मा के अंग बन गये हैं।''[4] आँसू में प्रसाद जी ने नायिका के सौन्दर्य का मनोरम चित्र अंकित किया है–

बांधा था विधु को किसने इन काली जंजीरो से।
मणिवाले फणियों का मुख क्यों भरा हुआ हीरो से।।[5]

प्रसाद जी सौन्दर्य को एक उदात एवं पवित्र भावना मानते है, जिसमें वासना का लेश भी नहीं है। आँसू में नायिका के पावन तन की शोभा निरूपित करते हुए वे कहते हैं–

चंचला स्नान कर आवे, चन्द्रिका पर्व में जैसी
उस पावन तन की शोभा, आलोक मधुर थी ऐसी।[6]

कवि ने यहाँ प्रिय के सम्पूर्ण व्यक्तित्व के सौन्दर्य का चित्रण किया है।

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

आँसू के उपरान्त प्रसाद की दूसरी रचना लहर में इनकी प्रेम भावना, सौन्दर्य भावना का पर्याप्त विकास हुआ है। लहर में मानवीय और प्राकृतिक दोनों प्रकार के सौन्दर्य के दर्शन किये जा सकते हैं–

वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे
जब सावन घन सघन बरसते
इन नयनों की छाया–भर थे।[7]

प्रकृति का मानवीकरण करते हुए ऊषा काल का अत्यन्त मनोरम चित्रण किया है–

बीती विभावरी जाग री।
अम्बर–पनघट में डुबो रही
तारा घट ऊषा नागरी।[8]

प्रसाद की सौन्दर्य चेतना का चरमोत्कर्ष कामायनी में देखने को मिलता है। कामायनी के सर्जना के मूल में प्रसाद का सम्पूर्ण कर्तृत्व सूत्र रूप में तन्तुवाचित हुआ है। ऐसा लगता है कि मानो उनकी ये सारी कृतियाँ कामायनी की भाव–भूमि विनिर्मित करने वाली है। इन सब कृतियों की चरम परिणति एवं छायावाद युग की श्रेष्ठतम उपलब्धि कामायनी में दृष्टव्य है। रामधारी सिंह दिनकर इसे प्राचीन आख्यान पर आधारित एक ऐतिहासिक काव्य मानते हैं और ''प्रसाद जी ने इस ऐतिहासिक कथावस्तु को साभिप्राय ग्रहण किया है, उसके द्वारा उन्होंने वर्तमान मानवता और समाज के सम्मुख आदर्श उपस्थित कर तत्कालीन अनेक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया है।''[9]

वस्तुतः कामायनी में मनु अथवा मनस् तत्व की अभिव्यक्ति करना कवि का ध्येय रहा है। इस सन्दर्भ में स्वयं प्रसाद जी ने कामायनी की भूमिका में स्वीकार किया है– ''यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी अद्‌भुत मिश्रण हो गया है। इसलिए मनु और श्रद्धा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए सांकेतिक अर्थ की अभिव्यक्ति करे तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष, हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से है।[10]

यह प्रसाद की ही नहीं समूचे छायावाद बल्कि आधुनिक हिन्दी काव्य की एक प्रौढ़तम कृति है। इसकी तरह का भाव सौन्दर्य और कल्पना उड़ान प्रसाद की अन्य कृतियों में नहीं है। मानव जीवन के प्रलय उसके बाद पुनः आरम्भ की विवेचना करने वाले इस काव्य में कही भी नीरसता या शुष्कता नहीं है। इसमें सौन्दर्य के दर्शनीय स्वप्नों की भरमार तथा जीवन के गवेषणात्मक तथ्यों का गम्भीर्य और बौद्धिक विचार धाराओं का अद्‌भुत समन्वय मिलता है। श्रद्धा का अकथनीय सौन्दर्य मनु को विचलित कर देता है– और देखा वह सुन्दर दृश्य नयन का इन्द्रजाल अभिराम,
कुसुम वैभव में लता समान चन्द्रिका से लिपटा घनश्याम।[11]

इसी क्रम में आगे लिखते हैं–

नील परिधान बीच सुकुमार,
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल,
मेघ बन बीच गुलाबी रंग।[12]

प्रसाद ने श्रद्धा के सौन्दर्य का मांसल एवं स्थूल चित्रण न करके सूक्ष्म एवं वायवी चित्रण किया है श्रद्धा को अपने समीप खड़ा देखकर मनु को ऐसा लगा मानो फूलों भरे उपवन से वायु द्वारा बहाकर लायी हुई सुगन्ध ने साकार रूप धारण कर लिया हो–

''कुसुम कानन अंचल में मन्द, पवन प्रेरित सौरभ साकार।
रचित परमाणु पराग शरीर, खड़ा हो ले मधु का आकार।''[13]

प्रसाद जी सौन्दर्य को परमात्मा द्वार दिया गया सात्विक वरदान मानते हैं–

उज्ज्वल वरदान चेतना का, सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं।
जिसमें अनन्त अभिलाषा के, सपने सब जगते रहते हैं।[14]

आदि से अन्त तक काव्य की प्रत्येक पंक्ति सूक्ष्म सौन्दर्य से आविल तो है ही दार्शनिक चेतनाओं से भी समन्वित है। कामायनी की कथा योजना का आधार भारतीय ग्रन्थों में बिखरी हुई सामग्री है। 'आमुख' में शतपथ ब्राह्मण, ऋग्वेद छान्दोग्य उपनिषद आदि का उल्लेख स्वयं कवि ने किया है। पात्रों की ऐतिहासिकता को जीवित रखने के साथ ही उन्हें उनमें नवीन योजना तथा प्राण–प्रतिष्ठा भी करनी थी। सजीवता की रक्षा के लिए प्रसाद ने उनमें भावों को संग्रहीत कर दिया। उनकी व्यक्तिगत चारित्रिक विशेषताएं उन्हें प्रतिनिधित्व प्रदान करती है। कामायनी एक सुन्दर रूपक के रूप में भी प्रस्तुत हो सकती है। मनु मन का प्रतीक है। श्रद्धा उसका हृदय तथा इड़ा बुद्धि पक्ष है। श्रद्धा का वास्तविक मूल्य न जानने वाला मन इधर–उधर भटकता है। अन्त में इसी के द्वारा उसे आनन्द प्राप्ति होती है। कामायनी की कथा योजना इस प्रकार की है कि उसको अनेक रूपों में प्रस्तुत किया जा सकता है। वह आदि मानवता का विकास है। एक मनोवैज्ञानिक रूपक की दृष्टि से उसमें मनोविकारों की क्रमिक व्यवस्था भी प्राप्त हो सकती है। मानवता के इतिहास में इनका महत्वपूर्ण स्थान है। कामायनी कवि की अन्तिम और अन्यतम साधना का परिणाम है। इसमें दीर्घता की अपेक्षा गम्भीर्य अधिक है। रघुवंश यदि एक विस्तृत राजपथ है तो कामायनी एक मनोरम वीथी। राजपथ के सौन्दर्य का परिचय दूर तक चले जाने से प्राप्त होता है किन्तु वीथी की सुकुमार शोभा ठहर–ठहर कर देखनी पड़ती है। तब जी भरता है।

कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी सभी क्षेत्रों में अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा से कार्य करने वाले इस महान कलाकार ने अपने समय की सांस्कृतिक चेतना का रसात्मक संस्करण साहित्य में प्रस्तुत किया। भारतीय दर्शन का विशद् अध्ययन करने वाले इस कलाकार ने कामायनी में उनका काव्यात्मक संकलन प्रस्तुत किया। उपनिषदों का अद्वैतवाद, शैव दर्शन की प्रत्यभिज्ञा, बौद्धों की करुणा एक साथ उनके काव्य में प्रस्फुटित हो उठी। आँसू के विरह–वर्णन में एक ओर यदि स्वच्छन्तावादी कवियों की सी आत्मकथा है तो दूसरी ओर सूफियों के तन्मय प्रेम की सी अभिव्यंजना। 'झरना' के गीतों में यदि मानव प्रकृति की भावनाओं का सम्मिलन है तो 'लहर' में अपूर्व तन्मयता। काव्य के सीमित क्षेत्र में भावना और शब्द के बन्धनों में एक साथ इतनी भावनाओं का समाहार कवि की महानता का परिचायक है। भाषा के क्षेत्र में प्रसाद जी ने उसे लालित्य प्रदान किया। खड़ी बोली का सर्वोत्तम रूप उनमें मिलता है। कवि प्रसाद ने परम्परा का अनुकरण न करते हुए भी उसमें योग दिया। उन्होंने स्वयं प्राचीन का एक नवीन संस्करण प्रस्तुत किया। कामायनी विश्व के काव्यों में एक आगामी चरण है। आँसू विरह काव्यों में मेघदूत के समीप रखा जा सकता है।

lUnHkZ %

1. महाकवि प्रसाद, डॉ. विजयेन्द्र स्नातक एवं डॉ. रामेश्वर लाल खण्डेलवाल (भूमिका) भारतीय साहित्य भवन, 1948
2. हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी, नन्ददुलारे वाजपेयी, लोक भारती प्रकाशन, सं. 2010, पृ. 100
3. वही, पृ. 102
4. वही, पृ. 102
5. आँसू, जयशंकर प्रसाद
6. वही
7. लहर, जयशंकर प्रसाद
8. वही
9. जयशंकर प्रसाद, नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ. 60
10. कामायनी, जयशंकर प्रसाद, प्रखर प्रकाशन, दिल्ली, भूमिका पृ. 6
11. कामायनी, जयशंकर प्रसाद, प्रखर प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 42
12. वही, पृ 42
13. वही, पृ. 43
14. वही, पृ. 83

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

ykd dykdkj ^fHk[kkjh Bkdqj* dk lkaLd`frd lanHk ^lw=/kkj*

joh\Un dqekj ;kno*

संजीव का लेखन मूलतः वंचित वर्ग का लेखन है। इनके लेखन में आम आदमी, स्त्रियों, मजदूरों, किसानों और आदिवासियों के दर्द और पीड़ा को प्रमुखता से उठाया गया है। सन् 1980 के बाद 21वीं सदी के दूसरे दशक तक की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक परिस्थितियों को, उन्होंने अपने कथा साहित्य के माध्यम से मुख्य रूप से उठाया है। इनके उपन्यास तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों को केवल यथार्थ में व्यक्त ही नहीं करते, बल्कि वे एक ऐतिहासिक दस्तावेज़ की तरह हैं जो अपने समय व समाज का यथार्थ भी प्रस्तुत करते हैं। इतिहास ने जिसे सदियों से नकारा और उपेक्षित किया था, उनकी आवाज के एक सशक्त हस्ताक्षर के रूप में, कथाकार संजीव का नाम लिया जाता है। सन् 2003 में प्रकाशित इनका बहुचर्चित उपन्यास 'सूत्रधार' एक दलित जीवन की संतप्त गाथा है। 'जीवनी परक' इस उपन्यास के केन्द्र में भोजपुर की माटी के महान कलाकार, नट–सम्राट 'भिखारी ठाकुर' हैं। जिस व्यवस्था में छोटी जातियों के लिए उमंग एवं उल्लास के साथ जीवन जीने की मनाही रही हो, उस व्यवस्था में 'भिखारी ठाकुर' जैसे कलाकारों को कितने संघर्षों के बाद इस जातिवादी व्यवस्था में जगह मिल पाता है, उपन्यास इस तरफ भी हमारा ध्यान केन्द्रित करता है। यह उपन्यास 'भिखारी ठाकुर' के साथ–साथ भोजपुरी की माटी के अन्य कलाकारों, कला प्रेमियों को भी सामने लाता है जो सभी मिलकर उस क्षेत्र में एक नया स्वर और नयी बगावत की आवाज को बुलंद करते हैं।

भोजपुरी अचंल और वहाँ के लोगों की मानसिकता सामाजिक संरचना, जाति, भेद–भाव, नफरत, ऊँची जातियों द्वारा किए जाने वाले अत्याचार को इस उपन्यास में स्पष्ट रूप में दिखाया गया है। दलित जाति (नाई) से संबंध रखने वाले 'भिखारी ठाकुर' के माध्यम से कथाकार ने दलित विमर्श के नए प्रश्नों को हमारे समाने लाया है। उपन्यास ग्रामीण रूढ़िवाद के यथार्थ को दिखाता है जिसमें केवल दलित ही नहीं बल्कि तत्कालीन समाज, ग्रामीण परिवेश, लोकजीवन, स्त्री, किसान, और दूसरे प्रान्तों की तरफ भागते हुए गरीब परिवारों की दशा को स्वाभाविकता के साथ सामने लाता है। वास्तव में उपन्यास 'सूत्रधार' भिखारी ठाकुर जैसे लोक कलाकार, साहित्यकार, कालजयी गायक, गीतकार को केंद्र में रखकर लिखी गयी एक महत्त्वूर्ण जीवनी भी है और उपन्यास भी है। जिसमें जीवनी के साथ–साथ आम आदमी के जीवन–संघष्र को दिखाया गया है। उपन्यास केवल एक व्यक्ति का यथार्थ प्रस्तुत नहीं करता बल्कि, भोजपुर की उस माटी की महक को भी उसी यथार्थ के साँचे में उतार देता है। जैसा वह हकीकत में अपने परिवेश बोध एवं सांस्कृतिक रूप के साथ वहाँ उपस्थित है। उपन्यास भारतीय भाषा के सबसे बड़े केंद्र एवं उस क्षेत्र तथा वहाँ की अट्ठारह करोड़ जनता और वहाँ की संस्कृति को जीवित करता है। भिखारी ठाकुर के माध्यम से कथाकार ने उस क्षेत्र के समूचे लोक कलाकारों की दयनीय स्थिति को भी उजागर किया है। जहाँ कलाएं दम घोंट देती हैं। सामंतवादी मानसिकता की जहाँ बहुलता है। ऐसे परिवेश में लोक कलाकार किस तरह से संघर्ष करते हैं उसका यथार्थ उपन्यास में दिखाई देता है। निःसंदेह संजीव की यह कृति जितना उपन्यास है, उतनी ही जीवनी भी और जितनी जीवनी है उतना ही, उपन्यास भी। भिखारी ठाकुर की जीवनी को औपन्यासिक कला तत्वों के माध्यम से कथाकार ने उसे औपन्यासिक ढांचे में ढालने की पूर्ण कोशिश की है। यह उपन्यास भिखारी ठाकुर के जीवन का महावृतांत या महागाथा है, जिसमें

*शोध छात्र, हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा– 442001, महाराष्ट्र

दलित जाति की पीड़ा, घुटन और जातिगत दंश को उजागर किया गया है। भिखारी के गाँव में ऊँची जातियों का वर्चस्व था। ब्राह्मणों ठाकुरों का दबदबा था। ऐसे माहौल में किसी कलाकार का खुलकर अपनी प्रतिभा का उच्च प्रदर्शन करना काफी कठिन था और छोटी जाति के कलाकारों के लिए लगभग असंभव सा था। भिखारी एक ऐसे कलाकार थे जिन्होंने अपना पूरा जीवन लोक कलाओं के उत्थान में लगा दिया। लोककलाओं की परंपरा के साथ–साथ भिखारी ने लोक मन में बैठे रूढ़िगत विचारों को भी 'बेटी वियोग' नाटक के माध्यम से तोड़ा है। ये वह दौर था जब उत्तर प्रदेश बिहार आदि जैसे प्रदेशों में गरीबी अपने चरम पर थी। सामंतवादिता हावी था। स्त्रियों का समाज में कोई स्थान नहीं था। पर्दा प्रथा आम बात थी। इतिहास के इस दौर में भिखारी ठाकुर ने संघर्ष किया और उन सभी परिस्थितियों पर नियंत्रण स्थापित किया जो सिर्फ उन्हें ही नहीं बल्कि समूचे समाज को आगे नहीं बढ़ाने देना चाह रही थी। भिखारी ठाकुर लोक के हृदय थे। भोजपुरी की माटी और उसकी जातीय संस्कृति के कर्णधार थे। वे घर–घर और मन–मन में व्याप्त हैं। भिखारी ने अनेक विरोधाभाषों और कठिन परिस्थितियों के बाद भी अपने जीवन संघर्ष और अपनी संस्कृति को जीवित रखा। लोककलाओं की परंपरा के साथ–साथ भिखारी ने लोक मन में बैठे रूढ़िगत विचारों को भी अपने नाटकों के माध्यम से तोड़ा है। पारंपरिक नाटकों, सुल्ताना डाकू, भक्त प्रह्लाद जैसे तमाम नाट्य खेलों को भिखारी ने तोड़ा और उनके स्थान पर उन नाटकों का सृजन किया जिसमें आज के जीवन की ज्वलंत समस्याएँ थीं। ऊँची जातियों को सामंती दंभ यहीं नहीं समाप्त हुआ। वे भिखारी को केवल अपमानित ही नहीं किए समाज द्रोही के रूप में भी देखते थे। उन्हें लगता था कि यह समाज को बिगाड़ रहा है जबकि हकीकत यह थी कि वे समाज में व्याप्त भेदभाव छुआछूत के खिलाफ लड़ रहे थे। उपन्यास इस तरफ भी ध्यान आकृष्ट करता है– ^^ckã.k] jkt iqr] Hkfegkj vkj dk;LFkk d: T;knkrj ?kjku vkj mu ?kjkuk e: tk [kn dk bTtrnkj ;k Åpk ekur: Fk] fHk[kkjh ,d rjQ l: lekt nkgh d: :i e: mtkxj gku yx: FkA**[1] जो परंपरा सदियों से निर्मित हुई हो उसको तोड़ना अत्यंत कठिन कार्य होता है क्योंकि उस परंपरा को मनाने वाले लोग समाज में ज्यादा होते हैं वह भी उस दौर में जब सामंतवादी प्रवृत्तियाँ हावी हो पर भिखारी केवल उससे लड़ते ही नहीं हैं, बल्कि तोड़ते भी हैं। जिन्होंने 'बेटी वियोग' नाम का नया तमाशा लोक नाट्य के रूप में गढ़ा इसके माध्यम से जिन्होंने तत्कालीन समय और समाज की संवदेना ओर समस्या को प्रमुखता के साथ उठाया है। जिसे उसे समय तक प्रायः अनदेखा कर दिया जाता रहा है। उस समय लड़कियों के क्रय–विक्रय और खरीद फरोख्त का बहुत विरोध किया। विरोध का यही रूप उनके नाटक 'बेटी बेचवा' में दिखाई देता है।

^^jkt;k fxukb: fygy vk] ixgk] /kjkb: fngy&vA
pkfj;k d: Nfj;k cuoy gk ckc: thAA
oj [kkt: pfy xby&v] eky y:d: ?kj: /kb:y&vA
okck d: [kk [kkt y&n:ygok gk ckc: thA**[2]

पर ऊँची जाति के लोगों ने ऐसी कालजयी कृति पर भिखारी ठाकुर को प्रोत्साहित न करके बहुत फूहड़ और गंदी–गंदी गलियाँ दी, जान से मारने की धमकियाँ दी, पर भिखारी ने एक सच्चे मनुष्य, सच्चे कलाकार एवं सच्चे रचनाधर्मिता के साथ ही उस कला का परिचय दिया जिसके उत्कृष्ट चाह रखने वाले कलाकारों में धैर्य पहचानते हैं और इसी में एक कलाकार की सच्ची महानता है। एक बेटी के दर्द बहुत मार्मिक संवदेनाओं के साथ उन्होंने उठाया है। बेटी के रूदन का ऐसा यथार्थ बहुत कम स्थानों पर दिखाई देता है। इतनी गहरी मार्मिक और हार्दिक संवेदना के साथ अगर पाठक जुड़ता है तो रूह काप जाती है। आंखों में पानी आ जाता है। दर्शक–दीर्घा में या दूर अंधेरे में बैठी ग्रामीण स्त्रियों में सिसकियाँ सुनाई देने लगती थी। यह भिखारी की अपनी ताकत थी उन्हें माटी से जुड़ाव और धरती से, इस लोक से प्रेम था। लोक की संवेदना को एवं सीमित क्षेत्र की संवदेना को विश्व स्तर पर फैला देना अपने आप में किसी आश्चर्य से कम नहीं है। यह भिखारी ठाकुर की रचना धर्मिता थी जो निरंतर कुछ सीखते रहने की प्ररेणा और अपनी जमीन से जुड़े रहने की ताकत थी। किस तरह से समाज ने भिखारी को अस्वीकार कर दिया, उनके प्रति नफरत और घृणा की भावना समाज में भर दी गयी थी। इसका यथार्थ उपन्यास में दिखाई

देता है। ^^,d Hkh i:Ik ugh nuk g] <kyd gjefu;k Nhudj [knM nk lkyk dkA uk vbl: uk] gkFk&xkM rkM d Hkt d dke ckA**[3] भिखारी केवल बाह्य परिस्थितियों से ही नहीं लड़ रहे थे, बल्कि उनकी आंतरिक पारिवारिक स्थितियाँ भी अच्छी नहीं थी। पिता द्वारा लगातार डाट फटकार लगाई जाती थी कि ये नौटंकी का ड्रामा छोड़ दो, पहली पत्नी (आमढाढ़ी वाली) की मृत्यु हो जाती है पर भिखारी ने कहीं से भी अपने संघर्ष को कम नहीं किया। अपनी गायकी और अपने नाट्य अभिनय को सतत बनाए रखा और आज वही संघर्ष ही उनकी पहचान है। वे संघर्ष को कुंद करने वाली शक्तियों के सामने कहीं से भी झुके नहीं। लगातार नम्र और विनम्र होकर लड़ते रहे क्योंकि गाँव में ऊँची जाति के लोगों का वर्चस्व था। उस समय ऐसी परिस्थितियाँ नहीं थी कि सीधे ही किसी ऊँची जाति के लोगों से लड़ा जा सका या उनका खुलकर विरोध किया जा सका। सामंती परिवेश में उनके सामने झुकना लगभग अनिवार्य सा था। तमाम विपरीत परिस्थितियों में भी भिखारी अडिग रहे, अपने धैर्य और सच्चे कलाकार के धैर्य का परिचय देते रहे। उपन्यास में इस तरफ कथाकार ने ध्यान आकृष्ट किया है– ^^gejk l vxj dkbZ Hkyk Hkby gk[k rks ekQh fngy tk;! ekQh ckc lkgc] ekQh! ekQh okckth ykx] ekQh! ipk!A**[4] उपन्यास 'भिखारी ठाकुर' के मानसिक अंतर्द्वन्द परिवेश, टूटते–बिखरते हुए इरादों और लगातार करते हुए संघर्ष को सही रूप में प्रस्तुत करता है। उपन्यास केवल भिखारी के जन्म से लेकर मृत्यु तक का ही दस्तावेज़ प्रस्तुत नहीं करता है। बल्कि एक रचनाकार के बनने की प्रक्रिया और उसके संघर्षों को यथार्थ में दिखाने का प्रयास भी करता है। उपन्यास में तत्कालीन समाज में व्याप्त सामंती मानसिकता, वर्णव्यवस्था के जीर्ण–शीर्ण खोखले तथा कर्मकांड को दिखाया गया है। बदलाव के पक्षधर रहे भिखारी खुद ही इसकी चपेट में थे। उपन्यास छोटी जातियों पर हो रहे अमानवीय अत्याचार के साथ–साथ उस समय के जाति–पाति, भेदभाव, रहन–सहन तथा उनके परिवेश और उच्च जातियों के खोखले दंभ और आडंबर को दिखाता है, जिनका अब समाज में कोई स्थान नहीं रह गया है। फिर भी समाज में वे मौजूद हैं जिसके तले छोटी जातियाँ घुट–घुट के अपना दम तोड़ दे रही हैं। उपन्यास इस व्यवस्था का विरोध करने वाले वर्ग के केन्द्र में रखता है। भिखारी देखते हैं कि हर जाति समुदाय के लोग जब इन ब्राह्मणों को सेवा के फलस्वरूप पूजा–पाठ में सहयोग देते हैं तब वे अछूत क्यों नहीं कहलाते जबकि सामाजिक रूप से इन्हीं से सेवा करवाने वाले लोगों को ये ब्राह्मणों अछूत घोषित कर देते हैं इतना अन्याय देखकर भिखारी के मन में वैज्ञानिक तर्क का एहसास होता है–^^xxkty ukbZ ;k dgkj <kdj d vk, Fk] ydMh ykgkj QkM jgk FkkA n/k&ngh vgjh d ?kj l vk;k gkxk] dy'kk ijbZ dEgkj n x;k gkxk] nkuk iÙky uV vkj Mke n x, gkxA vke d iYyo ,d eYykg dk yMdk rkM d fxjk jgk Fkk] ;g mlu [kn n[kk] v{kr cfu;k dh ndku l vk;k gkxk] diM vkj nlj phtk dk Hkh ckã.kk u ugh gh cuk;k gkxkA exj ;s lkjs ykx vc mUgs NwHkh ugh ldrsA**[5] आधुनिक जीवन में कर्मकांडों का कोई स्थान नहीं है। ब्रह्म–परब्रह्म और ईश्वरीय सत्ता को कथाकार संजीव ने अस्वीकार कर दिया है। वेद, पुराण, गीता में लिखे गए नियमों को वैज्ञानिक ढंग से परखने की कोशिश की है। भिखारी का तत्कालीन समाज पूरी तरह से परंपरा की चपेट में था। पर भिखारी की दृष्टि वैज्ञानिक थी। भिखारी के मन में ये प्रश्न बार–बार गूँजता कि अगर समाज में मान–सम्मान पाना है तो ज्ञानी बनना पड़ेगा। यह भी विचार आता कि अगर ज्ञानी बन गए तो क्या होगा। ऊँची जाति में जन्म भी लेना होगा तभी सम्मान मिल सकेगा। इनसे इतर भी कुछ घटनाएँ उनके बचपन के दिनों में घटित हुई जिससे भिखारी के मन को बहुत चोट पहुँची। एकौना गाँव में यज्ञ हो रहा था। दूर–दूर के पंडित काशी अयोध्या दरभंगा, पटना, आरा और देवघर जैसे नगरों से पहुँच रहे थे। भिखारी के गोरे बदन सुंदर व्यक्तित्व को देखकर और अन्य ब्राह्मणों ने उन्हें भी ब्राह्मण समझकर यज्ञशाला में रंगीन अक्षत से चौका पूरा करने का काम सौंप दिया पर थोड़ी ही देर में एक दूसरा ब्राह्मण आया और भिखारी को पहचानने पर उन्हें जातिगत अपमान भरी टिप्पणियाँ की, भिखारी का बालमन घृणा, अपमान, दुत्कार से भर उठा–

> ^^b d g&v** vkokt e bruh ?k.kk Fkh fd fHk[kkjh d gkFk& ikS BM gk x, dy tk dkiu yxkA
>
> ^^dkg dk ckr g\ igy iMh th u iNkA

^^vki dk cká.k ugh HkVkok tk ukbZ d yMdh l tXx'kyk HkjLV djok jgs gS\A**[6]

दलितों की स्थिति परंपरावादी समाज में किस स्थिति तक गिरी हुई है। उपन्यास में इसकी गहरी पड़ताल की गयी है। भिखारी को नाई जाति में जन्म लेना ही बहुत बड़ा बोझ लगता था न कोई मान, न कोई सम्मान, जहाँ भी जाओ तरह–तरह के ताने सुनने को मिलते, लोगों की हजामते नाई देखते ही बढ़ जाती। शादी–विवाह के अवसर पर जितना कुछ नाई के मिलता नहीं उससे मिलता नहीं उससे कई गुना उससे श्रम करवाया जाता है। पारिश्रमिक के नाम पर थोड़ा सा दाल चावल आता और एकाध रूपया मिल गया तो यही बहुत है। किसी तरह पेट पल जाता। भिखारी शादी विवाह के एक संदेश देकर जा रहे हैं एक संदेश लेकर आ रहे हैं। मन क्रोध और घृणा से भर जाता ऐसा समाज और उसको बनाने वाले लोग भिखारी को बिल्कुल भी पसंद नहीं थे। उन्हें लगता कि क्या ऐसे ही टहलुअई करते बीत जाएगी पूरी उम्र, क्या ऊँची जाति की सेवा करना ही मेरे जीवन का लक्ष्य है। उपन्यास एक दलित के दर्द और उसकी करूण वेदना से होकर गुजरता है– ^^ukUg tkfrokyk vkneh pkgs ftruk Hkh Kkuh gks] cM tkfrokyk dh fy, mldk flQZ ,d mi;ksx gS lsok ysukA lsok&ysuk vkj mlls f?kuk djukA 'kkL=ksa esa Hkh ;gh fy[kk gS vkj cki&egrkjh xq: lekt Hkh ;gh ekurk gSA**[7]

भिखारी ने जिन परिस्थितियों में रहकर संघर्ष किया और जिन परिस्थितियों में रहकर अपनी कला तथा प्रतिभा का परिचय दिया। वे अद्वितीय है सभी के लिए संभव नहीं है। भिखारी का संघर्ष केवल वैयक्तिक न होकर सामाजिक संघर्ष बन जाता है। भिखारी किसी व्यक्ति से नहीं बल्कि समूचे समाज में व्याप्त कुरीतियों से लड़ते हैं। ब्राह्मणवाद से लड़ते हैं। घर में बैठकर निकृष्ट कार्य करने वाले लोग, महापाप करने वाले लोग जब समाज के सामने आते हैं तो कैसे सभ्य और सुशील बन जाते हैं। जबकि भिखारी जिस यथार्थ में जीते हैं वह उनका केवल वैयक्तिक यथार्थ नहीं है बल्कि वह सामाजिक यथार्थ है। उनके जीवन में एकरूपता है जैसा वे अंदर है वैसे ही वे बाहर भी हैं। उपन्यास ऐसी कुत्सित मानसिकता और घृणित कर्म करने का विरोध करता है। ऊँची–जाति की शेखी बघारने वाले ऊँचे लोगों का यथार्थ उपन्यास में दिखाई देता है–

^^Hkhrj&,&Hkhrj] xk; ekj dh] pkgs rks gte dj ys ykxk pkph] ekeh] ekSlh] Qwvk] cfgu] fcfV;k] pkgs rks dPNks uk NwVs vkj re cky fn, rks rhj gks x,**[8]

लोक कलाओं की परंपरा को जीवित रखने वाले, अन्य कलाकारों का संघर्ष भी इस उपन्यास में दिखाई देता है। जिनमें महेंदर मिसिर का नाम पहले आता है। ''अंगुरी में इसके बिधा नगिनीय रे'' और नजरा गइली गुइयाँ जैसे महान गीतों के प्रणेता रसिक कवि महेंदर मिसिर ने भी भोजपुर की माटी को गहराई से समझा लोक की पीड़ा और दर्द को, स्त्रियों के वियोग में उन्होंने जिस तरह से समझा वैसा उस समय में शायद ही कोई समझा हो और अपनी रचना में व्यक्त कर पाया हो। भिखारी के जीवन में एक दो व्यक्तियों या मित्रों को छोड़ दिया जाय तो अक्सर लोग भिखारी को भिखारिया ही बोलते थे। हिकारत भरे समाज में जब काफी लोकप्रियता भिखारी के नौटंकी की बढ़ी तो, भिखारी के सामने एक दूसरी तरह की सामंती समस्या आ गयी। अब लोग उनसे दूसरे के यहाँ बुक की गयी मंडली को रद्द करके जबरन अपने सट्टे बुक करवाने लगे, भिखारी को तरह–तरह की चुनौतियाँ मिलने लगीं, छोटी जातियों के लिए लड़ाई झगड़ा करना तो असंभव सा था। इसलिए उस व्यवस्था में भी भिखारी ने अनुनय विनय करके सामंजस्य बनाए रखा इसका यथार्थ उपन्यास में दिखाई देता है।– ^^ukpq xkuq yk;d ugh jgq nqxq] lkp yk] ukUg tkr] nq i¡lk dk vkf[k lq nq[ky&v fd fnekx&, lufd xby**[9]
उपन्यास में भिखारी के रचनात्मक संघर्ष को कथाकार ने जिया है। भिखारी के रचनात्मक संघर्ष में कथाकार का संघर्ष भी कुछ अंशों तक दिखाई देता है। एक लेखकीय पीड़ा को कथाकार ने जैसा जिया है वह अपने आप में अनूठा है वह किसी आश्चर्य से कम नहीं है। संजीव ट्रेजडी के कथाकार हैं। उनके लगभग सभी उपन्यासों में लोक की गहरी पीड़ा और वंचित वर्ग के प्रति गहरी संवेदना दिखाई देती है। कथाकार लोक समाज के उन पहलुओं को हमारे सामने लाता है। जो समाज से अनभिज्ञ बना हुआ है। भिखारी की मंडली को रात–रात भर बबुआनों (ठाकुरों) के यहाँ जबरन नचवाया जाता था। पर किसी की

मजाल नहीं कि कोई कुछ बोल दे। उपन्यास दलित जातियों की मूक चीख से होकर गुजरता है। जिस परिवेश में भिखारी का जन्म हुआ, न कायदे से पढ़ने की व्यवस्था न रहने की, न खाने की न ही साज सज्जा की, बचपन बहुत गरीबी में बीता, स्कूल का माहौल भी दिन पर दिन भिखारी के प्रतिकूल होता जा रहा था। भारत में जाति–पाति का आतंक इतना गहरा है कि केवल बड़े–बूढ़े ही नहीं बच्चे भी इससे अछूते नहीं हैं। उपन्यास इसका यथार्थ प्रस्तुत करता है। छोटी–जाति के पढ़ने वाले बच्चों की बड़ी जाति के बच्चे तक जातिगत भेदभाव रखते हैं, ताना मारते हैं, फूहड़ गालियाँ देते हैं। उपन्यास इस तरफ ध्यान आकृष्ट करता है– स्कूल के बच्चे हँस–हँस के उनका मजाक उड़ाते, भद्दे–भद्दे कमेंट करते–

^^b dk g&v j** ^^umvk** b gk i<xk\
i< fy[k d r dk djxk j\ ukok dkok&ckj cukok!

''नहरनी ले, ले बाड़े रे, तानि नह काट दे।'' इतना ही नहीं जिस अध्यापक के कंधे पर इस देश के कर्णधारों को निर्मित करने का जिम्मा है बच्चे को सही मार्गदर्शन न देकर उसे भी लगता है कि चलो भिखाई नाई जैसा एक मुत का टहलुआ मिल गया है वे उससे नाखून कटवाते–^^x: th dk Hkh yxrk e r dk Vgyvk fey x;k]** rfu Vhi n rk** o ckg ;k Vkx i lkj n rA**[10] नौ वर्ष की उम्र में पढ़ाई की शुरूआत करने वाले भिखारी का मन काले–काले अक्षरों की दुनिया में कभी नहीं रमा। स्कूल का माहौल उनके मन के पूर्णतः विपरीत था। छोटी जाति के बच्चों की वहाँ कोई इज्जत नहीं थी। भिखारी का यह पहला संघर्ष था जो यहाँ से शुरू होकर मृत्यु पर्यन्त तक चलता है। अपने घर–परिवार से लेकर स्कूल समाज तक सर्वत्र उन्हें संघर्ष करना पड़ा। स्कूल से मिले तीखे अपमान और घृणा के कारण उन्हें बहुत दुःख और अपमान के साथ अंततः स्कूल छोड़ना ही पड़ा। भिखारी को जो भी थोड़ी बहुत शिक्षा मिली अपने मित्र भगवान साहु से ही मिली, बचपन अत्यन्त अभावों से गुजरा, कम उम्र में ही शादी हो गयी, पारिवारिक जिम्मेदारियाँ भी बढ़ने लगी। लेकिन इसके बावजूद भी उनका संघर्ष लगातार चलता रहा उन्होंने अपने संघर्ष को कहीं से भी ओझल नहीं होने दिया। यहीं पर उन्हें तीन साथी ऐसे मिले जो आजीवन उनके मित्र ही बने रहे। ये तीन साथी थे भगवान साह, ठग लोहार, रामानन्द सिंहा इस तरह भिखारी ने अपने जीवन के लगभग हर मोड़ पर संघर्ष किया। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने भी उन्हें उनकी रचनाओं के कारण काफी प्रोत्साहित किया– ^^fHk[kkjh re ekeyh dfo ugh gk] ykd dfo gk] okfpd ijEijk d dfoA**[11] भोजपुरी की माटी के महान लोक कलाकार, नट सम्राट, 'भिखारी ठाकुर' को सांकृत्यायन ने 'भोजपुरी के शेक्सपियर' नाम से अभिहित किया है। इसके अलावा उन्हें 'भारतेन्दु' जैसी उपाधियों से भी विभूषित किया गया।

उनके जीवन पर केन्द्रित यह उपन्यास भोजपुरी क्षेत्र का एक आख्यान भी है, एक इतिहास भी है और भिखारी ठाकुर के जीवन को खोजने का एक गहरा अनुसंधान भी है, जिसमें देशीपन की अपनी मिठास, अपनी ठसक, अपनी माटी का रूप–रंग, महक और गंध भी है, इस उपन्यास में जीवन जीने का संघर्ष और उत्सव भी है। उपन्यास में इतिहास और अतीत के साथ–साथ साहित्य और समकालीनता बोध भी है। भिखारी ठाकुर को केंद्र में रखकर कथाकार ने उस समय में परिवेश को जिंदा रखते हुए एक दलित के भी संघर्ष को नयी जिजीविषा प्रदान की है।

lUnHk %

1. 125
2. 293
3. 123
4. 123
5. 22
6. 22
7. 47
8. 125
9. 143
10. 17
11. संजीव– सूत्रधार, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली प्र. सं.– 2003

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

egkRek xk/kh vkj bl kbl /ke

Jo.k dekj fl g*

गाँधीजी ईसा को शांतिदूत मानते थे और उनके अहिंसा तथा प्रेम के पावन उपदेशों से बहुत प्रभावित हुए थे। इंगलैंड में एक शाकाहारी मित्र से प्रेरित होकर उन्होंने 'बाइबिल' पढ़ना आरम्भ कर दिया था। 'ओल्ड टेस्टामेंट' तो उन्हें रूचिकर प्रतीत नहीं हुआ, किन्तु 'न्यू टेस्टामेंट' का उन पर बहुत प्रभाव पड़ा। वे ईसा के त्यागपूर्ण जीवन, अहिंसात्मक विचारों, प्रतिशोध न लेने की भावना, भातृत्व, आत्मत्याग तथा मानवता की सेवा एवं विश्व प्रेम से बहुत प्रभावित हुए। ईसाई धर्म का यह प्रभाव उनके मन पर आजीवन बना रहा। यही कारण है कि वे अपनी प्रार्थना में ईसाई धर्म के भजनों एवं प्रार्थनाओं को भी सम्मिलित करते थे और उनका भी उतना ही आदर करते थे जितना उपनिषदों एवं गीता के विचारों का। इस कारण कुछ लोग गाँधीजी को 'प्रच्छन्न ईसाई' भी कहते थे। उनके अनुसार, गाँधीजी भीतर से ईसाई और बाहर से हिन्दू थे। गाँधीजी ने अपने ऊपर लगाए गए इस आरोप का दृढ़तापूर्ण खंडन किया है। उनका कहना है कि यदि उनकी अंतरात्मा उन्हें ईसाई होने की आज्ञा दे तो संसार में कोई भी शक्ति उन्हें ऐसा करने से रोक नहीं सकती, किन्तु हिन्दू धर्म को छोड़कर ईसाई धर्म ग्रहण करने की आवश्यकता का उन्होंने कभी अनुभव नहीं किया।

गाँधीजी के नैतिक दर्शन के निर्माण एवं विकास में ईसाई धर्म ने महत्वपूर्ण योग दिया है। 'न्यू टेस्टामेंट', विशेषतः ईसा के 'गिरिप्रवचन' का उनपर बहुत प्रभाव पड़ा। उन्होंने स्वयं सर्मन ऑन दी माउन्ट के प्रभाव के सम्बन्ध में कहा है, ''न्यू टेस्टामेंट ने तो मुझ पर अद्‌भुत प्रभाव डाला और विशेषकर पर्वत के उपदेश ने तो सचमुच मेरी आत्मा को झंकृत कर दिया। विशेषतः यह उपदेश कि तुम दुश्मनों के प्रति हिंसा के भाव मत रखो। जो तुम्हारे दाहिने गाल पर थप्पड़ मारे, तुम अपना बायॉ गाल उसके सामने कर दो।. .... त्याग ही धर्म का मूल है, इस बात ने मुझे बेहद प्रभावित किया।''[1]

महात्मा गाँधी भगवद्‌गीता तथा 'सर्मन ऑन दी माउन्ट' के प्रति समान आदर का भाव रखते थे। उन्होंने पाया कि इन दोनों का मूल उद्देश्य समान है। दोनो अहिंसा, कर्त्तव्यपरायणता, नैतिकता, त्याग, कष्ट सहिष्णुता, सरलता एवं अपरिग्रह का संदेश देता है। उनके अनुसार, ''मैंने सर्मन ऑन दी माउन्ट और भगवद्‌गीता में कोई अन्तर नहीं देखा। सर्मन ने जिस बात को साहित्यिक भाषा में वर्णित किया है उसी चीज को भगवद्‌गीता में वैज्ञानिक पद्धति के रूप में रखा गया है। उसे सही रूप में एक वैज्ञानिक ग्रन्थ माना जाए या न माना जाए, किन्तु इससे वैज्ञानिक ढंग से प्रेम के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में तर्क दिया गया है। सर्मन ऑन दी माउन्ट में उन्हीं सिद्धान्तों को आश्चर्यजनक भाषा में रखा गया है। मान लें, मुझसे गीता छीन ली जाए और उसकी बातों को मैं भूल जाऊँ, किन्तु यदि मेरे पास सर्मन की पुस्तक शेष हो तो मुझे उसी प्रकार आनन्द का अनुभव होगा, जैसा कि मुझे गीता के साथ रहने के कारण होता।''[2]

ईसा मसीह ने अहिंसा और प्रेम के मार्ग पर चलते हुए सलीब पर अपना प्राण त्याग दिया। गाँधीजी ईसा मसीह के त्यागपूर्ण जीवन से बहुत प्रभावित थे। उन्होंने उसका प्रयोग सत्याग्रह के सिद्धान्त के रूप में किया। सत्य की प्राप्ति के लिए प्राण भी न्योछावर करना पड़े, तो व्यक्ति को भयभीत नहीं होना चाहिए। सत्याग्रह के लिए विपक्षी के प्रति दुर्भावना रहित रहकर कष्ट सहन करने को तैयार करना चाहिए। जैसा कि अपनी मृत्यु के समय ईसा मसीह ने कहा था, ''हे पिता, इन्हें क्षमा कर, क्योंकि ये जानते नहीं कि क्या कर रहे हैं?''[3] गाँधीजी के सत्याग्रह पर ईसा मसीह के प्रभाव के विषय में एस.के. जार्ज लिखते

*शोध छात्र, दर्शनशास्त्र विभाग, रांची विश्वविद्यालय, रांची

हैं, ''आत्मा से प्रेरित होकर आमरण अनशन, जैसा कि गाँधीजी स्वयं कहते हैं, एक उत्कृष्ट वस्तु है और सत्याग्रह का मुकुट है। ईसा मसीह के क्रास के सिद्धान्तों पर चलकर प्रेम को जीता जा सकता है और सभी प्रकार की बुराइयों को भी समाप्त किया जा सकता है।''[4]

सत्याग्रह की अवधारणा ईसाई धर्म के सिद्धान्तों से कितनी समानता रखती है, यह गाँधीजी के इस कथन से स्पष्ट होता है, ''समाज एवं व्यक्तियों के बीच सत्य एवं न्याय के लिए सत्याग्रह एक ईसाई हथियार है, जो कि हर ईसाई को अपनाना चाहिए।''[5]

ईसा मसीह ने अपने उपदेशों में कहा कि पाप से घृणा करो, पापी से नहीं। ''परन्तु मैं तुम सुनने वालों से कहता हूँ, कि अपने शत्रुओं से प्रेम रखो, जो तुम से वैर करे उनका भला करो। जो तुम्हें श्राप दे उनको आशीष दो, जो तुम्हारा अपमान करें, उनके लिए प्रार्थना करो।''[6]

महात्मा गाँधी ने भी अहिंसा को सर्वोपरि धर्म माना। वे कहा करते थे कि बुराई करने वाले के साथ भी भलाई करना चाहिए। उनके अनुसार अन्यायी से नहीं, अपितु अन्याय से घृणा करना चाहिए। अहिंसा के द्वारा अन्यायी का भी हृदय परिवर्तन किया जा सकता है।

ईसाई धर्म में मानवता की सेवा की सर्वोपरि महत्व दिया गया है। दुःखी, असहाय, रोगी, वृद्ध, दरिद्र की सेवा का संदेश ईसा मसीह ने अपने अनुयायिओं को दिया। महात्मा गाँधी ने भी यह स्वीकार किया कि मानवता की सेवा के द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति संभव है। वे एक ऐसे समाज का निर्माण करने का स्वप्न देखते थे जिसमें सभी व्यक्तियों का सर्वांगीण विकास संभव हो, जो भ्रातृत्व, प्रेम, न्याय एवं समता पर आधारित हो। यही गाँधीजी के सपनों का राम राज्य था।

यद्यपि गाँधीजी ईसाई धर्म से प्रभावित थे किन्तु इसके कुछ सिद्धान्तों से उनका मतभेद था। वे यह नहीं मानते थे कि एक व्यक्ति कष्ट सहन करते हुए मृत्यु का वरण करके सभी को पापों से मुक्ति दिला सकता है। ''मेरा तर्क यह है कि मैं स्वतः इस बात को नहीं मान सकता कि ईसा मसीह ने अपनी मृत्यु और खून देकर संसार के पापों को क्षमा कर दिया।''[7]

गाँधीजी ईसाई धर्म की इन मान्यताओं को स्वीकार नहीं करते थे कि सिर्फ ईसा मसीह ही ईश्वर के अवतार थे और वे यह भी नहीं मानते थे कि सिर्फ ईसा मसीह ही ईश्वर के पुत्र हैं और ईश्वर केवल उन्हीं का पिता है। गाँधीजी के अनुसार, कृष्ण, राम, जरथुष्ट्र सभी ईसा मसीह की तरह ही अवतारी सत्ताएँ थी। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार ईसा मसीह ईश्वर के पुत्र माने जाते हैं, उसी प्रकार संसार के सभी प्राणी ईश्वर की संतान हैं और ईश्वर उनका पिता है। गाँधीजी कहते हैं, ''अतः मैं इस बात को शाब्दिक रूप में नहीं ग्रहण करता कि मात्र जीसस ईश्वर के पुत्र थे। ईश्वर सिर्फ उन्हीं के पिता न होकर सम्पूर्ण प्राणी जगत के पिता हैं, मैं सिर्फ मसीह को ही ईश्वर नहीं मान सकता प्रत्युत् वे कृष्ण, राम तथा जरथुष्ट्र की भाँति ही ईश्वरीय हैं।''[8]

वे पुनः कहते हैं, मेरी कठिनाइयाँ कुछ उससे भी अधिक हैं। यह मुझ से परे की बात है कि मैं यह विश्वास करूँ कि सिर्फ ईसा ही ईश्वर के पुत्र थे और सिर्फ उन्हीं में विश्वास करने वाले को शाश्वत जीवन मिलेगा। यदि ईसा ईश्वर के पुत्र हो सकते हैं तो हम सभी उनके पुत्र हैं। यदि ईसा ईश्वर के सदृश थे और स्वयं ईश्वर ही थे तो सभी व्यक्ति ईश्वर के ऐसे हो सकते हैं और स्वयं ईश्वर हो सकते हैं।''[9]

ईसाई धर्म के अनुयायिओं के द्वारा सिर्फ ईसाई धर्म को ही एक पूर्ण धर्म के रूप में स्वीकार करने का महात्मा गांधी विरोध करते थे। गांधीजी मानते थे कि अन्य सभी धर्मों में भी ऐसी महान आत्माएं हुई हैं जो ईसा मसीह के समान ही दैवी गुणों से युक्त थे और जिन्होंने अपने विचारों के प्रचार एवं कार्यों के द्वारा मानवता का कल्याण करने का प्रयास किया है। वे कहते हैं, ''क्रास पर ईसा की मृत्यु विश्व के लिए गूढ़ रहस्य रहा हो या उनमें कुछ अद्भुत गुण निहित हो, ऐसा मेरा हृदय स्वीकार नहीं करता है। ईसाईयों के पवित्र जीवन ने मुझे ऐसा कुछ नहीं दिया जिसे दूसरे धर्म वालों ने न दिया हो। मैंने दूसरों के जीवन में भी वैसे ही सुधार देखे हैं जो ईसाइयों के जीवन में। दर्शन की दृष्टि से ईसाई सिद्धान्तों में कुछ भी अद्वितीय नहीं है। त्याग की दृष्टि से मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दुओं ने ईसाईयों से कहीं अधिक

त्याग किया है। मेरे लिए यह असम्भव है कि मैं ईसाई धर्म को ही एक पूर्ण धर्म या सभी धर्मों सि बड़ा धर्म मानूँ।''[10]

सभी धर्म सत्य के किसी एक अंश को प्रकाशित करता है। कोई भी धर्म समग्र सत्य को व्यक्त करने का दावा करता है तो यह गलत है। इसी कारण गाँधीजी कहते हैं, ''अन्त में मैं इसी निष्कर्ष पर पहुँचा कि इस प्रकार की कोई बात नहीं है कि एक ही धर्म सत्य है और अन्य सभी धर्म असत्य हैं। कोई भी धर्म सभी तरह से पूर्ण नहीं है। इसीलिए मेरा निष्कर्ष है कि ईसाई धर्म उतना ही अच्छा या सत्य है जितना कि मेरा अपना धर्म। परन्तु इस्लाम, जरथुष्ट्र मत के विषय में भी मेरा, मत यही है।''[11]

lUnHkZ %

1. आत्मकथा, पृष्ठ–92, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, 1957
2. गाँधी, क्रिश्चियन निशन्स, पृ. 127, हिन्दूस्तान, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, दूसरा संस्करण, 1960
3. धर्मशास्त्र, लूका 23, 24
4. गाँधी, चैलेन्ज टू क्रिश्चनीटी, पृ. 33 नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, प्रथम संस्करण, 1942
5. वही, पृ. 35
6. धर्मशास्त्र, लूकाठ 27–28
7. क्रिश्चियन निशन्स, पृ. 13
8. वही, पृ. 111–13
9. क्रिश्चियन निशन्स, पृ. 111–13
10. वही, पृ. 13
11. क्रिश्चियन निशन्स, पृ. 11

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

cMy dh nf"V e fopkj vkj lr

lkuh dekjh*

फ्रांसिस हरबर्ट ब्रैडले अपने समय में इंग्लैण्ड के सबसे महान निरपेक्ष प्रत्ययवादी दार्शनिक माने जाते थे। उन्होंने अपने। ppearance and Reality में अपने अतिभौतिक दर्शन का पूर्णतया प्रतिपादन किया है। उनका कहना है कि विश्व ऐसे परस्पर सम्बद्ध पदों की संहति है जो कि विरोधों से भरे हुए हैं। अतः विश्व एक आभास मात्र है। मूल–तत्त्व (Reality) कुछ और है। मूल या परम तत्त्व एक अखण्ड (Undivided) समरस (Harmonious) अनुभव है जिसमें उसकी अनन्त विधाएं अन्तर्भूत हैं किन्तु एक दूसरे से विभक्त और संबंधयुक्त नहीं है। यहाँ पर हम विशेष रूप से विचार और सत् की चर्चा करेंगे।

ब्रैडले के दर्शन में बुद्धि या विचार का एक ओर तो इस दृष्टि से महत्व है कि ब्रैडले के अनुसार सत् पर विचार करना ही तत्त्वमीमांसा है। अर्थात् विचार ही वह माध्यम है जिसके द्वारा तत्त्व पर चिन्तन या विचार–विमर्श किया जाता है। दार्शनिक चिन्तन में चिन्तक विचार के माध्यम से ही तत्त्व की मीमांसा करता है। ब्रैडले के ठीक पहले हेगेल ने तो विचार और सत् में एकता स्थापित कर दी। हेगेल यहाँ तक कहते हैं कि ''विचार सत्ता है और सत्ता विचार है।'' इससे स्पष्ट है कि तत्त्वमीमांसा का अस्तित्व विचार से है, किन्तु दूसरी ओर ब्रैडले जब यह प्रश्न उठाते हैं कि ''क्या सत् को विचार के माध्यम से जाना जा सकता है?'' तब विचार का वह महत्त्व नहीं रह जाता जो तत्त्वमीमांसा के लिए स्वीकार किया जाता है। फिर भी ब्रैडले विचार का इतना महत्व तो स्वीकार करते ही हैं कि चाहे परम सत् का विचार के द्वारा भले न ज्ञान हो, फिर भी सत् पर कुछ प्रकाश विचार के द्वारा पड़ता ही है। 'विचार से सत् की प्राप्ति नहीं हो सकती' ऐसा कहकर ब्रैडले एक ओर तो कान्ट का समर्थन करते हैं कि बुद्धि द्वारा परम सत् का या परमार्थ जगत् का ज्ञान नहीं होता, इससे तो केवल व्यवहार जगत् का ज्ञान संभव है, दूसरी ओर हेगेल के इस अतिवाद का समर्थन नहीं करते कि सत् और विचार एक हैं, दोनों में अभेद है। हाँ तत्वमीमांसा के लिए विचार का महत्त्व स्वीकार किया जा सकता है।

ब्रैडले ने सत् का जो स्वरूप चित्रित किया है, उसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि विचार एक आभास मात्र है। जहाँ सत् निरपेक्ष है, वहाँ विचार सम्बन्ध सापेक्ष है। अतः सम्बन्ध सापेक्ष होने के कारण यह आभास है। विचार के विषय में यह भी कहा जाता है कि यह विश्लेषणात्मक प्रकृति का है, इसका स्वरूप विमर्शात्मक है। ये दोनों गुण अर्थात् विश्लेषण का गुण तथा विमर्शात्मकता, विचार के मूल गुण हैं। अतः विचार के स्वरूप के विषय में संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि ''विचार संबंधात्मक और तर्कमूलक होता है। यह जीवन्त अनुभव का विश्लेषण करता है, और कभी भी इसके आन्तरिक जीवन को प्रकट नहीं करता, कहा जाता है कि यदि विचार तर्कमूलकता तथा विश्लेषणात्मकता इन दो गुणों को छोड़ दे तो इसकी मृत्यु हो जाए। अर्थात् विचार अपने वास्तविक गुणों से रहित होने पर 'विचार' नहीं रह जाएगा और यदि 'विचार' तर्क तथा विश्लेषण के गुण से युक्त रह जाता है, तो उसका अव्यवहित ज्ञान में प्रवेश संभव नहीं।

अब प्रश्न यह है कि क्या ऐसे सर्वग्राही परमसत् को मानव बुद्धि उसकी समष्टि में जान सकती है? ब्रैडले का स्पष्ट उत्तर है कि मानव बुद्धि परमसत् को उसके सम्पूर्ण में कभी भी पूर्णतया नहीं जान सकती है। इस विश्व या ब्रह्माण्ड को समझने के सम्पूर्ण वैज्ञानिक, दार्शनिक और सामान्य प्रयत्न ब्रह्माण्ड

*शोध छात्रा, रांची विश्वविद्यालय, रांची

को विचार द्वारा समझने के प्रयत्न हैं। ब्रैडले के अनुसार तर्क–विचार की क्रिया है। तार्किक चिंतन सम्बन्धात्मक और खण्डयुक्त होता है। अतः अपनी प्रकृति के अनुकूल तार्किक चिन्तन सम्बन्धात्मक एवं खण्डयुक्त ज्ञान देते हैं। सत् के दो पक्ष होते हैं। एक तद् है और दूसरा किम्, एक अस्तित्व है दूसरा विशेषता। दोनों एक दूसरे से अभिन्न हैं। इन दोनों में परस्पर भेद तो बताया जा सकता है। परन्तु दोनों का विभाजन सम्भव नहीं है। परन्तु ''विचार का अस्तित्व इन दोनों के विभाजन पर टिका हुआ है, क्योंकि विचार, कम से कम कुछ हद तक प्रत्ययात्मक है। प्रत्यय के अभाव में विचार सम्भव नहीं है। और प्रत्यय में तत्त्व का अस्तित्व से पार्थक्य निहित है''।[1] किसी प्रस्तुत तथ्य के 'किम' में से किसी विशेषता का उसके 'तद्' से इतना पृथक्करण कर दिया जाय कि वह उससे परे अथवा कम–से–कम पृथक कार्य करने लगे तो इस प्रकार की गति ही प्रत्ययात्मकता है। और जहाँ इसका अभाव है वहाँ प्रत्ययात्मकता नहीं है। निर्णय को परिपूर्ण विचार मानते हुए ब्रैडले का तात्पर्य है कि किसी भी निर्णय में उद्देश्य और विधेय एक नहीं होते। ब्रैडले कहते हैं कि ''निर्णय में सदा ही तथ्य और सत्य का, प्रत्यय और सत् का भेद होता है। सत्य और विचार 'स्वयं वस्तु' नहीं होते, अपितु उससे सम्बन्ध रखने वाले तथा उसके विषय में होते हैं। विचार किसी उद्देश्य का एक प्रत्ययात्मक तत्त्व होता है और प्रत्यय और तथ्य एक नहीं, क्योंकि उसके अंतर्गत अस्तित्व और अर्थ अनिवार्य रूप से पृथक् होते हैं।''[2] ब्रैडले के अनुसार विचार अपनी प्रकृति के अनुसार सम्बन्धात्मक तथा विवेचनात्मक होता है। अतः यह सत् को ग्रहण नहीं कर सकता है।

जब ब्रैडले विचार को प्रत्ययात्मक कहते हैं तब उनका तात्पर्य इसकी तथ्यात्मकता का निषेध करना है। निर्णय में एक प्रत्यय किसी सत् का विधेय होता है। ''यहाँ पहली बात तो यह है कि जिसका वह विधेय होता है वह कोई मानसिक बिम्ब अथवा मस्तिष्क स्थित तथ्य नहीं जिसको निर्णय किसी अन्य बाह्य तथ्य से संलग्न करना चाहता हो। विधेय तो एक ऐसा 'किम्' या तात्विक विशेषता मात्र है जिसका प्रयोग उद्देश्य के 'तद्' को और भी विशिष्ट करने में होता है और यह विधेय मस्तिष्कगत अपने मानसिक अस्तित्व से पृथक होकर सर्वथा असम्बद्ध प्रयुक्त होता है। जब हम कहते हैं कि यह आवश्यक एक स्तन्य पशु है, तो यह कल्पना करना निःसंदेह असंगत है कि मैं अपनी मानसिक अवस्था का आरोप गाड़ी में जुते जानवर पर कर रहा हूँ। निर्णय सत् में एक विशेष लगा देता है। और यह विशेषण एक प्रत्यय होता है क्योंकि वह अपनी सत्ता से पृथक होकर तथा तदाश्रित निजाशय से मुक्त होकर प्रयुक्त होता है।''[3] इस प्रकार निर्णय सत् में एक विशेष लगा देता है। ''चिन्तन का लक्ष्य सत्य है और सत्य का उद्देश्य है अस्तित्व का प्रत्ययात्मक विशेषीकरण। दूसरे शब्दों में, उसका लक्ष्य सत् को ऐसी विशेषता प्रदान करना है जिसमें उसे स्थिरता प्राप्त हो सकती है। सत्य एक ऐसे तत्त्व का विधेयीकरण है जो विधेय रूप ग्रहण करने पर समन्वयशील हो जाता है और असंगति को दूर करके अस्थिरता का नाश करता है।.....परन्तु दूसरी ओर विधेय को सदा प्रत्ययात्मक होना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में वह एक ऐसा 'किम्' होना चाहिए, जो अपने निज के 'तद्' से संयुक्त न होने के कारण स्वयं तथा स्वतः अस्तित्वहीन हो। अतः जब तक विचार में इस पृथक्करण का अभाव होता है, तब तक वह प्रत्यक्ष मात्र से अधिक कदापि नहीं हो सकता।''[4]

ब्रैडले के अनुसार सत्य का कोई अस्तित्व नहीं है। जैसा कि ब्रैडले कहते हैं ''इस प्रकार सत्य अस्तित्व से सम्बन्ध रखता है परन्तु इस रूप में उसका अस्तित्व नहीं है। यह एक ऐसी विशेषता है जो वास्तव में सत् रखता है, परन्तु, जो सत्य तथा आदर्श के रूप में, अस्तित्व से पृथक कर दी गई है और जो पुनः इससे इतनी संयुक्त नहीं हो पाती कि वह इकाई के रूप में एकत्र होकर तथ्य का निर्माण कर सके। अतः सत्य एक विच्छेदन को ही प्रदर्शित करता है और एक वास्तविक जीवन को कदापि नहीं। उसका विधेय उसके उद्देश्य के समान कदापि नहीं हो सकता। और यदि ऐसा हो भी सके और यदि उसके विशेषण अस्तित्व में पुनः आत्मसंगत तथा आत्मसात् हो सके, तो वह फिर सत्य नहीं रह जायेगा। तब वह एक अन्य एवं उच्चतर सत् में परिणत हो जायेगा।''[5]

इस प्रकार ब्रैडले के अनुसार हमारे विचार का अस्तित्व 'तद्' और 'किम्' के विभाजन पर टिका हुआ है। जबकि सत् एक निर्बाध, पूर्ण एवं अविभक्त अनुभव है जिसमें विभाजन का कोई स्थान नहीं है। अतः अपनी प्रकृति के अनुसार विचार सत् को पूर्णतः ग्रहण करने में असमर्थ है। ''अपनी वास्तविक

प्रक्रियाओं तथा परिणामों में विचार 'तद्' तथा 'किम् के इस द्वैत का अतिक्रमण नहीं कर सकता। इससे मेरा अभिप्राय यह नहीं कि विचार किसी भी अर्थ में इस द्वैत से परे होता ही नहीं अथवा वह इतने से ही संतुष्ट हो जाता है और इससे अधिक के लिए वह इच्छुक ही नहीं होता। परन्तु, निर्णय को परिपूर्ण विचार मानते हुए, मेरा अभिप्राय यह है किसी भी निर्णय में उद्देश्य तथा विधेय एक नहीं होते। प्रत्येक निर्णय में वास्तविक उद्देश्य एक सत् है जो विधेय से परे पहुँचता है और विधेय जिसका एक विशेषण मात्र होता है। मेरी सर्वप्रथम प्रतिपत्ति यह है कि इस भेदभाव का अतिक्रमण करने में विचार का लक्ष्य आत्म विनाश होता है।''[6] अर्थात् ''विचार–सम्बन्धात्मक तथा विवेचनात्मक होता है और यदि वह, ऐसा न रहे, तो उसकी समाप्ति हो जाय।''[7] अतः विचार हमें द्वैत में ले जाकर छोड़ देता है। इस प्रकार हमारी बुद्धि भ्रान्ति और दिवालियापन में आबद्ध है और यथार्थता इस प्रकार बुद्धिबाह्य एवं अज्ञात रह जाती है।

ब्रैडले के अनुसार यह परमसत् मूल्यों का सर्वोच्च सिद्धान्त है। यदि हम परमसत् को नैतिक दृष्टि से देखें तो यह शिव होगा। परन्तु यह कोई ऐसा तत्त्व नहीं है जो शिवत्व से अभिभूत है। इसी प्रकार यदि हम परम सत् को तर्क अथवा सौन्दर्य भावना की दृष्टि से देखें तो परमसत् सत्य अथवा सुन्दर हो सकता है। परमसत् के द्वारा ही शिव–शिव, सत्य–सत्य एवं सुन्दर–सुन्दर, बनते हैं। परन्तु परमसत् के लिये यह आग्रह करना कि वह मात्र शिव, सत्य या सुन्दर है कथमपि ग्राह्य नहीं है क्योंकि ''सर्वोच्च विश्व की एक आँशिक तंत्र के साथ एक रूपता बतलाना, किसी लक्ष्य के लिये स्वीकार्य हो सकती है। परन्तु उसको इस तंत्र के भीतर एक अकेली विशेषता के रूप में, एक ऐसी विशिष्टता के रूप में ग्रहण करना जो कि पहले ही अभिभूत हो चुकी हो और इसलिए जो वहाँ पर अवसन्न है,..... नितान्त अग्राह्य होगा।''[8]

I UnHk; %

1. आभास और सत्, पृ. 113
2. आभास और सत्, पृ. 137
3. वही, पृ. 113
4. अपीयरेंस ऐण्ड रीयलिटी, (भावानुवाद), पृ. 145–146
5. वही, पृ. 147
6. आभास और सत्, पृ. 137
7. वही, पृ. 139
8. वही, पृ. 426

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

Hkkjrh; Hkk"kkvksa esa i=dkfjrk dh 'k:vkr vkj fgUnh i=dkfjrk

MkO vfer dqekj fl:g d'kokgk*

''भारतवर्ष में आधुनिक ढ़ंग की पत्रकारिता का जन्म अठारहवीं शताब्दी के चतुर्थ चरण में कलकत्ता, मुम्बई और मद्रास में हुआ। सन् 1780 ई. में प्रकाशित हिके (भ्पबामल) का ''कलकत्ता गज़ट'' का इस ओर पहला प्रयत्न था। ''उदंत मार्तण्ड'' (सन् 1826 ई.) हिन्दी का प्रथम समाचार पत्र था। इसका प्रकाशन मई, 1826 में कलकत्ता के एक साप्ताहिक पत्र के रूप में हुआ था। कलकत्ता के कोलू टोला नामक मोहल्ले की 37 नंबर आमड़तल्ला गली से जुगुलकिशोर सुकुल ने सन् 1826 ई. में उदंतमार्तंड नामक एक हिन्दी साप्ताहिक पत्र निकालने का आयोजन किया। उस समय अंग्रेजी, फारसी और बांग्ला में तो अनेक पत्र निकल रहे थे, किन्तु हिन्दी में एक भी पत्र नहीं निकलता था। इसलिए ''उदंत मार्तण्ड'' का प्रकाशन शुरू किया गया। इसके संपादक भी श्री जुगुलकिशोर सुकुल ही थे। वे मूल रूप से कानपुर संयुक्त प्रदेश के निवासी थे।''[1]

''उदंत मार्तण्ड'' प्रकाशित होने तक इन नगरों की ऐंग्लोइंडियन अंग्रेजी पत्रकारिता काफी विकसित हो गई थी। ''यह पत्र पुस्तकाकार (11X7) छपता था और हर मंगलवार को निकलता था। इसके कुल 68 अंक ही प्रकाशित हो पाए थे कि डेढ़ साल बाद दिसंबर, 1716 ई. को इसका प्रकाशन बंद करना पड़ा।''[2] इसके अंतिम अंक में लिखा है– उदन्त मार्तण्ड की यात्रा– मिति पौष बदी 1 भौम संवत् 1773 तारीख दिसम्बर सन् 1617।

vkt fnol yk mx pD;k ekrM.M mnUr
vLrkpy dk tkr g fnudj fnu vc vUrA

उन दिनों सरकारी सहायता के बिना, किसी भी पत्र का चलना प्रायः असंभव था। कंपनी सरकार ने मिशनरियों के पत्र को तो डाक आदि की सुविधा दे रखी थी, परंतु चेष्टा करने पर भी ''उदंत मार्तण्ड'' को यह सुविधा प्राप्त नहीं हो सकी। इस पत्र में ब्रज और खड़ी बोली दोनों के मिश्रित रूप का प्रयोग किया जाता था जिसे इस पत्र के संचालक 'मध्यदेशीय भाषा' कहते थे।

i= dh ikjfEHkd foKfIr % प्रारंभिक विज्ञप्ति इस प्रकार थी– ''यह ''उदंत मार्तण्ड'' अब पहले–पहल हिंदुस्तानियों के हित के हेत जो आज तक किसी ने नहीं चलाया पर अंग्रेजी ओ पारसी ओ बंगाल में जो समाचार का कागज छपता है उनका सुख उन बोलियों के जानने और पढ़नेवालों को ही होता है। इससे सत्य समाचार हिंदुस्तानी लोग देख आप पढ़ ओ समझ लेयँ ओर पराइ अपेक्षा न करें ओ अपने भाषे की उपज न छोड़े। इसलिए दयावान करूणा और गुणनि के निधान सब के कल्यान के विषय गवरनर जेनेरेल बहादुर की आयस से ऐसे साहस में चित्त लगाय के एक प्रकार से यह नया ठाट ठाटा.....।''[3]

इन अंतिम वर्षों में फारसी भाषा में भी पत्रकारिता का जन्म हो चुका था। 18वीं शताब्दी के फारसी पत्र कदाचित् हस्तलिखित पत्र थे। 1801 में हिंदुस्थान इंटेलिजेंस ओरिऐंटल ऐंथएलएजी (Hindusthan Intelligence Oriental Anthology) नाम का जो संकलन प्रकाशित हुआ उसमें उत्तर भारत के कितने ही 'अखबारों' के उद्धरण थे। ''1810 में मौलवी इकराम अली ने कलकत्ता से लीथो पत्र 'हिंदोस्तानी' प्रकाशित करना आरंभ किया। 1816 में गंगाकिशोर भट्टाचार्य ने 'बंगाल गजट' का प्रवर्तन किया। यह पहला बंगला पत्र था। बाद में श्रीरामपुर के पादरियों ने प्रसिद्ध प्रचारपत्र 'समाचार दर्पण' को (27 मई, 1818) जन्म दिया।

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

इन प्रारंभिक पत्रों के बाद 1823 में हमें बँगला भाषा के 'समाचारचंद्रिका' और 'संवाद कौमुदी', फारसी उर्दू के 'जामे जहाँनुमा' और 'शमसुल अखबार' तथा गुजराती के 'मुंबई समाचार' के दर्शन होते हैं।''[4]

यह स्पष्ट है कि हिंदी पत्रकारिता बहुत बाद की चीज नहीं है। दिल्ली का 'उर्दू अखबार' (1833) और मराठी का 'दिग्दर्शन' (1837) हिंदी के पहले पत्र ''उदंत मार्तण्ड'' (1826) के बाद ही आए।

उन्नीसवीं शताब्दी के विहान में यही पत्र पत्रिकाएँ ठंडी समीर का झौंका बन कर आयी। यह रोचक तथ्य है कि हिन्दी भाषा भाषी प्रदेशों में पत्रकारिता का पदार्पण, साप्ताहिक और मासिक पत्रों के रूप में हुआ। स्वातंत्र्य बोध जगाने के लिये तब पंडित माधवराव सप्रे, रघुवरप्रसाद द्विवेदी, जगन्नाथ शुक्ला, पं. विष्णुदत्त शुक्ल, प्रयागदत्त शुक्ल ने कमाल संभाली। प. माधवराव सप्रे के संचालन और पं. जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल के संपादन में हिन्दी केसरी का प्रकाशन 1896 में हुआ। इसका प्राथमिक उद्देश्य लोकमान्य तिलक की विचारधारा को गांवों की पगडंडी तक पहुँचाना था।

''समाचार पत्रों के विकास और स्वाधीनता संग्राम में एक लयबद्धता रही है पत्रों की विकास गाथा, पत्रकारिता को तराशने और नये–नये हस्ताक्षर गढ़ने में प्रबुद्ध संपादकों के योगदान को दृष्टि से न तो ओझल किया जा सकता है और न इन्हें इन सीमित पंक्तियों में गिनाया जा सकता है। लेकिन उन साप्ताहिक पत्रों का नामोल्लेख आवश्यक जान पड़ता है। जो पत्रकारिता के विकास के साथी बने। सारथी, कर्मवीर, जयहिन्द, स्वराज्य, प्रहरी, पराक्रम, लोकमित्र, जिन्दगी, सावधान, आलोक, गृहिणी, राजस्थानी, अग्रवाल समाचार, विचार जनमत, उदय, विंध्यकेशरी, मजदूर, सिपाही, देहाती दुनिया, प्रकाश, प्रदीप, रहली की चिठ्ठी जैसे सैकड़ों साप्ताहिक, अर्ध साप्ताहिक, पाक्षिक और मासिक पत्र आंचलिक चेतना का ध्वज वाहक बने। दैनिकों के साथ संध्या दैनिकों का भी प्रादुर्भाव हुआ है।''[5]

fgnh i=dkfjrk dk igyk pj.k %

1826 ई. से 1873 ई. तक को हम हिंदी पत्रकारिता का पहला चरण कह सकते है। 1873 ई. में भारतेन्दु ने 'हरिश्चंद्र मैगजीन' की स्थापना की। एक वर्ष बाद यह पत्र 'हरिश्चन्द्र चंद्रिका' नाम से प्रसिद्ध हुआ। वैसे भारतेन्दु का 'कविवचन सुधा' पत्र 1867 में ही सामने आ गया था और उसने पत्रकारिता के विकास में महत्वपूर्ण भाग लिया था, परंतु नई भाषा शैली का प्रवर्तन 1873 में 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' से ही हुआ। इस बीच के अधिकांश पत्र प्रयोग मात्र कहे जा सकते हैं और उनके पीछे पत्रकला का ज्ञान अथवा नए विचारों के प्रचार की भावना नहीं है। ''उदंत मार्तण्ड'' के बाद प्रमुख पत्र हैं :

''बंगदूत (1829), प्रजामित्र (1834), बनारस अखबार (1845), मार्तण्ड पंचभाषीय (1846), ज्ञानदीप (1846), मालवा अखबार (1849), जगद्दीप भास्कर (1849), सुधाकर (1850), साम्यदंड मार्तण्ड (1850), मजहरूलसरूर (1850), बुद्धिप्रकाश (1852), ग्वालियर गजेट (1853), समाचार सुधावर्षण (1854), जगलाभचिंतक (1861), सर्वोपकारक (1861), प्रजाहित (1861), लोकमित्र (1835), भारतखंडामृत (1864), तत्वबोधिनी पत्रिका (1865), ज्ञानप्रदायिनी पत्रिका (1866), सोमप्रकाश (1866), सत्यदीपक (1866), वृत्तांतविलास (1867), ज्ञानदीपक (1867), कविवचनसुधा (1867), धर्मप्रकाश (1867), विद्याविलास (1867), वृत्तांतदर्पण (1867), विद्यादर्श (1869), ब्रह्मज्ञानप्रकाश (1869), अलमोड़ा अखबार (1870), आगरा अखबार (1870), बुद्धिविलास (1870), हिंदू प्रकाश (1871), प्रयागदूत (1871), बुंदेलखंड अखबार (1871), प्रेमपत्र (1872), और बोधा समाचार (1872)।''[6]

इन पत्रों में से कुछ मासिक थे, कुछ साप्ताहिक। दैनिक पत्र केवल एक था 'समाचार सुधावर्षण' जो द्विभाषीय (बंगला हिंदी) था और कलकत्ता से प्रकाशित होता था। यह दैनिक पत्र 1871 तक चलता रहा। अधिकांश पत्र आगरा से प्रकाशित होते थे जो उन दिनों एक बड़ा शिक्षाकेंद्र था, और विद्यार्थी समाज की आवश्यकताओं की पूर्त्ति करते थे। शेष ब्रह्मसमाज, सनातन धर्म और मिशनरियों के प्रचार कार्य से संबंधित थे। बहुत से पत्र द्विभाषीय (हिंदी उर्दू) थे और कुछ तो पंचभाषीय तक थे। इससे भी पत्रकारिता की अपरिपक्व दशा ही सूचित होती है। हिंदीप्रदेश के प्रारंभिक पत्रों में 'बनारस अखबार' (1845) काफी प्रभावशाली था और उसी की भाषानीति के विरोध में 1850 में तारामोहन मित्र ने काशी से साप्ताहिक 'सुधाकर' और 1855 में राजा लक्ष्मणसिंह ने आगरा से 'प्रजाहितैषी' का प्रकाशन आरंभ किया था। राजा

शिवप्रसाद का 'बनारस अखबार' उर्दू भाषाशैली को अपनाता था तो ये दोनों पत्र पंडिताऊ तत्सम प्रधान शैली की ओर झुकते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि 1867 से पहले भाषाशैली के संबंध में हिंदी पत्रकार किसी निश्चित शैली का अनुसरण नहीं कर सके थे। इस वर्ष कवि वचनसुधा का प्रकाशन हुआ और एक तरह से हम उसे पहला महत्वपूर्ण पत्र कह सकते हैं। पहले यह मासिक था, फिर पाक्षिक हुआ और अंत में साप्ताहिक। भारतेन्दु के बहुविध व्यक्तित्व का प्रकाशन इस पत्र के माध्यम से हुआ, परंतु सच तो यह है कि 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' के प्रकाशन (1873) तक वे भी भाषाशैली और विचारों के क्षेत्र में मार्ग ही खोजते दिखाई देते हैं।

fgnh i=dkfjrk dk nwljk ;qx % HkkjrsUnq ;qx&

हिंदी पत्रकारिता का दूसरा युग 1873 से 1900 तक चलता है। इस युग के एक छोर पर भारतेन्दु का 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' था और नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा अनुमोदन प्राप्त 'सरस्वती'। इन 27 वर्षों में प्रकाशित पत्रों की संख्या 300–350 से ऊपर है और ये नागपुर तक फैले हुए हैं। अधिकांश पत्र मासिक या साप्ताहिक थे। मासिक पत्रों में निबंध, नवल कथा (उपन्यास), वार्ता आदि के रूप में कुछ अधिक स्थायी संपत्ति रहती थी, परन्तु अधिकांश पत्र 10–15 पृष्ठों से अधिक नहीं जाते थे और उन्हें हम आज के शब्दों में 'विचारपत्र' ही कह सकते हैं। साप्ताहिक पत्रों में समाचारों और उन पर टिप्पणियों का भी महत्वपूर्ण स्थान था। वास्तव में दैनिक समाचार के प्रति उस समय विशेष आग्रह नहीं था और कदाचित् इसीलिए उन दिनों साप्ताहिक और मासिक पत्र कहीं अधिक महत्वपूर्ण थे। उन्होंने जगजागरण में अत्यंत महत्वपूर्ण भाग लिया था।

उन्नीसवीं शताब्दी के इन 25 वर्षों का आदर्श भारतेंदु की पत्रकारिता थी। 'कविवचनसुधा' (1867), 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' (1874), 'श्री हरिश्चन्द्र चंद्रिका' (1874), 'बालबोधिनी' (स्त्रीजन की पत्रिका, 1874) के रूप में भारतेंदु ने इस दिशा में पथ प्रदर्शन किया था। उनकी टीका टिप्पणियों में अधिकारी तक घबराते थे और 'कविवचनसुधा' के 'पंच' पर रूष्ट होकर काशी के मजिस्ट्रेट ने भारतेंदु के पत्रों को शिक्षा विभाग के लिए लेना भी बंद करा दिया था। इसमें संदेह नहीं कि पत्रकारिता के क्षेत्र भी भारतेन्दु पूर्णतया निर्भीक थे और उन्होंने नए नए पत्रों के लिए प्रोत्साहन दिया। 'हिंदी प्रदीप', 'भारतजीवन' आदि अनेक पत्रों का नामकरण भी उन्होंने ही किया था। उनके युग के सभी पत्रकार उन्हें अग्रणी मानते थे।

HkkjrsUnq dk ckn %

''भारतेंदु के बाद इस क्षेत्र में जो पत्रकार आए उनमें प्रमुख थे पंडित रूद्रदत्त शर्मा, (भारतमित्र, 1877), बालकृष्ण भट्ट (हिंदी प्रदीप, 1877), दुर्गा प्रसाद मिश्र (उचित वक्ता, 1878), पंडित सदानंद मिश्र (सारसुधानिधि, 1878), पंडित वंशीधर (सज्जन–कीर्ति–सुधाकर, 1878), बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन' (आनंदकादंबिनी, 1881), देवकीनंदन त्रिपाठी (प्रयाग समाचार, 1882), राधाचरण गोस्वामी (भारतेंदु, 1882), पंडित गौरीदत्त (देवनागरी प्रचारक, 1882), राज रामपाल सिंह (हिंदुस्तान, 1883), प्रतापनारायण मिश्र (ब्राह्मण, 1883), अंबिकादत्त व्यास, (पीयूष प्रवाह, 1884), बाबू रामकृष्ण वर्मा (भारतजीवन, 1884), पं. रामगुलाम अवस्थी (शुभचिंतक, 1888), योगेशचंद्र वसु (हिंदी बंगवासी, 1890), पं. कुंदनलाल (कवि व चित्रकार, 1891), और बाबू देवकीनंदन खत्री एवं बाबू जगन्नाथदास (साहित्य सुधानिधि, 1894)। 1895 ई. में 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' का प्रकाशन आरंभ होता है। इस पत्रिका से गंभीर साहित्य समीक्षा का आरंभ हुआ और इसलिए हम इसे एक निश्चित प्रकाश स्तंभ मान सकते हैं। 1900 ई. में 'सरस्वती' और 'सुदर्शन' के अवतरण के साथ हिंदी पत्रकारिता के इस दूसरे युग पर पटाक्षेप हो जाता है।''[7]

इन 25 वर्षों में हमारी पत्रकारिता अनेक दिशाओं में विकसित हुई। प्रारंभिक पत्र शिक्षाप्रसार और धर्मप्रचार तक सीमित थे। भारतेंदु ने सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक दिशाएँ भी विकसित की। उन्होंने ही 'बालाबोधिनी' (1874) नाम से पहला स्त्री–मासिक–पत्र चलाया। कुछ वर्ष बाद महिलाओं को स्वयं इस क्षेत्र में उतरते देखते हैं– 'भारतभगिनी' (हरदेवी, 1888), 'सुगृहिणी' (हेमंतकुमारी, 1889)। इन वर्षों में धर्म के क्षेत्र में आर्य समाज और सनातम धर्म के प्रचारक विशेष सक्रिय थे। ब्रह्मसमाज और राधास्वामी मत से संबंधित कुछ पत्र और मिर्जापुर जैसे ईसाई केंद्रों से कुछ ईसाई धर्म संबंधी पत्र भी सामने

आते हैं, परंतु युग की धार्मिक प्रतिक्रियाओं को हम आर्य समाज के और पौराणिकों के पत्रों मे ही पाते हैं। आज ये पत्र कदाचित् उतने महत्वपूर्ण नहीं जान पड़ते, परंतु इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने हमारी गद्यशैली को पुष्ट किया और जनता में नए विचारों की ज्योति भी। इन धार्मिक वादविवादों के फलस्वरूप समाज के विभिन्न वर्ग और संप्रदाय सुधार की ओर अग्रसर हुए और बहुत शीघ्र ही सांप्रदायिक पत्रों की बाढ़ आ गई। सैकड़ों की संख्या में विभिन्न जातीय और वर्गीय पत्र प्रकाशित हुए और उन्होंने असंख्य जनों को वाणी दी।

आज वही पत्र हमारी इतिहास चेतना में विशेष महत्वपूर्ण हैं जिन्होंने भाषा शैली, साहित्य अथवा राजनीति के क्षेत्र में कोई अप्रितम कार्य किया हो। ''साहित्यिक दृष्टि से 'हिंदी प्रदीप' (1877), ब्राह्मण (1883), क्षत्रियपत्रिका, (1880), आनंदकादंबिनी (1881), भारतेंदु (1882), देवनागरी प्रचारक (1882), वैष्णव पत्रिका (पश्चात् पीयूषप्रवाह, 1883), कवि के चित्रकार (1891), नागरी नीरद (1883), साहित्य सुधानिधि (1894), और राजनीतिक दृष्टि से भारतमित्र (1877), उचित वक्ता (1878), सार सुधानिधि (1878), भारतोदय (दैनिक, 1883), भारत जीवन (1884), भारतोदय (दैनिक, 1885), शुभचिंतक (1887) और हिंदी बंगवासी (1890) विशेष महत्वपूर्ण हैं।''[8]

इन पत्रों में हमारे 19वीं शताब्दी के साहित्यरसिकों, हिंदी के कर्मठ उपासकों, शैलीकारों और चिंतकों की सर्वश्रेष्ठ निधि सुरक्षित है। यह क्षोभ का विषय है कि हम इस महत्वपूर्ण सामग्री का पत्रों की फाइलों से उद्धार नहीं कर सके। बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, सदानंद मिश्र, रूद्रदत्त शर्मा, अंबिकादत्त व्यास और बालमुकुंद गुप्त जैसे सजीव लेखकों की कलम से निकले हुए न जाने कितने निबंध, टिप्पणी, लेख, पंच, हास परिहास और स्केच आज में हमें अलभ्य हो रहे हैं। आज भी हमारे पत्रकार उनसे बहुत कुछ सीख सकते हैं। अपने समय में तो वे अग्रणी थे ही।

rhljk pj.k % chloh 'krkCnh d iFke chl o"k %

बीसवीं शताब्दी की पत्रकारिता हमारे लिए अपेक्षाकृत निकट है और उसमें बहुत कुछ पिछले युग की पत्रकारिता की ही विविधता और बहुरूपता मिलती है। 19वीं शती के पत्रकारों को भाषा–शैली क्षेत्र में अव्यवस्था का सामना करना पड़ा था। उन्हें एक ओर अंग्रेजी और दूसरी ओर उर्दू के पत्रों के सामने अपनी वस्तु रखनी थी। अभी हिंदी में रूचि रखने वाली जनता बहुत छोटी थी। धीरे–धीरे परिस्थिति बदली और हम हिंदी पत्रों को साहित्य और राजनीति के क्षेत्र में नेतृत्व करते पाते हैं। इस शताब्दी से धर्म और समाज सुधार के आंदोलन कुछ पीछे पड़ गए और जातीय चेतना ने धीरे–धीरे राष्ट्रीय चेतना का रूप ग्रहण कर लिया। फलतः अधिकांश पत्र, साहित्य और राजनीति को ही लेकर चले। साहित्यिक पत्रों के क्षेत्र में पहले दो दशकों में आचार्य द्विवेदी द्वारा संपादित 'सरस्वती' (1903–1918) का नेतृत्व रहा। वस्तुतः इन बीस वर्षों में हिंदी के मासिक पत्र एक महान साहित्यिक शक्ति के रूप में सामने आए। श्रृंखलाबद्ध उपन्यास कहानी के रूप में कई पत्र प्रकाशित हुए– जैसे उपन्यास 1901, हिंदी नाविल 1901, उपन्यास लहरी 1902, उपन्यासकार 1903, उपन्यास कुसुमांजलि 1904, उपन्यासबहार 1907, उपन्यास प्रचार 19012। केवल कविता अथवा समस्यापूर्ति लेकर अनेक पत्र उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में निकलने लगे थे। वे चले रहे। समालोचना के क्षेत्र में 'समालोचक' (1902) और ऐतिहासिक शोध में संबंधित 'इतिहास' (1905) का प्रकाशन भी महत्वपूर्ण घटनाएँ हैं। परंतु सरस्वती ने 'मिस्लेनी' के रूप में जो आदर्श रखा था, वह अधिक लोकप्रिय रहा और इस श्रेणी के पत्रों में उसके साथ कुछ थोड़े ही पत्रों का नाम लिया जा सकता है, जैसे 'भारतेंदु' (1905), नागरी हितैषिणी पत्रिका, बाँकीपुर (1905), नागरीप्रचारक (1906), मिथिलामिहिर (1910) और इंदु (1909)। 'सरस्वती' और 'इंदु' दोनों हमारी साहित्य चेतना के इतिहास के लिए महत्वपूर्ण हैं और एक तरह से हम उन्हें उस युग की साहित्यिक पत्रकारिता का शीर्षमणि कह सकते हैं। 'सरस्वती' के माध्यम से आचार्य महावीर द्विवेदी और 'इंदु' के माध्यम से पंडित रूपनारायण पांडेय ने जिस संपादकीय सतर्कता, अध्यवसाय और ईमानदारी का आदर्श हमारे सामने रखा वह हमारी पत्रकारिता को एक नई दिशा देने में समर्थ हुआ।

परंतु राजनीतिक क्षेत्र में हमारी पत्रकारिता को नेतृत्व प्राप्त नहीं हो सका। पिछले युग की राजनीतिक पत्रकारिता का केंद्र कलकत्ता था। परंतु कलकत्ता हिंदी प्रदेश से दूर पड़ता था और स्वयं हिंदी प्रदेश को राजनीतिक दिशा में जागरूक नेतृत्व कुछ देर में मिला। हिंदी प्रदेश का पहला दैनिक राजा रामपालसिंह का द्विभाषीय 'हिंदुस्तान' (1883) है जो अंग्रेजी और हिंदी में कालाकाँकर से प्रकाशित होता था। दो वर्ष बाद (1885 में), बाबू सीताराम ने 'भारतोदय' नाम से एक दैनिक पत्र कानपुर से निकलना शुरू किया। परंतु ये दोनों पत्र दीर्घजीवी नहीं हो सके और साप्ताहिक पत्रों को ही राजनीतिक विचारधारा का वाहक बनना पड़ा। वास्तव में उन्नीसवीं शताब्दी में कलकत्ता के भारत मित्र, वंगवासी, सारसुधानिधि और उचित वक्ता ही हिंदी प्रदेश की राजनीतिक भावना का प्रतिनिधित्व करते थे। इनमें 'भारतमित्र' ही सबसे अधिक स्थायी और शक्तिशाली था। उन्नीसवीं शताब्दी में बंगाल और महाराष्ट्र लोक जागृत के केंद्र थे और उग्र राष्ट्रीय पत्रकारिता में भी ये ही प्रांत अग्रणी थे। हिंदी प्रदेश के पत्रकारों ने इन प्रांतों के नेतृत्व को स्वीकार कर लिया और बहुत दिनों तक उनका स्वतंत्र राजनीतिक व्यक्तित्व विकसित नहीं हो सका। फिर भी हम 'अभ्युदय' (1905), 'प्रताप' (1913), 'कर्मयोगी', 'हिंदी केसरी' (1904–1908) आदि के रूप में हिंदी राजनीतिक पत्रकारिता को कई डग आगे बढ़ाते पाते हैं। प्रथम महायुद्ध की उत्तेजना ने एक बार फिर कई दैनिक पत्रों को जन्म दिया। कलकत्ता से 'कलकत्ता समाचार', 'स्वतंत्र' और 'विश्वमित्र' प्रकाशित हुए, बंबई से 'वेंकटेश्वर समाचार' ने अपना दैनिक संस्करण प्रकाशित करना आरंभ किया और दिल्ली से 'विजय' निकला। 1921 में काशी से 'आज' और कानपुर से 'वर्तमान' प्रकाशित हुए। इस प्रकार हम देखते हैं कि 1921 में हिंदी पत्रकारिता फिर एक बार करवटें लेती हैं और राजनीतिक क्षेत्र में अपना नया जीवन आरंभ करती है। हमारे साहित्यिक पत्रों के क्षेत्र में भी नई प्रवृत्तियों का आरंभ इसी समय से होता है। फलतः बीसवीं शती के पहले बीस वर्षों को हम हिंदी पत्रकारिता का तीसरा चरण कह सकते हैं।

vk/kfud ;qx %

1921 के बाद हिंदी पत्रकारिता का समसामयिक युग आरंभ होता है। इस युग में हम राष्ट्रीय और साहित्यिक चेतना को साथ–साथ पल्लवित पाते हैं। इसी समय के लगभग हिंदी का प्रवेश विश्वविद्यालयों में हुआ और कुछ ऐसे संपादक सामने आए जो अंग्रेजी की पत्रकारिता से पूर्णतः परिचित थे और हिंदी पत्रों को अंग्रेजी, मराठी और बँगला के पत्रों के समक्ष लाना चाहते थे। फलतः साहित्यिक पत्रकारिता में एक नए युग का आरंभ हुआ। राष्ट्रीय आंदोलनों ने हिंदी की राष्ट्रभाषा के लिए योग्यता पहली बार घोषित की और जैसे–जैसे राष्ट्रीय आंदोलनों का बल बढ़ने लगा, हिंदी के पत्रकार और पत्र अधिक महत्व पाने लगे। 1921 के बाद गांधी जी के नेतृत्व में राष्ट्रीय आंदोलन मध्यवर्ग तक सीमित न रहकर ग्रामीणों और श्रमिकों तक पहुंच गया और उसके इस प्रसार में हिंदी पत्रकारिता ने महत्वपूर्ण योग दिया। सच तो यह है कि हिंदी पत्रकार हिंदी आंदोलनों की अग्र पंक्ति में थे और उन्होंने विदेशी सत्ता से डटकर मोर्चा लिया। विदेशी सरकार ने अनेक बार नए–नए कानून बनाकर समाचार पत्रों की स्वतंत्रता पर कुठाराघात किया परंतु जेल, जुर्माना और अनेकानेक मानसिक और आर्थिक कठिनाईयाँ झेलते हुए भी हमारे पत्रकारों ने स्वतंत्र विचार की दीपशिखा जलाए रखी।

1921 के बाद साहित्य क्षेत्र में जो पत्र आए उनमें प्रमुख हैं ''स्वार्थ (1922), माधुरी (1923), मर्यादा, चाँद (1923), मनोरमा (1924), समालोचक (1924), चित्रपट (1925), कल्याण (1926), सुधा (1927), विशालभारत (1928), त्यागभूमि (1928), हंस (1930), गंगा (1930), विश्वमित्र (1933), रूपाभ (1938), साहित्य संदेश (1938), कमला (1939), मधुकर (1940), जीवनसाहित्य (1940), विश्वभारती (1942), संगम (1942), कुमार (1944), नया साहित्य (1945), पारिजात (1945), हिमालय (1946), आदि।''9 वास्तव में आज हमारे मासिक साहित्य की प्रौढ़ता और विविधता में किसी प्रकार का संदेह नहीं हो सकता। हिंदी की अनेकानेक प्रथम श्रेणी की रचनाएँ मासिकों द्वारा ही पहले प्राकश में आई और अनेक श्रेष्ठ कवि और साहित्यकार पत्रकारिता से भी संबंधित रहे। आज हमारे मासिक पत्र जीवन और साहित्य के सभी अंगों की पूर्त्ति करते हैं और अब विशेषज्ञता की ओर भी ध्यान जाने लगा है। साहित्य की प्रवृत्तियों की जैसी

विकासमान झलक पत्रों में मिलती है, वैसी पुस्तकों में नहीं मिलती। वहाँ हमें साहित्य का सक्रिय, सप्राण, गतिशील रूप प्राप्त होता है।

राजनीतिक क्षेत्र में इस युग में जिन पत्र पत्रिकाओं की धूम रही वे हैं– ''कर्मवीर (1924), सैनिक (1924), स्वदेश (1921), श्रीकृष्णसंदेश (1925), हिंदूपंच (1926), स्वतंत्र भारत (1928), जागरण (1929), हिंदी मिलाप (1929), सचित्र दरबार (1930), स्वराज्य (1931), नवयुग (1932), हरिजन सेवक (1932), विश्वबंधु (1933), नवशक्ति (1934), योगी (1934), हिंदू (1936), देशदूत (1938), राष्ट्रीयता (1938), संघर्ष (1938), चिनगारी (1938), नवज्योति (1938), संगम (1940), जनयुग (1942), रामराज्य (1942), संसार (1943), लोकवाणी (1942), सावधान (1942), हुंकार (1942), और सन्मार्ग (1943), जनवार्ता (1972)''[11] इनमें से अधिकांश साप्ताहिक हैं, परंतु जनमन के निर्माण में उनका योगदान महत्वपूर्ण रहा है। जहाँ तक पत्र कला का संबंध है वहाँ तक हम स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि तीसरे और चौथे युग के पत्रों में धरती और आकाश का अंतर है। आज पत्र संपादन वास्तव में उच्च कोटि की कला है। राजनीतिक पत्रकारिता के क्षेत्र में 'आज' (1921) और उसके संपादक स्वर्गीय बाबूराव विष्णु पराड़कर का लगभग वही स्थान है जो साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी को प्राप्त है। सच तो यह है कि 'आज' ने पत्रकला के क्षेत्र में एक महान संस्था का काम किया है और उसने हिंदी को बीसियों पत्र संपादक और पत्रकार दिए हैं।[11]

भारत के अहिंदी भाषी क्षेत्रों, विशेष रूप से दक्षिण भारत में हिंदी पत्रकारिता का उदय विगत शताब्दी के आरंभिक दशकों में हुआ। हिंदी प्रचार आंदोलन के आरंभ हो जाने से हिंदी पत्रकारिता की वृद्धि का मार्ग भी प्रशस्त हो गया। दक्षिण भारत में हिंदी पत्रकारिता के उदय एवं विकास संबंधी तथ्यों का आकलन स्वातन्त्र्ययपूर्व तथा स्वातन्त्र्योत्तर युगों के परिप्रेक्ष्य में किया जा सकता है।

I UnHk%

1. हिन्दी पत्रकारिता के उद्भव की पृष्ठभूमि (एचटीएम)। सृजनगाथा। अभिगमन तिथिः 12 अप्रैल, 1998।
2. भूमण्डलीकरण के दौर में हिन्दी (एचटीएम)। साहित्यकुंज। अभिगमन तिथिः 12 अप्रैल, 1998।
3. भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, कृष्णबिहारी मिश्र, हिन्दी पत्रकारिता
4. विजयदत्त श्रीधर, भारतीय पत्रकारिता कोश, खण्ड–एक, वाणी प्रकाशन।
5. भरतचंद्र नायक (राष्ट्रधर्म) हिन्दी पत्रकारिता के विकास में साप्ताहिक पत्रों की क्रांतिकारी भूमिका।
6. विजयदत्त श्रीधर, भारतीय पत्रकारिता कोश, खण्ड–एक, वाणी प्रकाशन।
7. विजयदत्त श्रीधर, भारतीय पत्रकारिता कोश, खण्ड–एक, वाणी प्रकाशन।
8. विजयदत्त श्रीधर, भारतीय पत्रकारिता कोश, खण्ड–एक, वाणी प्रकाशन।
9. विजयदत्त श्रीधर, भारतीय पत्रकारिता कोश, खण्ड–दो, वाणी प्रकाशन।
10. विजयदत्त श्रीधर, भारतीय पत्रकारिता कोश, खण्ड–दो, वाणी प्रकाशन प्रकाशन।

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

vkuykby lekpkj i=k dh vUrorLrq dk ;qok fo|kfFkZ;k ij izHkko

¼fgnh v[kckjk d oc lLdj.k d lekpkj ,o foKkiu ij vk/kkfjr v/;;u½

izhi dqekj*

Lkkj&lkjka'k

युवा विद्यार्थियों पर ऑनलाइल समाचार पत्रों खासकर हिंदी अखबारों के वेब संस्करणों की समाचार एवं विज्ञापन सामग्री का प्रभाव जानने के उद्देश्य से ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्र में निवास वाले 60 ऐसे युवा विद्यार्थियों पर किये गये शोध में पाया गया कि अधिकांशतः विद्यार्थी सूचना–समाचारों के लिए परम्परागत माध्यमों के साथ ही इंटरनेट का भी इस्तेमाल करते हैं। लेकिन हिन्दी समाचारों के प्रमुख ऑनलाइन मंचों जैसे स्वतंत्र हिन्दी समाचार पोर्टल्स, हिन्दी अखबारों के पोर्टल्स (हिन्दी अखबारों के वेब संस्करणों), ऑनलाइन टी.वी., ऑनलाइन रेडियो में से सबसे ज्यादा 96.16 प्रतिशत लोग हिन्दी अखबारों के न्यूज पोर्टल (वेब संस्करणों) पर समचारों को पढ़ना पसन्द करते हैं। हिन्दी अखबारों के वेब संस्करणों के 86 प्रतिशत युवा पाठक इनके समाचार एवं विज्ञापन को उपयोगी मानते हैं परन्तु उपयोग मात्र 14.00 प्रतिशत करते हैं। अध्ययन में यह भी पाया गया कि 56.25 प्रतिशत युवा ऑनलाइन बिकने वाले उत्पादों पर विश्वास नहीं करते हैं।

Ekq[; 'kCnk% इंटरनेट, ऑनलाइन, वेब, पोर्टल, संस्करण,

izLrkouk%

इलेक्ट्रानिक एवं सूचना प्रौद्योगिकी भारत में तेजी से विकासित होने वाले उद्योगों में से एक है। इस क्षेत्र में हो रहे बहुआयामी विकास के चलते भारत ने दुनियां में समाचार पत्रों का बहुत बड़ा बाजार खड़ा कर दिया है। सस्ते ब्राडबैण्ड कनेक्शन, वाई–फाई तकनीकी के विस्तार, 3जी और 4जी जैसी तेज इंटरनेट स्पीड की सुलभ उपलब्धता एवं कम कीमत वाले स्मार्टफोन के बढ़ते बाजार के कारण भारत की बहुत बड़ी आबादी समाचार पत्रों को इंटरनेट पर भी पढ़ने लगी है। इंटरनेट एण्ड मोबाइल एसोसिएशन ऑफ इंण्डिया और आई.एम.आर.बी. की रिपार्ट के अनुसार भारत में जून, 2017 तक इंटरनेट उपयोगकर्ताओं की संख्या 450–465 मिलियन तक पहुंचने का अनुमान है।[1] जो दिसम्बर, 2016 तक 432 मिलियन थी। भारत के कुल इंटरनेट उपयोगकर्ताओं में से 79 प्रतिशत लोग मोबाइल से इंटरनेट का उपयोग करते हैं। वहीं कॉमस्कोर के आंकड़ों के अनुसार भारत में 2013 में ही ऑनलाइन समाचारों को पढ़ने वाले लोगों की संख्या 45.9 मिलियन तक पहुंच चुकी थी।[2] जबकि एक अन्य सर्वे के अनुसार भारत के कुल ऑनलाइन समाचार पत्रों के पाठकों में से 67 प्रतिशत छोटे शहरों से आते हैं।[3] इनका अधिकांशतः पाठक युवा वर्ग है। आई.ए.एम.ए.आई.–आइ.एम.आर.बी. की रिर्पोट के अनुसार भारत में ऑनलाइन विज्ञापन मार्केट दिसम्बर, 2016 में 7044 करोड़ तक पहुंच गयी। जो दिसम्बर, 2015 में 5,200 करोड़ का थी। यह सब आंकड़े ऑलनाइन समाचार पत्रों एवं अखबारों के वेब संस्करणों के लिए अच्छे संकेत हैं।

ऑनलाइन समाचार पत्र, या यू कहें कि पूरी की पूरी ऑनलाइन मीडिया परम्परागत मीडिया से कई रूपों से अलग है। इसकी अन्तर्वस्तु में नवीनता है, सम्प्रेषण में गति है और प्रस्तुतिकरण में आकर्षण है। मौजूदा समय में ऑनलाइन समाचार पत्र दो रूपों में पाठकों के समक्ष उपलब्ध हैं। पहला, अखबारों

*शोधार्थी, पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

का इलेक्ट्रानिक संस्करण, जो प्रिंट संस्करणों का पूरा डिजिटल वर्जन है। जिसको पढ़ना प्रिंट संस्करणों को पढ़ने का एहसास कराता है क्योंकि इनकी अध्ययन सामग्री एवं अपडेशन का अंतराल बिल्कुल प्रिंट संस्करणों के ही समान है। लेकिन ऑनलाइन होने के नाते इनकी पहुंच वैश्विक है, और प्रकृति डिजिटल है। जबकि दूसरा, अख़बारों का वेब संस्करण है। जिन्हें समाचर पोर्टल भी कहते हैं। परन्तु स्वतंत्र समाचार पोर्टल से इतर इन समाचार पत्रों के प्रिंट संस्करण भी होते हैं। वहीं स्वतंत्र समाचार पोर्टल का अस्तित्व मात्र वेब पर ही है। अखबारों के वेब संस्करण, वेब पर उपलब्ध ऐसे समाचार पत्र हैं जिनका प्रस्तुतिकरण बहुआयामी और अपडेशन 24×7 है। अखबारों के वेब संस्करण विस्तृत खबरों के साथ फोटोग्राफ, सम्बंधित वीडियो, इंटरलिंक वेब पेज और फाइल ट्रांसफर जैसी मुख्य सुविधाओं के अलावा खबरों को लिंक, लाइक, शेयर और प्रत्येक खबर पर कमेंट करने की सुविधा तो उपलब्ध कराते हैं। इनकी अन्तर्वस्तु में विभिन्न क्षेत्रों से जुड़े देश–विदेश के समाचार–विचार के साथ ही विज्ञापन होते भी हैं। जो इनके आय का मुख्य स्रोत हैं। परन्तु अखबारों के वेब संस्करणों का विज्ञापन एवं इनका कारोबार इनकी खबरों की हीटिंग पर निर्भर करता है। परम्परागत मीडिया से अलग ऑनलाइन मीडिया के माध्यम से विज्ञापन के लिए मुख्यतया तीन तरह का बिजनेस मॉडल विकसित किया गया है। पहला, सी.पी.सी. (cost per click), दूसरा, सी.पी.एम. (cost per thousand) और तीसरा सी.पी.ए. (cost per acquisition) है। लेकिन ऑनलाइन एडवर्टाइजिंग की दुनिया में सी.पी.सी. (cost per click), सी.पी.एम. (cost per thousand) का वर्चस्व है।

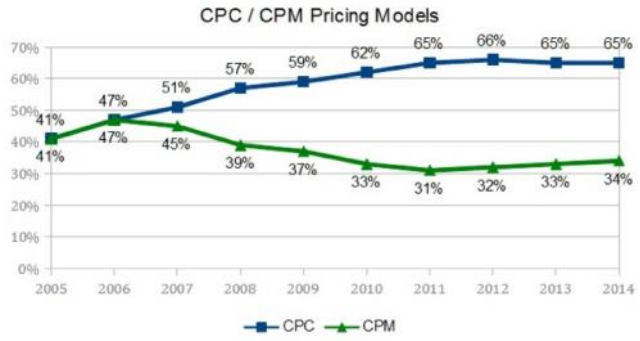

The above graph shows the popularity of CPC and CPM pricing models through the first half of 2014. Data: IAB; chart © Promise Media

चूंकि अखबरों के वेब संस्करणों के अधिकांशतः पाठक युवा हैं, इसलिए इनकी समाचार से लेकर विज्ञापन तक की अधिकांशतः सामग्री इस प्रकार से तैयार की जाती है कि युवाओं को रूचिकर लगने के साथ जनप्रभावी हो।

lkfgR; lo{k.k %

- प्रदीप तिवारी, दी हैबिट्स ऑफ ऑनलाइन न्यूजपेपर रीडर्स इन इंडिया, ऑनलाइन जर्नल ओ. एम.आई.सी.एस. इंटरनेशनल, के अध्ययन से पता चलता है कि भारत में 62.6 प्रतिशत लोग ऑनलाइन समाचार पत्रों को पढ़ते हैं। परन्तु अधिकांशतः लोग निःशुल्क ही पढ़ना चहते हैं।
- Mübin KIYICI, INTERNET SHOPPING BEHAVIOR OF COLLEGE OF EDUCATION STUDENTS, TOJET: The Turkish Online Journal of Educational Technology – July 2012, volume 11 Issue 3, http://files.eric.ed.gov/fulltext/EJ989212.pdf के अध्ययन से पता चलता है कि पुरूषों, महिलाओं की तुलना में ऑनलाइन शॉपिंग के प्रति अधिक रूझान होता है। साथ ही जिस व्यक्ति के पास डेविड या क्रडिट कार्ड होता है, बगैर डेविड या क्रेडिट कार्ड वाले व्यक्ति की अपेक्षा ज्यादा ऑनलाइन शॉपिंग करता है।

mn~n'; %

1. युवाओं में ऑनलाइन समाचार पत्रों की पठनीयता की प्रवृत्ति का पता लगाना।
2. युवाओं में हिन्दी अखबारों के वेब संस्करणों की अन्तर्वस्तु की पठनीयता की प्रवृत्ति का पता लगाना।

3. युवाओं में हिन्दी अखबारों के वेब संस्करणों के विज्ञापनों से प्रभावित होकर शॉपिंग की प्रवृत्ति अध्ययन।

midYiuk,%

1. युवा सूचना–समाचारों के लिए प्रिंट माध्यमों अलावा ऑनलाइन समाचार पत्रों को भी पढ़ना पसन्द करते हैं।
2. हिन्दी अखबारों के वेब संस्करणों से अधिकांशतः युवा मनोरंजन आधारित खबरों को पढ़ना पसन्द करते हैं।
3. युवा हिन्दी अखबारों के वेब संस्करणों से प्रभावित होकर कम शॉपिंग करते हैं।

'kks/k fof/k%

इस शोध की प्ररचना वर्णात्मक है। शोध कार्य को पूरा करने के लिए सर्वेक्षण में निदर्शन विधि का प्रयोग किया गया है। तथ्य संकलन के लिए कुल 60 (वाराणसी स्थित काशी हिंदू विश्वविद्यालय से 30 शहरी एवं चन्दौली जिला के पं0 कमलापति त्रिपाठी राजकीय पी0जी0 कालेज से 30 ग्रामीण) विद्यार्थियों का चयन उद्देश्यपरक् निदर्शन विधि द्वारा किया गया है। प्राथमिक आंकड़ों के लिए प्रश्नावली का प्रयोग किया गया है। शोधकर्ता ने प्रश्नावली भरवाने से पहले यह सुनिश्चित कर लिया है कि युवा इंटरनेट का उपयोग करता है या नहीं। जो युवा इंटरनेट का उपयोग करते हैं उन्हीं से प्रश्नावली भरवाई गयी है। द्वितीयक आंकड़ों के लिए विभिन्न पुस्तकों, संगठनों से जारी रिपोर्टों एवं इनकी सूचनाओं और आकड़ों को उनके महत्व एवं उपयुक्तता के हिसाब से प्रयुक्त किया है। एकत्रित तथ्यों का विश्लेषण सामान्य सांख्यिकी विधि का प्रयोग कर किया गया है।

vkdMksa dk fo'ys"k.k%

rkfydk&1

;k vki vU; ek/;ksa dh vykok bVjusV ij Hkh lekpkjksa dk i<r@ns[kr@lqur gSa

	उत्तरदाता (n= 60)	उत्तरदाताओं का %	शहरी उत्तरदाताओं का % (n= 30)	ग्रामीण उत्तरदाताओं का % (n= 30)
हां	52	86.66	100	73.33
नहीं	8	13..33	00	26.67

तालिका–1 से स्पष्ट है कि कुल उत्तरदाताओं में से 86.66 प्रतिशत लोग इंटरनेट पर खबरों को पढ़ते/देखते/सुनते हैं। लेकिन इंटरनेट पर खबरों को पढ़ते/देखते/सुनते वाले शहरी लोगों की तुलना में ग्रामीण कम हैं।

Rkkfydk&2%

vki bVjusV ij lekpkjksa dk fdl ek/;e ls i<r@ns[kr@lqur gSa

	उत्तरदाता (n= 52)	उत्तरदाताओं का %	शहरी उत्तरदाताओं का % (n= 30)	ग्रामीण उत्तरदाताओं का % (n= 22)
हिन्दी के स्वतंत्र समाचार पोर्टल	2	3.84	3.33	4.54
हिन्दी अखबारों के न्यूज पोर्टल	50	96.16	96.66	95.45
ऑनलाइन टी.वी.	0			
ऑनलाइन रेडियो अन्य	0			

तालिका–2 से स्पष्ट है कि लोग इंटरनेट पर समाचारों को देखने, सुनने से ज्यादा पढ़ना पसंद करते हैं। और इसके लिए अधिकाधिक 96.16 प्रतिशत लोगों ने हिन्दी अखबारों के न्यूज पोर्टल (हिन्दी अखबारों के वेब संस्करण) को मुख्य माध्यम के रूप में चुना है।

Rkkfydk&3%

fgUnh v[kckjk d U;wt ikVy ¼oc lLdj.kk½ ij e[;r;k fdl rjg [kcj T;knk i<uk ilUn djr gA

	उत्तरदाता (n= 50)	उत्तरदाताओं का %	शहरी उत्तरदाताओं का % (n= 29)	ग्रामीण उत्तरदाताओं का % (n= 21)
राजनीतिक	13	26.00	17.24	38.09
खेल	4	8.00	6.89	9.52
मनोरंजन	11	22.00	20.68	23.80
अपराध	2	4.00	3.44	4.76
बिजनेस	4	8.00	13.79	–
स्वास्थ्य	5	10.00	13.79	4.76
शिक्षा	9	18.00	17.24	19.04
फीचर	2	4.00	6.89	–
अन्य	–	–	–	–

तालिका–3 से स्पष्ट है कि हिन्दी अख़बारों के न्यूज पोर्टल (वेब संस्करणों) पर सबसे ज्यादा 26 प्रतिशत लोग राजनीतिक खबरों को पढ़ना पसन्द करते हैं। परन्तु राजनीतिक खबरों को पढ़ने वालों में ग्रामीण लोग शहरी लोगों से आगे हैं। उसके बाद वेब संस्करणों पर सबसे ज्यादा मनोरंजन की खबरे, फिर क्षिक्षा सम्बंधी खबरें पढ़ी जाती हैं।

Rkkfydk&4%

fgUnh v[kckjk dk U;wt ikVYk ¼fgUnh v[kckjk d oc lLdj.k½ i<u dk e[; dkj.k D;k g\

	उत्तरदाता (n= 50)	उत्तरदाताओं का %	शहरी उत्तरदाताओं का % (n= 29)	ग्रामीण उत्तरदाताओं का % (n= 21)
24×7 अपडेट खबरें	28	56.00	55.17	47.61
विस्तृत खबरें	4	8.00	10.34	–
आसान उपलब्धता	13	26.00	24.13	28.57
निःशुल्क उपलब्धता	5	10.00	10.13	23.80
अन्य	–	–	–	–

तालिका संख्या–4 से स्पष्ट है कि कुल 56.00 प्रतिशत लोग 24×7 अपडेट खबरें मिलने के कारण हिन्दी अखबरों के न्यूज पोर्टल (हिन्दी अखबारों के वेब संस्करणों) को समाचारों के लिए उपयोग करते हैं। वहीं 10.00 प्रतिशत लोग उपयोग का मुख्य कारण 'निःशुल्क उपलब्धता' को मानते हैं।

Rkkfydk&5%

D;k vki fgUnh v[kckjk dk U;wt ikVYk ¼fgUnh v[kckjk d oc lLdj.k½ d lekpkj ,oa foKkiu lkexh ij fiV lLdj.kk d leku gh fo'okl djr g\

	उत्तरदाता (n= 50)	उत्तरदाताओं का %	शहरी उत्तरदाताओं का % (n 29)	ग्रामीण उत्तरदाताओं का % (n 21)
हां	43	86.00	86.20	85.71
नहीं	07	14.00	13.79	14.28

तालिका–5 से स्पष्ट है कि 86.00 प्रतिशत लोग हिन्दी अखबारों के न्यूज पोर्टल (हिन्दी अखबारों का वेब संस्करण) के समाचार एवं विज्ञापन सामग्री पर प्रिंट संस्करणों जितना ही विश्वास करते हैं। परन्तु ग्रामीण अपेक्षाकृत कम करते हैं।

Rkkfydk&6%

D;k vki fgUnh v[kckjk dk U;wt ikVZYk ¼fgUnh v[kckjk dk oc lkLdj.k½ dk lekpkj ,oa foKkiu lkexh viuk fy, mi;qDr ekurs gSa\

	उत्तरदाता (n 50)	उत्तरदाताओं का %	शहरी उत्तरदाताओं का % (n– 29)	ग्रामीण उत्तरदाताओं का % (n– 21)
हां	43	86.00	86.20	85.71
नहीं	07	14.00	13.79	14.28

तालिका संख्या–6 से स्पष्ट है कि जो लोग हिन्दी अखबारों के न्यूज पोर्टल (हिन्दी अखबारों का वेब संस्करण) के समाचार एवं विज्ञापन सामग्री पर प्रिंट संस्करणों जितना ही विश्वास करते हैं। वे सभी 86. 00 प्रतिशत लोग हिन्दी अखबारों का न्यूज पोर्टल (हिन्दी अखबारों के वेब संस्करण) के समाचार एवं विज्ञापन सामग्री अपने लिए उपयोगी मानते हैं।

Rkkfydk&7%

D;k vkiuk fgUnh v[kckjk dk U;wt ikVZYk ¼fgUnh v[kckjk dk oc lkLdj.k½ dh lqpuk ,oa lekpkj lkexh dk Kku c<+us dk vykok dkbZ vU; mi;ksx fd;k gS\

	उत्तरदाता (n– 50)	उत्तरदाताओं का %	शहरी उत्तरदाताओं का % (n 29)	ग्रामीण उत्तरदाताओं का % (n 21)
हां	07	14.00	13.79	14.28
नहीं	43	86.00	86.20	85.71

तालिका संख्या–7 से स्पष्ट है हिन्दी अखबारों के वेब संस्करणों को पढ़ने वाले अधिकांशतः लोग हिन्दी अखबारों का न्यूज पोर्टल (हिन्दी अखबारों के वेब संस्करण) के सूचना एवं समाचार सामग्री अपने लिए उपयोगी तो मानते हैं। परन्तु मात्र 14 प्रतिशत लोंगों ने इनकी सूचना एवं समाचार सामग्री का अभी तक काई अन्य उपयोग किया है।

Rkkfydk&8%

D;k vkiuk fgUnh v[kckjk dk U;wt ikVZYk ¼fgUnh v[kckjk dk oc lkLdj.k½ dk foKkiu ls izHkkfor gksdj 'kkfirx fd;k gS\

	उत्तरदाता (n 50)	उत्तरदाताओं का %	शहरी उत्तरदाताओं का % (n– 29)	ग्रामीण उत्तरदाताओं का % (n– 21)
हां	18	36.00	55.17	9.52
नहीं	32	64.00	44.82	90.47

तालिका संख्या–8 से स्पष्ट है कि हिन्दी अखबारों के न्यूज पोर्टल से खबरों को पढ़ने वाले लोगों में मात्र 36.00 प्रतिशत लोगों ने इनपर आने वाले विज्ञापनों से प्रभावित होकर शापिंग किया है। शापिंग करने वाले लोगों में 55.17 प्रतिशत शहरी हैं। जबकि ग्रामीण मात्र 5.52 प्रतिशत हैं।

Rkkfydk&9%

fgUnh v[kckjk dk U;wt ikVZYk ¼fgUnh v[kckjk dk oc lkLdj.k½ dk foKkiu ls izHkkfor gksdj “kkfirx ugh djus dh D;k otg gS\

	उत्तरदाता (n– 32)	उत्तरदाताओं का %	शहरी उत्तरदाताओं का % (n– 13)	ग्रामीण उत्तरदाताओं का % (n– 19)
उत्पाद की जरूरत नहीं पड़ी	2	6.25	7.69	5.26
ऑनलाइन शॉपिंग की जानकारी का अभाव	4	12.50	–	21.05
उत्पाद पर विश्वास नहीं होता	18	56.25	61.53	52.63
पोर्टल की सूचना पर विश्वास नहीं होता	3	9.37	15.38	5.26
सुविधा का अभाव	5	15.62	15.38	15.78

तालिका संख्या–9 से स्पष्ट है कि हिन्दी अखबारों के न्यूज पोर्टल (हिन्दी अखबारों के वेब संस्करणों) के विज्ञापनों से प्रभावित होकर जिन लोगों से शापिंग नहीं किया है उनमें से अधिकाधिक 56.25 प्रतिशत लोगों को ऑनलाइन बिकने वाले उत्पादों पर विश्वास नहीं होता है। वहीं 9.37 प्रतिशत लोगों को पोर्टल की सूचना पर विश्वास नहीं होता है।

fu"d"k %

उपरोक्त आंकड़ों के विश्लेषण से निष्कर्ष निकलता है कि–

1. इंटरनेट का उपयोग करने वाले अधिकांशतः युवा विद्यार्थी समाचारों को ऑनलाइन भी पढ़ते हैं।
2. युवा विद्यार्थी ऑनलाइन टी.वी., ऑनलाइन रेडियो के बजाय हिन्दी अखबारों के न्यूज पोर्टल (वेब संस्करण) पर समाचारों को पढ़ना पसन्द करते हैं।
3. युवा विद्यार्थी हिन्दी अखबारों के न्यूज पोर्टल पर राजनीति, मनोरंजन एवं शिक्षा के क्षेत्र की खबरें पढ़ना ज्यादा पसन्द करते हैं।
4. अधिकांशतः युवा विद्यार्थी, हिंदी अखबारों के वेब संस्करणों के समाचार एवं विज्ञापन सामग्री पर प्रिंट संस्करणों के समान ही विश्वास करते हैं।
5. अधिकांशत युवा विद्यार्थी हिन्दी अखबारों के न्यूज पोर्टल (वेब संस्करणों) के समाचार एवं विज्ञापन सामग्री को अपने लिए उपयोगी मानते हैं। परन्तु बहुत ही कम हैं जो इनका उपयोग करते हैं।
6. अधिकांशतः युवाओं को ऑनलाइन बिकने वाले उत्पादों पर विश्वास नहीं होता है। इसलिए वेब हिन्दी अखबारों के वेब संस्करणों पर आने वाले विज्ञापनों के माध्यम से शॉपिंग नहीं करते हैं। परन्तु ऑनलाइन शॉपिंग में शहरी युवा, ग्रामीणों से पीछे हैं।

lanHkZ xzUFk lwph %

1. http://www.livemint.com/Industry/QWzIOYEsfQJknXhC3HiuVI/Number-of-Internet-users-in-India-could-cross-450-million-by.html on 3/4-2017 at 5:00 pm
2. www.afaqs.com/news/story/38877_online-news-readership-in-india-grow-to-94-million-daily-visitors-comScore on 3/4/2017 at 6:00pm
3. http://www.promisemedia.com/online-advertising/best-revenue-deals-cpm-cpc-or-cpa on 4/04/2017 at 8:00 pm
4. मनोज दयाल, 'मीडिया शोध' (2010), हरियाण साहित्य अकादमी, पंचकूला, हरियाणा।
5. https://www.omicsgroup.org/journals/the-habits-of-online-newspaper-readers-in-india-2167-0358-1000124.pdf
6. https://prezi.com/6kldfbsqniev/online-shopping-habits-among-students/

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

ifrek&ihB rFkk vfdr y[k

Lor= dekj ek;;*

प्रतिमा निर्माण– शैली की विवेचना से ज्ञात होता है कि साकार पूर्ति की दोनों अवस्थाओं (स्थानक तथा आसन) में एक आधारशिला की स्थिति नितान्त आवश्यक समझी गयी। जिस आधार पर मूर्ति खड़ी है या बैठी है, उसे पीठ कहते हैं। ईसा पूर्व सदियों में मौर्य या शुंगकला में जो आकृतियाँ बनी थीं उनका कोई न कोई आधार (पीठ) मिलता है। मौर्यस्तम्भों के शीर्षस्थ आकृति (सिंह या बैल) सर्वदा पीठ पर दिखलाई पड़ती है। वेदिका स्तम्भों पर यक्ष अथवा यक्षिणी भी पीठ पर खड़ी दृष्टिगोचर होती हैं। मथुरा जैन–स्तूप की वेदिका स्तम्भों को देखने से वस्तु स्थिति का परिज्ञान हो जाता है। गान्धार, मथुरा, सारनाथ या मगध से उपलब्ध समस्त प्रतिमाओं में पीठ मूर्ति का एक आवश्यक भाग है। प्रतिमाओं के पीठ को कलाकार सादा, चिकना या अलंकृत करते थे। शुंगकालीन यक्ष–यक्षिणी जानवर या बौने पुरुष की पीठ पर खड़ी दिखलाई गई हैं। कालान्तर में ई0 पूर्व प्रथम शती में पीठ को शादा अलंकार रहित तैयार किया गया। कृषाणकाल में दो प्रकार की पीठ तैयार करने की परिपाटी चल पड़ी। विशालकाय खड़ी बुद्ध तथा जैन–प्रतिमाएँ (कायोत्सर्ग) अनलंकृत पीठ पर निर्मित हैं। किन्तु ईसा की पहली शाताब्दी में बौद्ध प्रतिमाओं में पीठ पर सिंह की आकृतियाँ तैयार होने लगी।[1] कटरा से प्राप्त बुद्ध प्रतिमा बोधि वृक्ष के नीचें सिंहासन पर बैठे हुए दीख पड़ती है।[2] सिंह की आकृति से मूर्तियां कनिष्क अथवा वासुदेव कालीन समझी जाती है। कुषाणकालीन प्रतिमाओं में सिंहासन (पीठ) विशेष रुप से तैयार किया गया जो आगे चलकर पद्यासन में परिवर्तित हो गया।

गुप्तकाल में प्रायः दो प्रकार की पीठ निर्मित होते रहे। पहला साधारण अनलंकृत जो मथुरा में बुद्ध तथा सुल्तानगंज की ताम्र मूर्ति[3] जो बरमिंघम संग्रहालय में सुरक्षित है । स्पष्ट दीख पड़ता है। दूसरे प्रकार में, बौद्धमत से सम्बन्धित आकृतियाँ पीठ पर खोदी जाने लगी। मनकुअर बुद्ध मूर्ति में पीठ के मध्य में चक्र तथा दोनों किनारों पर सिंह दिखलाए गए हैं। सारनाथ की प्रसिद्ध धर्मचक्र पर्वतन मुद्रा की बुद्धमूर्ति की पीठ पर मध्य में स्थित चक्र के साथ पंच भिक्षओं की आकृतियाँ उस घटना की याद दिलाती है।[4] जिनकों मृगदाव में बुद्ध ने अपने मत में दीक्षित किया था उन्हीं पाँच भिक्षुओं ने उरुवेला (वर्तमान बोधगया) में सिद्धार्थ का साथ छोड़ दिया था। चक्र से कुछ नीचे दो मृग खुदे है जो मृगदाव में धर्मचक्र– परिवर्तन के बोधक है। अतएवं गुप्तकालीन प्रतिमा पीठ पर बौद्धमत खुदे हैं। मध्य युगी बौद्ध मूर्तियों में सारनाथ परिपाटी का अनुकरण होने लगा। अतएव प्रस्तर या धातु की बुद्ध–प्रतिमा में सिंह की पीठ पर स्थान दिया गया। मध्ययुग के प्रतिमाओं की पीठ एक विशेष रुप से तैयार की गई जिसे दोहरा कमलासन कहते है। मगध में प्रायः सभी प्रतिमाओं में दो खिले कमल का प्रयोग पीठ के लिए होने लगा। दोनों डंठल के भाग से चिपकाए गए हैं। पुष्प के खिले भाग विपरीत दिशाओं में रखे गये हैं। प्रस्तर के अतिरिक्त धातु–मूर्तियों के प्रतिमा–पीठ उसी रुप में ढ़ाले गए थे।

ब्राह्मण प्रतिमाओं में पीठ का अभाव पाया जाता है क्योंकि पीठ के स्थान पर देवता के वाहन की आकृतियाँ सदा खुदी मिलती है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रतिमा–पीठ का निर्माण कलाकारों के लिए एक प्रश्न था। अधिकतर पीठ पर खुदी आकृतियों को धर्म से सम्बन्धित कर मुख्य प्रतिमा का एक आवश्यक भाग समझा जाता था। जिस पर कलाकारों ने उचित ध्यान दिया।

vfdr y[k % भारत में अभिलेख आंकित करने की परिपाटी अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है। सिन्धु घाटी सभ्यता में भी अभिलेखीय साक्ष्य मिले है लेकिन अभी पढ़ा नहीं जा सका हैं। पिपरहवा के

*शोध छात्र, प्राचीन इतिहास विभाग, कालिकाधाम पी0जी0 कालेज, सेवापुरी, वाराणसी।

धातु–मंजुषा पर लेख अंकित है।[5] अशोक ने चट्टान तथा शिलास्तम्भ पर भी लेख खुदवाए। उसका एक विशेष महत्व था। यानि धर्मशासन को जनता तक पहुँचाना। साम्राज्य सीमा तथा चौमुख रास्ते पर अशोक के धर्मलेख खुदे मिलते हैं। इन अभिलेखों को महत्वपूर्ण स्थानों पर नगरों के निकट प्रसिद्ध व्यापारिक और यात्रा मार्गों पर या धार्मिक महत्व के स्थानों के आसपास उत्कीर्ण करवाया गया था।[6] शुंगकाल में भरहुत वेदिका पर लेख अंकित कर जनता को उस प्रदर्शन का परिज्ञान कराया गया। किन्तु उस पद्वति को अन्य स्थानों पर त्याग दिया गया। सांची के दक्षिण तोरण पर शातकर्णी का उल्लेख मिलता है जिसके शासनकाल में उस तोरण का निर्माण हुआ था। भारत में यूनानी शासकों ने सिक्कों पर लेख (पदवी सहित नाम) खुदवाया जो शैली सदा के लिए मान्य हो गई। हिंद–यूनानी भारत के पहले शासक हुए जिनके जारी किये गए सिक्कों के बारे में निश्चित रुप से कहा जा सकता है कि सिक्के किन–किन राजाओं के हैं।[7] उस समय से भारत में आज तक सिक्कों पर उत्कीर्ण लेख पाए जाते हैं।

ईस्वीं सन के आरम्भ से लेख खोदने का नया आधार काम में लाया गया जिसे प्रतिमा–पीठ कहते हैं। कुषाणकालीन पीठ पर उत्कीर्ण लेखों का विभिन्न उद्देश्यों था। उनमें प्रमुखतया दान का उल्लेख किया गया हैं। विशेष बात यह है कि उस प्रसंग में शासनकर्ता का नाम तथा तिथि अंकित की गई है। अतएव दान के उल्लेख होने के कारण उन छोटे लेखों को दान अभिलेख कह सकते हैं।

कनिष्क के राजत्व के तीसरे वर्ष (3+78) 81 ई0 में वाराणसी में महाक्षत्रय खरपल्लान ने बोधिसत्व प्रतिमा के साथ छत्र यष्टि स्थापित की थी[8] जिसका पूरा विवरण उस लेख में किया गया हैं।

क) महाराजस्य कर्किस्य सं0 .....3, ख) बोधिसत्वों छत्र यष्टि प्रतिष्ठापितों, ग) भिक्षु बलस्य श्रेपटिकस्य बोधिसत्वों प्रतिष्ठापितो

साँची से उपलब्ध प्रतिमा में भगवान बुद्ध की प्रतिमा स्थापना का उल्लेख किया गया है कि धर्मदेव निर्मित विहार में भगवान शाक्यमुनि (बुद्ध) की प्रतिमा स्थापित की गई थी।

^^ Hkxorh /kenso fcgkj ifr"Bkfirk** ¼ मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित कुषाण–कालीन कुछ तीर्थंकर मूर्तियों की पीठिका पर पाँचवें वर्ष से लेकर नब्बे वर्ष तक की तिथि उत्कीर्ण की गई हैं।[9] कुछ लेखों में कुषाण शासक कनिष्क, हुविष्क और बासुदेव का भी नामोल्लेख हुआ है। मथुरा से वर्धमान प्रतिमा की पीठ पर निम्न लेख मिलता है–

^^nfe=L;k vk[kfjdk, dqfofu;ukrk;k nkuee o/kekuk ifreke ifr"BkfirkA**

यह परिपाटी गुप्त काल तक प्रचलित थी। कुमारगुप्त प्रथम के करमदण्डा शिवलिंग के आधारशिला पर 436 ई0 का लेख खुदा है उससे महाराजधिराज श्री कुमार गुप्त मंत्री पृथिवीषेण द्वारा भगवान महादेव पृथिवीश्वर की स्थापना का उल्लेख है। उसी गुप्तनरेश कुमारगुप्त प्रथम के शासनकाल ई0स0 448 में बुद्ध की प्रस्तर प्रतिमा की पीठ पर निम्न लेख मिलता है–

^^vkeq uekk c/kkuA Hkxork lE;d lEc)L;**

^^Lorkfo#)L; b;a ifreke ifr"Bkfirk fHk{kq c)fe=.kA**

कहने का तात्पर्य यह है कि गुप्तकाल तक प्रस्तर प्रतिमा–पीठ पर लेख अंकित करने की परम्परा से कलाकार परिचित थे। इस सब में राजा का नामोल्लेख तथा दानकर्ता का नाम अंकित है। कुषाण लेख शककाल में (ई0स0 78) तथा गुप्तकालीन लेखों की तिथि गुप्त सम्वत (ई0स0 320) से मिलते हैं।

मध्ययुग से (7वीं सदीं) धातु–प्रतिमाओं को ढ़ालते समय साँचे में ही लेख अंकित कर दिया जाता था ताकि तैयार मूर्ति में लेख स्वयं स्पष्ट हो जाय। नालंदा तथा कुर्कीहार से प्राप्त धातु प्रतिमाओं की पीठ पर पालनरेशों के नाम वर्ष में तिथि तथा दानकर्ता के नाम अंकित हैं। इस युग से सौ से भी अधिक प्रतिमा पीठ पर लेख मिलते हैं। कुर्कीहार के धातु–प्रतिमाओं के सदृश्य अन्य स्थानों नालंदा तथा विहार से भी उसी प्रकार की मूर्तियाँ प्राप्त हुई है जिनकी पीठ पर लेख तथा वर्ष खुदे हुए हैं। कुर्कीहार से देवपाल के 19 वें वर्ष विग्रहपाल के 19वें वर्ष के दो राज्यपाल के 28 एवं 62 वर्ष के दो तथा महीपाल के दो प्रतिमा–पीठ लेख प्रकाश में आये हैं। बोधगया एवं नालंदा से गोपाल द्वितीय का अभिलेख प्रतिमा–पीठ पर खुदा मिला है। इस प्रकार विहार प्रदेश मे विभिन्न स्थानों से उपलब्ध प्रतिमाओं पर खुदे लेख प्रकाश में चुके हैं।

प्रायः सभी लेखों में शासन–तिथियाँ मिलती हैं जिससे उस राजा के शासन–काल पर प्रकाश डाला जाता हैं। जैसे– नारायणपाल प्रायः 54 वर्ष तक राज्य करता है जिसका उल्लेख उसके उदंडपुर बौद्ध–प्रतिमा की पीठ पर मिलता है–

''श्री नारायणपालदेव सम्वत 54 श्री उदण्डपुर वास्तव्य राणक उच्चपुत्र ठारु–कस्य'' कुर्कीहार से प्राप्त एक प्रतिमा–लेख मे राज्यपाल का 32वें वर्ष का उल्लेख है–

स्वास्ति श्री राज्यपाल राज्ये सम्बच्छरे 32 श्री मदायणक महाविहारे गोपालहीनो

भार्या वाटु कायाः देवधर्म कष्तम्

बोधगया की प्रतिमा पर महीपाल प्रथम के 11वे वर्ष का लेख निम्न प्रकार से खुदा है–

राजाधिराज परमेश्वर परमभट्टारक परम सौगात श्रीमान महीपालदेव प्रवर्द्धमान विजय राज्ये एकादशमे सम्बत्सरे अभिलिख्य माने।

उसी पाल नरेश के शासन काल में सुवर्णकार द्वारा प्रतिमा–दान का विवरण मिलता है– स्वास्ति श्रीमान् महिपालदेव राज्य सम्वत 31 सुवर्णकार केसवस्य..... स्य देवधर्म....।

इन समस्त लेखों के अध्ययन से–

1) शासक के नाम (पदवी सहित), 2) उसकी तिथि, 3) प्रतिमा का दान, 4) दानकर्ता का उल्लेख, 5) धार्मिक मंत्र आदि का परिज्ञान हो जाता हैं।

बौद्ध प्रतिमाओं पर उपर्यूक्त विवरण सर्वत्र तथा सदा नहीं मिलते तो भी बौद्ध मंत्र का उल्लेख निश्चित रुप से पाया जाता है। रामपाल का चंडीमऊ (विहार से समीप) प्रतिमा पर 42वें वर्ष में मंत्र का उल्लेख है–

^^;s /kEek gsrqizHkok] rs"kka gsrq rkxr vkg
rs"kka p;k fujks/kk] ,oonh egk le.kk frAA**

प्रतिमा–पीठ के अतिरिक्त प्रतिमा के विभिन्न भागों पर भी लेख मिलते हैं। मध्ययुगी प्रतिमा के सिरे भाग पर प्रायः बौद्ध मंत्र '' ये धर्मा हेतु प्रभवा'' खोदे जाते थे। पुरातात्विक संग्रहालय सम्पूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय[10] में प्रदर्शित लघु बुद्ध स्तूप जो बोधगया से प्राप्त हुई है पर भी यही लेख अंकित है। दिनाजपुर से 12वीं सती की सुर्य प्रतिमा मिली है। जिसके पीछे एक लेख मिला है जो भगवान सूर्य के कार्य की ओर संकेत करता हैः–

^^l;s leLr jksxkuka gRrkS fo'o izdk'kd%A**

सूर्य सब रोगों को दूर करने बाले तथा संसार को प्रकाशित करते हैं। यही कारण है कि सूर्य के पुजारी प्रायः बैद्य हुआ करते हैं।कहने का तात्पर्य यह हैं कि प्रस्तर या धातु प्रतिमाओ कि पीठ पर अथवा अन्य स्थानों पर लेख खोदने की परिपाटी थी जिसकी सार्थकता के विषय में सन्देह नहीं किया जा सकता।

lUnHkZ %

1. सारनाथ संग्रहालय सं0 356
2. वासुदेव शरण अग्रवाल, भारतीय कला, पृथिवी प्रकाशन, वर्ष 2015, पृष्ठ 250
3. ए0के0 कुमार स्वामी, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट, लंदन, 1927, PI,XLI
4. सारनाथ संग्रहालय सं0 340
5. अग्रवाल, उपरोक्त, पृष्ठ 96
6. रोमिला थापर, अशोक और मौर्य साम्राज्य का पतन, ग्रंथ शिल्पी नई दिल्ली 2005 पृष्ठ 6
7. रामशरण शर्मा, प्रारंभिक भारत का परिचय, ओरियंट ब्लैकस्वॉन नई दिल्ली 2010, पृष्ठ 192
8. सारनाथ संग्रहालय, प्रतिमा लेख, एपिग्राफी इण्डिका, चार, पष्ठ 176
9. बष्जभूषण श्रीवास्तव, प्राचीन भारतीय– विज्ञान एवं मूर्तिकला विश्वविद्यालय प्रकाशन 2015, पृष्ठ 320
10. पुरातात्विक संग्रहालय सम्पूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय सं0 58.7

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

Lokr«;kÙkj vk/kfud xt jkrh dfork dh çe[k çofÙk;k

lej fot ;*

भारत विभिन्न संस्कृतियों और भाषिक विविधता वाला राष्ट्र है। इस भाषिक वैविध्य में विभिन्न भारतीय संस्कृतियों और सांस्कृतिक विशेषताओं को आत्मसात् करने की चेष्टा निरंतर होती रही है। इन विभिन्न भारतीय भाषाओं का गौरवपूर्ण इतिहास और साहित्य है,– यह बात और है कि एक भाषा–भाषी भारतीय दूसरी भारतीय भाषाओं के साहित्य से अपेक्षित मात्राा में परिचित नहीं हो सका है। परंतु स्वतंत्रता के पश्चात् यह जड़ता टूटी है और जिस प्रकार सम्पूर्ण भारत एक दूसरे के संस्कृतियों के डोर से बंध गया है, उसी प्रकार देश में भाषा सम्बन्धी आदान–प्रदान की प्रवृत्ति भी व्यास हुई है। भारतीयता तभी सम्पूर्णता को प्राप्त होगी जब विभिन्न भाषाओं के पारंपरिक विकास और साहित्यिक योगदान का ज्ञान प्रत्येक भारतीय को होगा, चाहे वह राजभाषा हिंदी में ही हो। गुजराती ऐसी ही भारतीय भाषा है जिसकी अपनी गौरवपूर्ण विकास परंपरा और साहित्य है। मोटे तौर पर देरवा जाए तो गुजराती का प्रारंभ उस समय हुआ जब उत्तर भारत में हिंदी का आदिकाल शुरू हो रहा था। विद्वानों के मतानुसार 10वीं से 14वीं सदी के मध्य गुजराती भाषा का प्रारंभिक काल विकसित हुआ, जिसे अपभ्रंश या पुरानी गुजराती के नाम से भी जाना जाता है। 15वीं से 17वीं सदी के बीच मध्यकालीन गुजराती भाषा का विकास हुआ और उसके बाद से अब का काल आधुनिक गुजराती भाषा का काल माना गया है।

भाषा साहित्य के विद्वानों ने आधुनिक गुजराती के इतिहास को चार युगों– नर्मद युग (1850 –1880), पंडित युग (1880–1920), गाँधी युग (1920– 1955) तथा आधुनिक युग (1955) के बाद में बांटा है। आधुनिक युग में नाटक, निबंध, उपन्यास, आलोचना,काव्य आदि समस्त विधओं में रचनाएं हुई। कविता का क्षेत्रा प्रौढ़ और विस्तृत हुआ। कविता के बारे में किसी विद्वान ने सही ही कहा है की यह भावों का सहज और स्वतःस्फूर्त उच्छलन होती है, इसीलिए इसका सम्बन्ध हृदय से अधिक होता है। कविता हृदय के अतल गहराईयों को स्पर्श करती है तथा मानव के अंतर्मन की अधिक उद्वेलित करती है। स्वतंत्रता के पश्चात् हिंदी में नयी कविता का आरम्भ हुआ जिसमें लघुमानव की प्रतिष्ठापना हुई। मोहभंग, अवसाद, संताप, संत्रााास, टूटन आदि का चित्राण भी नयी कविता में मिलता है। गुजराती कविता का स्वर इस दौर में हिंदी से कुछ अलग दिवता है, इसमें प्रकृति– परक कविताएँ, प्रणयसम्बन्धी, हास्य–व्यंग्य की कविताओं के साथ–साथ परम–तत्व और अलौकिक प्रेम के अलावा वसुधैव–कुटुम्बकम् की अनुप्राणित करने वाली कविताओं की सृजना हुई। इस काल के प्रमुव कवियों में उमाशंकर जोशी, कृष्णलाल श्रीधराणी, राजेन्द्र शाह, हरिहर शंकर दवे, का नाम अग्रगण्य हैं। स्वतंत्रता के पश्चात् के साहित्य में आगे चलकर दलित कविताएँ भी आती है, जिसमें आवेश आक्रोश, और विक्षोभ को शब्द(किया गया है। इसके साथ ही दलित कविताओं में गांधे और अम्बेडकर को आधर बनाकर कई कविताएँ लिखी गयी हैं।

स्वातंत्र्योत्तर काल के कविताओं के विवेचन के क्रम में सर्वप्रथम नाम उमाशंकर जोशी का आता है। इनकी काव्य–रचनाएँ हैं – विश्वशांति (1931), गंगोत्राी (1934), निशीथ (1939), प्राचीना (1944), आथित्य (1946), वसंत वर्षा (1954), महाप्रस्थान (1965), अभिज्ञा, धरावन्त्रा और सतपदी (1967)। विश्वशांति, निशीथ, गंगोत्री आदि काव्य–संग्रह स्वतंत्रता से पूर्व लिवे गए, उन पर स्वतंत्रता की चेतना के साथ–साथ गाँधे का प्रभाव भी स्पष्ट परिलक्षित होता है। स्वातंत्रयोत्तर काव्यों में आधुनिकता के दर्शन होते

*शोधर्थी, हिन्दी विभाग, गुजरात केन्द्रीय विश्वविद्यालय, गाँधीनगर, गुजरात

हैं। उमाशंकर पाश्चात्य कवि एलियट, एजरा पाउंड आदि आधुनिकतावादी कवियों की कविताओं और दर्शन से प्रभावित होते हैं उनकी कवितायें बिम्ब, प्रतीक से लैश होने लगीं साथ ही काव्यभाषा पर अधिक बल दिया जाने लगा। निशीथ में बहुत से मनोहर गीत हैं। इसमें अनेक चिंतन– प्रधन कविताएँ भी हैं। महाप्रस्थान में महाभारत और रामायण को सन्दर्भ बनाया गया है। उदाहरण द्रष्टव्य है–

भीम : महाराज धर्मराज / आयुज्योंती पांचाली की बुझी प्रथम क्यों?

युधिष्ठिर : कहूँ? क्या तू सह सकेगा सत्य?

उसका .....

पाँचों में से अर्जुन पर विशेष अनुराग था।[1]

धरावस्त्रा और सतपदी काव्य– संग्रह (1981) में प्रकाशित हुए। सप्तपदी उमाशंकर की कविता का ही नहीं अपितु बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध की गुजराती कविता का शिखर है। छिन्नभिन्न व्यक्तित्व के एक केंद्र होने की प्रक्रिया समपदी का विषय है। इसमें सर्जन, प्रेम, दुरित (evil), ईश्वर और मृत्यु को आधार बनाया गया है। शोध कविता को देखेंः –

पुष्पों से बात करने का समय रहा नहीं।
पुष्प, पृथ्वी के भीतर की स्वर्गीय गर्विली उत्कंठा
तेज के द्वीप, संस्थान, मानव अरमान के,
पुष्प मेरी कविता के ताज– ब– ताज शब्द।
गर्भ में रहे शिशु की मुंदी हुई आँवें
माता के चेहरे में टिमटिमाएँ,
ऐसे मेरे अस्तित्व में काव्य चमकता,
आपने देवा है?[2]

यह जीवन विछिन्न है– टुकड़ों में सप्तपदी की सातों रचनाओं का केंद्रीय विषय है जीवन में एक केंद्र का होना और कवि अपनी कविता में यही अभिव्यक्ति करता हुआ दिखता।

राजेन्द्र शाह गुजराती के यशस्वी और अग्रगण्य कवि हैं। इन्होंने रवीन्द्र एवं गाँधी युग में अपना लेखन प्रारंभ किया था, जिसके परिणामस्वरूप इनकी कविताओं में सौन्दर्य एवं अध्यात्म का श्रेष्ठ समन्वय मिलता है। प्रकृति के विभिन्न रूप इनके काव्य– भूमि को गरिमा प्रदान करती है। औपनिषदिक वेदांत ने इनकी कविता को गहराई प्रदान करती है। इनकी कविताओं में दार्शनिकता, रहस्यमयता, के साथ ही संवादिता, आत्मतृति और प्रसन्नता का भाव सहज रूप में विद्यमान है। मानवतावाद की वाणी इनकी कविताओं का गहना है। इनके प्रमुख काव्य– संग्रहों में ध्वनि (1951), आंदोलन (1951), श्रुति (1957), शांत कोलाहल (1962), क्षण जो चिरंतन (1968), मध्यमा (1977), निरूद्देशे इत्यादि। शांत– कोलाहल को 1964 में साहित्य अकादमी तथा निरूद्देश्य को 2003 में ज्ञानपीठ पुरस्कार से नवाजा गया। प्रो. कुंदन माली राजेन्द्र शाह के विषय में लिखते हैं– चाहे वे किसी भी विषय पर कविता लिखते रहे हों, लेकिन राजेन्द्र शाह की मूल काव्य संवेदना, गीतपरक संवेदना ही रही है, तथा लोकचेतना,लोकचित और लोक सांस्कृतिक सम्पूर्ति से वे कभी भी विरत नहीं होते, यद्दपि गुजराती काव्य– आलोचना में राजेन्द्र की छायावादी कवि के तौर पर ही रेखांकित किया गया है। गहराई में जाने पर यह बात स्पष्ट हो सकती है कि उनकी कविता में यथार्थवाद कैसा है, किस तरह से आया है और कहाँ तक वह पहुँच पाया है।[3]

राजेन्द्र शाह की कविताओं में प्रकृति प्रसन्नता और जीवन– प्रेरणा के स्रोत के रूप में आयी है। प्रकृति यहाँ आलंबन और उद्दीपन दोनों ही रूपों में विद्यमान है। राजेन्द्र शाह प्रकृति की संगति में आनंद का अनुभव करते हैं। कवि मुग्ध आनंद की आँखों से प्रकृति को निहारता है, और उसमे वो जाता हैः –

दूब में चरते कोमलांग मृगों का समूह
मन को मोहता है, चाहे जितनी तेज हो हिंस्र प्राणी की गर्जना
डाली– डाली पर उड़ते पंक्षियों का छंद– रव / रैविक गति के समान,
नज़र आया करता है, / सौन्दर्य दर्प का[4]

प्रकृति अपने मनोरम रूप में राजेन्द्र शाह के समकालीन कवियों, बांग्ला के विष्णु दे और मलयालम के जी. शंकर कुरूप के यहाँ भी परिलक्षित हुई है। जी. शंकर कुरूप की कविता कुकुरमुत्ते की पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं: –

नये दिवस का मणि– अंकुर / पूर्व दिशा में फूटा, / और उसकी बेल पनप कर, सब जगह पफैलने लगी।

वेतों के लम्बी मेढ़ों के किनारे–किनारे चलता हुआ' / आ पहुँचा किसान हांकता अपने बैलों को।?[5]

प्रातः काल का कितना मनोरम चित्रण है। सूर्योदय और इससे जुड़ी तमाम मानवीय क्रियाकलापों का चित्रण इस कविता में हुआ है।

राजेन्द्र शाह भर पूर गीति–संवेदना के साथ संभोग– श्रृंगार को प्रदीप्त करती प्रकृति का बिम्ब प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं: –

मंजरी की गंध / उम किंमुक का रंग / लोकिल जैसा कंठ / मुझे लगा सभी का छंद / ओ जी मेरा जीव लुभाया री।[6]

राजेन्द्र शाह की कविताएँ प्रकृति के सजीव चित्रण से भरी तो हैं ही उसके साथ इनके यहाँ लौकिक और अलौकिक प्रणय के उदाहरण भरपूर मात्राा में मौजूद हैं, जिसमें भावावेग युत्त तथा भौतिक–चिंतन युक्त दोनों ही मुद्राएँ देखी जा सकती हैं। 'ईंधन बीनने गयी थी' कविता में प्रेम का आनंद इस प्रकार अभिव्यन है: –

जिसका द्रोना साथ सखी री, / जिसकी देखी राह, / इसकी रही है चाद्र सखी री, / जिसके साथ बहती मौजे– दरिया, इसकी रही है चाह सखी री, / इसकी रहनी चाद्र[7]

राजेन्द्र शाह के यहाँ श्रृंगार रस के दोनों पक्षों पर कविताएँ मिलती हैं, चाहे वो संयोग श्रृंगार हो या फिर वियोग श्रृंगार। संयोग जहाँ लुभावन है, आनंद से भरा है वहीं वियोग आँवों को आर्द्र और हृदय को मर्माहत करने वाला है। वियोग श्रृंगार का एक उदाहरणः

हाँ रे मेरे पाँव में, / भले फूटती हो पाँख, / उड़ी चली जाती हूँ मैं, / सिंगार के लोक में, नहीं झिझक और नहीं, / कोई चिंता लोक– लाज की।[8]

यहाँ विरहिणी नायिका का वर्णन है, जो वियोग में है और विरहाग्नि में दग्ध हो रही है, अपने प्रेमी से मिलने की तीव्र उत्कंठा इसकी व्यग्र बनाता है, वह 'पावों में पंव फूटने की आकांक्षा खती है, ताकि वह अपने प्रिय से मिलने उड़कर चली जाती। यह तो हुआ लौकिक प्रेम का चित्राण, राजेन्द्र शाह ने अलौकिक सना से प्रेम को भी अपने कविताओं में चित्रित किया है: –

मेरे तृप्ति प्राण के एक बिंदु पर, / एक बिंदु पर ही सौ गुणा बढ़ती,/रे नयनों में जलती– जलती अनवरत– सुन्दरतम के साथ, / गटी मिन्लन की आसा[9]

परम– सत्ता से मिलने की आशा इन पंनियों में परिलक्षित होती है।

राजेन्द्र शाह जीवन के कवि हैं। इनके यहाँ जीवन के मूल्यों की संतुलित अभिव्यत्ति मिलती है। इनके लिए जीवन नीरस और शुष्क नहीं अपितु इसके प्रत्येक पोरों में रस है, और इसको जिंदादिली से जीने के ये हिमायती हैं। रस और रुचि से जीवन उत्सव हो जाता है, अन्ततः यह जीवन ईश्वर की लीला का परिणाम है, और राजेन्द्र शाह के यहाँ जीवन अध्यात्म से जुड़ जाता है। वे कहते हैं– काया की कोटर में बंद है। अनमोल रंग में रंगा है [10]

कृष्णलाल श्रीधराणी उमाशंकर जोशी के समकालीन थे। इनके काव्य हैं। कोडिया (1939) तथा पुनरपि (1961)। इन्होंने अपनी रचनाओं एवं गीतों– सॉनेट से गुजराती कविता को समृद्ध करने में बहुत ही महत्वपूर्ण योगदान दिया है। गहरे यथार्थ का चित्राण एवं वेधक व्यंग के साथ सूक्ष्म संवेदनशीलता और मुन बिम्बात्मकता उनकी कविता के मुख्य विषय हैं। उमाशंकर जोशी, श्रीधराणी के विषय में कहते हैं सुभग शब्द विन्यास, लय की प्रस्फुटित होनी कला सूझ, शायद बेजोड़ थी।[11]

स्वतंत्रता संघर्ष का काल ही कवि के काव्य–सृजन का समय रहा, इसलिए उनका काव्य स्वातंत्र्य सम्बन्धी अनेक काव्यों के सृजन से भरा पड़ा है। इसमें भूख से पीड़ित समाज भी है, प्रकृति का चित्राण भी है, 'रोहिणी' जैसी विशिष्ट एवं दीर्घ प्रणय कविता भी है इसके साथ ही आराधनामां स्वरूप बानुं ने बा स्मरीने प्रभु रूप पामुं।[12]

इन पंक्तियों के साथ अध्यात्म के भी दर्शन हो जाते हैं। इनकी कविताएँ भावना और वास्तविकता का अद्‌भुत संगम है 'आठ्मुं दिल्ली' कविता जो 1956 की रचना है, इसमें कवि का स्वर आक्रोशपूर्ण नजर आना है। इस कविता में समाज और राष्ट्र की परिवर्तित परिस्थितियों की गूंज मुनाई देनी है। कवि कहते हैं कि जो अनूठा (विशेष) स्वराज प्राप्त हुआ है उसे संभालना ज़रूरी है, नहीं तो नतीजे गलत हो सकते हैंः–

भविष्य की फुदाली जब झुकेगी, / नयी पीढियां याद करेंगी या उपेक्षा करेंगी।
होगी अवश्य एक टंकार, रूपए– पैसे नए आयेंगे, / भांति–भांति के सिकड्डे मिलेंगे,
लेकिन नहीं मिलेंगे ताज के मोहर।[13]

इस कविता में कवि ने दिल्ली के इतिहास की याद दिलाने का प्रयत्न किया है। भूत के माध्यम से कवि भविष्य देख रहा है। कवि कहता हैं कि कविता, नाटक लिखकर राज्य का प्रचार करना है कवि की कहता है कि 'चरु का टंकार' होगा जिसमें से :–

रूपए– पैसे नए निकलेगे, / मिलेगी भांति–भांति की मुहर,
नहीं मिलेगी ताज की मुहर / अनेक चंद्रक मिलेंगे, पर न मिलेगा शुद्ध विवेक।[14]

पर न मिलेगा शुद्ध विवेक' इन पंक्तियों में भविष्य की आशंका छिपी हुई है की अगर इतने अर्थ नहीं रह जाएगा। आज राजनीति का जो रूप है वह कवि के शब्दों में 'शुद्ध– विवेक' के न पुनरपि (1961) की तेईस कविताओं में नूतन अनुभूतियाँ लोक– लय में अभिव्यक्त हुई हैं। इनमें नए भाव– प्रतीकों के साथ नयी व्यंग्वृत्तियां भी हैं। दर्शनों विनोबानां' में काव्यत्व की अपेक्षा भावपक्ष अधिक सक्षम है। केवल दो शब्दों का काव्य है। काठियावाड़ उद्देश्य कविता है। मूलतः आत्मकथ्य होते हुए भी 'काठियावाड़' के सुन्दर चित्र अंकित हैं। यथाः–

'ये आंवला, बबूल, बेर का देश / थोर समान उपरण, / धुल उड़े और दाह लगाते पत्थर
जहाँ अशोक के लेव छपवाए। / ग्रीष्म ने लगाई। पलाश में आग, / सब जब सूख जाए,
पागल बबूल हरा होता, / इस क्षेत्र में है जन्म मेरा।[15]

हरिहर शंकर दवे की ख्याति हास्य और व्यंग लेखक की दृष्टि से अधिक है। इन्होंने हास्य को अधिक से अधिक रूपों में लिवा। उदाहरणस्वरुप मारी नींव पौधे, रंग– तरंग, इन सभी कृतियों में हास्य अपनी विविधताओं के साथ प्रचुर मात्राा में विद्यमान है। हास्यरस के साहित्य सर्जन में हरिहर शंकर दवे की समता रमणभाई नीलकंठ से की जाती है। श्लेष अलंकार इनके काव्य का विशेष गुण है। इनकी हास्य रचना में कृत्रिमता नहीं अपितु स्वाभाविकता परिलक्षित होती है।

स्वतंत्रता के पश्चात साहित्य लम्बी यात्रा करता हुआ समकालीन दौर तक पहुँचा है। इसमें हाशिये पर पड़ी आवाजों ने खुद को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है, अपने दुःख, पीड़ा, व्यथा की अभिव्यत्तिफ का प्रयास समस्त भारतीय भाषाओं में हुआ और गुजराती भी इससे अछूती नहीं रही। दलित कवियों ने अम्बेडकर, गाँधी पर केन्द्रित कविताएँ लिखी हैं। नीरव पटेल की 'फूलवाडो' और हीरो, साहिल परमार की 'आजाद देशना गुलामोनुं गाणु जैनी कविताओं में गान्धीजी को केंद्र बनाया गया है, और किस प्रकार से कालांतर में गांधीजी के प्रदत्त मूल्यों का "ह्रास हुआ । कवि लिखते हैंः–

यहाँ गली–चौक में बिक्री हो रही है / गाँधीजी के 'अस्पृश्यता निवारण' की हरिजन से स्पर्शित जल सवर्णों के लिए ज़हर बन जाता है गाँधीजी के इस अहिंसक देश में[16]

अस्पृश्यता निवारण गाँधीजी का मुख्य उद्देश्य रहा, परन्तु कालांतर में यह दमनकारी शस्त्र में बदल दिया गया, इसी को कवि व्यक्त कर रहा है संयमित आक्रोश के साथ, इसके पीछे की वेदना की अनुभव भी किया जा सकता है।

संपूर्ण गुजराती साहित्य एवं समृद्ध साहित्य है। गुजराती कविताएँ बहुआयामी हैं, वह चाहे प्राचीन काल ने सम्बंधित हो या फिर आधुनिक काल से गुजराती कवि दयाराम की पंडित मृत्यु के पश्चात गुजराती में आधुनिक काल का आगमन होता है और यह काल नर्मद युग, पंडित युग, गाँधी युग से होता हुआ आधुनिक युग तक की यात्राा करता है। आधुनिक युग की शुरुआत 1955 के बाद से, गुजराती साहित्य में मानी जाती है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात परिस्थितियों में परिवर्तन आया। इस काल के कविता भूमि की उमाशंकर जोशी, राजेन्द्र जाह, कृष्णलाल श्रीधाराणी, हरिहरशंकर दवे आदि कवियों ने उर्वर बनाया। इस काल की कविताओं के विविध स्तर है, विविध रंग है। एक ओर जहाँ प्रकृति का मनोरम वर्णन है और सजीव चित्रण है तो दूसरी ओर मृत्युबोध का सत्य मानव मूल्यों की स्थापना है तो हास्य और मारक व्यंग्य भी है। श्रृंगार के दोनों अंगों का संयोग और वियोग है तो दूसरी ओर अध्यात्म चिंतन को पराकाष्ठा, अलौकिक, अगोचर सत्ता से तादात्म्य स्थापित करने की उत्कंठा। इसके साथ ही समकालीन कविता के दौर में हाशिए पर पड़े समाज की पीड़ा और आक्रोश भी है। समग्र दृष्टि से देखा जाये तो समसामयिक परिस्थितियों की नब्ज को पकड़ने का काम आधुनिक काल के गुजराती कविताओं में हुआ है। कवियों ने अपने वैविध्यपूर्ण अनुभवों और वैचित्र्यपूर्ण अनुभूतियों से आधुनिक गुजराती कविता को अन्यतम् स्थान प्रदान करने का प्रयत्न किया है।

I UnHkk %

1. पटेल भोलाभाई, मंगल शब्द से मौन तकःकविता, भारतीय साहित्य के निर्माता, उमाशंकर जोशी, , पृष्ठ.17
2 वही, पृष्ठ 20
3. माली, फुदन, प्रसिद्ध समकालीन भारतीय कविता और राजेन्द्र शाह सम्प्रति में चिंतन, पृष्ठ.6
4. वही, पृष्ठ 9
5. वही, पृष्ठ 8
6. वही, पृष्ठ 10
7. वही, पृष्ठ 12
8. वही, पृष्ठ 14
9. वही, पृष्ठ 14
10. वही, पृष्ठ 17
11. रावल, प्रफुल्ल, कृष्णलाल श्रीधराणी की कविता, समकालीन भारतीय साहित्य, मई–जून 2011, पृष्ठ.24
12. वही, पृष्ठ.30
13. वही, पृष्ठ.30
14. वही, पृष्ठ.31
15. वही, पृष्ठ.31
16. गुप्त, आलोक, गुजराती कविता में गाँधी, समकालीन भारतीय साहित्य, सितम्बर–अक्टूबर–2008, पृष्ठ. 169–170

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

dkek;uh vkj fgUnh vkykpuk

vouh'k dekj ik.M;*

कामायनी न केवल छायावादी–काव्य की सर्वाधिक महत्वपूर्ण काव्य–कृति है, बल्कि आधुनिक हिन्दी कविता की सबसे अहम रचनाओं में से एक है। इस वजह से इस कृति ने हिन्दी आलोचना का अपनी ओर खूब ध्यान आकृष्ट किया। कुछ आलोचकों ने जहाँ इस कृति की अतीव प्रशंसा की है, वहीं कुछ आलोचकों ने कई बिन्दुओं पर सख्त आलोचना भी की है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल यद्यपि छायावाद के प्रशंसक थे, बावजूद उसके उन्होंने छायावादी काव्य पर विस्तार से विचार किया है। उसी क्रम में आचार्य शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में जयशंकर प्रसाद पर भी विस्तार से लिखा है, जिसका सबसे बड़ा और महत्वपूर्ण हिस्सा कामायनी पर है। शुक्ल जी कामायनी की कथा संरचना और उसकी काव्यात्मकता तथा सोद्देश्यता पर विचार करते हुए, कई जगह जहाँ प्रभावित होते है तो कई जगह उसकी सीमाओं को भी रेखांकित करते हैं।

आचार्य शुक्ल के कामायनी सम्बन्धी विचार को किंचित हम निम्नलिखित दो उद्धरणों के माध्यम से जान सकते हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास में वे कामायनी पर विस्तार से विचार करने के उपरान्त अन्त में लिखते हैं–

''यदि मधुचर्या का अतिरेक और रहस्य की प्रवृत्ति बाधक न होती तो इस काव्य के भीतर मानवता की योजना शायद अधिक पूर्ण और सुव्यवस्थित रूप में होती।''[1]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भले ही उपरोक्त कथन के माध्यम से यह बताने की कोशिश की है कि कामायनी में रहस्य की प्रवृत्ति और मधुचर्या का अतिरेक है, लेकिन जब हम उसकी कथा संरचना पर विचार करते हैं तो पाते है कि यह स्वाभाविक रूप में आया है न कि अतिरेक रूप में। प्रसाद जी ने मधुर प्रसंगों के अलावा विस्तार से मानव जीवन की विसंगतियों और आधुनिक सभ्यता की त्रासदी पर अपने इस महाकाव्य में विचार किया है। नन्द दुलारे बाजपेयी ने अपनी पुस्तक 'जयशंकर प्रसाद' में कामायनी के प्रसंग में लिखा है–

''प्रसाद जी ने कामायनी के नायक और नायिका मनु और कामायनी का स्वरूप वैज्ञानिक भूमि पर स्थिर किया है। पुरूष और नारी की विज्ञान सम्मत प्रकृति और प्रवृत्ति का चित्रण मनु और कामायनी के रूप में करने की चेष्टा की है। पुरूष और नारी प्रकृत्या क्या हैं, सभ्यता, इतिहास और परम्परा के आवरणों को अलग कर देने पर मूलतः वे क्या रह जाते हैं, यही कामायनी और मनु के स्वरूपों में दिखाया गया है। इस मूल भावना के प्रदर्शन का महत्व यह है कि कवि विज्ञान–सम्मत चित्रण द्वारा जीवन के स्वरूप और उसकी प्रेरणा की परीक्षा करना और उसके तथ्यों पर प्रकाश डालना चाहता है। आज का मनुष्य और आज की नारी इतिहास की उपज है। उसमें कृत्रिम प्रवृत्तियों और संस्कारों का मेल हो गया है, इसलिए समस्त ऐतिहासिक और कालगत आवरण के परे जाकर मूल मानव–प्रवृत्तियों के उद्घाटन में प्रसाद जी संलग्न हैं।''[2]

उक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि जयशंकर प्रसाद ने कामायनी में आधुनिक मनुष्य की प्रवृत्तियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। कामायनी की दृष्टि व्यक्तिवादी नहीं है, बल्कि रचनाकार ने मनु के माध्यम से यह दिखलाने का प्रयास किया है कि स्वार्थ के वशीभूत व्यक्तिवाद का क्या परिणाम होता है। कामायनी में निरूपित मूल्य आधुनिक सभ्यता के संकट के लिए जिम्मेदार कुछ मूल्यों से सीधे टकराते हैं। कामायनी के ऊपर विचार करने वालों में गजानन माधव मुक्तिबोध अग्रणी आलोचक हैं। उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक ''कामायनी : एक पुनर्विचार'' में इस कृति पर बिल्कुल नये ढंग से विचार किया है। कामायनी की युगीन व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं –

''प्रसाद जी के व्यक्तित्व, उनके काव्य, उनके जीवन तथा कामायनी में वर्णित देवसभ्यता के चित्रों के सामाजिक–ऐतिहासिक विश्लेषण से हमें, इस निष्कर्ष पर पहुँचना ही पड़ा है कि देव–सभ्यता वह ह्रासकालीन सामन्ती सभ्यता है, जो ब्रिटिश साम्राज्यवादी पूँजीवादी के धक्कों से, विश्व–पूँजीवादी के भूकम्पों से धराशायी हो

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

गयी। निश्चय ही, इस सामन्ती सभ्यता के लिए यह प्रलय ही था। पूँजीवादी के देशी और विदेशी प्रहार उसके लिए प्रलय के समान ही रहे, जिनकी युगान्तरकारी शक्तियों पर उनका कोई जोर न था। वह सभ्यता तो अपनी विलास–भंगिमा की बारीकियों में ही डूबी हुई थी, कि एकाएक बन्दूकें चलने लगी, तूफान चलने लगा और सामन्ती शासन इस जल–प्रलय में सदा के लिए नष्ट हो गया।''[3]

मुक्तिबोध के इस उद्धरण से यह सिद्ध होता है कि जयशंकर प्रसाद ने कामायनी की रचना कर आधुनिक मूल्यबोध की स्थापना तो की ही है साथ ही तत्कालीन भारत के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक समय को भी एक पुरातन कथा विन्यास के सहारे व्याख्यायित किया है। यह स्मरण रखना चाहिए कि कामायनी एक ऐसा काव्य है जिसमें स्थूल वास्तविकताओं के स्थान पर सूक्ष्म मानसिकताओं का निरूपण किया गया है। इसकी पौराणिक कथावस्तु अपने युग का हल्का आभास देने के बाद भी उसमें सिमटी हुई नहीं हैं, बल्कि सम्पूर्ण मानवता के विकास के रूपक के तौर पर सामने आती है। आधुनिक सभ्यता के संकटों के सम्भावित समाधानों की तलाश में कामायनी अत्यंत विचारणीय कृति है इसमें संदेह नहीं। प्रो0 विष्णुकांत शास्त्री ने अपने लेख ''आधुनिक सभ्यता का संकट और कामायनी'' में इस सन्दर्भ में विचार करते हुए लिखा है कि– ''आधुनिक सभ्यता के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर प्रलय की पीठिका कर 'कामायनी''' का आरम्भ बड़ा अर्थ–गर्भ प्रतीत होता है। मुक्तिबोध ने इस प्रलय को सामंती जीवन–मूल्यों के विघटन का समशील माना है, किन्तु इसे मूल्यों की ध्वस्तता के किसी भी युग के साथ जोड़कर देखा जा सकता है। बिल्कुल साम्प्रतिक परिवेश की ही बात की जाय तो ऐसा लगता है कि आज का युग प्रलय (तीसरे विश्वयुद्ध) की आशंका से संत्रस्त और उससे बचने की छटपटाहट से ग्रस्त है।''[4]

इस कथन से यह भी स्पष्ट होता है कि कामायनी पूर्णतः एक आधुनिक कषति है, जिसके माध्यम से हम आज के सभ्यता–संकटों को पहचान सकते हैं, साथ ही यह कषति उन संकटों से बाहर निकलने का मार्ग भी हमें सुझाती है।

कामायनी की रचना के मूल में मानवीय संस्कृति का विकास और उसके वर्तमान विसंगतियों का विश्लेषण है। मानवीय संस्कृति की विशिष्टता का सन्दर्भ पिछली देव संस्कृति की तुलना से स्पष्ट होता है। देवता, स्वर्ग, परलोक प्रधान, मध्यकालीन भारतीय विचारधारा से हटकर मनुष्य की संस्कृति का समकालीन राष्ट्रीय संदर्भ में व्याख्या करना जयशंकर प्रसाद जी का मुख्य ध्येय रहा है, समकालीनता से यह जुड़ाव ही वह कारण है जिसके कारण इस महाकाव्य ने अनेक आलोचकों को विस्तार से इस कृति का विवेचन करने के लिए विवश किया। आज भी कामायनी उतनी ही प्रासंगिक कृति है, क्योंकि जैसे–जैसे हम और आधुनिक होते जा रहे हैं, आधुनिक समय की त्रासदी और विसंगतियाँ भी बढ़ती जा रही हैं। मनु के माध्यम से प्रसाद जी ने आधुनिक मनुष्यों के लिए एक ऐसे पात्र का सृजन किया है जिसकी खूबियों तथा खामियों से सीख लेकर आज के समय में हम बेहतर मानवीयता के साथ आगे बढ़ सकते हैं।

जीवन की सामयिक समस्याओं को कामायनी में जगह मिली है। सारस्वत प्रदेश आधुनिक राज्य का चित्र है। बुद्धिवाद की प्रतिनिधि के रूप में इड़ा को उसके निर्माण का श्रेय प्राप्त है।

राजनीतिक समस्याओं के निराकरण के लिए कामायनी में एक आदर्श प्रजातंत्र की कल्पना की गयी है। उसका धरातल सार्वभौमिक है। आज के युग की झलक सारस्वत प्रदेश में इस रूप में दिखाई देती है कि भौतिक सम्पन्नता वहाँ खूब थी, लेकिन आज की दुनिया की तरह वहाँ शान्ति न थी। सब यान्त्रिक जीवन जी रहे थे। प्रसाद लिखते हैं–

i:Ñr "kfDr r|eu; ;=k l: lcdh NhuhA
'kk"k.k dj thou cuk nh t t:j >huhAA[5]

डॉ0 प्रेमशंकर लिखते हैं– ''कामायनी में प्रायः मानवता सम्बन्धी विषयों को लिया गया है। आध्यात्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक, व्यक्तिगत आदि सभी पक्षों पर उसमें विचार है।''[6]

l UnHk% %

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ 472.
2. जयशंकर प्रसाद, नन्द दुलारे वाजपेयी, लोकभारती प्रकाशन, इला0, पृष्ठ 71.
3. 'कामायनी : एक पुनर्विचार', मुक्तिबोध, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ 47.
4. 'आधुनिक सभ्यता का संकट और कामायनी', प्रो0 विष्णुकांत शास्त्री, साहित्य भवन, आगरा, पृष्ठ 84.
5. प्रसाद का सम्पूर्ण काव्य (कामायनी), संपादक–सत्यप्रकाश मिश्र, लोकभारती, इलाहाबाद, पष्ठ 38.
6. प्रसाद का काव्य, डॉ0 प्रेमशंकर, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 111.

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

vlk/;oh.kk e fgUnh n'kZu

fxjt'k dekj*

असाध्यवीणा अज्ञेय द्वारा लिखित लम्बी कविता है, जो उनके काव्य संग्रह 'आंगन के पार द्वार' 1961 में संकलित है। इस कविता में प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। जिसकी वजह से यह लौकिक और अलौकिक दोनों स्तरों पर चारितार्थ होती है। इस कविता के केन्द्र में कलावंत प्रियंवद केशकम्वली, तथा वीणा और किरीटी तरू जिससे वह वीणा बनी है को रखा गया है।

लौकिक स्तर पर किरीटी तरू समष्टि का प्रतीक है और अलौकिक स्तर पर वह ब्रह्म है। प्रियंवद जीव या साधक का प्रतीक है, जो ब्रह्म की प्राप्ति के लिये साधना करता है। प्रियंवद के अलावा राजा के दरबार के अन्य कलावंत भी जीव या साधक के ही प्रतीक है, जबकि वीणा व्यक्ति के भौतिक अस्तित्व का प्रतीक है। जब कोई भी कथा अलौकिक स्तर से जुड़ जाती है तो उसके केन्द्र में कोई न कोई दर्शन जरूर होता है यही असाध्यवीणा में है। पर अज्ञेय किसी विशेष दर्शन के प्रति आसक्त न थे वरन उन्होंने असाध्यवीणा में बौद्ध, जैन, हिन्दू तथा अस्तित्ववाद को प्रसंगों के अनुकूल प्रयोग किया है, लेकिन हिन्दू दर्शन की अधिकता दिखाई देता है। अब हिन्दू दर्शन के अन्तर्गत उपनिषद, अद्वैतवाद, द्वैतवाद तथा विशिष्टाद्वैतवाद के साथ–साथ वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग का विशेष महत्व रहा है।

बच्चन सिंह का मानना है ''असाध्यवीणा में मौन भी है, समर्पण भी है, अद्वैत भी है, तथा रहस्य भी है।''[1]

बच्चन सिंह ने अद्वैतवाद को तो स्वीकारा है पर कहाँ और कैसे? इसका कोई वर्णन इन्होंने नहीं किया। असाध्य वीणा के अद्वैतवाद का महत्व रामस्वरूप चतुर्वेदी ने भी स्वीकार किया है। उनके अनुसार–

''अपने और सब कुछ की तथता' का यह अद्वैतवाद निराला और अज्ञेय को गहरे स्तर पर जोड़ता है।''[2]

यहाँ पर प्रियंवद अपने आपको पूरी तरह से वीणा के प्रति समर्पित कर देता है।

श्रेय नहीं था कुछ मेरा;
मैं तो डूब गया था स्वयं शून्य में–
वीणा के माध्यम से अपने को मैंने–
सब कुछ को सौंप दिया था
सुना आपने जो वह मेरा नहीं
न वीणा का था;
वह तो सब कुछ की तथता की थी

कुछ इसी प्रकार का स्वर संत कबीर के पद्य भी पाया जाता है–

जब मैं था तब हरि नहीं
अब हरि हैं, मैं नाहिं

इसके अलावा रामस्वरूप चतुर्वेदी ने कहा– ''अर्थ और अनुभव का अद्वैत यों इस लम्बी कविता का साध्य है।''[3]

वैसे तो सभी हिन्दू दर्शनों से ब्रह्म की व्यापकता का वर्णन किया गया है। जिसमें अद्वैतवाद और औपनिषदिक दर्शन की प्रधानता है।

*शोधार्थी, शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गुना (म0प्र0)

अद्वैतवाद के प्रवर्तक शंकराचार्य के गुरू आचार्य गौडपाद ने अपने मत अजातिवाद में ब्रह्म की व्यापकता का वर्णन करते हुये कहते हैं ''परमात्व तत्व नित्य निरपेक्ष है अतः उसकी उत्पत्ति का प्रश्न नहीं उठता'' ।[4]

इसके अलावा ब्रह्म की व्यापकता का वर्णन माण्डूक्य उपनिषद में भी किया गया–''वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक, सार्वन्तर्यामी और सबके स्वामी हैं तथा सबकी उत्पत्ति और लय के कारण हैं।''[5]

इसी प्रकार ब्रह्म की व्यापकता का वर्णन अज्ञेय ने भी असाध्य वीणा में किया है।

ओ विशाल तरू

शत सहस्र पल्लवन–पतझरों ने जिसका नितरूप संवारा, कितनी बरसातों कितने खद्योतों ने आरती उतारी।[6]

पूरा तो इतिहास न जान सके हम
किन्तु सुना है वज्रकीर्ति ने मंत्र पूत जिस
अति प्राचीन किरीटी तरू से इसे गाढा था
उसके कानों में हिम शिखर रहस्य कहा करते थे
उसके कंधों पर बादल सोते थे
और सुना है जड़ उसकी जा पहुंची थी पाताल लोक।[7]

ब्रह्म की यह व्यापकता अद्वैतवाद के ज्यादा समीप दिखाई पड़ती है।

अद्वैतवाद के अलावा असाध्य वीणा मे विशिष्टाद्वैतवाद को देखा जा सकता है। क्योंकि इस दर्शन में जीव/साधक को स्वगत भेद के आधार पर ब्रह्म का अंग माना जाता है,

''ब्रह्म का विश्लेषण करने से ब्रह्म में तीन चीजें पाई जाती हैं। ईश्वर (सत्), जीव/आत्मा (चित्), जगत् (अचित्) जो द्रव्य और गुण में सम्बन्ध रहता है; वही ब्रह्म और जीव में।''[8]

अब यदि ब्रह्म मे जीव, जगत, और ईश्वर सभी व्याप्त हैं तो प्रत्येक जीव को ब्रह्म की अनुभूति भी उसी के अनुरूप होगी यह विशिष्टाद्वैतवाद मे कहा गया है। इसका प्रभाव असाध्यवीणा मे भी पाया जाता है। अज्ञेय ने वीणा को उस किरीटी तरू के अंग के रूप में ही रूपायित किया है।

''तू, गा
यह वीणा रक्खी है। तेरा अंग–अपंग
किन्तु अंगी, तू अक्षत, आत्म भारित।''[9]

आगे चलकर उस ब्रह्म की अनुभूति भी सभी जीव या आत्मा को अलग–अलग होती हैं। जब प्रियंवद द्वारा असाध्य वीणा को साध लिया जाता है तो उसका प्रभाव प्रत्येक जीव पर उसी के अनुरूप पड़ता है–

''सहसा वीणा झनझना उठी
डूब गये सब एक साथ
सब अलग–अलग एकाकी पार तिरे''
इयत्ता सबकी अलग–अलग जगी–[10]

'सब अलग–अलग एकाकी पर तिरे' को आधार बनाकर चौथी राम यादव ने लिखा– ''एक ही रचना का अर्थ एक ही समय के अनेक कविताय के लिये अलग–अलग रूपों में विवृत्त होता है।''[11]

अतः कहा जा सकता है कि अज्ञेय ने असाध्यवीणा मे किसी एक दर्शन को आधार न बनाकर कई दर्शनों का प्रभाव ग्रहण किया है।

हिन्दू दर्शन में उपनिषद, श्रीमदभागवत्, अद्वैतवाद, द्वैतवाद, विशिष्टाद्वैत, पुष्टिमार्गी आदि प्रमुख हैं। अहं का विलयन करने के लिये प्रियंवद अपने आपको पूरी तरह से वीणा के माध्यम से उस किरीटी तरू को सौंप देता है जिससे वह बनी है। इस सौंपने की प्रक्रिया को प्रपत्तिभाव या पुष्टिमार्गी स्वीकार किया जा सकता है। इसका वर्णन असाध्य वीणा में किया गया है–

मै ही तो तेरी गोदी वैठा मोद भरा बालक हूँ।[12]

यहाँ पर प्रियंवद अपने आपको असहाय बालक बताकर पूरी तरह से किरीटी तरू के प्रति समर्पित कर देता है जो पुष्टिमार्गी भक्ति ही है।

इतना ही नहीं प्रियंवद तो यहां तक कहता है – मैं नहीं हूँ मैं कहीं नहीं हूँ, ओ तरू, ओ वन, ओ स्वर संसार, ओ नादमय संस्कृति ओ रसलावन मुझे क्षमा करो, मेरी अकिंचनता को भूल कर मुझे ओट दे, ढँक ले, छा ले।।[13]

निःसंदेह असाध्य वीणा में हिन्दू, जैन, बौद्ध दर्शनों का प्रभाव पड़ा है। वास्तव में देखा जाये तो इस प्रकार की कवितायें नये किस्म के अध्यात्म बोध को अभिव्यक्त करती है, जिसे हम किसी विशिष्ट या एक दार्शनिक पद्धति से बाँधकर नहीं रख सकते। बल्कि अज्ञेय ने सभी दर्शनों को आधुनिक स्वरूप देने का कार्य किया है। जिसे आधार बनाकर राम स्वरूप चतुर्वेदी ने लिखा–

''रहस्यवाद की शताब्दियों पुरानी परम्परा का बोझ संभालकर अज्ञेय उसमें गुणात्मक रूप से कुछ नया जोड़ सके यह उनके कवि व्यक्तित्व की सामर्थ्य का सूचक है।''[14]

इस प्रकार अज्ञेय ने एक ने प्रकार के दर्शन को जन्म दिया जिसे नव्य रहस्यवाद कहा जाता है।

lUnHkZ %

1. बच्चन सिंह, हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास : प्रकाशन वर्ष–1996 प्रथम संस्करण, प्रकाशक–राधाकृष्ण प्रकाशन, पृष्ठ संख्या–426
2. राम स्वरूप चतुर्वेदी : हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, प्रकाशन वर्ष–1986, प्रकाशक–लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद, पृ0 सं0–197
3. राम स्वरूप चतुर्वेदी : लेख–असाध्य वीणा : विराटशक्ति का अनुभावन, सम्पादक–प्रो0 वशिष्ठ अनूप, असाध्य वीणा की साधना, प्रकाशक–विश्वद्यालय प्रकाशन वाराणसी, प्रकाशन वर्ष–2010, पृ0 सं0–23
4. चंद्रधर शर्मा–भारतीय दर्शन : आलोचना और अनुशीलन प्रकाशन वर्ष–1990 प्रथम संस्करण प्रकाशन–मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, मुम्बई, पृष्ठ संख्या–215
5. चंद्रधर शर्मा–भारतीय दर्शन : आलोचना और अनुशीलन प्रकाशन वर्ष–1990 प्रथम संस्करण प्रकाशन–मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, मुम्बई, पृष्ठ संख्या–11
6. अज्ञेय–प्रतिनिधि कविताएं एवं जीवन–परिचय संपादक–विद्या निवास मिश्र, प्रकाशक–राजपाल प्रकाशन, दिल्ली, प्रकाशन वर्ष 2005, पृ0सं0–97
7. अज्ञेय–प्रतिनिधि कविताएं एवं जीवन–परिचय संपादक–विद्या निवास मिश्र, प्रकाशक–राजपाल प्रकाशन, दिल्ली, प्रकाशन वर्ष 2005, पृ0सं0–95
8. प्रो0 हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा : भारतीय दर्शन की रूपरेखा प्रकाशन वर्ष–1963, प्रकाशन–मोती लाल बनारसीदास, पृ0सं0–322
9. अज्ञेय–प्रतिनिधि कविताएं एवं जीवन–परिचय संपादक–विद्या निवास मिश्र, प्रकाशक–राजपाल प्रकाशन, दिल्ली, प्रकाशन वर्ष 2005, पृ0सं0–98
10. अज्ञेय–प्रतिनिधि कविताएं एवं जीवन–परिचय संपादक–विद्या निवास मिश्र, प्रकाशक–राजपाल प्रकाशन, दिल्ली, प्रकाशन वर्ष 2005, पृ0सं0–102
11. वशिष्ठ अनूप : असाध्य वीणा की साधना, प्रकाशन वर्ष–2010, प्रकाशन विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, पृ0सं0–37
12. वशिष्ठ अनूप : असाध्य वीणा की साधना, प्रकाशन वर्ष–2010, प्रकाशन विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, पृ0सं0–98
13. वशिष्ठ अनूप : असाध्य वीणा की साधना, प्रकाशन वर्ष–2010, प्रकाशन विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, पृ0सं0–101
14. डा0 शुभा श्रीवास्तव–असाध्य वीणा : एक मूल्यांकन प्रकाशन वर्ष–2011, प्रकाशक–अभिव्यक्ति प्रकाशन, पृ0सं0–31

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

v tufc;r d vkbu e ub dgkuh

f'kokuh lDluk*

अजनबीपन, अन्तर्विरोध, अकेलापन, कुंठा ऐसे बिंदु हैं जो नयी कहानी की प्रवृत्ति को व्याख्यायित करते हैं। गाँव से शहर आने की पीड़ा और शहर से महानगर की ओर बढ़ती यह नयी पीढ़ी महानगर की चका–चौंध में बिल्कुल अकेली हो जाती हैं। चारों ओर भीड़ के बावजूद भी अपने को अकेला महसूस करने की इस पीड़ा को 'कमलेश्वर' ने अपनी कहानी "खोई हुई दिशाएँ"में दर्शाया है। 'मधुरेश' कमलेश्वर की कहानी 'खोयी हुई दिशाएँ' के सम्बन्ध में लिखते हैं कि "अजनबीपन और अलगाव का यह बोध वस्तुतः उसी अस्तित्ववादी दर्शन और साहित्य की अनुगूँज है जिसकी धुंध नयी कविता में छाई हुईथी। भले ही और बहुतों की तरह कमलेश्वर इसे पश्चिम से भिन्न अपने ही परिवेशगत संदर्भों की देन कहें, लेकिन इसकी जड़ें पारिवारिक विघटन और आर्थिक विषमता से बाहर ही कहीं हैं। ये हताशा, आत्मनिर्वासन, ऊब, अलगाव और पराजय–बोध जैसी मनःस्थितियाँ वस्तुतः उसी क्षणवाद से जन्मी और उपजी हैं जो मनुष्य के इतिहास के समूचे प्रवाह से काटकर एक क्षणविशेष में, मात्र अपने लिए सीमित और सार्थक बनाकर छोड़ देती हैं। 'खोयी हुई दिशाएँ' की गढ़ी और अतिरंजित सी स्थितियों की अपेक्षा उनकी वे कहानियाँ आज भी महत्त्वपूर्ण हैं जो महानगर की सामाजिक विरूपताओं को व्यंग्य की मुद्रा में उभरती हैं।"[1]

'खोई हुई दिशाएँ' कहानी के पात्र चंदर के माध्यम से कमलेश्वर उस अकेलेपन तथा अजनबीपन को अभिव्यक्त करते हैं जिसे शायद इलाहाबाद से दिल्ली आने पर उन्होंने स्वयं अनुभव किया है। शहर में सब कुछ है किन्तु फिर भी यहाँ हर इन्सान अकेला है और अकेले पड़ते जाने की इस व्यथा को कमलेश्वर ने बहुत मार्मिक रूप में अभिव्यक्त किया है "यह राजधानी ! जहाँ सब अपना है, अपने देश का है...पर कुछ भी अपना नहीं है, अपने देश का नहीं है। तमाम सड़कें हैं जिन पर वह जा सकता है, लेकिन वे सड़कें कहीं नहीं पहुँचतीं। उन सड़कों के किनारे घर हैं, बस्तियां हैं पर किसी भी घर में वह नहीं जा सकता। उन घरों के बाहर फाटक हैं, जिन पर कुत्तों से सावधान रहने की चेतावनी है, फूल तोड़ने की मनाही है और घंटी बजाकर इंतजार करने की मजबूरी है।"[2] यह है इस महानगर का सच जहाँ सब कुछ पराया है। कोई किसी पर विश्वास नहीं करता हर किसी को केवल अपने आप से मतलब है हालत यह है पंद्रह साल पुराने मकेनिक पर भी मालिक विश्वास नहीं कर सकता। यहाँ हर इन्सान हँसी का एक बनावटी मुखौटा लगाये घूम रहा है,उसे किसी से कोई लेना देना नहीं है हर इन्सान उसके लिए अपरिचित है। इस महानगर में सम्बन्ध बनते नहीं टूटते हैं। एक ही इमारत में दसियों घर हैं पर इन घरों में कौन रह रहा है, किसी को इससे मतलब नहीं कोई एक दूसरे को नहीं जानता। चंदर ने पिछले दो सालों से अपने पड़ोसी की केवल नेम प्लेट ही देखी है यही नहीं रात कब वह आदमी आता है, सुबह कब जाता है कोई नहीं जानता। सुबह बाहर पड़ा कचरा ही उसके उपस्थिति की गवाही है। यह है शहरी जीवन जहाँ आदमी के होने की पहचान भी उसके घर के बाहर पड़ा कचरा करता है कि हाँ इस घर में कोई रहता है। मित्रों का बनावटी रूप से मिलना, पति पत्नी का काफी हाउस में आना, बिना बातचीत किए खाकर अनमने भाव से चले जाना, फटफट वाले का रोज मिलने पर भी केवल दो आने के लिए अपरिचय का भाव दिखाना चंदर की भावनाओं को और उद्वेलित कर देता है। यही नहीं चंदर इस महानगर में यदि किसी को अपना समझता था तो वह थी उसकी प्रेयसी इंद्रा जिसके साथ उसने दुख सुखके बहुत से पलों को साझा किया था। चंदर की हर छोटी–बड़ी आदत का जिसे पता था।

*शोधार्थी, हिन्दी विभाग, जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

आज उसका चंदर से चाय में चीनी का पूछा जाना और जानकर भी चाय में ज्यादा चीनी डाल देना, चंदर को आहत करता है उसे लगता है कि आजइस महानगरीय जीवन में सब उसके लिए अजनबी हैं। इस अपरिचितों की दुनिया में केवल एक परिचय का बोध उसे इतना व्याकुल कर देता है कि घर आकर अपनी पत्नी तथा अपने सामान को देखकर उसे लगता है कि कम से कम यह सब तो उसके अपने है जिसे वह रात के अँधेरे में भी छूकर पहचान सकता है। किन्तु यहाँ भी उसे ऐसा ही लगता है कि उसकी अपनी पत्नी भी उसके स्पर्श को नहीं पहचानती और वह बदहवास कह उठता है "मुझे पहचानती हो? मुझे पहचानती हो, निर्मला?"[3] अकेलेपन की निराशा किस प्रकार आज इन्सान के मन पर हावी है यह कहानी व्यक्त करती है। इस महानगरीय जीवन में अपनी अस्मिता खोने का डर कैसे मनुष्य को असहाय बना देता है, इस कहानी के माध्यम से बड़ी ही कुशल कारीगरी से कमलेश्वर ने व्यक्त किया हैं।

अजनबीपन और व्यक्ति के भीतर के मानसिक अन्तर्विरोध और द्वंद्व को 'कृष्णबलदेव वैद' अपनी कहानी "मेरा दुश्मन"के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं। पूरी कहानी व्यक्ति मन की हलचलों को अभिव्यक्त करती हैं। आधुनिकता और शहरीकरण के कारण अकेला पड़ता जा रहा व्यक्ति किस प्रकार अपने ही आतंरिक द्वंद्व से पीछा छुड़ाने के लिए भाग रहा है और यह मानसिक अंतर्द्वन्द्व एक दुश्मन की भांति उसके पीछे पड़ा है। आधुनिकीकरण और मशीनीकरण के इस युग में मनुष्य का दुश्मन और कोई नहीं बल्कि वह खुद है। उसके भीतर की निराशा, कुंठा, आतंरिक द्वंद्व उसका कभी पीछा नहीं छोड़ता। इस युग ने मनुष्य को इतना स्वार्थी बना दिया है कि अपने सिवा किसी से उसेकोई सरोकार नहीं। अपने ही अतीत में झांकने में आज उसे डर लगता है कि कहीं यह सब बनावटी सुख जिससे वह घिरा है, उस से दूर न हो जाये। इस शहर की शान–शौकत ने उसे इतना अकेला कर दिया हैकि उसके पास खाने को अच्छा खाना है, रहने को अच्छा घर है, पहनने को अच्छा कपड़ा है किन्तु फिर भी आन्तरिक शांति नहीं है। परिवार के नाम पर पत्नी और बच्चे, इसके अतिरिक्त किसी और के लिए उनकी जिंदगी में समय नहीं है। केवल अपने सुख की चिंता व्यक्ति को जीने नहीं देती। उसके मन–मस्तिष्क में केवल अपनी सुख–सुविधाओं को जुटाने की कामना रहती है। बाकी दुनिया से उसे कोई लेना देना नहीं इसी भाव ने भले ही मनुष्य को एकाकी बना दिया किन्तु फिर भी उसका अतीत कभी उसका पीछा नहीं छोड़ता एक अनचाहे मित्र की भांति सदैव उसके पीछे पड़ा रहता है। व्यक्ति सोचता है कि उसका दुश्मन उसका यह दोस्त है किन्तु असलियत यह है कि उसका दुश्मन और कोई नहीं वह खुद है। भले ही आदमी अपने से कट कर इस दिखावटी दुनिया में अपने आप को खो दे किन्तु वह चाहकर भी अपने अतीत से नहीं कट सकता। दुनिया से भले वह धोखा करे अपने सच से वह कभी बच नहीं सकता। यह सच उसे सदैव डराता है और व्यक्ति सदैव इस सच से भागता है। कृष्ण बलदेव वैद्य ने बड़े ही प्रतीकात्मक रूप से इस कहानी को रचा है। एक व्यक्ति की अन्तरात्मा को वाणी देने का काम कहानीकार ने बड़ी सहजता से किया है। यह प्रतीकात्मकता नयी कहानी की रूप विधा की महत्त्वपूर्ण विशेषता है जिसे बड़ी ही कुशलता से कहानीकार ने निभाया है। यही कारण है कि यह कहानी नयी कहानी की एक महत्वपूर्ण कहानी बन पड़ी है।

अजनबीपन और मानसिक अन्तर्द्वन्द्व के इस भाव को 'निर्मल वर्मा' अपनी कहानी "परिंदे" के माध्यम से व्यक्त करते हैं। निर्मल वर्मा की कहानियाँ व्यक्ति की आतंरिक अनुभूतियों को वाणी देती हैं। लतिका, मि. ह्यूबर्ट, डॉ. मुखर्जी के इर्द–गिर्द घूमती यह कहानी भी व्यक्ति के भीतरी मन की परतों को व्याख्यायित करती है। अपने अतीत से मुक्ति का बोध निर्मल की कहानियों की विशेषता है। निर्मल वर्मा के पात्रों के मन में एक द्वंद्व चलता रहता है।वे अपनी स्मृतियों को छोड़ना नहीं चाहते लेकिन समय का अंतराल उन स्मृतियों को ओझल कर देता है और यही जीवन का यथार्थ है, जिसे निर्मल ने अपनी कहानियों के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। 'नामवर सिंह' का भी यह मानना है कि "निर्मल की अधिकांश कहानियाँ अतीत की स्मृति है। कहानी कहने वाला बरसों बाद उन स्मृतियों को जैसे दोहराता है। 'परिन्दे' की लतिका की दुखांत गाथा भी बरसों पुरानी है। स्मृति में भावुकता संभव है किन्तु समय का अन्तराल तात्कालिकता के आवेग को काफी कम कर देता है। ऐसा प्रतीत होता है कि तात्कालिक आवेग की भावुकता को कम करने के लिए ही निर्मल समय का इतना अन्तराल देते हैं।"[4] अपनी बात को समझाते हुए नामवर जी लिखते हैं कि "परिन्दे की नायिका

लतिका बेशक भावुक मालूम होती है लेकिन उनकी भावुकता को कम करने के लिए साथ–साथ दूसरा पात्र डॉ0 मुखर्जी आता है जो कहानी समाप्त होते–होते तक सारी भावुकता को मिटा कर दूसरा ही प्रभाव उत्पन्न कर देता है। डॉ0 स्वयं दुखी है किन्तु अपने दुःख के प्रति अनासक्त सा है। जिन्दगी के तजुर्बे ने उसे प्रौढ़ बना बना दिया है। लतिका के बचकानेपन को वह कभी ठहाके में उड़ा देता है तो कभी ऐसा अनुभवपूर्ण वाक्यों द्वारा जो परोपदेश की रुक्षता उत्पन्न करने की जगह स्वगत–संलाप की गंभीरता पैदा करते हैं।"[5]

कहानी का प्रत्येक पात्र अपने अतीत से चिपके होने का भाव लिए है। और यह भाव कहीं न कहीं उसके भीतर एक अजनबीपन का भाव पैदा करता है। डॉ. मुखर्जी को अपने वतन से दूर अजनबी की भांति एक पहाड़ी इलाके में जीवन काटने का दुःख, तोलतिका का हर साल की तरह इस बार भी सर्दियों कीछुट्टियों में हॉस्टल में रुकना और हर साल एक ही उत्तर लड़कियों को देना कि "आई लव स्नो फॉल" अकेलेपन के भाव को दर्शाता है। यह अकेलापन अब लतिका की नियति बन गया है। वह आज भी अपनी स्मृतियों से अलग होना नहीं चाहती आज भी वह कुमाऊँ रेजिमेंट के मृत्त कैप्टेन गिरीश की स्मृतियों के साथ ही जीना चाहती है। यह अतीत ही अब उसके जीवन का हिस्सा बन चुका है। यही कारण है कि होस्टल में पढ़ने वाली एक छात्रा के लिए कुमाऊँ रेजिमेंट से आया प्रेम पत्र वह इसलिए छुपा लेती है कि जो उसके साथ हुआ वह उसकी छात्रा के साथ न हो। यह पत्र उसे गिरीश की याद दिलाता है। वह चाहकर भी इस अतीत से अलग होना नहीं चाहती। लेकिन एक प्रश्न उठता है कि क्या सच में लतिका अपने अतीत को भूलना नहीं चाहती थी? कहानी में एक प्रसंग ऐसा आता है जब उसे लगता है कि "जो वह याद करती है, वही भूलना भी चाहती है य किन्तु जब वह सचमुच भूलने लगती है, तबउसे भय लगता है, जैसे कोई चीज उसके हाथों से छीने ले जा रहा है– ऐसा कुछ जो सदा के लिए खो जायेगा। बचपन में जब कभी वह अपने किसी खिलौने को खो दिया करती थी, तो बस गुमसुम–सी होकर सोचा करती थी, 'कहाँ रख दिया मैंने?' जब बहुत दौड़ धूप करने पर खिलौना मिल जाता, तो वह बहाना करती कि अभी उसे खोज रही है कि वह अभी मिला नहीं है। जिस स्थान पर खिलौना रखा होता, जान–बूझकर उसे छोड़कर घर के दूसरे कोनों में उसे खोजने का उपक्रम करती। तब खोयी हुई चीज याद रहती, इसलिए भूलने का भय नहीं रहता था। आज वह उस बचपन के खेल का बहाना क्यों नहीं कर पाती! बहाना शायद करती है–उसे याद करने का बहाना जो उसे भूलता जा रहा है.. दिन, महीने बीत जाते हैं, और वह उलझी रहती है, अनजाने में गिरीश का चेहरा धुंधला पड़ता जाता है याद करती है, किन्तु जैसे किसी पुरानी तस्वीर के धूल–भरे शीशे को साफ कर रही है। अब वैसा दर्द नहीं होता, सिर्फ उसदर्द को याद करती है, जो पहले कभी होता था।"[6] लेकिन जब मिस्टर ह्यूबर्ट उसके सामने अपने प्रेम का प्रस्ताव रखते हैं तो लतिका हिल जाती है और कुछ नहीं बोल पाती, लतिका के मन में यही द्वंद्व चलता रहता है कि जिन स्मृतियों को वह चिपकाये है क्या वह सच में उसकी स्मृति से ओझल होती जा रही हैं उसके सामने एक ही प्रश्न बार बार आता है "वाटड्यू वाण्ट" वह अंत तक इस द्वंद्व में उलझी रहती है कि ऐसा क्यों है "वह क्या है, जो हमें चलाए चलता है, हम रुकते हैं तो भी अपने बहाव में वह हमें घसीट लिये जाता है" यही द्वंद्व पूरी कहानी का आधार बिंदु है। जिसे डॉ.मुखर्जी के माध्यम से निर्मल वर्मा हल करते हैं और जीवन के यथार्थ को पाठक के समक्ष लाते हैं। डॉ. मुखर्जी लतिका से कहते हैं कि "कभी कभी में सोचता हूँ, मिस लतिका, किसी चीज को न जानना यदि गलत है, तो जान बूझकर न भूल पाना, हमेशा जोंक की तरह चिपटे रहना, यह भी गलत है। बर्मा से आते हुए मेरी पत्नी की मृत्यु हुई थी, मुझे अपनी जिंदगी बेकार सी लगी थी। आज उस बात को अरसा गुजर गया और आप देखती हैं, मैं जी रहा हूँय उम्मीद है कि काफी अरसा जिऊँगा। जिंदगी काफी दिलचस्प लगती है। इसके बावजूद कौन कह सकता है कि मैं अपनी पत्नी से प्यार नहीं करता था। आज भी करता हूँ।"[7]

यही जीवन की सच्चाई है। समय सारे घावों को भर देता है और यथार्थ यही है कि अतीत के साथ रहकर कोई इन्सान नहीं जी सकता समय के साथ आगे बढ़ना ही जीवन का नियम है और इसी दर्शन को सिद्ध करने के लिए कहानी के अंत में लतिका रेजिमेंट से आया वह प्रेम पत्र जूली को चुपचाप लौटा देती है। निर्मल वर्मा पूरी कहानी में एक द्वंद्व की सृष्टि करते हैं। व्यक्ति मन की जितनी परतों को निर्मल वर्मा ने इस कहानी के माध्यम से अभिव्यक्त किया है नयी कहानी में अन्यत्र मुश्किल है। यही कारण है कि नामवर

सिंह यह कहते नहीं चूकते कि "अभी तक जो कहानी सिर्फ कथा कहती थी या कोई चरित्र पेश करती थी अथवा एक विचार झटका देती थी, वही निर्मल के हाथों जीवन के प्रति एक नया भावबोध जगाती है। साथ ही ऐसे दुर्लभ अनुभूति–चित्र प्रदान करती है जिन्हें हम कम से कम हिंदी में कहानी के माध्यम से प्राप्त करने के अभ्यस्त नहीं थे।"[8]

व्यक्ति मन के इस अन्तर्विरोध को 'मन्नु भंडारी' अपनी कहानी "यही सच है"के माध्यम से व्यक्त करती हैं। यह कहानी एक नारी के मन के भीतर प्रेमसम्बन्ध को लेकर चल रहे अन्तर्द्वन्द्व को व्याख्यायित करती है। "एक साक्षात्कार में मन्नू भंडारी कहती हैंरू इस दशक में लड़कियों ने शिक्षा पानी शुरू की, उसके बाद अपनी मर्जी से विवाह भी करने लगीं। कमाने लगीं। शहरों में अकेले रहने लगीं। स्त्री की इस बदलती स्थिति का प्रभाव मैंने अपने जीवन और समाज दोनों में महसूस किया, उस पर बड़ी संजीदगी और संवेदनशीलता से कहानियाँ भी लिखी ... 'यही सच है' ऐसी ही बदलती स्थिति की कहानी है।"[9]

कहानी में दीपा भी उन्हीं आधुनिक नारी का प्रतीक हैं जो शिक्षित है। घर से दूर कानपुर में अपनी पढ़ाई पूरी कर रही है। और उसके भीतर चल रहे द्वंद्व को मन्नू भंडारी इस कहानी में प्रस्तुत करती हैं। यह द्वंद्व अतीत और वर्तमान की स्थितियों के बीच घटित होता है। दीपा को[8] साल की आयु में निशीथ से प्यार होता है, किन्तु किसी कारणवश बचपन का यह प्यार टूट जाता है। पटनासे वह कानपुर आ जाती है और यहाँ एक स्वतंत्र नारी की तरह अपना जीवन व्यतीत करती है। उसके जीवन के इस अकेलेपन का साथी बनता है संजय और वह अपने अतीत निशीथ को भूल संजय से प्यार करने लग जाती है। प्यार की खुमारी इतनी प्रबल है कि वह संजय से विवाह तक का निश्चय कर लेती है। लेकिन अचानक अतीत फिर किसी तरह उसके आगे खड़ा हो जाता है, कलकत्ता नौकरी के इंटरव्यू के लिए जाने पर निशीथ उसे वहाँ मिलता है और मिलता ही नहीं नौकरी दिलाने का पूरा प्रयत्न भी करता है। दीपा उसके साथ दिन–रात समय बिताती है। उसे लगता है कि उसका अतीत ही उसका सच है वह आज भी निशीथ से ही प्रेम करती है और उस वक्त उसका वर्त्तमान जो संजय के रूप में है वह उसकी आखों से ओझल हो जाता है। इस प्रकार अतीत और वर्तमान के बीच का यह द्वंद्व अंत तक उसे सालता है। अगर वह अतीत को सचमानती है तो उसे लगता है कि वह वर्तमान के साथ छल कर रही है और यदि वह वर्तमान को सच माने तो अतीत की यादें उसका पीछा नहीं छोड़ती। वह निश्चय नहीं कर पाती कि वह किस से प्यार करती है, कौन है उसके जीवन का सच और अंत में अतीत से मुक्त होकर वह अंततः वर्तमान को अपनाती है और यह मानती है कि उसका वर्तमान ही उसका सच है। 'डॉ. सत्यकाम' इस पर अपना मत देते हुए लिखते हैं कि "निर्मल वर्मा की कहानी 'परिन्दे' की लतिका को भी अपना अतीत बहुत प्रिय है। दोनों ही कहानियों में अतीत के प्रति सम्मोहन तो दिखाया गया है परन्तु वर्तमान से रु–ब–रु हो अतीत को व्यतीत मान झटक दिया गया है। 'परिन्दे' में यह झटकाव बहुत सूक्ष्म है और 'यही सच है' में मूर्त और स्पष्ट। इसके साथ ही, 'परिन्दे' की लतिका अतीत की रक्षा के लिए सतर्क और सचेष्ट है जबकि 'यही सच है' की लतिका अतीत से रु–ब–रु होकर उधर लौटना तो चाहती है पर कुनमुनाकर रह जाती है और वर्तमान के सामने आते ही अतीत भरभराकर गिर जाता है।"[10]

कहानी में आया प्रत्येक प्रसंग दीपा के इस द्वंद्व की अभिव्यक्ति करता है और यह द्वंद्व आज के इस आधुनिक जीवन के सच को व्याख्यायित करता है। असल में आज के इस आधुनिक युग में व्यक्ति इतना अकेला हो चुका है कि जो उसे सहारा दे, उसके साथ प्यार के दो पल व्यतीत कर ले, उसे ही वह सच मन लेता है। इसी स्थिति से दीपा भी गुजरती है। कानपुर में अकेले रहते हुए उसे संजय का साथ मिला उसे लगा यही सच है और उस समय निशीथ उसका अतीत बनगया।उसे लगने लगा कि "अठारह वर्ष की आयु में किया हुआ प्यार भी कोई प्यार होता है भला ! निरा बचपन होता है, महज पागलपन ! उसमें आवेश रहता है पर स्थायित्व नहीं गति रहती है पर गहराई नहीं। जिस वेग से वह आरम्भ होता है, जरा सा झटका लगने पर उसी वेग से टूट भी जाता है...और उसके बाद आँसुओं और सिसकियों का एक दौर, सारी दुनिया की निस्सारता और आत्महत्या करने के अनेक–नेक संकल्प और फिर एक तीखी घृणा। जैसे ही जीवन को दूसरा आधार मिल जाता है उस सबको भूलने में एक दिन भी नहीं लगता।"[11] किन्तु जैसे ही वह इस अतीत को अपने सामने पाती है वह ड़गमगा जाती है और फिर उसे अपना अतीत ही सच लगने लगता है। निशीथ के

साथ समय बिताती है, कलकत्ता में संजय की कमी को निशीथ पूरा करता है, उसकी नौकरी दिलाने का भरसक प्रयास करता है। वह निशीथ के पसंद की साड़ी पहनती है और जब निशीथ उसकी प्रशंसा करता है तो उसका रोम–रोम पुलकित हो जाता है। वह संजय और निशीथ के बीच तुलना करने लग जाती है। संजय को पूरी तरह भुलाकर वह कानपुर पहुँच निशीथ के पत्र की प्रतीक्षा करती। पत्र न पाकर जब वह अपने वर्तमान अर्थात् संजय को सामने खड़ा देखती है तब उसे यह अहसास होता है कि उसका अतीत बहुत पीछे छूट गया है और उसका सच उसका आज है अर्थात् संजय है और कहानी दीपा और संजय के आलिंगन पर जाकर समाप्त हो जाती है।

मन्नू भंडारी ने बहुत ही बारीकी के साथ एक आधुनिक नारी के मन की व्यथा को रेखांकित किया है। नारी मन की प्रत्येक परत को पकड़ने का सार्थक प्रयास किया है। आज पढ़ लिख कर नारी अपनी चार दिवारी से मुक्त हुई है किन्तु आधुनिकता ने उसे अकेलापन और अन्तर्द्वन्द्व के घेरे में कैद कर दिया है। दीपा के माध्यम से मन्नु जी ने बड़ी ही सजगता से इस द्वंद्व को दर्शाया है।इस कारण यह कहानी, नयी कहानी की श्रेष्ठ कहानियों में अपना नाम दर्ज करवाती है और यही कारण है कि राजेन्द्र यादव इसे नयी कहानी की प्रतिनिधि कहानी मानते हुए अपने संकलन "एक दुनिया समानान्तर" में स्थान देते हैं।

I UnHk%

1. हिंदी कहानी का विकास, पृ० 84 मधुरेश, सुमित प्रकाशन, संस्करण–2004
2. एक दुनिया समानान्तर, पृ०139–140, राजेन्द्र यादव
3. वही, पृ०150
4. कहानी, नयी कहानी, पृ० 58 नामवर सिंह
5. वही, पृ० 59
6. एक दुनिया समानान्तर, पृ० 186, राजेन्द्र यादव
7. वही, पृ० 191
8. कहानी, नयी कहानी, पृ० 54, नामवर सिंह
9. हिंदी कहानी का इतिहास–2, पृ० 271, गोपाल राय
10. नई कहानी नए सवाल, पृ० 105, डॉ. सत्यकाम, अनुपम प्रकाशन पटना, संस्करण–2008
11. एक दुनिया समानान्तर, पृ० 234, राजेन्द्र यादव

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

dPph dk dkuu % ,d fo'ys"k.k

fi;;dk dekjh feJk*

आज भी भारत की अधिकांश जनसंख्या गांवों में रहती है और आधुनिकता की दौड़ में ये गाँव और वहाँ के लोग बहुत पीछे है। हिन्दी साहित्य में इतनी बड़ी जनसंख्या को तुलनात्मक रूप से बहुत कम जगह मिली है। आधुनिक युग में भी गाँव के जीवन, वहाँ के लोगों की चुनौतियाँ, खुशियों, तकलीफों, सपनों को, पढ़ने समझने वाले लेखक बहुत कम है। शिवमूर्ति ही ऐसे लेखक है, जो गाँव और उससे जुड़े सभी पहलुओं को अपनी लेखनी के माध्यम से उसका सजीव चित्रण करते हैं। वह अपनी कहानियों में ग्रामीण समाज को उतने ही बेडौली, उतने ही कुरूप, उतने ही खुरदरे उतने ही विभित्स रूप में चित्रित करते हैं, जितना वह वास्तव में है।[1]

शिवमूर्ति जी का नवीनतम उपन्यास 'कुच्ची का कानून' एक ऐसे विधवा स्त्री की कहानी है जो अपने कोख के अधिकार के लिए पंचायत से लड़ती है और उसे इस लड़ाई में समाज के वयोवृद्ध व नई पीढ़ी के स्त्रियों व पुरुषों का सहयोग मिलता है और वह इस लड़ाई में जीतती है। यह उपन्यास स्त्री सशक्तीकरण और पितृसत्तात्मक समाज पर चोट करती है। यह आधुनिक स्त्री की एक विजय–गाथा है। इस उपन्यास का केन्द्र भी गांव है, साथ ही शहरी संस्कृति का प्रभाव ग्रामीण संस्कृति में कैसे परिवर्तन लाता है, इसे दिखाने का प्रयास किया गया है।

शिवमूर्ति के कथा संसार के स्त्री पात्र बड़े ही सजीव व मार्मिक रूप से हमारे ग्रामीण समाज के गरीब व दलित स्त्री वर्ग की दयनीय स्थिति को उजागर करते हैं। 'कुच्ची का कानून' स्त्री संघर्ष की एक नई गाथा है। यह कहानी एक विधवा स्त्री के अपनी मर्जी के पुरुष से बच्चा पाने और भरी पंचायत में अपनी कोख पर अपने हक के लिए लड़ जाने की बेहद सशक्त, मार्मिक और शानदार कहानी है। इस कहानी में स्त्री पंचायत में हारती नहीं है, वह गांव के बूढ़ों को अपनी तर्कशीलता से उन्हीं की माँद में निरूत्तरित कर देती है और एक विजयी के रूप में उभरती है।[2] और उसे इस संघर्ष में नव–चेतना से युक्त समाज का बल मिलता है। इस कहानी की मुख्य पात्र कुच्ची है, जो विधवा है। विधवा होने के पश्चात् परिस्थितिवश मायके ने जाकर बूढ़े सास–ससुर की सेवा के लिए ससुराल में ही रहने लगती है। उसके पैतृक सम्पत्ति पर कब्जा करने के लिए जेठ बनवारी से लेकर गाँव के लोग ललचाई भरी नजरों से देख रहे थे। वह स्त्री विरोधी समाज में अपने सास–सुसर और अपनी स्वयं की अस्मिता रक्षा के लिए संघर्ष करती है और अपनी कोख से किसी और का बच्चा पैदा कर अपनी सम्पति के लिए वारिस पैदा करने का संकल्प लेती है। उसका यह कार्य पितृसत्तात्मक समाज में भूचाल ला देता है क्योंकि यह मातृसत्तात्मक शक्ति का विस्तार हो रहा था। उसके जेठ बनवारी द्वारा पंचायत में उसे कुलटा और अपमानित करने के उद्देश्य से पंचायत बुलाता है। उसे पंचायत में अवैध गर्भ के लिए घेरा जाता है। लेकिन अशिक्षित कुच्ची दिलेरी और हिम्मत से अपने कोख में पल रहे बच्चे को जन्म देने का हक दिये जाने की बात करती है और कहती है– ''मैं दूसरे से बीज लेकर अपने लिए सहारा पैदा कर रही हूँ। मैं अपनी कोख का उद्धार करना चाहती थी। कोख मेरी है तो हक किसका होगा?''[3]

विधवा कुच्ची पुत्र के नाम के आगे माँ के नाम को ही पर्याप्त मानती है। उसे इस बात पर बड़ी हैरानी होती है कि गोद लिए गये बच्चे को तो पति की विरासत में हिस्सा मिल जायेगा लेकिन स्वेच्छा से किसी पुरुष से पैदा होने वाले बच्चे को हक नहीं मिलेगा। वह कहती है, 'जो मेरी कोख से पैदा होगा, उसका

*शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

आधा चाहे जिसका हो, लेकिन आधा खून तो मेरा होगा। गोद वाले बच्चे में तो मेरे खून की एक बूँद भी नहीं होगी। दोनों में से मेरा ज्यादा सगा कौन हुआ? वह सिर घुमाकर चारो तरफ देखती है– 'मुझे तो विश्वास नहीं होता कि प0 जवाहर लाल नेहरू ऐसा अन्धा कानून पास कराये होगे, फोटू में तो बहुत गऊ आदमी लगते हैं।[4]

वह कानून पर सवाल उठाने के पश्चात् पुत्र के आगे माँ के नाम को ही पर्याप्त मानत है। वह इस तर्क को ऐतिहासिक पुराण व आस्थान का सहारा लेती है। उसका यह निर्णय समाज पर दुरगामी प्रभाव डालने वाला है। जिससे समाज के कथित विघटन की ज्यादा आंशका है। स्त्री का पुरुष के कब्जे से मुक्त हो उसे स्वंतत्र अस्तित्व के स्थापित हो जाने का भय है, जो जर–जमीन, उत्तराधिकार के साथ उसे आर्थिक मजबूती दे ज्यादा स्वतंत्र करता है।[5] कुच्ची का यह निर्णय एक क्रांति की तरह है। जो इक्कीसवीं सदी के समाज में समानता की वकालत करता है।

स्त्री का यौन शोषण होना और प्रतिरोध किये जाने पर उसके उपर शारीरिक व मानसिक अत्याचार किया जाना, पितृसत्तात्मक समाज की सामान्य प्रवृत्ति है। नारी के जीवन को निर्धारित करने के लिए बहुत सारी नैतिकता रूपी आचार–संहिता निर्धारित की जाती है और पुरुषों को एक खुले सांड की तरह छोड़ दिया जाता है। पंचायत भी पुरुषों को नैतिकता के नाम पर खुली छुट दिया हुआ है जबकि स्त्री के लिए बहुत सारे बंधन। कुच्ची के प्रतिरोध को बल इसी समाज के खुले नियमों ने प्रदान की। और उसका समर्थन बौद्धिक वर्ग के पुरुष और जागरूक स्त्रियों द्वारा मिलता है। जिसके कारण कुच्ची पर सवाल उठाने वाले खुद सवालों के घेरे में आ जाते हैं, और पंचायत से भाग खड़े हो जाते हैं।

इस उपन्यास में समाज के रिश्तों का जो मोल दिखाई दिया है, वह आज के गांव में अभी भी दिखाई पड़ता है। कुच्ची अपने सास–ससुर को माँ–बाप की तरह सेवा करती है, तो उसका चचेरा जेठ धन–संपत्ति के लिए अनेक कुचक्र रचना है और अपनी भवह की अस्मिता पर भी हमला करता है। उसे बदनाम करने के लिए और घर से बाहर निकालने के लिए पंचायत बुलाता है। कुच्ची के मन में आये इस परिवर्तन के लिए इलाज के दौरान अस्पताल में मिली नर्स और कुच्ची के संवाद ही जिम्मेदार है। कुच्ची के युवा मन में नर्स कुच्ची की बातें सुनकर अचानक आ धमके वैधव्य के कारण निःसंतान रह जाने तथा निःसंतानता के कारण पारिवारिक संपत्ति व सामाजिक वजूद खो देने की स्थिति पैदा होने की पीड़ा असह्य हो उठती है।[6] वह सास को इस बात के लिए तैयार करती है और अपने कोख में बच्चा धारण करती है। कुच्ची को बल 'धन्नू बाबा' से मिलता है जो उसे पंचायत में बहस के लिए ज्ञान देते हैं।

शिवमूर्ति जी का उपन्यास 'कुच्ची का कानून' नये स्त्री सशक्तिकरण और नवजागृत समाज के उदय से सम्बन्धित है। यह पितृसत्तात्मक सत्ता पर चोट करती हुई कथानक है। अब गाँवों की पंचायत का बदलता स्वरूप और नारी चेतना का नव स्वरूप दिखाई पड़ता है। इस कथानक का प्रारम्भ कुच्ची के विधवा होने और उसके चचेरे जेठ द्वारा संपत्ति हड़पने की साजिश से प्रारम्भ होती है। कुच्ची के गर्भवती होने से गाँव में उथल–पुथल, पंचायत का बैठना और उसमें गर्भ धारण को नैतिक समर्थन मिलना एक नये समाज के उदय को दर्शाता है। शिवमूर्ति जी ने 'कुच्ची का कानून' में पंचायत को एक तरह के शास्त्रार्थ की वेदी की भाँति प्रस्तुत किया है। यहाँ शास्त्रार्थ का विषय किसी निगूढ़ आध्यात्मिक दर्शन अथवा धार्मिक विचार के निष्पादन से जुड़ा नहीं है। यहाँ विचारणीय विषय एक विधवा स्त्री के कोख से अधिकार से जुड़ा है। माँ बनने के उस विधवा के संकल्प से जुड़ा है। यहाँ एक विधवा सामान्य अबला है :– ''वह धर्म–शास्त्रों की ज्ञाता नहीं है, किन्तु उसका व्यवहारिक ज्ञान प्रबल है। उसकी साधारण बुद्धि में असाधारण तर्कशीलता समाहित है।''[7]

यह उपन्यास सिर्फ नारी के कोख के अधिकार को नहीं दर्शाता, बल्कि भारत के नये गाँव के स्वरूप का दर्शन होता है। इसमें घटी घटना या संवाद गाँव के यथार्थ के करीब होता है। गाँव के प्रचलित पुरानी परम्पराओं का विघटन है तो अकेली स्त्री का नई दिशा में बढ़ने का साहस है। पंचायत के फैसले को धन–बल से नहीं बल्कि तर्कपूर्ण संवाद से ही बदले जायेगे। बाह्य समाज का प्रभाव गाँव में एक नई चेतना लाता है। इसका उद्देश्य गाँवों में नये सामाजिक मूल्यों को स्थापित करना है।

शिवमूर्ति की रचनाओं में मुख्यतः स्त्री विमर्श का मुद्दा है किन्तु उनके स्त्री विमर्श के केन्द्र में आज की पढ़ी–लिखी, जागरूक भद्र नारी नहीं बल्कि निम्नवर्गीय आंखों के दैहिक ताप व उत्पीड़न जिजीविषा,

प्रतिरोध पारिवारिक क्लेश आदि पर केन्द्रित है जो परिवार समाज के दायरे में घुटती है। ये अनपढ़, गरीब, शोषित, उपेक्षित औरतें है जो मात्र संघर्षपूर्ण जीवन बिताती है। ऐसी परिस्थतियों में ये औरतें किस प्रकार अपने आत्मविश्वास से तोड़ते हुए संघर्ष करती है। कोख पर स्त्री के अधिकार जैसे मुद्दे से इतन भी इस कहानी में बहुत कुछ ऐसा है, जो हमारी संवेदना को भीतर तक आंदोलित करता है। वह जिला अस्पताल की व्यवस्था और समाज के भ्रष्ट तरीकों को उजागर कराते हैं।

शिवमूर्ति जी का लेखन हमेशा से ग्रामीण यथार्थ पर लिखने का कार्य किया, वह स्त्री सशक्तिकरण के पक्ष में लिखे, और अपने पात्रों द्वारा समाज के सभी पहलुओं को उजागर कर दिया है। वह अन्य रचनाओं की तरह आम बोलचाल के शब्दों, मुहावरों व कहावतों का धड़ल्ले से प्रयोग करके अपनी भाषा को अत्यन्त स्वाभाविक, सुग्राह्य एवं रोचक बना देते हैं। उनका उद्देश्य सामाजिक मूल्यों की स्थापना का है। यहाँ परम्परा के प्रति विद्रोह की स्थिति है। इसमें लक्ष्य पारम्परिक सिद्धान्तों के पुनर्मूल्यांकन एवं नूतन मूल्यों के प्रतिपादन का है।

I UnHkd %

1. इडिया इनसाइड, पृ0सं0 20
2. वही, पृ0सं0 21
3. कुच्ची का कानून, शिवमूर्ति, पृ0सं0 36
4. वही, पृ0सं0 37
5. इडिया इनसाइड, पृ0सं0 45
6. वही, पृ0सं0 24
7. इंडिया इनसाइड, पृ0सं0 25

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

fgUnh uotkxj.k % ckyÑ".k HkV~V dh fuca/kksa dh nfu;k

MkW0 lehj dqekj ikBd*

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जब गदर की छाया और औपनिवेशिक दासता के बीच भारतीय समाज गुजर रहा था तो ऐसे में हिन्दी समाज के जिन लोगों ने गंभीर चिंतन–मनन की शुरुआत की उनमें भारतेंदु हरिश्चंद्र के साथ बालकृष्ण भट्ट सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। दरअसल बालकृष्ण भट्ट के साथ एक मुश्किल यह है कि भारतेंदु–मंडल में होते हुए भी उनका व्यक्तित्व भारतेंदु–मंडल से नितांत भिन्न कोटि का था। भारतेंदु–युग की प्रतिभा मूलतः रचनात्मक–कलात्मक थी जबकि बालकृष्ण भट्ट की प्रतिभा आलोचनात्मंक थी। उनकी वैचारिक चेतना ठीक–ठीक न भारतेंदु–युग के अनुरूप थी, न द्विवेदी–युग के।

बालकृष्ण भट्ट (1844–1914) अपने गंभीर अध्ययन, तीक्ष्ण आलोचनात्मक प्रतिभा तथा सामाजिक–राजनीतिक चेतना के विकास की दषष्टि से भारतेंदु–युग से भिन्न बहुत कुछ आज के से लगते हैं। वह 19वीं शताब्दी के यूरोप में चल रहे ज्ञान–विज्ञान की गतिविधियों से प्रभावित थे और उनके मुकाबले हिंदू शास्त्रों की जड़ता की आलोचना करते थे। धर्म और दर्शन को सामाजिक–राजनीतिक कसौटी पर कसकर बालकृष्ण भट्ट ने प्रगतिशील आलोचना की नींव डाली थी। उनके जीवन का एक ही ध्येय था 'गुलामी से मुक्ति और सांस्कृतिक जागरण का प्रयास'। *कविवचन सुधा से सरस्वती* तक जातीय जागरण का प्रयास दिखलाई पड़ता है लेकिन राजनीतिक जागरूकता का जोखिम भरा कार्य किया–'हिन्दी प्रदीप' के मार्फत बालकृष्ण भट्ट ने। वे भारतेंदु–युग के अंतिम महत्वपूर्ण व्यक्ति ही नहीं बल्कि अपने समय से बहुत आगे देखने वाले व्यक्ति थे। भारतेंदु से छह साल पहले पैदा हुए और लगभग तीस साल बाद तक जीवित रहे। वे 30–34 वर्षों तक अनुभव की विश्वसनीयता और अधिकार के साथ एक तरफ डार्विन, जान स्टुअर्ट मिल, गोल्डस्मिथ, वर्जिल, दांते, न्यूटन आदि से हिन्दी समाज को परिचित कराते रहे तो दूसरी तरफ राष्ट्रीय चेतना और अंग्रेजी राज की आलोचना, सामाजिक दृष्टि और सामंती रूढ़ियों की आलोचना तथा भाषा–साहित्य–संस्कृति के व्यापक प्रश्नों के प्रति चौकस रहते हुए और करते हुए नवजागरण के योद्धा के रूप में जिए और मरे।

हिन्दी प्रदेश में बलिपंथी पत्रकारिता के जनक बालकृष्ण भट्ट है। 1857 के विद्रोह की असफलता के बाद भी हिन्दी प्रदेश की नवजागरणकालीन परिवर्तनकामी मेधा कितनी सजग–समर्थ और जीवट वाली थी–इसे देखना हो तो बालकृष्ण भट्ट को देखना चाहिए। हिन्दी नवजागरण के व्यापक संदर्भ में उनके महत्व को पहली बार स्थापित करते हुए डॉ0 रामविलास शर्मा ने लिखा कि–'' बालकृष्ण भट्ट का 33 वर्षों तक हिन्दी प्रदीप चलाना एक ऐतिहासिक घटना है। धुन और लगन का इससे बड़ा उदाहरण हिन्दी साहित्य के इतिहास में दूसरा नहीं है। उनके पास कार्तिक प्रसाद खत्री के साधन न थे, न वह भारतेंदु की भांति सोने के पालने में झुलाए गए थे, जो समाज उन्हें हाथों–हाथ लेता। वह एक साधारण परिवार में उत्पन्न हुए थे और कुछ दिनों के लिए प्रयाग के एक कॉलेज में संस्कृत के अध्यापक रहे थे''।[1] उन्होंने एक अन्य स्थान पर लिखा कि '' बालकृष्ण भट्ट अपने समय के सबसे क्रांतिकारी विचारक और लेखक थे। वह भारतेंदु हरिश्चन्द्र और महावीर प्रसाद द्विवेदी दोनों के समकालीन थे, वह दो युगों को जोड़ने वाली कड़ी थे। मतवाला के संस्थापक महादेव प्रसाद सेठ ने उनकी परंपरा से नाता जोड़ते हुए अपने छापेखाने का नाम ' बालकृष्ण प्रेस' रखा था। *मतवाला* ने भारतेंदु–युग के व्यंग्य–विनोद, उसकी जानदार गद्यशैली

*सहायक प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, डी0 ए0 वी0 पी0 जी कालेज, वाराणसी–01

को ही नहीं अपनाया, उसने बालकृष्ण भट्ट की राजनीतिक चेतना का विकास और प्रसार किया'' ।[2] हिन्दी भाषा–भाषी क्षेत्र में पत्रकारिता के माध्यम से उन्होंने नौजवानों की पूरी पीढ़ी तैयार की। उनकी प्रेरणा से न केवल प्रयाग से बल्कि प्रयाग के बाहर मथुरा, बनारस, आरा, कलकत्ता जैसे विभिन्न जगह के भी अनेक लेखन हिन्दी लेखन से जुड़े। ध्यान से देखने पर भारतेंदु–मंडल के भीतर सामाजिक–राजनीतिक सवालों को बेबाकी से उठाने वाला 'भट्ट–स्कूल' स्वतंत्र, मौलिक व बुद्धिवादी जागरूकता के साथ सक्रिय होता दिखाई पड़ेगा। बालकृष्ण भट्ट इसके सूत्रधार थे। उन्होंने एक तरफ भारतेंदुयुगीन साहित्य में विचारध ाारात्मक लेखन को प्रश्रय दिया तो दूसरी तरफ नये लेखकों को प्रोत्साहित कर उन्हें साहित्य में स्थापित किया। इस प्रकार बालकृष्ण भट्ट हिन्दी प्रदेश में एक नई विचार परंपरा के प्रस्थान बिन्दु हैं, जिसका विकास बालमुकुंद गुप्त, राधामोहन गोकुल, गणेशशंकर विद्यार्थी और दशरथ प्रसाद द्विवेदी ने किया।

बालकृष्ण भट्ट भारतेंदु–मंडल के लेखकों में मूलतः निबंध लेखक के रूप में ही विख्यात हैं। सत्यप्रकाश मिश्र ने लिखा है कि ''अपने जीवनकाल तक वे अपने समय के सबसे अधिक सजग, सक्रिय, सोद्देश्य प्रधान, भविष्यद्रष्टा लेखक थे'' ।[3] सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक, नैतिक विषयों पर एक से बढ़कर एक निबंध अधिकांशतः *हिन्दी प्रदीप* में प्रकाशित हैं लेकिन इसके अतिरिक्त तत्कालीन पत्र–पत्रिकाओं (*कविवचन सुधा; सुदर्शन समाचार; मर्यादा; सरसवती तथा सम्राट*) में भी बालकृष्ण भट्ट के निबंध प्रकाशित हैं। भारतेंदु–मंडल के लेखकों में निबंधकार के रूप में बालकृष्ण भट्ट के बराबर का कोई दूसरा व्यक्ति है तो वह हैं प्रतापनारायण मिश्र। *ब्राह्मणं और हिन्दी प्रदीप* की पुरानी फाइलों में हिन्दी के एक से बढ़कर एक अद्भुत निबंध भरे पड़े हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने सही लिखा है कि ''पं0 प्रतापनारायण मिश्र और बालकृष्ण भट्ट ने हिन्दी गद्य साहित्य में वही काम किया जो अंग्रेजी गद्य साहित्य में एडीसन और स्टील ने किया था'' ।[4] बालकृष्ण भट्ट के निबंध गल्प, शब्द–विनोद और उपहास की पद्धति पर रचे गए हैं, साथ ही वे गहरे सामाजिक दायित्वबोध से भी परिचालित हैं, ''शुक्ल जी के शब्दों में भट्ट जी के हास्यविनोद की विशेषता है कि वह कुछ चिड़चिड़ापन लिए रहता था। पदविन्यास भी उसका बहुत अनुठा और चोखा होता था लेकिन बालकृष्ण भट्ट में सैलानीपन या फक्कड़पन का अभाव था। ज बवह नारी सौंदर्य या श्रृंगार रस पर लिखते थे, तब भी उनमें एक तर्कशास्त्री का स्वर प्रधान रहता था इसलिए वे प्रतापनारायण मिश्र से भिन्न कोटि के लेखक थे'' ।[5] इस प्रकार बालकृष्ण भट्ट के निबंधों में वैयक्तिकता या दायित्वविहीन वार्ता सुख उतना नहीं है, जितना विषय को लेकर किया गया वाग्विस्तार। उनके व्यक्तित्व में प्रखर ऊर्जस्विता है, जोश है लेकिन यह चेतना भी है कि हम मनोरंजन और सुधार दोनों का साहित्य रच रहे हैं। रचना के शाश्वत प्रभाव से अधिक उनका ध्यान तात्कालिक उद्वेलन की ओर अधिक है। उनका स्वर निबंध की प्रकृति से कुछ अधिक खरा है। इस दृष्टि से भट्ट जी भारतेंदुयुगीन गद्य के कबीर हैं ''उनके निबंधों में रूक्षता, आक्रोश और पुरुषार्थ की आक्रामकता हैकृभारतेंदु हरिश्चन्द्र तो रुला सकते थे, प्रतापनारायण मिश्र पाठकों के साथ अपना भी मनोरंजन कर सकते थे लेकिन भट्ट जी मरम्मत में कोरकसर रखने वाले नहीं थे'' ।[6] महत्वपूर्ण यह है कि भारतेंदु–युग के निबंधकारों के बीच बालकृष्ण भट्ट के निबंधों में एक सजग निरीक्षक की सी चेतना है ''उसमें दार्शनिक की सी उक्ति भी है, जो 'ब्रह्मण' संपादक की परिधि के बाहर की है। हास्य और व्यंग्य तो भारतेंदु युग की विशेषता है और भट्ट जी की रचनाओं में उनका अभाव भी नहीं है, परंतु वे उनकी अपनी विशेषताएं नहीं हैं'' ।[7] बालकृष्ण भट्ट के सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक निबंधों में गहरे यथार्थबोध के साथ विषमता की पहचान और इस विषम स्थिति से देश को उबारने की छटपटाहट दिखलाई पड़ती है। उनके साहित्य में न वर्तमान का महिमामंडल है, न अतीत की वापसी की चाह; उसमें न शास्त्रीय ज्ञान का आतंक है और न राजव्यवस्था की वफादारी। उनका साहित्य मानवता और स्वतंत्रता के लिए सतत लड़ने वाला जागरूक दस्तावेज है। देश की आजादी, जातीयता, आत्मनिर्भरता, स्वावलंबन, स्वाभिमान, देश की तरक्की तथा 'मूरखातादि' और 'भारत तम हरने' का शाश्वत प्रयत्न उनके साहित्य–कर्म की महत्वपूर्ण विशेषता है। उनके राजनीतिक–सामाजिक निबंधों में ऐसी निपट स्पष्टवादिता है, जो हास–परिहास को त्याज्य समझती है। उनके कुछ निबंध ऐसे भी हैं, जिनके शीर्षक प्रत्यय परक हैं और चिंतनशील भी लेकिन उनमें विचारों की

खींचतान से एक एसे व्यक्तित्व का पता चलता है जो भारतवासियों के सांस्कृतिक पतन पर व्यंग्य किए बिना रह ही नहीं सकता। दर्शन, सामाज, राजनीति, साहित्य, मनोविज्ञान आदि सभी विषयों पर उनके निबंध है। उनकी गद्य शैली का प्रधान गुण है–स्मिति और प्रहार, स्तुति और निंदा, कल्पना और तथ्य का सम्मिश्रण। उनके निबंधों में एक वैज्ञानिक की सी विश्लेषण क्षमता का परिचय मिलता है। उनके निबंधों में एक वैज्ञानिक की सी विश्लेषण क्षमता का परिचय मिलता है। उनके निबंधों का सबसे सजीव तत्व है–यथार्थबोध के साथ हास्य–व्यंग्य का संश्लेष। इसके द्वारा वे सामाजिक–राजनीतिक स्थिति की विषमता और द्वंद्व का रेखांकन बड़ी खूबी से करते हैं। उनके विवेचन का ढंग सामान्यतः दुरूहता से परे है। उनकी भाषा का सर्वाधिक महत्वपूर्ण गुण है–स्पष्टता और सरलता। उनके कथात्मक निबंधों में 'एक अशर्फी का आत्मवृत्तांत'; 'एक अनोखा स्वप्न'; 'कौआपरी और आशिकतन' तथा दंभाख्यान' जैसे निबंध हैं। उनके विपुल निबंधों में अधिक संख्या राजनीतिक निबंधों की है जिसे उन्होंने सरकार की आलोचना के रूप में लिखा–'मुल्क की तरक्की क्या चीज है'; 'सरकारी खर्च'; 'लेडी डफरिन फंड'; 'इंगलैंड की राजनैतिक जर्जर दशा'; 'सिविल सर्विस कमीशन'; 'काबुल के विद्रोह में सरकार क्यों पड़ती है'; 'पब्लिक ओपीनियन'; 'कांग्रेस के विरोधियों के लिए सम्मति'; 'बनारस के विद्रोह का क्या कारण है'; 'पुलिस के कानून में संशोधन'; 'कांग्रेस की बरकत'; 'रायल कमीशन'; 'स्वराज क्या है'; 'स्वतंत्र वाणिज्य' तथा 'रिलीफ वर्क्स खोलने का उद्देश्य' जैसे निबंध बालकृष्ण भट्ट द्वारा किया गया साम्राज्यवादी लूटतंत्र के विरोध के प्रमाण हैं। इन निबंधों में ब्रिटिश सत्ता की अनीति व बर्बरता का तीखा विरोध है और तत्कालीन भारतीय समाज की राजनीतिक दुर्दशा का वास्तविक चित्र भी दर्ज है।

राजनीतिक निबंधों के बाद दूसरे स्थान पर सामाजिक निबंध हैं जिनके माध्यम से नवजागरण की समाज चिंता को समझा जा सकता है। बालकृष्ण भट्ट के सामाजिक निबंधों में समाज की प्रायः सभी कुरीतियों पर तीव्र व्यंग्य है : 'कालांतर मीमांसा'; 'माघमेला और कल्पवास'; 'बाल–विवाह'; 'सोशलरिफार्म'; 'तालीम का घाटा'; 'एकान्न भोजन की कुप्रथा'; 'ईश्वर भी क्या ही ठठोल है?'; 'चली सो चली'; 'धर्म समाज का अंग' तथा 'हमारे धर्म संबंधी खर्च'– जैसे निबंध उनकी सामाजिक दर्षष्टि को स्पष्ट करते हैं। उनके सामाजिक निबंधों में स्त्री सरोकार से संबंधित निबंधों की संख्या अधिक है। स्त्री प्रश्न पर विचार करते हुए उनका जोर दो बातों पर अधिक है–'बाल–विवाह का विरोध' और 'स्त्री शिक्षा का प्रचार'। उनका स्पष्ट मानना है कि जब तक घर में स्त्रियां अशिक्षित रहेंगी, अंधविश्वास और धार्मिक प्रपंच का बोलबाला कायम रहेगा।

बालकृष्ण भट्ट की निबंध यात्रा में राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक अंतर्धारा के विविध संदर्भ हैं। उनमें राजनीतिक–सामाजिक मुक्ति के प्रश्न हैं और आलोचनात्मक सामाजिकता के भी लेकिन इसके अतिरिक्त उनके 'निबंधों की दुनिया' में जीवन के विभिन्न क्षेत्र से विषयवस्तु का चयन दिखलाई पड़ता है। परंपरा और रूढ़ि, आदर्श और यथार्थ, ज्ञान और भाव, भक्ति और विवके के तात्विक अंतर का सम्यक विश्लेषण कर बालकृष्ण भट्ट समाज और जीवन में व्याप्त असंगतियों, प्रगति विरोधी तत्वों का मूल्यांकन करते हैं और अपने निबंधों में सामाजिक परिधि को विस्तार देते हैं। उनकी शैली न शुद्ध संस्कृतवादी है, न अतिशय मध्यमार्गी। जहां तक शब्द चयन का प्रश्न है, ठेठ बोलचाल के शब्द, फारसी के शब्द, संस्कृत के शब्द और अंग्रेजी के शब्द उनके निबंधों में व्यापक रूप से प्रयुक्त हुए हैं। कहीं–कहीं एक ही निबंध के एक ही पैराग्राफ में ऐसे सभी शब्द मिल जाते हैं इस दृष्टि से 'जवानी की उमंगे' शीर्षक निबंध महत्वपूर्ण है। यहां बरकत गुन–ऐगुन, आत्मानं–नावमन्यंत, Assumption तराश–खराश तथा Great man जैसे शब्दों का प्रयोग एक ही जगह हुआ है। उनके व्यक्तित्व का अपना निजी गवर्ईपन, चुहलबाजी बराबर उकस–उकस कर व्यक्त होती है। यह उनके व्यक्तित्व की भांति सहज गद्य की शुरुआत है। उनके निबंध हिन्दी गद्य के नए दौर के सूचक हैं, जिसका विकास बालमुकुंद गुप्त, राधामोहन गोकुल और गणेशशंकर विद्यार्थी ने किया। बालकृष्ण भट्ट विषयनिष्ठ निबंधकार भी हैं और व्यक्ति–व्यंजक निबंधकार भी। 'मानवी संपत्ति'; 'सच्चाई की शोभा'; 'अमीर और उसके पार्श्ववर्ती'; 'जगत–प्रवाह' तथा 'मन के गुण' जैसे निबंधों में उनकी विश्लेषण पद्धति हावी है; 'बातचीत'; 'नहीं'; 'कान'; 'नाक'; 'नहीं' तथा 'आंसू' जैसे

निबंधों में भारतेंदु युगीन निबंधों की जिंदादिली दिखलाई पड़ती है; साथ ही 'ल'; 'द'; 'जी'; 'दो' और 'खटका' जैसे निबंध ललित निबंधों की परंपरा के प्रस्थान सूत्र से हैं। उनके संपूर्ण साहित्य को देख–समझे बिना कोई निर्णय देना मुश्किल है। उन्होंने भारी–भरकम शब्दावली से बचते हुए अपने समय के धर्म, समाज, राजनीति तथा साहित्य की आलोचना प्रस्तुत की।

लेकिन दुःखद यह है कि उस दौर की साहित्य चेतना को समझने के बजाय बेहद सुनियोजित ढंग से नवजागरण के समस्त अर्जित मूल्यों को, नवजागरण विचारक्षेत्र के नायकों की समस्त सामाजिक–सांस्कृतिक उपलब्धियों को नकारकर उस चेतना काके गड्डमड्ड करने का दुस्साहसिक प्रयास तेजी से बढ़ा है। फिर यह सिद्ध किया जाने लगा कि हिन्दी नवजागरण एक प्रतिक्रियावादी, दक्षिणपंथी, पंडिताऊ, पोंगापन हिन्दी की खास पहचान बन जाता है। हिन्दी नवजागरण को सीमित और पिछड़ा साबित करने की इस विचार चेतना का मूल उत्स अंग्रेजीदां नव्य इतिहासकारों की नवउपनिवेशवादी धारणा में निहित है, जिसका उद्देश्य है–यह सिद्ध करना कि हिन्दी भाषी जनता में संघर्ष की कोई परंपरा नहीं है, ये सांप्रदायिक रहे हैं, इनका कोई आत्मबोध नहीं है। वह तो अंग्रेजों ने आकर इनका आत्मबोध जगाया, आधुनिक बनाया फिर सोचने–समझने का ढंग विकसित किया, विज्ञान की समझ विकसित की। ऐसा करके यह नवउपनिवेशवादी इतिहास–दृष्टि एक तरफ भारतीय परंपरा में कुछ भी 'उच्चतर' न मानकर अंग्रेजी राज की प्रगतिशील भूमिका को रेखांकित करना चाहती है तो दूसरी तरफ बौद्धिक–सांस्कृतिक उपनिवेशवाद की वकालत करना चाहती है। इस कड़ी में वीरभारत तलवार की चर्चित कृति *रस्साकशी* की मुख्य स्थापनाएं हैं–हिन्दी नवजागरण, नवजागरण न होकर सिर्फ राजा शिवप्रसाद, सैयद अहमद खां और भारतेंदु के व्यक्तिगत झगड़ों का मामला था। उनकी जिंदगी में सिर्फ पैंतरेबाजी थी। वे सभी लोग सत्ता के गलियारे में ऊपर चढ़ने और अंग्रेजों का अपेक्षाकृत अधिक कृपापात्र बनने की होड़ में थे। इसी पुस्तक में वीरभारत तलवार ने आगे और विस्तार से लिखा कि ''पश्चिमोत्तर प्रांत के लोग शिक्षा के प्रचार–प्रसार संबंधी प्रयत्नों का महत्व नहीं समझते... इस प्रांत में शिक्षा की राह में सबसे बड़ी रुकावट प्रभावशाली वर्गों का यह विचार है कि जो कुछ भी करना है, वह सरकार करे; हम नहीं कर सकते। क्या राजा शिवप्रसाद, क्या भारतेंदु और क्या बालकृष्ण भट्ट–सब इसी विचार के थे''।[8]और अंत में वीरभारत तलवार का निष्कर्ष है कि ''जो समस्याएं आज इतनी विकराल बनकर हमें आतंकित कर रही हैं–हिन्दू राष्ट्रवाद या सांस्कृतिक राष्ट्रवाद, सांप्रदायिक, धार्मिक फंडामेंटलिज्म, मुस्लिम अलगाववाद और हिन्दी–उर्दू विवाद, इन सबका जन्म 19वीं सदी में नवजागरण के दौर में हुआ था''[9] (उपसंहार; *रस्साकशी;* पृ0 403–404)। सवाल यह है कि इस प्रकार की निष्कर्ष–टिप्पणियां क्या 19वीं शताब्दी के नवजागरण की केन्द्रीय चिंताओं–'धार्मिक रूढ़ियों और पाखंडों, का विरोध'; 'साम्राज्यवादी लूट और शोषण का विरोध'; 'चलन की गुलामी' और 'सोशल रिफार्म' की उपेक्षा कर उसकी सामाजिक–राजनीतिक अर्थवत्ता को गड्डमड्ड करना नहीं चाहती?

जबकि हिन्दी प्रदेश के लोकचिंतक इस प्रश्न पर बेहद चौंकन्ने थे कि भूमि कर कहां उठा, टैक्स कहां माफ हुआ, जनसाधारण का भय कहां दूर हुआ, नागरिकों के राजनीतिक जीवन का रास्ता कहां साफ हुआ साथ ही धर्म के प्रश्न को, अंधविश्वास की ग्रंथि को, सामाजिक पिछड़ेपन के सवाल को और सामंती बंधनों को जागरूक होकर सुलझाने का प्रयास भी हिन्दी भाषा–भाषी क्षेत्र में दिखलाई पड़ता है। 19वीं शताब्दी की हिन्दी मनीषा आर्थिक–राजनीतिक परिवर्तनों के साथ–साथ पुरानी सड़ी–गली धार्मिक मान्यताओं, रूढ़िग्रस्त रस्म–रिवाजों और खोखले धार्मिक विश्वासों को भी प्रश्नांकित करने लगी थी।

हिन्दी भाषा–भाषी क्षेत्र (पश्चिमोत्तर प्रांत) में समाज सुधार के सवालों को भी साहित्यकारों ने उठाया और पारंपरिक जड़ता, धार्मिक संकीर्णता तथा सामंती रूढ़ियों की तीव्र भर्त्सना की। नवजागरण के लेखक राजनीतिक बदलाव की समझ के साथ सामाजिक–सांस्कृतिक बदलाव के लिए भी आगे बढ़ रहे थे। लेकिन के.एन. पणिक्कर ने अपनी पुस्तक*औपनिवेशिक भारत में सांस्कृतिक और विचारधारात्मक संघर्ष* में विशाल हिन्दीभाषी क्षेत्र को उपेक्षणीय माना है–इससे आधुनिक भारतीय बौद्धिक अकादमिक दुनिया का हिन्दी भाषा–भाषी क्षेत्र के प्रति हिकारती रवैया प्रदर्शित होता है इसके विपरीत पूरनचंद्र जोशी ने भारतेंदुयुगीन साहित्यकारों की सांस्कृतिक चेतना में दासत्व स्वीकार करने वाली नहीं बल्कि दासत्व को

महिमामंडित करने वाली राजनीति पर प्रश्न चिन्ह की चेतना का उल्लेख करते हुए लिखा है कि ''ब्रिटिश राज के देशाहित और जनहित विरोधी भयानक चेहरे को बेनकाब सर्वप्रथम संस्कृतिकर्मियों ने ही किया और ब्रिटिश राज की वंदना में लगे हुए देशवासियों की मिथ्याचेतना को सर्वप्रथम झकझोरा भी संस्कृतिकर्मियों ने ही। उन्होंने ही सर्वप्रथम स्वहित पहचानने वाली चेतना के बीज सांस्कृतिक भूमि पर बोए और इस प्रकार एक स्वस्थ राष्ट्रीय राजनीति के लिए आधार पैदा किया''[10] (*अवधारणाओं का संकट;* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; 1995; पष्0 34)। हिन्दी प्रदेश में आर्यसमाज का प्रभाव अधिक था लेकिन भारतेंदु सहित उनके मंडल के तमाम लेखक आर्यसमाजी आंदोलनों के प्रति काफी सतर्क थे। भारतेंदु और बालकृष्ण भट्ट आर्यसमाज के सब कुछ को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। यह सही है नवजागरणकालीन लेखकों के मत और निष्कर्ष भिन्न–भिन्न दिखाई पड़ते हैं, जात–पात, धर्म–संप्रदाय के आपसी संबंध, स्त्रियों की स्थिति, विधवा–विवाह, बाल–विवाह आदि से संबंधित प्रश्नों पर भी हिन्दी नवजागरण के लेखक एकमत न थे। नवजागरणकालीन समाज में अंदरूनी और बाह्य स्तर पर विभिन्न शक्तियां अपने–अपने ढंग से सक्रिय थीं; उनकी सक्रियता का कोई पक्ष प्रगतिशील था तो कोई प्रतिगामी। विवेकसम्मत विश्लेषण तथा निर्दोष–निष्कर्ष तक पहुंचने के लिए उनके बीच से सुधरवादी, मानवतावादी और क्रांतिकारी प्रवषत्तियों को अलगाना आवश्यक है। उनकी भिन्नताओं और सक्रियताओं में अंतर्विरोध देखने के साथ–साथ हिन्दी क्षेत्र की सामाजिक उन्नति के लिए और बेहतर परिवर्तन के लिए उनकी सकर्मक चिंताओं को रेखांकित किया जाना अधिक जरूरी है। इस दृष्टि से बालकृष्ण भट्ट अपनपे समय के थोड़े से लोगों में थे, जिनका विचार था कि सारी समस्याओं की जड़ में हमारे दकियानूसी, पिछड़े, गलत विचार हैं और उनसे बने रीति–रिवाज हैं, जो परंपरा के नाम पर ढोए जा रहे हैं। उन्हें आमूल–चूल बदलना होगा–इस संदर्भ में वे किसी दुविधा में नहीं थे। एक बार बालकृष्ण भट्ट से किसी ने पूछा–''आप किस मत के अनुयायी हैं, सनातन धर्म के या आर्यसमाज के।'' भट्ट जी ने जवाब दिया–''बुद्धि के''।[11] इससे उनका स्वतंत्र बुद्धिवादी चरित्र प्रकट होता है। अपने क्रांतिकारी विचारों के कारण तथाकथित की जमात उन्हें 'किरिस्तान' कहा करती थी। अपने समय–समाज से आगे बढ़कर उन्होंन ऐसा सोचने और कहने का साहस किया कि ''वह हिन्दू धर्म धर्म नहीं हैकृकृ वह स्वार्थी धर्मशास्त्र बहिर्मुख यजमान सर्वस्व ब्राह्मणों का रुपया कमाने का इंस्ट्रूमेट है। वह हिन्दुस्तानी का अधःपतन कराने के लिए व्यग्र है। वह प्राचीन ऋषियों का नाम डुबोने वाला षड्यंत्र है''।[12]

पारंपरिक बुराइयों के खिलाफ शिक्षा के सवाल को उठाकर वे सामाजिक–राजनीतिक परिवर्तन की बात करते हैं। 19वीं शताब्दी के हिन्दी नवजागरण के वे पहले महत्वपूर्ण व्यक्ति थे, जिन्होंने संयुक्त परिवार, बहुपत्नी विवाह, बाल–विवाह तथा दहेज प्रथा जैसी कुप्रथाओं के खिलाफ लंबा संघर्ष किया। संयुक्त परिवार की बुराइयों का वस्तुनिष्ठ विश्लेषण करते हुए उनका मानना था कि ''एकान्न भोजन की कुप्रथा के कारण लड़कों की तालीम में बड़ी बाधा पहुंचती है बल्कि बाल–विवाह जितना बालकों का विघातक है, यह एकान्न भोजन की प्रथा उससे जरा भी घट के नहीं कही जा सकती''।[13]

पश्चिमोत्तर प्रांत में धार्मिक–सामाजिक सुधार के सवाल को भारतेंदु–मंडल के लेखकों ने अपना केन्द्रीय प्रश्न बनाया। बालकृष्ण भट्ट का मानना था कि सामाजिक यथस्थितिवादिता और दास्य भाव के कारण हिन्दुस्तानी जाति गुलामी के बंधन में पड़कर पिछड़ती जा रही है। उन्होंने हमारा 'दास्य भाव' नामक निबंध में लिखा कि ''वे वीर हैं–तुम कायर, उनमें एका है–तुम्हारे में फूट; वे सशस्त्र हैं–तुम निःशस्त्र; वे एक जाति के तुम अनेक खंडों में विभक्त हो, वे सब एक साथ के खाने वाले हैं–तुम चूल्हा–चौक के पीछे हैरान हो; तुम्हें धर्म पीसे डालता है, वे धर्म को पुरजे–पुरजे उड़ा डालने वाले हैं... उनके लिए समस्त भूगोल हस्तमालक के समान हो रहा है, तुम सब ठौर निषेध। वे अपने मुल्क और जाति के लिए जान देने वाले हैं, तुम देश और जाति को काली खप्पर में झोंक अपना पेट भरने वाले हो''।[14]

नवजागरण की विचार चेतना के प्रसार में पत्र–पत्रिकाओं का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। बंगाल के नवजागरण से लेकर हिन्दी प्रदेश के नवजागरण तक न सिर्फ बड़े शहरों तक में बल्कि छोटे शहरों तथा कस्बों तक में पत्र–पत्रिकाओं की बाढ़–सी दिखती है। यह अकारण नहीं है कि भारतेंदु–मंडल के लगभग

सभी रचनाकारों ने विभिन्न संगठनों का निर्माण किया और पत्रिका प्रकाशित की। हिन्दी नवजागरण की बुनियादी विशेषता के रूप समूहवाद की भावना को मानते हुए कर्मेंदु शिशिर ने लिखा है कि ''भारतेंदु, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, चौधरी बद्रीनारायण 'प्रेमघन' या राधाचरण गोस्वामी–ये सभी और इनसे जुड़े अन्य अनेक रचनाकारों ने अपने–अपने नगर में ऐसे ही संगठन, ऐसी ही संस्थाएं गठित की थीं, जिनमें अन्य सदस्य भी जुड़े थे। इसी तरह की मामूली शरुआत से ही नवजागरण का विशाल स्वरूप निर्मित हुआ''।[15] इस संदर्भ में हिन्दी पत्र–पत्रिकाओं के महत्व को स्थापित करते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा कि : ''इनमें से अधिकांश पत्र–पत्रिकाओं थोड़े ही दिन चलकर बंद हो गईं, पर कुछ न लग़ातार बहुत दिनों तक लोकहित–साधन और हिन्दी की सेवा की है जैसे–*बिहारबंधु, भारतमित्र, भारत जीवन, उचित वक्ता, दैनिक हिंदोस्तान, आर्य दर्पण, ब्राह्मण, हिन्दी प्रदीप*। मित्रविलास सनातन धर्म का समर्थक पत्र था जिसने पंजाब में हिन्दी प्रचार का बहुत कुछ कार्य किया था। *ब्राह्मण, हिन्दी प्रदीप और आनंदकादंबिनी* साहित्यिक पत्र थे जिनमें बहुत सुदंर मौलिक गद्य प्रबंध और कविताएं निकला करती थीं। इन पत्र–पत्रिकाओं को बराबर आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। 'हिन्दी प्रदीप' को कई बार बंद होना पड़ा था''।[16] अकेले हिन्दी प्रदीप ने अपने दीर्घजीवन तथा वैचारिक उर्जस्विता में अनेक पत्रों के अभाव की पूर्ति की। बालकृष्ण भट्ट के साहित्य–विषयक विचारों को देखने से पता चलता है कि शाश्वत साहित्य जैसी किसी मान्यता पर उनका विश्वास न था। वे साहित्य को परिवर्तनशील मानते हैं क्योंकि वह जीवन का प्रतिबिंब है और जीवन कभी स्थिर हो ही नहीं सकता। इसलिए शाश्वतता जैसा मूल्य साहित्य का महान गुण नहीं है। 'वेद' को जिसके शाश्वत व अपौरुषेय होने का ढिंढोरा बहुत पीटा जाता है–भट्ट जी न उसे शाश्वत मानते हैं, न अपौरुषेय। उनका मानना है कि 'वेद' जिस काल का साहित्य है, वह काल उसमें अपनी संपूर्ण विशिष्टताओं सहित प्रतिबिंबित है। वैदिक साहित्य, व्यासकालीन या कालिदासकालीन साहित्य से विषय, भाषा और अभिव्यक्ति कौशल इत्यादि से बिलकुल भिन्न है। 'साहित्य जनसमूह के ह्रदय का विकास है'–शीर्षक निबंध में अपने विचार को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा कि –''प्रत्येक देश का साहित्य उस देश के मनुष्यों के ह्रदय का आदर्श रूप है। जो जाति जिस भांव से परिपूर्ण या परिलुप्त रहती है, वे सब उसके भाव इस समय के साहित्य की समालोचना से अच्छी तरह प्रकट हो सकते हैं.. इसलिए साहित्य के अनुशीलतन से कौम के समय के आभ्यांतरिक भाव हमें पुष्ट हो सकते हैं''।[17] यहां महत्वपूर्ण यह है कि 'साहित्य जनसमूह के ह्रदय का विकास है' के माध्यम से बालकृष्ण भट्ट साहित्य की पहली और बुनियादी जवाबदेही तय कर रहे होते हैं। साहित्य की इस पहली बुनियादी जवाबदेही में 'जनसमूह' की ह्रदय भावनाओं के लिए सार्थक चिंता है और उसकी समर्थ अभिव्यक्ति की कोशिश भी। यह देखना दिलचस्प है कि आगे आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने बालकृष्ण भट्ट की बुनियादी जवाबदेही से संवाद करते हुए लिखा कि ''ज्ञान राशि के संचित कोश ही का नाम साहित्य है''। ध्यान रहे 'साहित्य जनसमूह के ह्रदय का विकास है' ही 'ज्ञान राशि का संचित कोश' बनते हुए आचार्य शुक्ल के यहां 'जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब'–हो जाता है। बालकृष्ण भट्ट, महावीर प्रसाद द्विवेदी और रामचंद्र शुक्ल के यहां साहित्य चिंतन की अंतर्यात्रा उत्तरोत्तर सूक्ष्म और गहरी होती गई है। यह हिन्दी आलोचना की प्रस्थान–त्रयी है, जिससे हिन्दी आलोचना में लोकमंगल के प्रतिमान तय हुए और आलोचना की सामाजिकता का विकास हुआ।

भारतेंदु, हिन्दी साहित्य में आधुनिकता के प्रवर्तक कहे जाते हैं। उनके युग में गद्य का प्रारंभ हुआ। गद्य की इस बहुलता के कारण आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने आधुनिक काल को 'गद्यकाल' कहा है। भट्ट जी का मानना था कि हिन्दी में काव्य–साहित्य तो अत्यंत समृद्ध है इसलिए लोगों को गद्य साहित्य की समृद्धि पर ध्यान देना चाहिए–''और भाषा मराठी, गुजराती, बांग्ला की अपेक्षा कविता में अंश में हिन्दी का साहित्य बहुत बढ़ा हुआ है, संस्कृत से कुछ ही न्यून है, किन्तु गद्य–रचना। प्रोज हिन्दी का बहुत ही कम और पोच है सिवाय एक प्रेमसागर सी दरिद्र रचना के और कुछ हई नहीं, जिसे हम इसके साहित्य भंडार में शामिल करते''।[18] (हिन्दी प्रदीप; फरवरी–मार्च 1892, पृ0 32)। बालकृष्ण भट्ट न केवल हिन्दी गद्य की सेवा के लिए साहित्यकों का आह्वान करते हैं बल्कि स्वयं भी उसकी सेवा में लगातार प्रयास करते हैं।

हिन्दी प्रदीप की टिप्पणियों व साहित्य विषयक निबंधों में उनकी विद्वत्ता और बहुज्ञता का परिचय मिलता है। अपने युग में बालकृष्ण भट्ट संभवतः पहले साहित्यिक हैं, जिन्होंने न केवल लोककविता का समर्थन किया बल्कि उसे साहित्यिक कविता के बराबर का स्थान भी दिया। उनका कहना था कि भावों की स्वाभाविकता और भाषा की सहजता के कारण लोककविता साहित्यिक कविता से भी अधिक स्पृहणीय होती है।

'भाषा–साहित्य के सरोकार और आलोचना विवेक' की दृष्टि से बालकृष्ण भट्ट के महत्व के आकलन के लिए 'पारती थियेटर' (*हिन्दी प्रदीप,* नवंबर 1879); 'साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है' (*हिन्दी प्रदीप,* जुलाई 1891); 'भाषाओं का परिवर्तन' (*हिन्दी प्रदीप,* जून 1885); 'सच्ची समालोचना' (*हिन्दी प्रदीप,* अप्रैल 1886); 'सच्ची कविता' (*हिन्दी प्रदीप,* अक्टूबर 1886); 'रसभास' (*हिन्दी प्रदीप,* अक्टूबर–नवंबर–दिसंबर 1889); 'कवि की प्रतिमा' (*हिन्दी प्रदीप,* मई 1899); 'परंपरा' (*हिन्दी प्रदीप,* नवंबर–दिसंबर 1904) तथा 'परदा' (*मर्यादा;* फरवरी 1912) जैसे निबंध महत्वपूर्ण हैं। उनकी वास्तविक प्रतिभा एक अध्ययनशील विद्वान और तीक्ष्ण आलोचक की है। हिन्दी आलोचना के जन्मदाता के रूप में डॉ0 रामविलास शर्मा ने भट्ट जी के महत्व को रेखांकित किया है। धर्म और दर्शन को सामाजिक कसौटी पर कसकर बालकृष्ण भट्ट ने प्रगतिशील आलोचना की नींव कायम की। 'साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है' नामक निबंध से उनका आधुनिक दृष्टिकोण प्रकट हो जाता है। साहित्य, रसात्मक वाक्य या कवि के अंतःपुर का लीला विनोद न होकर 'जनसमूह के हृदय का विकास है'–से बालकृष्ण भट्ट के आलोचनात्मक विवेक को समझा जा सकता है, साथ ही हिन्दी आलोचना के प्रस्थान बिन्दु को भी। जनसमूह के हृदय की भावनाओं का आग्रह करके हिन्दी आलोचना ने अपना स्वतंत्र मौलिक चरित्र विकसित किया और उत्तरोत्तर रीतिकालीन केंचुल उतारकर आधुनिक बुद्धिधर्मी चिंतन की वाहक बनी।

बालकृष्ण भट्ट आधुनिक हिन्दी आलोचना के पुरस्कर्ता हैं। उनका आलोचनात्मक अवदान और महत्व पर डॉ0 अभिषेक रौशन ने गंभीर काम किया है। ' बालकृष्ण भट्ट और आधुनिक हिन्दी आलोचना का आरंभ' (*अंतिका प्रकाशन* नई दिल्ली, 2009) नामक पुस्तक में अभिषेक रौशन ने बालकृष्ण भट्ट की आलोचना का स्वरूप एवं महत्व के साथ–साथ परवर्ती हिन्दी आलोचना में उनके संदर्भ संबंध खोजने की सार्थक कोशिश की है लेकिन मुश्किल यह है कि बालकृष्ण भट्ट की संस्कृति चिंता या आलोचना विवके पर विचार करने के लिए नाषा–साहित्य संबंधी सैद्धांतिक–व्यवहारिक आलोचनात्मक टिप्पणियां ही पर्याप्त नहीं हैं बल्कि 'भारतवर्ष की जातीय भाषा' (*हिन्दी प्रदीप,* फरवरी, 1886), 'दर्शन और उनके संबंध में मतभेद' (*हिन्दी प्रदीप,* अगस्त 1886), 'अपूर्ववेदांत' (*हिन्दी प्रदीप,* सितम्बर 1887), 'पुराण क्या है' (*हिन्दी प्रदीप,* फरवरी 1889), 'रसाभ्रास' (*हिन्दी प्रदीप,* अक्टूबर–नवंबर–दिसंबर 1889), 'श्रीमत् शंकराचार्य और नान्हिक शाह' (*हिन्दी प्रदीप,*मार्च–अप्रैल 1889), 'कृष्ण की ईश्वरता' (*हिन्दी प्रदीप,* फरवरी 1905) तथा 'महाभारत के समय का भारत' (*हिन्दी प्रदीप,*फरवरी 1908) जैसे दार्शनिक–सांस्कृतिक निबंधों पर भी विस्तार से चर्चा होनी चाहिए। क्योंकि भारतेंदु–युग की गुण–दोष विवेचन समीक्षा से आगे बढ़कर बालकृष्ण भट्ट व्याख्या व विश्लेषण की खुली संभावनाओं पर बल देते हैं। भारतेंदु–युग में दयानंद सरस्वती 'वेद' को ईश्वर रचित सिद्ध कर रहे थे लेकिन बालकृष्ण भट्ट ने इसका जोरदार विरोध किया।

बालकृष्ण भट्ट भारतेंदु–युगीन साहित्यकारों के बीच विचार–प्रधान निबंधकार हैं साथ ही गंभीर आलोचक भी। संस्कृत साहित्य के अध्ययन–मनन की छाप उनके आलोचनात्मक निबंधों में दिखलाई पड़ती है। 'भारतेंदु हरिश्चंद्र' (*हिन्दी प्रदीप,* जनवरी 1886), 'भट्टनारायण' (*हिन्दी प्रदीप,* अप्रैल 1886), 'संस्कृत के प्राचीन कवि और ग्रंथकारों का परिचय' (*हिन्दी प्रदीप,* अप्रैल 1886), 'मुंशी कालीप्रसाद' (*हिन्दी प्रदीप,* अक्टूबर–नवम्बर–दिसम्बर 1887), 'जगन्नाथ पंडितराज' (*हिन्दी प्रदीप,* अक्टूबर–नवम्बर–दिसम्बर 1887), 'शंकराचार्य' (*हिन्दी प्रदीप,* सितंबर–अक्टूबर 1893), 'महाकवि क्षेमेंद्र' (*हिन्दी प्रदीप,* नवंबर–दिसम्बर 1893), 'ब्राह्मण संपादक पं0 प्रतापनारायण मिश्र' (*हिन्दी प्रदीप,* अप्रैल–मई–जून 1894), 'कृष्ण चैतन्य महाप्रभु' (*हिन्दी प्रदीप,* मार्च–अप्रैल 1898), 'स्वामी दयानंद' (*हिन्दी प्रदीप,* मार्च–अप्रैल 1898) जैसे निबंध जीवनीपरक हैं लेकिन बोधगम्यता, रोचकता व अनूठी कल्पना शैली के साथ–साथ तुलनात्मक

विश्लेषण की दृष्टि से बेहद महत्वपूर्ण हैं। 'श्री शंकराचार्य और नान्हिक शाह' (मार्च–अप्रैल 1898) जैसे आलोचनात्मक लेख में उनकी असाधारण बुद्धि कौशल को देखना अत्यंत महत्वपूर्ण है।

भारतेंदु–मंडल के भीतर बहसों और विवादों का सिलसिला लंबा है, जिसके भीतर भाषा–साहित्य के बनने और मंजने की पूरी कहानी है। भारतेंदु–युग के लेखक भाषा को लेकर 'वाद–विवाद–संवाद' करते हैं और भाषा–साहित्य के सरोकार तय करते हैं। भाषा की दर्षष्टि से भारतेंदु–युग संक्रांति का युग है, जहां गद्य के निर्माण का सवाल और परिनिष्ठत भाषा संबंधी वाद–विवाद साथा–साथ होता था। बालकृष्ण भट्ट अपने भाषा–संबंधी चिंतन में 19वीं शताब्दी के तमाम बहसों का ध्यान रखते हैं। वे संस्कृत के विद्वान थे और कुछ वर्षों तक कायस्थ पाठशाला, इलाहाबाद में संस्कृत के प्रोफेसर भी थे। उनकी हिन्दी पर संस्कृत का प्रभाव अत्यंत स्पष्ट है लेकिन वे हिन्दी को लोकहित में महत्वपूर्ण समझते थे और महत्ता की दर्षष्टि से संस्कृत को दूसरा स्थान देते थे। वे संस्कृत के उन विद्वानों से भिन्न थे, जो हृदय में हिन्दी में प्रति एक द्वेष–भावना रखते हैं। बालकृष्ण भट्ट का यह युगांतकारी दृष्टिकोण है कि भाषा का संबंध कुल, जाति या धर्म से नहीं होता। भट्ट जी के भाषा–विषयक लेखन में महत्वपूर्ण यह भी है कि वे भाषा में क्लिष्ट संस्कृत शब्दों का विरोध करते हैं और क्लिष्ट उर्दू–फारसी शब्द–प्रयोग के भी विरोधी हैं। उनकी भाषा नीति बड़ी व्यापक और उदार है। 'भाषाओं का परिवर्तन' शीर्षक निबंध में उन्होंने लिखा कि ''जो हिन्दी हम आजकल बोलते हैं यह पहले क्या थी और अब क्या है? अब फारसी–उर्दू शब्द इसमें मिलते जाते हैं, क्योंकि अब आपके बड़े–बड़े प्रामाणिक हिन्दी कवियों ने फारसी–अरबी के शब्द ग्रहण किए तो हमारे और आपके निकाले ये शब्द हमारी भाषा की नस–नस में अंततः प्रविष्ट से हो रहे हैं, क्योंकि पढ़े–लिखे लोग या सर्वसाधारण उन शब्दों को अपना लें तो भाषा और भी पुष्ट हो जाएगी''।[19] भाषिक विकास प्रक्रिया की दृष्टि से देशज शब्द, विदेशी शब्द के स्वाभाविक प्रयोग को वे भाषा का महत्वपूर्ण गुण मानते हैं। वे भाषा को संस्कृतनिष्ठ करने के विरोधी हैं तथा भाषा को जनसमूह का हृदय समझते हैं। बालकृष्ण भट्ट तथाकथित शुद्धतावाद के मुकाबले उदार भाषा नीति की घोषणा करते हैं और सभी भाषाओं के प्रचलित शब्द स्वीकार करने की नीति का समर्थन करते हैं। उनका विचार है कि हिन्दी की अभिव्यंजना शक्ति बढ़ाना साहित्यिकों का प्राथमिक कर्तव्य है : ''बहुत से अरबी–फारसी के शब्द हमारी हिन्दी के साथ ऐसे सम्मिलित हो गए हैं कि घरेलू बातचीत में भी उनका प्रयोग किया जाता है–जरूर, गरूर, मजूर, गरीब, फकीर, अमीर, मुसाफिर इत्यादि। ये शब्द संस्कृत के अपभ्रंश शुद्ध हिन्दी शब्दों के साथ लगाए तो असंगत न मालूम होंगे।'' भट्ट जी ने आगे कहा कि ''भाषा के विस्तार का सदा यह क्रम रहा है कि किसी भी देश के शब्दों को हम अपनी भाषा में मिलते जाएं और उसे अपना करते रहे। अरबी–फारसी की कौन कहे अब तो अंग्रेजी के अनेक शब्द हमारी हिन्दी के अंग होते जा रहे हैं, जैसे–लालटेन, बोतल, पालिसी, स्टेशन, फैशन, जज, टिकट इत्यादि। ये सब शब्द अपने शुद्ध रूप से बिगड़ अपभ्रंश हो हमारे हो गए है''।[20] बालकृष्ण भट्ट की भाषा–शैली को यदि समग्रता में देखा जाए तो वह तद्भव प्रधान शैली है। सिर्फ तद्भव शब्द ही नहीं भट्ट जी ऐसे शब्दों का भी प्रयोग करते हैं जो प्रांतीय हैं और जो इलाहाबद के आस–पास ही बोले और समझे जाते हैं, जैसे–जून, झोंझट, पिसौनी, कसौनी, ओकलाई, जीट, गाटे का गाटा, गंजिया, साहुत, गावली, पागुर, टटका, नियरान, ठिंकरी, गदह पचीसी, उजागर, कटहा, बरकाया, उघाने, डाकते, बिलमाय, चटुआ आदि। अरबी और फारसी के शब्दों का भी भट्ट जी निःसंकोच प्रयोग करते हैं–अजीमुश्शान, फख, मुसन्निफ, मुतल्लिक, मुस्तैत, खुदगर्जी, ख़्वाब, दाखिल, वाजिब, मुआवजा, मुआइना, खातिरख़्वाह, हिमाक़त, मुअस्सर, तहरीक, हकीकत, बहबूदी आदि साथ ही अंग्रेजी शब्दों का उन्होंने खूब प्रयोग किया है, अपनी रचनाओं में वे अंग्रेजी शब्दों का भी प्रयोग करते हैं–पिविलेज, प्राब्लम, मोरल, ऑनफारचुनेट, सक्सेस, एडीटर, ट्रेजडी, नेटिव, केरेक्टेरिस्टिक, बाइकाट, स्पिरिट, प्राइज ऑफ पीस, ओपीनियन, नेशनल कैरेक्टर, एजुकेशन जैसे शब्द प्रयोग इस बात के द्योतक हैं कि उनका दृष्टिकोण शुद्धतावादी नहीं है वे हिन्दी की भाव–संपदा और शब्द–संपदा दोनों को बढ़ाना चाहते हैं।

उनका मानना है कि मुहावरे भाषाओं की जान हैं और भाषाएं सतत परिवर्तित होती रहती हैं। भट्ट जी के ये विचार तत्कालीन संस्कृत पंडितों के विचारों के विरूद्ध हैं, वे पुरातनता, रूढ़ि, संकीर्णता तथा किसी भी प्रकार के कठमुल्लापन का विरोध करते हैं।

बालकृष्ण भट्ट के चिंतन में पारंपरिक जड़ता के विरोध और परिवर्तन का स्वर अधिक व्यापक, सजग और उत्तरोत्तर उग्र होता दिखलाई पड़ता है। इस ध्येय के साथ ही बालकृष्ण भट्ट ने *हिन्दी प्रदीप* का प्रकाशन किया। ब्रिटिश औपनिवेशिक दमन के दौर में हिन्दी प्रदेश में 'कविवचन सुधा' से 'सरस्वती' तक जातीय जागरण का प्रयास दिखलाई पड़ता है लेकिन राजनीतिक जागरूकता पैदा करने और आलोचनात्मक चिंतन के विकास का जोखिम भरा कार्य किया–'हिन्दी प्रदीप' के मार्फत बालकृष्ण भट्ट ने। 'हिन्दी प्रदीप' के तैंतीस वर्षों के अंकों में जिस समझदारी ओर बेबाकी से बालकृष्ण भट्ट विचार करते हैं, वह आश्चर्यजनक है। 'हिन्दी प्रदीप' का जन्म ही समाज चिंता से हुआ था। पहली संपादकीय टिप्पणी में ही बालकृष्ण भट्ट द्वारा हिन्दी प्रदीप की विषय–विविधता और रचनात्मक व्यापकता का पता चलता है–''पश्चिमोत्तर देश की राजधानी में एक ऐसे समाचारपत्र का होना आवश्यक है, जिसमें राजकाज संबंधी बातों पर राय दी जाए। सब प्रकार की खबर हो और विज्ञान, खगोल, भूगोल आदि विद्या संबंधी विषयों पर भी लेख जाएं।'' केवल साहित्यिक पत्र निकालना भट्ट जी का उद्देश्य न था। *हिन्दी प्रदीप* में प्रकाशित–'मनोविज्ञान' (जनवरी 1880), 'आशा' (जनवरी 1886), 'विश्वास' (जनवरी–फरवरी–मार्च–अप्रैल 1896), 'ज्ञान और भक्ति' (मार्च–अप्रैल 1903) तथा 'निवर्त्ति' (सितम्बर 1909), जैसे लेख भाव मनोविकार विवेचन से संबंधित हैं साथ ही 'वैज्ञानिक चेतना के प्रसार' के लक्ष्य से 'वायु' (नवंबर 1877), 'पदार्थवाद' (दिसम्बर 1877), 'प्रकाश' (जुलाई 1880), 'उल्का पतन' (दिसंबर 1885), 'आइने पर कलई करने की युक्ति' (जून 1888), 'सीसा' (जून 1889) तथा 'वायुमणडल' (सितम्बर 1887) जैसे गंभीर वैज्ञानिक आलेख भी प्रकाशित हैं। जनता की दुर्बुद्धि, अविवेक, कुमति और मूर्खता के विनाश के लिए सदा तत्पर रहने वाला पत्र था–*हिन्दी प्रदीप*। उसकी यह आकांक्षा स्वयं भारतेंदु हरिश्चंद्र द्वारा बनाए 'मोटो' में मूर्त्त है, जो प्रारंभ से अंत तक 'प्रदीप' के मुख पृष्ठ पर छपता रहा–

''शुभ सरस देश सनेह पूरित प्रगट है आनंद भरै
बचि दुसह दुर्जन वायु सो मणि दीप समथिर नहीं टरै
सूझे विवके विचार उन्नति कुमति सब यामै जरै
'हिन्दी प्रदीप' प्रकाश मूरखातादि भारत तम हरै''

(*हिन्दी प्रदीप,* सितंबर 1877)।

हिन्दी प्रदीप के प्रकाशन के समय संस्थापक–संपादक बालकृष्ण भट्ट के हृदय में हिन्दी भाषा–भाषी समाज में स्वस्थ जनमत निर्माण की जो उत्कृष्ट भावना, राजनीतिक चेतना जगाकर समूचे देश में राष्ट्रीयता का भाव भरने की चाह और हिन्दी में जातीय साहित्य रचना को प्रोत्साहन देने का संकल्प, साथ ही समाज से अंधविश्वास–रूढ़िवाद को मिटाकर एक नई सामाजिक चेतना के प्रसार का जो उद्देश्य रहा, वह अनवरत 33 वर्षों तक कायम रहा और उसमें किसी तरह की शिथिलता उन्होंने नहीं आने दी, चाहे इसके लिए उन्हें कितनी ही मुसीबतों का सामना क्यों न करना पड़ा हो? यह उनके संघर्षशील पत्रकार व्यक्तित्व का शानदार उदाहरण है।

lanHk %&

1. भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा; राजकमल प्रकाशन, दिल्ली–1975, पृ0 87
2. डॉ0 रामविलास शर्मा, (भूमिका) नवजागरणकालीन पत्रकारिता और मतवाला; भाग–II, सं0 कर्मेन्दु शिशिर, अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली–2012
3. बालकृष्ण भट्ट : प्रतिनिधि निबंध; नेशनल बुक इस्ट; दिल्ली 1995, पृ0 10
4. हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रकाशन संस्थान, दिल्ली 2005, पृ0 335
5. भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा, पृ0 84
6. डॉ0 हरिहरनाथ द्विवेदी; निबंध : सिद्धान्त और प्रयोग : बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना 1971, पृ0 192

7. भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा; पृ0 88
8. वीरभारत तलवार, रस्साकशी, सारांश प्रकाशन, 2001, पृ0 137
9. वहीं; पृ0 403–404
10. पूरनचन्द्र जोशी, अवधारणाओं का संकट, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 1995, पृ0 34
11. रामबिहारी शुक्ल; सरस्वती, भाग–15, सं0 5, पृ0 633
12. हिन्दी प्रदीप; सितम्बर 1875, पृ0 13
13. हिन्दी प्रदीप; जुलाई 1881, पृ0 15
14. बालकृष्ण भट्ट रचनावली; भाग–III, अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली 2015, पृ0 301
15. भारतीय नवजागरण और समकालीन संदर्भ; नई किताब, दिल्ली 2013, पृ0 25
16. हिन्दी साहित्य का इतिहास; पृ0 328
17. बालकृष्ण भट्ट रचनावली; भाग–III, पृ0 326
18. हिन्दी प्रदीप; फरवरी–मार्च 1892; पृ0 32
19. बालकृष्ण भट्ट रचनावली; भाग–IV, पृ0 198
20. वहीं, पृ0 203

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. III, No. I, November-2016, April-2017

jk"V fuek.k e ufrd f'k{kk dh Hkfedk % mPp f'k{kk d lnHk e ,d voyksdu

MkO v:.k dekj*] MkO ifrHkk 'kek**

iLrkouk % ''विवेकानन्द 'स विद्या या विमुक्तये' को मूलमंत्र मानते थे। उनका विचार था जो शिक्षा जन साधारण को मानव जीवन के लिए तैयार नहीं कर सकती, जो चरित्र का निर्माण नहीं कर सकती ऐसी शिक्षा व्यर्थ है।'' & ^^Lokeh foodkuUn^^

सन् 1947 में राष्ट्र को चलाने की जिम्मेदारी भारतीयों के कंधों पर आ पड़ी, इस प्रक्रिया में पं0 जवाहर लाल नेहरू भारत के प्रथम प्रधानमंत्री बने। आजाद भारत के तुरंत बाद भारतीयों के समक्ष एक नई समस्या पैदा हुई,

वह थी राष्ट्र को किस दिशा में ले जाया जाये। देश में कई विचार धारायें थी, जैसे मार्क्सवाद, कम्युनिस्ट, सनातन, इस्लामिक आदि। इसी के साथ देश में कई धर्मों के मानने वाले लोग रहते थे जैसे हिन्दू, मुस्लिम, बौद्ध, सिक्ख, ईसाई आदि। ऐसे में सभी की सोच को एक ही दिशा में ले जाना अत्याधिक दुरूह और लगभग असम्भव कार्य था।

ऐसे में किसी एक विचारधारा को विशेष महत्व देने का तात्पर्य था कि राष्ट्र निर्माण की पहल में गम्भीर बाधाएं उत्पन्न करना। इसीलिए भारत में एक बीच का रास्ता निकालते हुए धर्म निरपेक्ष, पंथ निरपेक्ष एवं कल्याणकारी विचारधारा को आगे बढ़ाया गया। इसमें कोई दो राय नहीं है कि आजादी के बाद अलग–अलग समय पर अलग–अलग दलों की सरकारें बनीं और उन सरकारों ने अपने अपने अनुरूप राष्ट्र निर्माण को तरजीह दी। राष्ट्र निर्माण की व्याख्या करते हुये उसको किसी विशेष दायरे में नहीं बाधा जा सकता है। चूंकि राष्ट्र निर्माण एक व्यापक शब्द है, जिसमें किसी भी राष्ट्र की आवश्यकता अनुसार विषय घटते और जुड़ते रहते हैं।

''आमण्ड तथा पॉवेल के शब्दों में, 'राष्ट्र–निर्माण वह प्रक्रिया है जिसमें लघु जनजातियों, गाँवों अथवा स्थानीयता के प्रति निष्ठा तथा समर्पण की भावना को वृहत् केन्द्रीय राजनीतिक व्यवस्था को समर्पित कर देते हैं''। लेकिन 1990 के दशक के बाद वैश्वीकरण के दौर ने पूरे विश्व के अधिकांश देशों ने पुरानी वर्जनाओं को तोड़ते हुये, विकास की अवधारणा को महत्व देते हुये विकास का सीधा सम्बन्ध राष्ट्र निर्माण से कर दिया है। कहना गलत न होगा कि राष्ट्र निर्माण की अवधारणा कोई नई अवधारणा नहीं है, लेकिन वर्तमान में अधिकांश देश राष्ट्र निर्माण को स्वयं के विकास के पैमाने से जोड़कर देखते हैं। इस विकास में नैतिकता, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक आदि क्षेत्र आते हैं।

नैतिक शिक्षा वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से लोक दूसरों में नैतिक मूल्यों का संचार करते हैं। यह कार्य घर, विद्यालय, मन्दिर, जेल या किसी सामाजिक स्थान (जैसे पंचायत भवन) के किया जा सकता है। व्यक्तियों का समूह ही समाज है। जैसे व्यक्ति होंगे वैसा ही समाज बनेगा किसी देश का उत्थान या पतन इस बात पर निभगर करता है कि इसके नागरिक किस स्तर के हैं और यह स्तर बहुत करके वहाँ

*सहायक आचार्य अतिथि, जनसंचार एवं पत्रकारिता विभाग, बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर केन्द्रीय विश्वविद्यालय, लखनऊ–226025

**सहायक आचार्य अतिथि, जनसंचार एवं पत्रकारिता विभाग, बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर केन्द्रीय विश्वविद्यालय, लखनऊ–226025

की शिक्षा–पद्धति पर निर्भर रहता है। व्यक्ति के निर्माण और समाज के उत्थान में शिक्षा का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। प्राचीन काल की भारतीय गरिमा ऋषियों द्वारा संचालित गुरुकुल पद्धति के कारण ही ऊँची उठ सकती थी। पिछले दिनों भी जिन देशों ने अपना भला बुरा निर्माण किया है, उसमें शिक्षा को ही प्रधान साधन बनाया है।

जर्मनी, इटली का नाजीवाद, रूस और चीन का साम्यवाद, जापान का उद्योगवाद, युगोस्लाविया, स्विटिजरलैंड, क्यूबा आदि ने अपना विशेष निर्माण इस शताब्दी में किया है। यह सब वहाँ की शिक्षा प्रणाली में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने से ही सम्भव हुआ। व्यक्ति का बौद्धिक और चारित्रिक निर्माण बहुत सीमा तक उपलब्ध शिक्षा प्रणाली पर निर्भर करता है।

'kks/k leL;k % शोध समस्या के प्रश्न के सम्बंध में पूर्ण रूप से स्पस्ट है कि मनुष्य का जन्म मानव योनि में जन्म के उपरान्त जैसे–जैसे बच्चें का शारीरिक और मानसिक विकास होता जाता है, वैसे–वैसे उसे सही और गलत का आभास होने लगता है। जिसमें उसके माता पिता की अहम भूमिका होती है। इस शोध पत्र के अन्तर्गत शोध समस्या का सम्बंध निम्न बिंदुओं पर आधारित है :–

- वर्तमान समय में उच्च शिक्षा प्राप्त कर रहे विद्यार्थी जिस तीव्र गति सें पश्चात्य् संस्कृति के रंग में डूब रहे हैं, जिससे नैतिक मूल्यों का हास हो रहा है, ये अपने आप में एक समस्या है।
- जिस तीव्रगति से मँहगाई बढ़ रही है, उसकी वजह से माता–पिता दोनों को नौकरी करनी पड़ती हैं, जिसके कारणवश माता–पिता अपनें बच्चों को समय नही दे पा रहे है।
- भारत मे उच्च शिक्षा अध्ययन में नैतिक शिक्षा पूर्ण रूप से शामिल न होना ये एक समस्या है। जिसके कारणवश नयी पीढ़ी में नैतिकता की कमी का होना।

'kks/k v/;;u d mnn'; %

- बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय, लखनऊ में उच्च शिक्षा प्राप्त कर रहे विद्यार्थियों के द्वारा राष्ट्र निर्माण में नैतिक शिक्षा की भूमिका का पता लगाना।
- नयी पीढ़ी जिस तरह पाश्चात्य् संस्कृति अपना रही है, क्या उसकी वजह से नैतिक मूल्यों में गिरावट आयी है, उसका पता लगाना।
- उच्च शिक्षा में नैतिक की उपयोगिता का पता लगाना।

'kks/k v/;;u dk egRo %

यह शोध अत्यन्त महत्वपूर्ण है, जिस तीव्र गति से नयी पीढ़ी में परिवर्तन हो रहा है, और उन पर पाश्चात्य् संस्कृति हावी हो रही है साथ ही साथ भारतीय नैतिक मूल्यों का पतन हो रहा है, इसके मद्देनजर यह शोध अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

'kks/k izfof/k %

प्रस्तुत शोध पत्र की विषय वस्तु का क्षेत्र राष्ट्र निर्माण, नैतिक शिक्षा तथा उच्च शिक्षा शामिल है। शोध पत्र के अन्तर्गत शोध की विषय वस्तु को ध्यान में रखते हुए बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय, लखनऊ में उच्च शिक्षा प्राप्त कर रहे विद्यार्थियों में कुल 100 विद्यार्थियों का चयन शोध कर्ताओं के द्वारा किया गया है। इन 100 विद्यार्थियों के चयन में सर्वे विधि (रैन्डम सैम्पलिंग) का उपयोंग किया गया हैं।

- आकड़ा संग्रह विधि शोध कर्ताओं के द्वारा आकड़ों के संग्रह के लिए प्राथमिक एवं द्वितीयक दोनों स्रोतो का उपयोग किया गया है। प्रथम शोध संग्रह के रूप में बाबा साहेब भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय, लखनऊ में उच्च शिक्षा प्राप्त कर रहे विद्यार्थियों में कुल 100 विद्यार्थियों से जानकारी प्राप्त की गयी है। द्वितीयक स्रोत के अन्तर्गत सम्बधित साहित्य का अध्ययन किया गया है।
- उपकरण : शोधकर्ताओं के द्वारा शोध पत्र के लिए उपकरण के रूप में प्रश्नावली के माध्यम से बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय, लखनऊ में उच्च शिक्षा प्राप्त कर रहे विद्यार्थियों में कुल 100 विद्यार्थियों से जानकारी प्राप्त की गयी है।

lkf[;dh; fo'y"k.k

प्रश्न–01 : नैतिक शिक्षा कब दी जानी चाहिए? 1. प्राथमिक स्तर पर–70%, 2. उच्च स्तर पर–20%, 3. देने की जरूरत नही–10%.

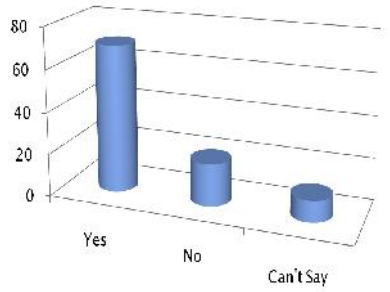

1. शोध अध्ययन के अनुसार 70% विद्यार्थी प्राथमिक स्तर पर नैतिक शिक्षा दी जानी चाहिए के पक्ष में दिखायी दिये।
2. वहीं शोध अध्ययन के अनुसार 20% विद्यार्थी उच्च स्तर पर नैतिक शिक्षा दी जानी चाहिए के पक्ष में दिखायी दिये।
3. उपरोक्त प्रश्न के सन्दर्भ में शोध अध्ययन के अनुसार 0% विद्यार्थी के अनुसार नैतिक शिक्षा दी जाने की जरूरत नही के पक्ष में दिखायी दिये।

प्रश्न–02 : नैतिक मूल्यों को समझना अन्य विषयों से कठिन है ?

1. हॉ –80%, 2. नहीं – 10%, 3- कह नही सकते – 10%.

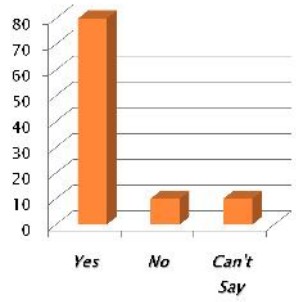

1. शोध अध्ययन के अनुसार 80% विद्यार्थी के अनुसार नैतिक मूल्यों को समझना अन्य विषयों से कठिन हैं।
2. वहीं शोध अध्ययन में 10% विद्यार्थी के अनुसार नैतिक मूल्यों को समझना अन्य विषयों से कठिन नही है।
3. उपरोक्त प्रश्न के सन्दर्भ में शोध अध्ययन के अनुसार 10: विद्यार्थी नैतिक मूल्यों को समझना अन्य विषयों से कठिन हैं, पर कोई राय नहीं दी।

प्रश्न 03 : राष्ट्र निर्माण में नैतिक शिक्षा का महत्व अधिक है या नहीं?

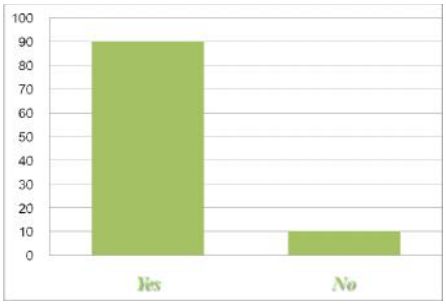

1. नहीं – 10%. 2- हॉ – 10%.
1. शोध अध्ययन के अनुसार 90%विद्यार्थी राष्ट्र निर्माण में नैतिक शिक्षा का महत्व अधिक हैं के पक्ष में दिखे।
2. उपरोक्त प्रश्न पर 10% विद्यार्थी राष्ट्र निर्माण में नैतिक शिक्षा के महत्व के पक्ष में नहीं थे।

प्रश्न 04 : वर्तमान में उच्च शिक्षा में नैतिक शिक्षा की उपयोगिता है या नहीं ?

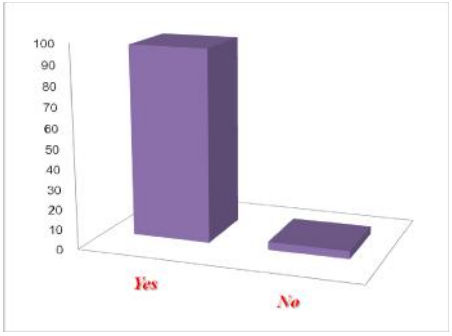

1. नहीं –96%. 2- हॉ – 04%.
1. शोध अध्ययन के अनुसार 96: विद्यार्थियों ने वर्तमान में उच्च शिक्षा में नैतिक शिक्षा की उपयोगित को माना।
2. जबकि शोध अध्ययन के अनुसार 04: विद्यार्थियों ने उच्च शिक्षा में नैतिक शिक्षा की उपयोगित को नहीं माना।

प्रश्न –05 : क्या नैतिक शिक्षा सिद्धान्तों के अलावा व्यवहारिक रूप से भी पढ़ाया जाना चाहिए ?

1. नहीं –84%. 2- हॉ –16%.

1. उपरोक्त प्रश्न के सन्दर्भ में 84% विद्यार्थी ने माना कि नैतिक शिक्षा सिद्धान्तों के अलावा व्यवहारिक रूप से भी पढ़ाया जाना चाहिए।
2. वहीं शोध अध्ययन के अनुसार 16% विद्यार्थी ने माना कि नैतिक शिक्षा सिद्धान्तों के अलावा व्यावहारिक रूप से भी पढ़ाया जाना कोई आवश्यक नहीं है।

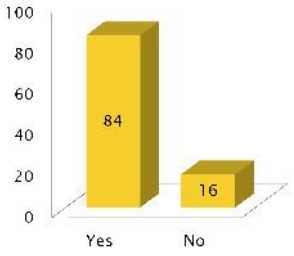

प्रश्न 06 : वर्तमान में ज्यादातर माता–पिता नौकरी पेशा होने के कारण बच्चों को नैतिक शिक्षा नहीं दे पा रहें हैं ?

1. नहीं –84%. 2. हॉ – 16%.
3. कह नहीं सकते – 10%.

1. शोध अध्ययन के अनुसार 84% विद्यार्थी ने माना कि वर्तमान में ज्यादातर माता–पिता नौकरी पेशा होने के कारण बच्चों को नैतिक शिक्षा नहीं दे पा रहें है।
2. वहीं शोध अध्ययन के अनुसार 16% विद्यार्थी वर्तमान में ज्यादातर माता–पिता नौकरी पेशा होने के कारण बच्चों को नैतिक शिक्षा नहीं दे पा रहें हैं से सहमत नहीं दिखे।
3. उपरोक्त प्रश्न के सन्दर्भ में शोध अध्ययन में 10% विद्यार्थी अपनी कोई राय नहीं दे सके।

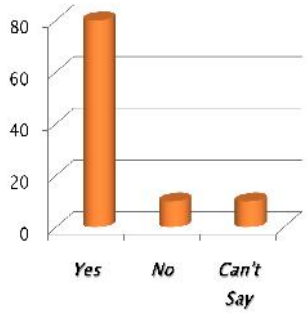

प्रश्न 07 : क्या पाश्चात्य् संस्कृति से नैतिक मूल्यों में गिरावट आई है ?

1. नहीं –80%. 2. हॉ – 10%. 3. कह नहीं सकते – 10%.

1. पाश्चात्य् संस्कृति से नैतिक मूल्यों में गिरावट आई के सन्दर्भ में 80% विद्यार्थी ने माना कि हां गिरावट आई है।
2. वहीं शोध अध्ययन में 10% विद्यार्थी के अनुसार पाश्चात्य् संस्कृति की वजह से कोई गिरावट नहीं आई है।
3. 10% विद्यार्थी ने कुछ कह नहीं सकते का सहारा लिया।

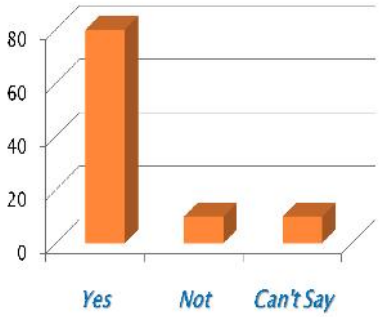

प्रश्न–08 : उच्च शिक्षा में नैतिक शिक्षा विषय स्वतंत्र रूप में होना चाहिए?

1. हॉ – 80%. 2. नहीं – 10%. 3. कह नहीं सकते – 10%.

1. शोध अध्ययन में 80% विद्यार्थी नें माना कि उच्च शिक्षा में नैतिक शिक्षाविषय स्वतंत्र रूप में होना चाहिए।
2. वहीं शोध अध्ययन के अनुसार 10% विद्यार्थी नैतिक शिक्षा विषय स्वतंत्र रूप में पढ़ाये जाने के पक्ष में नहीं दिखे।
3. उपरोक्त प्रश्न के सन्दर्भ में शोध अध्ययन के अनुसार 10% विद्यार्थी की कोई राय नहीं मिली।

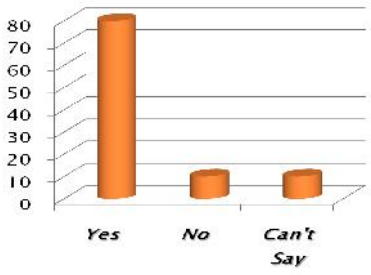

प्रश्न 09 : उच्च शिक्षा में नैतिक शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए आपके अनुसार क्या किया जाना चाहिए?

1. सेमिनार –50%. 2. वर्कशाप –20%. 3. व्याख्यान –10%. 4. वाद– विवाद–20%. 5. अन्य –0%

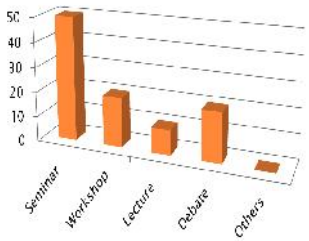

1. उपरोक्त प्रश्न के सन्दर्भ में शोध अध्ययन के अनुसार 50% विद्यार्थी ने सेमिनार के जरिये उच्च शिक्षा में नैतिक शिक्षा को बढ़ावा दिया जा सकता है।
2. वहीं शोध अध्ययन के अनुसार 20% विद्यार्थी ने कहां कि वर्कशाप के द्वारा उच्च शिक्षा में नैतिक शिक्षा को बढ़ावा दिया जाना चाहिए।
3. शोध अध्ययन के अनुसार 10% विद्यार्थियों का व्याख्यान में झुकाव दिखा।
4. शोध अध्ययन के अनुसार 0% विद्यार्थी ने माना कि वाद–विवाद के जरिये उच्च शिक्षा में नैतिक शिक्षा को बढ़ावा दिया जा सकता है।

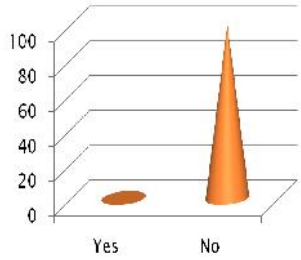

प्रश्न 10 : क्या आपके विभाग में नैतिक शिक्षा विषय अनिवार्य रूप से शामिल है ?

1. हॉ –0%. 2. नहीं – 100%.

1. शोध अध्ययन के अनुसार 0%विद्यार्थी ने बताया कि विभाग में नैतिक शिक्षा विषय अनिवार्य रूप से शामिल नहीं है।
2. वहीं शोध अध्ययन के अनुसार 100% विद्यार्थी ने बताया कि विभाग में नैतिक शिक्षा विषय अनिवार्य रूप से शामिल नहीं होना हैं।

fu"d"k %

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि भारतीय संस्कृति कि जो पहचान विश्व पटल पर रही हैं, उस पहचान को बरकरार बनाये रखनें में नैतिक शिक्षा का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। जिसको बनायें रखने के लिए नयी पीढ़ी में नैतिक शिक्षा के प्रति जागरूकता होने की आवश्यकता हैं। जिससें की एक महान राष्ट्र का निर्माण हो सके। जिस महान राष्ट्र निर्माण की संकल्पना हमारे पूर्वज किया करते थे।

बड़ी संख्या में विद्यार्थियों ने माना कि प्राथमिक स्तर पर ही बच्चों को नैतिक शिक्षा की कहानियाँ सुनानी चाहिए। वहीं ज्यादातर विद्यार्थियों ने माना कि आज के जीवन में नैतिक मूल्यों को समझना ज्यादा कठिन है, पर राष्ट्र निर्माण में नैतिकता का बहुत महत्व है। चूँकि हमारा अध्ययन उच्च शिक्षा प्राप्त कर रहे विद्यार्थियों पर आधारित है। ज्यादातर विद्यार्थियों ने उच्च शिक्षा को उपयोगी माना और कहा कि इसें अनिवार्य रूप से उच्च शिक्षा में शामिल किया जाना चाहिए।

lUnHkZ %

1- मननशील शिक्षक 2007 : एन.सी.ई.आर.टी, श्री अरविंद मार्ग, नयी दिल्ली।
2. चोम्सकी नोअम (1972) : लैंग्वेज एण्ड माइंड हरकोर्ट ब्रेज जावानोंविच, न्यूयार्क।
3. पाण्डेय, राम शक्ल (2010) : उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षक : आगर, श्री विनोद पुस्तक मन्दिर।
4. पाठक, पी.डी. (1976) शिक्षा के दार्शनिक सिद्धान्त, आगरा : विनोद पुस्तक मन्दिर।
5. सक्सेना, एन.आर. स्वरूप (1977) शिक्षा सिद्धान्त मेरठ : लॉयल बुक डिपो।
6. https://hi.wikipedia.org/wiki/नैतिक शिक्षा
7. जोशी. डी.सी. एवं सी.एस. मेहतर : शिक्षक प्रशिक्षण के सिद्धान्त और समस्याएँ, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2007
8. गुप्ता. डा. एस.पी. : भारतीय शिक्षा का इतिहास, विकास एवं समस्याएँ, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, 2004
9. ओड, एल.के. : शिक्षा के नूतन आयाम, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1990
10. श्रीवास्तव, एस.एस. : शिक्षा के नवाचार एवं आधुनिक प्रवृत्तिया, हर प्रसाद भार्गव प्रकाशन, आगरा, 1998.

***

Changing Dynamics of Arm's Race in South Asia

Utkarsh Upadhyaya*

A "pink flamingo" is a term recently coined by Frank Hoffman to describe predictable but ignored events that can yield disastrous results. Hoffman argues that these situations are visible, but almost entirely ignored by policymakers. Pink flamingos stand in stark contrast to "black swans"- the unpredictable, even unforeseeable shocks whose outcomes may be entirely unknown.

The tense nucleard stands-off between India and Pakistan may be the most dangerous pink flamingo in today's world.

The Indian ubcontinent-home to both India and Pakistan-remains among the most dangerous corners of the world, and continues to pose a deep threat to global stability and the current world order. Their 1,800-miles border is the only placed in the world where two hostile, nuclear-armed states face off every day. And the risk of nuclear conflict has only continued to rise in past few years, to the point that I am now a very real possibility.

India and Pakistan have fought three wars since they gained independence in 1947, machining one that ended in 1971 with Pakistan losing approximately half its territory (present-day Bangladesh). Today, the disputed line of control that divides the disputed Kashmir region remains a particularly tensed flashpoint.

Both the Kargil crisis of 1999 and the 2001 attacks on the Indian Parliament by Pakistan supported militants brought both nations once again to the brink of war. Yet, unlike earlier major wars, these two crises occurred after both India and Pakistan became nuclear-armed states. Quick and forceful diplomatic intervention played a pivotal role in preventing a larger conflict from erupting during each crisis.

These stakes are even higher, and more dangerous, today. Since 2004, India has been developing a new military doctrine called Cold Start, a limited war option designed largely to deter Islamabad from sponsoring irregular attacks against New Delhi. It involves a rapid conventional retaliation after such attacks, launching a number of quick armoured assaults into Pakistan and rapidly securing limited objectives that hypothetically remain below Pakistan's nuclear threshold. In accordance with this doctrine, the Indian military is meant to mobilize half and million troops in less than 72 hours.

The problem is, unlike its neighbours India and China, Pakistan has not renounced the first nuclear weapons. Instead, Pakistani leaders have stated that they may have to use both to counter Cold Start and help to offset India's growing conventional superiority, Pakistan has accelerated its nuclear weapons programme-and begun to field short-range, low yield tactical nuclear weapons. Some observers now judge this nuclear programme to be the fastest growing in the world. Pakistan will reportedly have enough fissile material by 2020 to build more than 200 nuclear warheads more than the UK plans to have by that time.

It is not simply the pace of the build-up that should cause concern. Pakistan's arsenal of short range tactical nuclear weapons is a game changer in other ways. Pakistan clearly intends to use these weapons on its own soil if necessary to counter Cold Start's plan for sudden Indian armoured thrusts into Pakistan. The introduction of these weapons has altered

*Research Scholar, Department of Political Science, University of Allahabad

the long-standing geometry between the two nuclear powers and increases the risk of escalation to a nuclear exchange in crisis.

Beyond the risk of runaway nuclear escalation, Pakistans growing tactical nuclear weapons programme also brings a wide array of other destabilising characteristics to this already unstable mis: the necessity to position these short-range weapons close to the border with India, making them more vulnerable to interdiction; the need to move and disperse these weapons during a crisis, thereby signaling a nuclear threat; and the prospects to local commanders being given decentralized control or the weapons-a "use it or lose it" danger if facing and India armoured offensive. Furthermore, large numbers of small nuclear weapons scattered at deferent location increase the risk that some will fall in the hands of violent extremists. A terrorist group gaining control of nuclear weapon remains one of the most frightening potential group gaining control of nuclear weapons remains one of the most frightening potential spin-offs of the current arms race.

The nuclearisation of South Asia has become an integral part of the security discourse in the region. The Pokhran nuclear tests of India in May 1998, followed by Pakistan's Chagai tests, sect the stage for a renewed nuclear debate in South Asia. Threat perceptions continued to be reinforced by these nuclear tests, with both Pakistan and India showing no restraint, which could help foster peace and harmony in the region. This chapter seeks to examine the Indian perceptions of Pakistan's nuclear programme focusing particularly on that of the government, political parties and the strategic community, and also incorporating their approach to nuclear weapons in general. Emphasis has been placed on the nuclear tests of 1998, the period May-July having been selected for content analyses of Indian newspapers to be taken up in the succeeding chapters. An introductory overview of the nuclear policies of both India and Pakistan has also been provided, focusing particularly on the latter, taking into consideration the thrust of the study.

Indian government, over the years, strongly advocated nuclear disarmament, while at the same time justifying the country's right to keep the nuclear option open. Even during the Janata rule (1977-79), the then Minister for External Affairs, A.B. Vajapayee stated in the United Nations that India was not only against the proliferation of nuclear weapons but "against nuclear weapons themselves"[1] and that the "concept of a security system of which nuclear weapons represent the most dangerous and totally unacceptable component must be abandoned."[2]

A brief overview of India's nuclear programme as distinct from its policy would be required for a better understanding of the ease with which it crossed the nuclear Rubicon in 1998.[3] M.V. Ramana argues that there are several instances when material activities suggest a completely different narrative from the statements of political leaders at the domestic and international levels.[4] According to George Perkovich, during the period from 1947, Indian scientists developed the technical means to produce nuclear weapons within a policy that had moral doubts and competing priorities.[5] The first Indian nuclear reactor, apsra, went critical in 1956 and from the mid 1960s India undertook the construction of nuclear power stations and large research facilities, and the establishment of independent unsafeguarded sources of weapons-grade plutonium.[6]

Homi J. Bhabha sources used both his political power base and his personal relationship with Nehru to advance the nuclear power programme.[7]

The three important texts of official policy explanation for Pokhran-II are the Prime Minister's letter of 11th May 1998 to the United States President Bill Clintoon,[8] his suo motu statement in Parliament of 27th may 1998, together with the paper entitled "Evolution of India's Nuclear Policy"[9] that goes with it, and his "Statement Re: Bilateral Talks With United states," made in the Rajya Sabha on 15th December 1998.[10]

Pakistan announced plans to add up to twenty-four reactors by the year 2000 and acquire proficiency in all facets of the nuclear fuel cycle. It also signed a previously negotiated

agreement with a French firm to construct a plutonium-reprocessing plant at Chashma. The key figure in organizing this venture was Abdul Qadir Khan, a metallurgist by Pakistan bomb. However the new determination by the United States and others to block transfer of nuclear technology to non-parties to the NPT had its impact on Pakistan. Its plans to use French nuclear cooperation to provide technological infrastructure and training that could them augment production and operation of unsafeguarded plutonium production and separation plants for weapons purposes were circumvented.[11]

Deterrence is not a satisfactory doctrine and have always a risk of failing But deterrence in Indo-Pakistan context is not as unsatisfactory as it is between the two superpowers. Here Even the failure of deterrence will cause vast but still a finite damage considering the kind of arsenals the two sides are likely to have for a long time to come with the advantage in arsenal being in favour of India of India were to exercise its option. It will not mean nuclear winter, rapid escalation involving use of hundreds of warheads and loss of control over the war. It will be analogous to the situation between the superpowers in the early fifties. That situation will still be preferable to one of India remaining non-nuclear facing the threat of humiliation, defeat and disintegration this is a case where deterrence with all its imperfections and risks is likely to work.[12]

Recently PathanKot & Uri attacks shown the Threat of nuclear war between two nations in concerned region but fortunately it could not happen due to collective security phenomenon and due to known dangerous result might have faced the humanity. So it is nuclear that Arms roll and weaponisation mounts the tension and which leads the nuclear war threat in the region.

References :

1. India, Ministry of External Affairs, Speech of External Affairs Minister A.B. Vajpayee on 4 October 1977 at the 32th Session, 18th Plenary Meeting of the United Nation General Assembly, New York, www.meadev.nic.in.
2. India, Ministry of External Affairs, Speech of External Affairs Minister A.B. Vajpayee on 10 October 1978 at the 33th Session, 29th Plenary Meeting of the United Nation General Assembly, New York, www.meadev.nic.in.
3. Praful Bidwai and Achin Vanaik, n.1, p. 209
4. M.V. Ramana, "South Asian Mode of Weaponisation," Economic and Political Weekly, Vol. 25, No. 11, 11-17 march, 2000, p. 897
5. George Perkovich, India's Nuclear Bomb: The Impact on Global Proliferation, New Delhi, Oxford University Press, 2000, P. 4 for further details see pp. 13-189
6. See India, Department of Atomic Energy, 10 Years of Atomic Energy in India: 1954-1964 Bobay, 1967, also see India, Department of Atomic Energy, Two Decades of the Atom in India," Nuclear India, Vol. 6 No. 12, August 1968, pp. 4-8
7. See Itty Abraham, N.6; Dhirendra Sharma India's Nuclear Estate New Delhi: Lancerers, 1983
8. Prime Minister Vajpayee's letter to President Clinton after the nuclear tests in may 1998, which was leaked to the press states: "I have been deeply concerned at the deteriorating security environment, specially the nuclear environment, feaced by India for some years past. We have an overt nuclear weapon state on our borders, a state which committed armed aggression against India in 1962. Although our relations with that country have improved in the last decade or so, an atmosphere of distrust persists mainly due to the unresolved border problem. To add to the distrust that country has materially helped another neighbor of ours to become a covert nuclear weapons state. At the hands of this bitter neighbor we have suffered three aggressions in the last 50 years. And for the last 10 years we have been the victim of unremitting terrorism and militancy sponsored by it in several parts of the country, specially Punjab and Jammu & Kashmir." See "Text of Vajpayee's letter to Clinton," The Hindu, 14 May 1998.
9. Suo Moto Statement by Prime Minister Atal Bihari Vajapayee in Parliament, 27 May 1998, Foreign Affairs Record, n. 33, pp. 40-42.
10. India, Ministry of External Affairs, Prime Minister's Statement in Parliament, 15 December 1998, www.meadev.nic.in.
11. George Perkovich, n. 24, p. 186
12. K. Subrahmanyam, n. 197, p. 12.

***

Effectiveness of Guidance and Counseling for Coping with Stress

Dr. Priya Jaiswal*

Introduction : The role of parents and teachers in interpreting life and the world in general to the child becomes increasingly important in these days of rapid social changes. The emotional and psychological status of many learners have been vastly affected by various aspects including family breakdown, divorces, single parenting, substance abuse, peer and parental pressure, domestic poverty, teenage issues, physical disabilities, domestic violence and early pregnancy, increased competitiveness in school etc. such conditions have caused many students feeling emotionally and psychologically disturbed. The consequences of this distress are dire and far-reaching. They include dropping out of school, students behaving in ways that are deemed inappropriate, failure in exams and even suicide in extreme cases and a variety of complicated problems lead to conflicts, frustration, unhealthy rivalry etc. that result in value crisis and serious maladjustment among students. This is supported by a body of evidence that demonstrate increasing levels of mental, emotional and physiological distress among students (kukali & kabuka, 2009; ndetei, 2002, standard digital news, 2014). The students are not mature enough to critically evaluate baffling situations are continuously faced with. They need somebody to help in the solution of problems and thus avoid tensions and conflicts. The need for guidance and counseling in modern times has increased because of the multiplicity of problems that the individuals have to face in the various domains of life. In the context of the changing socio-cultural scenario the repertoire of guidance and counseling has been increasing at an unexpected speed. In these circumstances, it is essential to help and guide the students to worthwhile channels through the introduction of guidance and counseling services on a universal scale in our educational institutions. Guidance and counseling services are essential elements in discipline management of people in all societies even the most primitive societies grew out of the necessity of guiding individuals' behavior patterns in the interests of the group. The guidance and counseling of students is an integral component of the educational mission of the school. Guidance and counseling services and programs promote the personal/social, educational, and career development of all students.

Concept of Guidance and Counseling- In the guidance and counseling literature, these two words generally take on different meanings. The former refers to needy students' whole-personality development, while the latter is frequently targeted at helping students with problems. In other words, guidance work is preventive and developmental in nature whereas counseling is more supportive, remedial work. The terms "guidance and counseling" have been perceived in different ways. Kinra (2008) defined them as an interaction process co-joining the counselee, who is vulnerable and who needs assistance and the counselor who is trained and educated to give this assistance, the goal being to help the counselee learn to deal more effectively with himself and the reality of his environment. Guidance is a process by which individual solves his problems by his own efforts, and focuses on the attention of the welfare of the individual whereas, Counseling is a scientific process of assistance extended by an expert in an individual situation to a needy person. It involves relationship between two persons in which one of them (counselor) attempts to assist the other (counselee or client) is so organizing himself as to

*Ex-Research scholar, Faculty of Education(k), BHU

attain a particular form of happiness, adjusting to a life situation or in short self actualization. It is a relationship of natural respect between counselor and counselee.

Need of Guidance and Counseling for students- Various strategies have been discussed and enacted by the education sector in an attempt to address issues that affect students. On top of these strategies featured the strengthening and streamlining guidance and counseling services in schools as a potent panacea for the problems being faced by students (Tan and Goh, 2002). School counselors provide counseling programs in three critical areas: academic, personal/social, and career. Their services and programs help students resolve emotional, social or behavioral problems and help them develop a clearer focus or sense of direction. Effective counseling programs are important to the school climate and a crucial element in improving student achievement. School counselors, like all educational professionals, are increasingly being required to demonstrate evidence of effective practice. Moser (1963) says, "the purpose of providing counseling services in schools can be seen against the fact that most students at some time or another become concerned with uncertainties in their lives. Today's student is most likely to face his or her development courageously, sort out the ideals and values that are valid and implement them with consistent responsible actions. From this observation therefore, Guidance and Counseling in students must be provided adequately to all students with special regard to their unique abilities, needs and interests. According to Apondi (2005), Guidance and Counseling services are designed to help individuals with psychological problems to voluntarily change their behavior and to enable them make wise future decisions, clarify their ideas, perceptions, attitudes and goals. Republic of Kenya, (1977) explains that: "a student may not work hard to realize his potential because he or she has a low concept about himself or herself, lacks personal security or may be experiencing excessive pressure to succeed hence causing anxiety and tension that hinder his or her learning." Therefore any problem that is an obstacle to a student is an important one and where possible should be dealt with through Guidance and Counseling. Students' unrests and other forms of indiscipline result from such obstacles when nobody attempts to address them.

Guidance and Counseling for coping with stress- The literature has revealed that guidance and counseling is very effective for coping with stress. Stress among students is a common phenomenon and is part and parcel of their life. Many social scientists have researched the topic to assess various reasons, effects of stress among students in a given situation. Stress has been described by Akinade (2007) as any stimulus that either raises your excitement or anxiety level beyond what you regard as above your usual or personal capacities. It is more so, if it is prolonged. As far as Lazarus (1991) is concerned, stress is a very broad class of problems which tax the system. Mullins (1991) identified major stressors related to career development to include lack of job security, career mismatch, over or under promotion which often lead to disappointment and frustration. Ling (1991) carried out an investigation of occupation stress among Hong Kong Aided secondary school teachers and one of his findings revealed that the teaching profession in Hong Kong is highly stressful and this in turn negatively affected their teaching effectiveness. In Nigeria Peretomode (2002) carried out an investigation of job related stress and work performance among academic administrators in Tertiary institutions in Delta State and found out that there was no significant difference in the work performance of the administrators when their years of teaching experience and stress levels were considered. There was no significant difference in the work performance of academic administrators with regard to their institution and stress levels. School counselors are an important part of the educational leadership team and provide valuable assistance to students. The counseling program in the school promotes healthy child development and enhances student achievement. Various studies revealed that school counselor helps all students in the areas of academic achievement, personal/social development and career development, ensuring today's

students become the productive, well-adjusted adults of tomorrow. Carrell, & Carrell, (2006) found in an evidence based program showed that lower student to counselor ratios decrease both the recurrence of student disciplinary problems and the number of students involved in a disciplinary incident. Sink & Stroh (2003) found that elementary guidance activities have a positive influence on elementary students' academic achievement.Counseling decreases classroom disturbances and absenteeism, persistent or non-completion of work, fighting in the school compound, deviance of school rules, refusal to carry out punishment, smoking, late coming, laziness and drug abuse. Counseling services support teachers in the classroom and enable teachers to provide quality instruction designed to assist students in achieving high standards. Students in schools that provide counseling services indicated that their classes were less likely to be interrupted by other students, and that their peers behaved better in school (Lapan, & Gysbers 1997).

Counselor should keep in mind that the goal is not to eliminate all stresses but to help students to develop a variety of skills to cope with the negative aspects of stress and to assist and recommend them a number of strategies: (1) improving study habits, (2) managing time wisely, (3) learning positive self-talk, (4) learning how to relax, and (5) joining a student support group.

Conclusions- A counselor is always there to offer advice to students at crucial turning points in their lives. Depending on the level of education of the student, a school counselor's role may vary. Whether these counselors work in elementary, middle, or high schools, they are there for students who are going through a difficult time or just need advice and support. Counselors are responsible for working with students who need help managing their behavior, keeping up academically, or planning for the future. Counselors also work with administrators, teachers, and parents to develop a comfortable, healthy school environment free of bullying or illegal activities. A few words from a helpful counselor can profoundly impact a student's life by improving their outlook on school, family, and the future. They are in the frontline of dealing with issues such as suicide ideation, self-harm, eating disorders, bullying and depression along with the other half of their brief to advise on choosing careers, subject choices and college applications. The area of school counseling in India is here to stay. Though still in its infancy, it has great potential for growth. It can cater to the emerging needs of the student community with globalization, drastic changes in family structures, changing social values leading to immense stress and strain on the students. The specialized skills of the school counselor need to be tapped to prevent, and treat increasing psychosocial problems of the students and to provide a holistic development to the students.

References-

1. Akinade, E.A. (2007). Stress: Understanding and Managing it, Lagos Nigeria, Pumarko Publishers Limited.
2. Apondi, C. (2005). Factors leading to students' unrest in secondary schools and the need for guidance and counseling in kamukunji constituency, Nairobi. Unpublished M.Ed Research Project, Kenyatta University, Kenya.
3. Ayieko, J.S. (1988). Solving Discipline Problems in Kenyan Secondary schools Master of Education. Thesis. Unpublished University of Nottingham.
4. Carrell, S. E. & Carrell, S. A. (2006). Do Lower Student to Counselor Ratios Reduce School Disciplinary Problems? Contributions to Economic Analysis & Policy 5(1) Article 11.
5. Kinra, A.K. (2008). Guidance and counseling. Pearson education India.
6. Kukali, A. N., & kabuka, E. K. (2009). Fire disasters in Secondary boarding schools in kenya. Institutional fires, 41.
7. Lapan, R.T., Gysbers, N.C., & Sun, Y. (1997).The impact of more fully implemented guidance programs on the school experiences of high school students: A statewide evaluation study. Journal of Counseling & Development, 75, 292-302;
8. Lazarus, R.S. (1991). Psychological Stress and coping process, the personnel and Guidance Vol. 62, 9.

9. Ling, L.M. (1991). "A Study of Occupational stress among Hong Kong Aided Secondary School Teachers" Unpublished M.Ed. Thesis, University of Hong Kong.
10. Moser, L. (1963). Counseling and Guidance and exploration. Eaglewood cliffs: Prentice- Hall Inc.
11. Muchiri, P.W. (1988). Participatory Approaches Used by Headteachers to Enhance Discipline Among Secondary School Students In Nairobi Province. Master of Education, Thesis.Unpublished. University of Nairobi.
12. Mullins, L.J. (1991). Management and Organizational Behaviour, London: Potman Publishers.
13. Ndetei, d. M. (2002). The kyanguli secondary school fire Tragedy. Unpublished ma thesis. University of Nairobi.
14. Peretomode, O. (2002). An examination of job related stress and work performance among academic administrators in Tertiary Institutions in Delta State unpublished Ph.D. Thesis Delta State University, Abraka, Nigeria.
15. Republic of Kenya (1964). Education Commission Report. Chairman: Ominde, Government Printers, Nairobi.
16. Sink, C.A. & Stroh, H.R. (2003). Raising achievement test scores of early elementary school students through comprehensive school counseling programs. Professional School counseling , 6(5) , 350-364;
17. Standard digital news. (2014, may). Form three student Commits suicide after quarrel with mother. Retrieved june 10,2015, from Http://www.standardmedia.co.ke/entertainment/thenairobian/ar Ticle/ 2000119938/form-three-student-commits-suicide-afterquarrel- With-mother
18. Tan, A. G. & Goh, M. (2002). Psychology in Singapore: Issues of an Emerging Discipline. Singapore: McGraw-Hill.

***

A study of the hazards of the support systemrelated to the successful & unsuccessful rural micro entrepreneurs (with special reference to Jashpur district of Chhattisgarh state)

Abhinav Mishra*

INTRODUCTION: The term "rural entrepreneurship" has wide meaning and connotation. As per Sangram Keshari (2006)[1] the term rural entrepreneurship refers to the self-employment programme meant for rural people.

Chhattisgarh Government's Industrial Policy 2014-19 has defined Micro & Small Scale Enterprises as "such enterprise which comes under the definition of Micro & Small Enterprise issued by Government of India from time to time under Micro, Small and Medium Enterprise Development Act, 2006 of Government of India"[2].

District Jashpur, which is situated at North Chhattisgarh, have total number of 2031 registered industrial units with 2.64 estimated average number of daily workers and total6289 number of employed in micro &small-scale industries. The district has total 461 mineral based units with investment of 702.54 lakhs and providing employment to 2040 persons. (Source: MSME, Govt of India)3. There are certain hazards associated with the support system, which are intimately related to the rural micro enterprises of the district.

OBJECTIVE OF THE STUDY: The study identifies the hazards of the support system related to the rural micro enterprises of Jashpur District.

RESEARCH DESIGN AND METHODOLOGY: Area of study: The study was conducted amongst the mineral based 'Stone Crushing' and 'Clay-Brick making' micro-scale units of Jashpur District of Chhattisgarh State.

Sample Size: The study was based on stratified random sampling design. 60 micro-scale minerals based 'Stone Crushing' and 'Clay-Brick making' units were first categorized into two groups of healthy units (successful entrepreneurs) and sick units (Unsuccessful entrepreneurs). 30 entrepreneurs were selected from each group of healthy and sick units making it a total of 60 entrepreneurs as the sample. Selection of healthy and sick micro-scale units were based primarily on the Rating by the District Mining Department (Govt of Chhattisgarh) to Quarry Leases (minor mineral) as "active"/ "Kaaryasheel" & "Inactive"/ "Shithil". It is confirmed that whether the units are successfully running or not.

Research Instrument and Method: Study was conducted on respondents through the well-structured questionnairehaving both open-ended and closed questions. Further, only simple average and percentage have been used in this study.

Analysis of the Data: The data collected through questionnaire was coded.

RESULTS &DISCUSSION: The study identified the basic problematic areas generally faced by the rural micro enterprises of Jashpur district. The problematic areas were untimely availability of raw material, lack of marketing facilities, paucity of funds, labour problems, lack of technical knowledge, Indifference from Govt machinery, erratic power failure etc.

*Research Scholar, Department of Management, Kalinga University, Naya Raipur (Chhattisgarh) India

[1] Material Resource Problem: 85 percent rural micro entrepreneurs of unsuccessful units faced difficulty in the availability of resources, while 65 percent of successful entrepreneurs faced the problem.

Table: 1

Percentage distribution of the types of the material resource problem faced across the two types of rural micro units

Response	Successful Units	Unsuccessful Units
Untimely availability of raw material	38	82
Fluctuations and variation in the prices of Raw Material	58	70
Lack of Funds/ Finance for the procurement of raw material	15	94

Source: Our Field Survey 2016-17

The Table 1 revealed that the rural micro units generally faced three types of problems regarding the availability of raw material for their production. Successful (38 percent) and unsuccessful and (82 percent) rural micro units faced the problem of non-availability of raw material at times.

In order to see how they could solve those problems, the rural micro entrepreneurs were asked what measures they adopted for tackling the Raw material problems. The responses are being displayed in the following Table 2.

Table: 2

Percentage Distribution of the solution of the material resource problems faced by successful and unsuccessful rural micro enterprises

S.No.	Response Categories	Successful Units	Unsuccessful Units
1	Try to Procure the raw materials from the open market	95	55
2	Try to make arrangement of Funds	85	78
3	Production is reduced/lowered	34	65
4	Root out the flaws in the existing management and thus improving the management of the unit	65	15

cro

units (95 percent) managed to procure the raw materials from the open market, while only 55 percent entrepreneurs of unsuccessful rural micro units did so. A large number of both the entrepreneurs (successful 85 percent, unsuccessful 78 percent) arranged money through different sources and tried to meet the problem as far as possible. The table also revealed that the problem inversely affected the production. While 65 percent of entrepreneurs of unsuccessful units reported that they coped with this problem by putting their production down, only 34 percent of successful entrepreneurs opted to this solution. Furthermore, a large percentage (65 percent) of entrepreneurs of successful rural micro units tried to solve the problems by improving the management, only 15 percent of the entrepreneurs of unsuccessful units made such efforts.

The entrepreneurs were also asked whether they could get the raw material in the local market or not. In response to this question in "yes" or "no", entrepreneurs did not differ across the two types of successful and unsuccessful units. 85 percent of successful and 83 percent of the unsuccessful rural micro enterprises reported that the raw material were available locally.

Most of the successful (95 percent) and unsuccessful (97 percent) rural micro entrepreneurs responded that they did not get any facilities and aid by the Govt for availability of the raw materials.

[2] Power Problem faced by the rural micro enterprises: About 80 percent of the successful and 90 percent of the unsuccessful rural micro entrepreneurs complained that they faced power problems. On being asked what type of problem did they face, they spelt out in clear term that the power supply was irregular and it was cut ultimately without prior notice. Due to this irregular and ill-timed power cut, production of the units is hampered and significant man-days were lost. They also disclosed that they did not have any substantial alternative arrangements to get rid of this problem and they could do nothing but to face the situation helplessly.

[3] Marketing Problems faced by the rural micro entrepreneurs: The rural micro entrepreneurs were asked whether they faced problems regarding marketing of their products. Only 35 percent of the successful rural micro entrepreneurs faced the marketing problems whereas 88 percent of the unsuccessful entrepreneurs did tell that they faced such problems for their products.

Table: 3

Percentage distribution of responses of the entrepreneurs on types of marketing problems of their products

S.No.	Response Categories	Successful Units	Unsuccessful Units
1	Lack of orders for their products	45	93
2	Huge competition in the Market	55	84
3	Fluctuation and Variation in Prices	65	76
4	Loss of Production	25	48
5	Lack of Finance	32	87

Source: Our Field Survey 2016-17

Table 3 revealed that a large percentage of entrepreneurs of unsuccessful rural micro units complained the lack of orders for their products (93 percent), heavy competition in the market (84 percent), price variation (76 percent) and lack of finance (87 percent) as problems they were facing in marketing the products, while significantly lesser percentage of entrepreneurs of successful units faced these problems.The respondents were also asked as to how did they tackle such problems. The responses were quiet revealing which have been displayed in Table 4.

Table: 4

Percentage distribution of responses of the entrepreneurs on measures they adopted to tackle the marketing problems

S.No.	Response Categories	Successful Units	Unsuccessful Units
1	Lower down the production	36	88
2	Personal effort to improve the quality of the products	45	72
3	Reduction in the selling price of the products & thus competing with other units	38	89

Source: Our Field Survey 2016-17

The Table 4 revealed that majority of unsuccessful rural micro entrepreneurs (88 percent) lowered down their production and reduced the selling price of the product (89 percent) to tackle the marketing problems. And, 72 percent of the unsuccessful entrepreneurs opted for 'putting their personal effort to improve the quality of their product' for tackling the marketing

problems. Significantly lesser percentage of entrepreneurs of successful units resorted to these measures.

[4] General Problems of rural micro enterprises: There are certain problematic areas other than power, marketing and resource availability areas.

Table: 5

Percentage distribution of the responses of successful and unsuccessful rural micro entrepreneurs on the general problem areas

S.No.	Problem Areas	Successful units	Unsuccessful Units
1	Competition from Higher Quality Product	37	48
2	Lack of Technical Know-how	15	25
3	Machinery Shortage	25	52
4	Difficulty in getting Bank Loan/ Credit Facility	68	72
5	Lack of Transport Facility	64	69
6	Low Selling Price & Low Profit Margin	32	76
7	Labour Problems	20	53
8	Taxation & High rate of Interest	66	62
9	Indifference of Govt Machinery	84	86
10	Lack of Knowledge regarding agencies & Institutions	48	52
11	Undue Interference of external agencies like Political/Local	83	87
12	Capital Investment Problem	24	81
13	Licensing	25	28
14	Registration of Unit	32	20

Source: Our Field Survey 2016-17

[5] Attitude of Financing and controlling institutions towards the rural micro enterprises- The rural micro enterprises have generally been established with the support of money lending and financial institutions like Govt, Banks, State Industrial Development Corporation and many such institutions. Entrepreneurs were asked to name the sources of finance for establishing their units. All of them revealed that they procured necessary funds from either Banks or Govt/Semi-Govt agencies. These financing institutions used to exert some direct or indirect control over those rural micro enterprises. The entrepreneurs were asked as to how these institutions behaved and what were general attitude towards their units. The responses were reported under four heads, which have been given in Table-

Table: 6

Attitude of Financing and controlling institutions towards the rural micro enterprises-

S.No	Attitude	Successful Units	Unsuccessful Units
1	Helpful	0	0
2	Indifferent	65	62
3	Harassing	26	28
4	Interfering	8	15

Source: Our Field Survey 2016-17

[6] Some suggestions from the rural micro entrepreneurs- In the light of the problems faced by the rural micro enterprises, the entrepreneurs were approached to suggest some measures for effective improvements.

Table: 7
Percentage distribution of respondents on suggestions for effective improvement

S.No.	Response Categories	Successful Units	Unsuccessful Units
1	Technical education or Training	86	48
2	New scientific methods to reduce the cost of production	84	51
3	Cheap credit	65	36
4	Extension of Market	82	85
5	Organization of Trade Fairs & Exhibitions	98	35
6	Favourable Governmental Policies and Taxation	85	69

Source: Our Field Survey 2016-17

The above table 7 revealed that the successful entrepreneurs were more enthusiastic in giving suggestions for improvement of pitiable condition of the rural micro enterprises.

SUMMARY & CONCLUSION : Unsuccessful rural micro units of Jashpur District of Chhattisgarh suffered from untimely availability of raw material or non- availability of it, lack of marketing facilities and paucity of funds, but the successful units did not suffer on these counts. More or less, both the types of entrepreneurs, successful & unsuccessful rural micro entrepreneurs, complained that they faced power problems and 'indifferent attitude' of Financing and controlling institutions towards them. Major finding of the present study is that, the unsuccessful rural micro enterprises mainly suffered from financial constraints due to which they had to face the raw material procurement problems. Another revelation is that the entrepreneurs of the successful units were more conscious of their management pattern and put extra effort in getting the things set right through properly enhancing their managerial performance and uprooting various undesirable flaws and loop-holes of their management. This might have helped in running their units in good health. The unsuccessful rural micro entrepreneurs lacked such enthusiasm and self-evaluation of their managerial performance. It was of great concern that the most of entrepreneurs of both the successful and unsuccessful rural micro units disclosed that no facility in any form was being provided by the Govt regarding the problems of procurement of raw materials. There is a feeling of acute dissatisfaction on the part of both the types of rural micro entrepreneurs, for the measures adopted by the Govt relating to development and progress of rural micro enterprises. Furthermore, successful entrepreneurs out-numbered the entrepreneurs of unsuccessful units, while responding to each of the measures for the improvement of the situations.

References :

1. Mohanty Sangram Keshari (2006), " Fundamentals of Entrepreneurship", Prentice Hall of India, New Delhi
2. https://industries.cg.gov.in/SIPB/pdf/Industrial_Policy2014-19_English.pdf
3. http://dcmsme.gov.in/dips/2016-17/Jashpur.pdf

***

Understanding the Eastward Shift of Post Harappan Settlements from Indus Valley to the Ganga Vally

Shail Bala Mishra*

Here the ideas of different scholars on the issue of increase in the number of settlements in the eastern side of Sutlej, which happened after the decline of the Harappan tradition will be discussed. After the decline of Harappan tradition archaeological data has shown that the number of settlements also increased in these regions of eastern part of Sutlej. This was also an issue which has been discussed in far greater degree by the scholars.

J.F. Jarrige points out the absence of sizable permanent settlements in Indus and Baluchistan plains during 2nd millennium B. C. and in contrast to this he finds that there are so many sites in the Indian Punjab, Rajasthan, Haryana and Gujarat. He finds that this increase in settlement had two possible causes first could be the population increase and secondly it was due to the migration of Indus people. And this migration may have happened due to natural disasters or fleeting invaders. He presumes that after coming under rural conditions the Indus people gave up their urban 'civilization' elements[1].

Kenoyer found that the reason of the eastward shift of the settlements was due to extensive floods combined with shifting rivers, which badly affected the agricultural foundation and economic structure of the Indus cities. People abandoned the settlements of dry bed of ancient Saraswati River and this caused the decline of long distance trade to the south. These refugees were forced to develop new subsistence strategies or to move stable agricultural regions[2]. He understands the change of focus of settlements from the Indus to Gangatic plain through core periphery models of political development. According to him, it was not possible that a new social hierarchy based on different belief systems, ritual practices and language developed within the Indus valley because the towns and cities of the localization era still existed there. So the peripheral regions of Ganga, Yamuna and eventually middle to lower Ganga were the perfect regions for the establishment of a new religion's elite and new urban processes Kenoyer. He believes that the communities which were using Painted Grey Ware pottery in Gangetic region were associated with the Indo-Aryan communities with whom he associates the later Vedic texts and the *Mahabharata* epic (Ibid).

Allchin and Allchin find the reason behind the growing number of settlements during this period (what they call it 'late post urban' phase) a result of substantial population increase during these centuries[3]. They also talk about the eastward shift of settlements and the increase in the number of settlements with the number of examples but they do not present any concrete view as why these changes were taking place. They give the example of B.B. Lal's survey in which more than 700 P.G.W. sites in Ganga plains have been reported. They found that there was a great increase in the number of settlements at this time (Ibid). They give the example of shifting the settlement towards *Sarasvati* and neighboring valleys during post urban period and example of settlement survey done by Makkhan Lal which also showed that there was a striking increase in the number of sites in Ganga valley (Kanpur district) in 'Post Urban' period. Makkhan Lal who has done the survey of poppulation distribution during the second and first millennia B.C. in the area of Indo Gangatic devide and upper Ganga plain has the view that the fluctuation in the drainage systems resulted in dried up Saraswati and Ghagghar rivers which forced the population to move in the ecologically

*Research Scholar, istory Discipline, SOSS, IGNOU, New Delhi, 110068

better areas i.e. The upper part of the Indo-Gangetic devide and upper Gangatic plain[4].

They used the result of this survey only to show that there was increase in settlements. But they do not try to know the reasons behind this increase or what kind of indications it gives. Just giving examples, doing excavations, surface surveys, recording of archaeological material, and collecting data is the main aim of these studies. We can find several examples, surveys and explorations but the effort to provide a whole picture of that period is absent. And if it is there, it's in the form of concluding remarks like increase in the number of population, migration or the shift from the Indus valley region. Most of the conclusions about the proliferation and the shift of the sites of western Uttar Pradesh and Hariyana have been inferred on the basis of several explorations which have been conducted by different archaeologists. But inferring conclusion on the basis of exploration cannot be very authentic. And for the authentic and clearer solutions and facts excavations are very much important. The main work of the explorations is to study of various aspects of settlement patterns and systems like size and distribution of settlement, size and spacing of settlements, nearest-neighbor analysis, and development of site hierarchies, network system, population and site catchment areas[5]. But there are some limitations of explorations and conclusion drawn on the basis of the obtained data by them. The main limitations of such explorations are: The data of surface collection shows as if all the settlements in a particular area were occupied contemporaneously. And an insufficient grip on the chronological control on the sites makes it impossible to distinguish the periods beyond different occupational levels[6]. These limitations are indeed very common and most of the time beyond the control of the archaeologists.

Possehl mentions that Sindh, Kulli and Cholistan were largely abandoned by settled farmers and points the surprising increase in the number of settlements in the Punjab, Haryana, western Uttar Pradesh and northern Rajasthan[7]. In the editorial note of her edited volume Lahiri writes that in the study of decline of Indus civilization, concern should be, to understand the general characteristics of the successor cultures and whether they make departure or devolution from the mature Harappan tradition. Secondly, is there any cultural continuity that followed by the demise of Harappan urban form[8]. She gives the example of area which lies between the Sutlej river and extends to the east of the Yamuna, where 563 sites of late Harappan were known till 1984 (Ibid: 17). She tries to find out the reason behind this settlement expansion and finds out that at least part of settlement and the population growth which occurs in Indo Gangetic divides can be a conquest of abandonment of the large urban agglomeration and the immigration of the groups from areas like Sindh and Cholistan but again she writes that this settlement expansion was due to population growth or has another reason it's difficult to say, because migration was not the only reason for the increase in settlements in her point of view. Possehl mentions that Sindh, Kulli and Cholistan were largely abandoned by settled farmers and points the surprising increase in the number of settlements in the Punjab, Haryana, western Uttar Pradesh and northern Rajasthan[9].

Some scholars offered their views that this increase in settlement was due to pastoral communities. These communities were not settled at one place and due to their movement of one place to another they formed a number of sites, and these sites were temporary and seasonal[10]. In the areas like Gujarat and Maharashtra it has been seen true to an extent, but without detailed explorations and excavations one cannot be able to come at any certain conclusion. It is difficult to determine whether the site was temporarily or permanently occupied. The thickness of deposit is not a very reliable indicator of the duration of the site[11].

On the other hand Chakrabarti has a different view on the question of increase in the settlement in western Uttar Pradesh. On the basis of Hulas (Saharanpur, UP) where archaeologists have found impressive variety of crops i.e., rice, barley, ragi finger millet, field pea, grass pea, kulthi, cotton, caster and some variety of fruits, wild grasses, almond and walnut, Chakrabarti infers that hundreds of late Harappan sites in Indo-Gangetic divide were not temporary settlements. These were the settlements with well developed farming practices and were permanent settlements[12]. But when it comes to giving example he only

cites the site of Hulas and on this basis he concluded that hundreds of settlements were of permanent nature which is surely not enough or sufficient for the sustenance of the argument.

Some of the basic issues related to the settlement shift in eastern part of SutleJ have been discussed here are important and they need to be taken seriously and the future researchers will have to design research strategy in such a way that these aspects are taken into consideration. The focus of research will have to shift from generalization of information found from one place and trying to put a common theme for each site, sufficient number of sites of small size needs to be researched on large scale. Large amount of data from these sites will only help in projecting holistic picture/history of the Post Harappan cultures. There have not been many multi-disciplinary approaches to the Post Harappan archaeology in India. Archaeological research on the Post Harappan culture needs support and active participation of scholars from various other fields including geology, environmental science, zoology, botany, physics, chemistry, anthropology, geography, ethnology, etc. Systematic scientific research in the Saraswati basin is needed. Excavation of few sites in this basin is not enough but systematic survey to record settlement patterns, reconstruction of site typologies and generation of archaeological data needs to be undertaken in a sustained manner. A systematic and scientific study to find out exact causes of the disappearance of the Saraswati and Drishadvati rivers is must, because this is believed one of the reasons for the migration of people from that region to Ganga Valley . There is no sufficient data to know about the exact climatic conditions during the Harappan and Post Harappan times and its impact on the origins and development, and latter migration of the people of the Post Harappan culture. Considering various basic issues related to these eastward increase in settlements, it appears there is no alternative but to undertake multi-disciplinary research strategy in various sites of these areas.

References :

1. Jarrige, J.F. 1983. Continuity and Change in North Kachi Plain in the Early Second Millennium B. C., in *South Asian Archaeology* (J. Schotsmans and M. Taddei eds.) pp. 42-60. Naples, Instituto Universitario Orientals
2. Kenoyer, J.M. 1995. Interaction Systems, Specialized Crafts And Cultural Change: The Indus Valley Tradition and the Indo- Gangatic Tradition of South Asia, in *The Indo-Aryans of Ancient south Asia: Language, Material Culture and Ethnicity*, (George Erdosy Ed.) pp.173. Berlin and New York, Walter de Gruyter.
3. Allchin, B. and Allchin, F. R.1997. *Origins of a Civilization: The Prehistory and Early Archaeology of South Asia*, New Delhi.Viking, p.p.229.
4. Lal Makkhan, 1987-88. Population Distribution and its Movement During the Second and First Millennia B.C. In the Indo- Gangetic Devide and Upper Ganga Plain. *Puratattva* 18: p.p.50.
5. Lal, Makkhan 1984. Summary of Four Seasons of Explorations in Kanpur District, Uttar Pradesh, *Man and Environment* viii :p.p.61.
6. Lal, Makkhan 1984. Summary of Four Seasons of Explorations in Kanpur District, Uttar Pradesh, *Man and Environment* viii :p.p.63.
7. PossehlG.L. , 2002. *The Indus Civilization; a Contemporary Perspective,* AltaMira Press, Walnut Creek, CA, p.p.232
8. Lahiri, N. 2000. *ed. The Decline and Fall of the Indus Civilization*,Delhi, Permanent Black, p.p.3
9. Possehl G.L. 2002. *The Indus Civilization; a Contemporary Perspective,* AltaMira Press, Walnut Creek, CA p.p.232.
10. Bhan, K.K. 1989. Late Harappan Settlements of Western India with Specific Reference to Gujarat, in *Old Problems and New Perspective in Archaeology of South Asia* (J.M. Kenoyer ed.). Wisconsin, Department of Anthropology, pp.219-234.
11. Lal, Makkhan 1984. Summary of Four Seasons of Explorations in Kanpur District, Uttar Pradesh, *Man and Environment* viii :p.p.63.
12. Chakrabarti, D.K. 1995. *Archaeology of Ancient Indian Cities*. New Delhi, Oxford University Press, p.p.131.

***

Institutions, Inequality and Economic Growth

Ravish Kumar Shukla*

Abstract: *We undertake this study to advance the discussion of two way causation of inequality and long-run growth. This study seeks the channel linking the two. This is important because the issue of national development cannot be handled without these two indicators of economic performance. Property rights institutions affect income inequality as well as economic growth. Various studies conclude that private property rights causes economic growth and inequality to increase. We focus on the works attempted to evaluate effect of institutions or property rights on income inequality and economic growth. We reviewed and compared results of various studies.*

Easterly (2002) and others have found that inequality has an exogenous and negative effect on development. Income inequality is an important issue in economics, in the twenty-first century, much of the discussion has suggested that government policies are the source of inequality. Piketty (2014) provided some data to support the claim, as Ricardo did two centuries ago, that growing income inequality is an inherent product of capitalist institutions. This paper investigates the relationship between market institutions and income inequality using two data sets, the WTID data compiled by Piketty and another dataset compiled by the WB. This paper measures income inequality by looking at the income shares of the top 10% of the income distribution. As a measure of capitalist institutions, the Fraser Institute's EFW index has been used, because it quantifies the extent to which a country's institutions direct economic activity through markets. When the WTID dataset is used, the results show that market institutions are positively associated with inequality. However, when the WB dataset is used running the same empirical models, there is no correlation between the two variables. Different dataset produces different result. So the answer to the question about whether market institutions lead to income inequality is ambiguous (Holcombe & Boudreaux, 2016).

Institutions affect inequality, growth and almost all macro economic variables, hence development. After critical examination of recent discourse on the role of institutions in economic development, it is observed that these literatures ignore the influence of economic development on institutional changes, they are also biased simplistic, linear, and pays insufficient attention to the fact that the relationship may differ across time and space. Institutional economists need to pay more attention to the world of reality- both of the historical and the modern (Chang, 2011). Both political and economic rules are important for income inequality. To test it, Easaw & Savoia (2009) in their paper have brought together two hypotheses - 1) economic institutions have a direct impact on income distribution, and 2) the extent to which political power is shared among citizens is important for the functioning of economic institutions; thus it makes their impact different at different stages of democratisation. Both hypotheses are tested by estimating the effect of property rights regimes and political democracy on income inequality on a sample of developing countries by using cross-section and panel data techniques. It is found that property rights significantly increase the level of income inequality in the vast majority of developing countries, especially in low-democracy political environments. It suggests that institutions in these economies tend to serve the interests of a minority i.e. elites. The inequality-increasing effect may be counterbalanced only in systems which are able to develop sufficiently inclusive political institutions. The role of democracy seems to be an 'indirect' one and is

*Research scholar, Department of Economics, B.H.U., Varanasi

channelled only through the property rights system. Our results seem to support the view that, in the last decades, institutional arrangements in most developing countries have worked according to the interests of dominant groups, thereby not granting opportunities to lower classes. Krieger & Meierrieks (2015) summarize that- first, income inequality Granger-causes economic freedom; second, income inequality affects economic freedom negatively and third, and country's political institutions also affect, to some extent, the dynamics of the inequality-freedom nexus. The economic elite uses de facto political power to get policies implemented in favour of their economic interests; usually, such policies discourage competition and innovation and thus are threat to economic freedom. The influence of elites is the strongest when income inequality is high and political institutions are democratic and open to give ample opportunities and incentives for the elite to shape institutions in their favour. Pro-market economic institutions do not cause economic inequality. However, other factors may substantially influence the distribution of income; for example- technological progress, trade and financial globalization, the international division of labour, political instability and the advent of financial crises (e.g., Roine et al., 2009; Jaumotte et al., 2013), which strengthen the economic status of certain societal groups and consequently their de facto political power. In case shocks and long-run trends are in the favour of the elite, there may be a real danger that economic freedom is constrained, which consequently jeopardizes long-run economic growth.

Differences in economic institutions are the main determinants of cross-country differences in income per capita. The differences in institutions across countries primarily reflect the outcome of different collective choices. Different collective choices are result of differences in political institutions and distributions of political power. So underdevelopment can be understood as different countries get stuck in political equilibria that result in poor economic institutions. The problem of development can be solved by obtaining the understanding of instruments which can push a society into a good political equilibrium. Nevertheless, to move from situations of stagnation to rapid growth, countries reform their institutions time to time. It can be agreed on the rapid take-off of economic growth in China after 1978 was a result of policy and institutional reforms. Growth was not result of change in the culture of the Chinese, or removal of some geographical constraint. Rather, growth occurred because the institutional reform resulted in a political equilibrium that gave more power to those who wanted to push through reforms (Acemoglu & Robinson, 2008). Gurvich (2016) finds that the development of the Russian economy is currently hindered by a rigid institutional framework and that growth cannot accelerate without reforming it as part of the political process. Yildirim & Gokalp (2016) analyzed the relationship between institutions and macro-economic performance of 38 developing countries for a period of 12 years (2000-2011) through the use of 23 institutional structure variables. The results of the analysis shows that indicators of institutional structure such as the integrity of the law system, regulations on trade barriers, restriction of foreign investments, the share of the private sector in the banking system and employment-dismissal variables have a positive impact on the macro-economic performance of the developing countries. Whereas, variables such as- judiciary independence, government expenditures, transfers and subsidies, civil freedoms, the black market exchange rate, collective bargaining and military tutelage (political stability) have a negative impact on the macro-economic performances of developing countries. Bluhm and Szirmai (2011) critically reviewed the theories by Engerman and Sokoloff (1997, 2002) and Acemoglu et al. (2001, 2002). They underline the conclusion that institutional arrangements shape long-run economic growth; it is also supported by econometric analyses (Acemoglu et al., 2001, 2002; Rodrik et al., 2004; Easterly, 2007). The political and economic inequality affects growth (a) indirectly via its effects on institutions and (b) directly via its limitations investment in schooling (Easterly, 2007). Engerman and Sokoloff (1997, 2002) themselves present qualitative evidence for a wide range of institutions which is consistent with it. Acemoglu et al. (2007) argue that political inequality matters more than economic inequality in most circumstances. All studied empirical works and models conclude that past institutions still

affect institutions today (Acemoglu et al., 2001, 2002; Rodrik et al., 2004). Further, present day income inequality is, in part, being shaped by the historical development of institutions (Easterly, 2007). The polarization makes large changes in current policies, including those guaranteeing the security of contract and property rights, more likely under a wide range of institutional arrangements. In addition, social polarization may directly undermine the security of rights. These are simple explanations of the phenomena- when inequality is high, it deteriorates property rights security and affects economic growth negatively. The empirical results of this paper prove that polarization causes deterioration in the security of property rights. In addition, its results are different from previous explanations that focus on redistribution as its explanation links polarization and growth (Keefer & Knack, 2002). Stronger property rights are associated with higher levels of economic growth. It may have an unexpected effect on the distribution of income, leading to greater inequality. This is because there are some constraints that hinder lower income people from gaining more from stronger property rights. So, countries strengthening their property rights should tackle these constraints to prevent growing income inequality (Haidar & Velasquez, 2009). Chong & Gradstein (2007) observe that there exists a significant correlation between income inequality and weakness of institutions. Various studies conclude that weak institutions may be the cause of income inequality; for example, the ability to extract rents of the poor is inferior to that of the rich where they are not given the protection by an independent judicial system. It has also been suggested that the rich subvert institutions in their favour as they have stronger political influence. There is double-causality relationship between institutions and inequality. It is strong empirical evidence of the mutually reinforcing mechanism between these variables. Theory approves better institutions may lead to a more equal distribution of income, but findings of this paper explain why countries with full awareness of the need to pursue dramatic institutional reforms have failed to do so.

Interdependence of institutions, income distribution and growth can be explained with following flow chart-

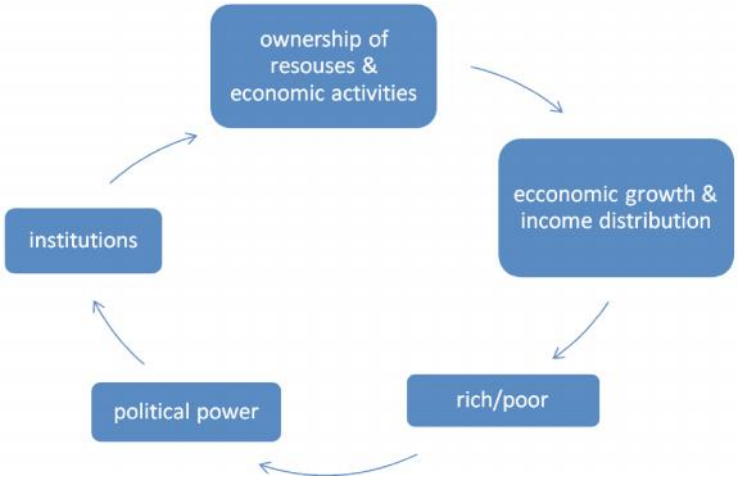

Conclusion: Why inequality has been discussed along with the economic growth and institutions? Because inequality adversely affects development and growth affects suitably. Recently, a *World Development Report* (World Bank, 2005) has explained that inequality hinders development as it prevents a fraction of the society from being part of the economically active population and limits the equality of opportunities. The triangular relationships identified are relevant in the analysis of the inequality-development nexus. Institutions determine the property rights, consequently resource allocation and economic activity which decide the distribution of income. This explanation flags the importance of institutional issues and leads to some interesting policy indications. When designing reforms aimed at raising growth of

GDP, the distributional consequences of institutional change cannot be ignored; it is also conditional on the issues of political rights and its consolidation within the political system. The likely outcome of the reform may be: getting economic institutions right – suitable structure of property rights – could deliver both efficiency and equity.

Reference:

1. Acemoglu, D., M.A. Bautista, P. Querubin, and J.A. Robinson (2007). Economic and political inequality in development: the case of Cundinamarca, Colombia. *NBER Working Paper.*
2. Acemoglu, D., S. Johnson, and J.A. Robinson (2001). The colonial origins of comparative development: An empirical investigation. *American Economic Review*, 91 (5): 1369–1401.
3. Acemoglu, D., S. Johnson, and J.A. Robinson (2002). Reversal of Fortune: Geography and Institutions in the Making of the Modern World Income Distribution. *Quarterly Journal of Economics*, 117 (4): 1231–1294.
4. Acemoglu, Daron & James Robinson (2008). The role of institutions in growth and development. The commission on growth and development, working paper no. 10.
5. Acemoglu, Daron and James A. Robinson (2008). Persistence of Power, Elites, and Institutions. *American Economic Review , Vol.-98:1, pp.267–293*.
6. Bluhm, Richard and Adam Szirmai (2011). Institutions, inequality and growth: A review of theory and evidence on the institutional determinants of growth and inequality. Innocenti woking paper-2011-02
7. Chang, Ha-Joon (2011). Institutions and economic development: Theory, policy and history. Journal of Institutional Economics, Vol.- 7: 4, pp.473–498.
8. Chong, Alberto and Mark Gradstein (2007). Inequality and institutions. The review of economics and statistics, Vol. 89, No. 3, pp. 454-465.
9. Easaw, Joshy and Antonio Savoia (2009). Inequality in developing economies: The role of institutional development. Working paper series, ECINEQ 2009-121
10. Easterly, W. 2007. "Inequality does cause underdevelopment: Insights from a new instrument." *Journal of Development Economics*, 84 (2): 755–776.
11. Engerman, S.L. and K.L. Sokoloff (1997). Factor endowments, institutions, and differential growth paths among new world economies. in S. Haber, ed., *How Latin America Fell Behind*, Stanford, CA: Stanford University Press, pp. 260–296.
12. Engerman, S.L. and K.L. Sokoloff (2002). Factor endowments, inequality, and paths of development among new world economies." *Economia*, 3 (1): 41–88.
13. Gurvich, Evsey (2016). Institutional constraints and economic development. Russian Journal of Economics, Vol.- 2, pp.349–374.
14. Haidar, Jamal Ibrahim & Marcel Estuardo Velasquez(2009). Property Rights and Income Inequality
15. Holcombe, Randall G. and Christopher J. Boudreaux (2016). Market institutions and income inequality. Journal of Institutional Economics, Vol.-12: 2, pp.263–276.
16. Jaumotte, F., Lall, S., Papageorgiou, C. (2013). Rising income inequality: Technology, or trade and financial globalization? IMF Economic Review 61, 271-309.
17. Keefer, Philip & Stephen Knack (2002). Polarization, politics and property rights: Links between inequality and growth. *Public Choice 111:* pp.127–154.
18. Krieger, Tim and Daniel Meierrieks (2015). Political capitalism: The interaction between income inequality, economic freedom and democracy. No. 2015-09, Albert-Ludwigs-Universität Freiburg, Wilhelmstraße 1b, D-79085 Freiburg
19. Piketty, T (2014), *Capital in the Twenty-First Century*, Cambridge: Harvard University Press.
20. Rodrik, D., A. Subramanian, and F. Trebbi (2004). Institutions rule: the primacy of institutions over geography and integration in economic development. *Journal of Economic Growth*, 9 (2): 131–165.
21. Roine, J., Vlachos, J., Waldenström, D. (2009). The long-run determinants of inequality: What can we learn from top income data? Journal of Public Economics 93, 974-988.
22. World Bank (2015). *World development indicators*. Washington, DC: World Bank Group.
23. Yildirim, Aynur & Mehmet Faysal Gokalp (2016). Institutions and Economic Performance: A Review on the Developing Countries. Procedia Economics and Finance Vol.-38, pp. 347 – 359.

***

Louis Dumont's "HOMO HIERARCHICUS" : An Analysis

Dr. Abhay pratap Singh*

The main objective of the paper to explore understanding of hierarchy and application in the frame of reference of Dumont's perspective in the respect of Indian caste system,

Keywords: Caste, Hierarchy, Encompass, Isolation, Separation, Hypersymbolism

Louis Dumont's "HOMO HIERARCHICUS the caste system and its implications" in which Dumont propounded the SINGLE TRUE PRINCIPLE in terms of ENCOMPASSES, ENCOMPASSED, ISOLATION, SEPARATION and BINARY OPPOSITION for the caste. For Dumont: "A hierarchical relation is a relation between larger and smaller, or more precisely between that which encompasses and that which is encompassed".1 With his definition of hierarchy Dumont proposes to shift the focal point of accounts that deal with the caste system2.In place of the isolation and the separation of castes from one another, which we have found so prominent, we shall bring hierarchy to the forefront But the principle of the system has yet to be ascertained. How should one go about it? In this regard, Dumont writes, "It is enough to observe that actual men do not behave: they act with an idea in their heads, perhaps that of conforming to custom". Dumont writes.....the caste system is a state of mind, a state of mind which is expressed by the emergence, in various situation, of groups of various orders generally called "castes" This state of mind provides the orientation towards the whole……..which in the eyes of those who participate in it legitimizes their respective positions…….. . Moreover to adopt a value is to introduce hierarchy, and a certain consensus of value, a certain hierarchy of ideas, things and people, is indispensable to social life.3 It is therefore only via ideology that one can grasp the essence of the castes and come to know the true principal behind the caste system. The "single true principle" is "the opposition of the pure and impure".This opposition underlies the caste hierarchy, which can be translated into the superiority of the pure over the impure. This opposition underlies separation because the pure and the impure must be kept the separate, it also underlies the division of labor because the pure and the impure occupations must likewise be kept separate . This hierarchical principle, Dumont concludes, is responsible for the "linear order of castes from A to Z……" . Caste A and Z must exist empirically, for the "two poles are equally necessary, although unequal".For the sociologist, Dumont writes, the decisive step is accomplished once a quality like impurity is attributed in a permanent manner to certain people. There to a freat extent will be found the clue to Indian complexity 4. This is so because Dumont believes that it "is generally agreed that the opposition is manifested in some macroscopic form in the contrast between the two extreme categories: Brahmans and Untouchables" . The next step is to understand what makes this hierarchy a true hierarchy? A true hierarchy "cannot give place to power as such, without contradicting its own principle"…….. But in concrete, we have seen that power, devalued to the advantage of status at the overall level surreptitiously makes itself the equal of status at the interstitial levels.. And yet it is not the interstitial levels, or the median zone, which is important if one is to appreciate a true hierarchy. Dumont categorically states:"For us……..What happens

*Department Of Sociology, R.S.K.D.P. G. College,Jaunpur,U.P.

at the extreme is essential.".In a true hierarchy "that which encompasses is more important than that which is encompassed."

The caste hierarchy however is not merely a linear order but is "a series of successive dichotomy and inclusions,". For instance, the Shudra is opposed to the block of the first three castes; Vaishyas are opposed to the block the Brahman and Kshatriya, which finally divides into two. In this manner, Dumont demonstrates again the relationship between the encompassing and the encompassed.

The above ,most briefly, are the essential methodological points that Dumont makes in connection with the understanding of what constitutes a pure hierarchy, and why the caste system should also be considered as such..

It is necessary to take into account the contributions of at least Murray Milner5 and Michal Moffat 6.Milner, in a vein reminiscent of Dumont argues, that status cannot be equated with power or wealth.Further as status is inexpansible i.e. if someone goes up then somebody else somebody else must come down,if a lower caste climbs up, the upper caste must come down .As the caste system according to Milner, centralizes ritual status ,the position of the Brahman is virtually unassailable. This conclusion leads Milner to undermine social mobility, and over-value inheritance and ascription .

Milner assumes, as Dumont did before him, that caste system has been devised by Brahmans while the other caste simply has acquiesced to their position in the hierarchy. The fact that a "lower caste may successfully demonstrate a "superior" lifestyle and yet not to be accepted by Brahman and ,conversely, that an "upper" caste may not, and most often ,does not carry intrinsic legitimacy with subordinated castes, does not find the place in Milners analysis..

Dumontian perspective again, but this time very self-consciously, Michael Moffat argues that caste rule are so thoroughly internalized that lower castes replicate the hierarchy at subordinate level as well. Moffat believes that even at the level of the "untouchables" hierarchy is clearly evident. The "higher" member of the scheduled caste dominates the "lower" level breaks down it is because "of an exhausation of material resources of low human unable to pay others and of other human willings to serve them .In other words, caste domination is wrought by material resources and not by spiritual, ideological and ritual compliance. If it were the letter than the caste system is primarily ideology, and acceptance of it purely voluntary. This is as Dumont argues consistently in Homo Hierarchicus. Dumont's principle of ritual hierarchy operates on two levels, the opposition between the Brahmin (as the very epitome and essence of purity) and the "untouchable" (as the carrier of impurity); and between the Brahmin (as the figure of sacred/ritual status) and the king (as the figure of the temporal/ secular power). Since the pure always necessarily encompasses the impure, at least at the level of the ideology (if not at the level of the fact), the Brahmin is placed at the top of the hierarchy. And this is so not only in relation to the progressively receding states of less purity (or more impurity) as embodied in the person of other castes, but also in relation to the king or the holder of the temporal authority.

The caste system has conventionally been perceived by scholars as a hierarchy based on the binary opposition of purity and pollution. Challenging this position, leading sociologist Dipankar Gupta argues that any notion of a fixed hierarchy is arbitrary and valid only from the perspective of the individual castes. The idea of difference, and not hierarchy, determines the tendency of each caste to keep alive its discrete nature and this is also seen to be true of the various castes which occupy the same rank in the hierarchy. For Dipankar Gupta "the caste system as a form of differentiation wherein the constituent units of the system justify endogamy on the basis of putative biological differences which is semaphored by the ritualization of multiple social practices.. By rituals we mean all those social practices that are valorized and upheld irrespective of Weber's "means-ends" rationality. Providing fresh insight, Gupta exhibits

two further characteristics which cannot be seen as its essence but may be understood as its properties. These properties are Hierarchy and Hypersymbolism..The discrete character of caste is maintained by the enhanced valuation that members of caste place on their own customs, ritualized practices, and genealogical heritage. This should, and does imply a value-loaded scale which places different caste at different position in the hierarchy. It is true , as Bougle said that Hindus are obsessed with the right to be organized hierarchically 7, yet it needs to be recorded that it is not as if there is a consensus on the hierarchy .

The caste system is often considered to be a graded hierarchy based on the purity-pollution scale.

References:

1. Homo Hierarchicus1970: The Caste System and its Implications, London, Weidenfed and Nicholson.P.67
2. Gupta Dipankar, 2014, interrogating CASTE Understanding hierarchy and difference in Indian society, India, A penguin Random House Company.P.64
3. Homo Hierarchicus1970: The Caste System and its Implications, London, Weidenfed and Nicholson.P.197
4. Dumont, Louis and David Pocock, 1960, For a Sociology of India, in Contribution to Indian Sociology, Vol.4.P.165
5. Milner, Murray Jr., 1994, Status and Sacredness: A General Theory of Status Relation and an Analysis of Indian Culture, New York, Oxford University Press.
6. Moffat,Michael,1979, An Untouchable community in South India: Structure and Consensus, Princeton, New Jersy, Princeton University Press.
7. Bougle, C; 1991, The Essence and Reality of the Caste System, in Dipankar Gupta, ed; Social Stratification, Delhi, Oxford University Press.

***

Religion in the Making of 1857: A study

Capt. [DR]. Suresh Kumar Pathak*

Abstract:

The literature on the theme is daunting and large.[1] Much has been written on the role of religion in the making of 1857 as well. However, importance of this enterprise is to examine the threat of conversion discussed in the indigenous discourse of 1857. It attempts to read one significant document that describes, the role played by the Christian evangelical endeavors,

Keywords: Religion, missionaries, Christian government, conversion, revolt, 1857.

Introduction:

Charter Renewal Act of 1813 gave a freedom to the missionaries of all denomination to come and 'spread the Gospel among the pagans'. The Charter Act of 1833 favored missionary expansion by permitting settlement in the Company's territories without the formality of a residence license.[2] It paved the way for carrying out their activities in addition to their preaching the word of Gospel and the Bible. These missionaries were now gearing up for open religious debates under the full protection of the colonial administrators. Every policy of the colonial government now seemed in the light of the activities of the various chaplains and missionaries in the major towns of the upper Gangetic valley. Establishments of schools, hospitals, orphanages were seen as institutions meant for promoting the Christianity through the means of education, health and charities.[3] There were some individual Christian preachers who were not supported directly by the evangelical societies but they had become evangelists on their own.[4] Some of their publications too were highly offensive, making derogatory remarks against the highly reverend personalities of the Islam, especially the Prophet.[5] Traditionally the Hindu and the Muslims conducted their religious discourses at their private residences, temples or mosques, but the Christian missionaries literally took the matter to the streets and denounced other religions in the most violent terms.[6] Such an atmosphere created some sort of 'fear-psychosis' in the minds of the people. These aspects have contributed much into the making of 1857. The issue of religion provided an impetus to rise against the colonial government. Therefore, we find that a number of proclamations, which were issued by the rebel leaders in the various centers of uprising, urging for the ouster of the Christian rule from the Indian subcontinent.[7]

Threat of Conversion in the Indigenous Discourses:

Proclamations[8] in the massive collection of documents were gathered meticulously together by Sayyid Athar Abbas Rizvi and M.L. Bhargava on behalf of the Uttar Pradesh Government. Recently, Iqbal Hussain has made another important collection of the proclamations of 1857. The dread of conversion figured prominently in number of pamphlets issued by the rebel leaders. They began with describing the atrocities done by the British. It postulated that the Christian missionaries tried to eradicate the established religion of Hinduism and Islam and now the Christian government was hell bent on to destroy it.

*HOD. Anc. H. Arch. and Culture, Mariyahu P.G. College, Jaunpur, U.P.

One of the major Proclamation which raised the issue of alleged conversion to the Christianity as a major reason for the uprising was the *Risala-i Fateh-Islam* (Victory of Islam).[9] It is argued that it was composed under the supposed aegis of the famous theologian turned rebel leader, Maulvi Ahmadullah Shah of Lucknow.[10] Maulavi Ahmadullah Shah was one of the central figures in the popular uprising of 1857 in Awadh and Rohilkhand. Along with his tactical skills, the nobility of his character and his chivalry and humanism was praised by British officers.[11] Saiyid Zaheer Husain Jafri sketched his life and highlighted his role in the outbreak of 1857. Many historians have studied this short but heroic phase of India's resistance against colonialism. R.C. Majumdar and V.D. Savarkar described him as a hero. S.N. Sen, Syed Moinul Haq, Abrar Husain Farooqi, Ghulam Rasul Mehr, and a host of other writers have praised his leadership qualities.[12] In this context a detailed examination of the document is needed which did not receive attention of Indian historians. The endeavor is to have an idea about the nature and the quantum of the issue of religion and, moreover, Christian evangelicalism in the making of the rebel's world views of the uprising.

The *Risala-i Fateh-Islam:*

This pamphlet was translated by British officers as 'a cry for Jehad in Oudh' (*Futteh Islam/Fateh-i-Islam*) and was used as evidence against the accusation of religious bigotry practiced by the Muslims. It was perceived by the British that call for war waged against the Christians was pronounced as a holy one. In Subaltern historiography this has been singled out as a representative document that expressed the extreme hatred that Indians had towards the British. Usages of insulting language by the natives to describe the British, especially Queen Victoria, pointed towards growing animosity. It was condemned for its abusive expressions used for the whole chain of the British authority. [13] Apart from the purportedly 'fire and sword' nature of the pamphlet for which it has been rather harshly criticized by modern writers, there is enough material through which the vision of people participating in a battle unto death can be deciphered. The pamphlet revealed what they felt about the ongoing struggle and the strategies that had been worked out under the circumstances. It also revealed that they were conscious of the death of English women and children, something that was totally unacceptable under the tenets of any religion. Besides making a strong plea for the Hindu-Muslim unity, it underlined aspects related to the final outcome of the battle.[14]

Risala-i Fateh Islam was issued sometime between 5-17 July, after the Battle of Chinhat which took place on 30 June, 1857. Mualavi Ahmadullah Shah defeated the British there and had emerged as the most powerful military commander at Lucknow.[15] In the preamble to the document, atrocities committed by the British were highlighted in great detail. Thus the Muslims as well as the Hindus were asked to unite and wage a 'Holy War' against the 'inhuman and ungodly Christians'. It also invoked the British attempts to deprive the troops of their religion by 'applying impure substances' to the cartridges and pressing those troops to use them. The preamble issued a warning to the people that in case the British succeed in re-establishing their authority, great misfortune would befall on the Hindus, the Muslims, sepoys, kings and wazirs. Hence, the call was to unite, fight and annihilate the British without delay.[16]

The proclamation also included an *Ishtihar* (public appeal) which was supposed to be circulated among the natives.[17] Such appeal was supposed to be popularized among the sepoys and the common man by the maulwis and pundits. They were supposed to be explained, in every village and city, the misfortune which with the success of the English would entail on the people. One important thing that was highlighted by Saiyid Zaheer Husain Jafri was the evolution of language in this writing. Instead of Queen Victoria it used '*Malka Biktoria*' and instead of using percentage it used the 'sense of proportion' which was thought that

might be more comprehendible to the audience of the pamphlet. It aggravated fear and suspicion among the natives by stating that Queen Victoria (here she was referred in the most abusive manner, '*badbakht kutiya murdar*' literally translated as the ill-fated, dead bitch) had in fact approved the proposal of the British officials from India to kill 15 percent of the learned men among the Muslims and the Hindus and also to kill 500,000 Hindu and Muslims sepoys and raiyat. It argued that it was done so that the people of India would become the Christians.

It can be stipulated that such an appeal might have been made to sensationalize and galvanize the people into action.

References:

1. Detailed and upgraded information on the historiography of the event of 1857 in connection to many diverse aspects see, Sabyasachi Bhattacharya, *Rethinking 1857*, Orient Longman, Delhi, 2007; Shireen Moosvi, *Facets of the Great Revolt 1857*, Tulika press, Delhi, 2008; Biswamoy Pati, *The 1857 Rebellion*, OUP, New Delhi, 2007.
2. Arthur Mayhew, *Christianity and Government of India*, Faber & Gwyer Ltd., London, 1929, p.108.
3. Arthur Mayhew in detail talks about the evangelical tendencies shared between the missionaries and the government, Ibid.
4. William Carey was known to be a part of the Serampore Baptist Society. In 1793 he entered India as an Indigo planter and started his missionary work with an enthusiastic zeal years before the passage of the Charter Act of 1813. He translated the early Christian literature available, with the help of locals, in various native languages. Arthur Mayhew, op.cit, pp. 61-72.
5. '*Address from the Missionaries to all persons professing the Mohummudan Religion.*' It was published by the Serampore Baptist Mission Press under the supervision of William Carey in 1807. Due to its highly offensive tone, which described the Prophet Muhammad as a tyrant and a lustful man, it was asked by the Governor General, Lord Minto, to restrict its circulation, *For., Sec, No. 1, 1 Sep 1807*, NAI.
6. The aggressiveness of their task could be measured by the assertion that even a loyalist like Sir Syed Ahmad Khan was forced to describe this change in much critical tone.
7. Apart from Sayyid Athar Abbas Rizvi and M. L. Bhargava ed., *Freedom Struggle in Uttar Pradesh* in V Vols., Publication Bureau, Information Department, Uttar Pradesh, 1958, (hereafter, *FSUP*), a number of rebel proclamations from different source material is compiled by Iqbal Hussain ed., *Proclamations of the Rebels of 1857*, Indian Council of Historical Research, New Delhi, 2007, (hereafter, *Proclamations*).
8. In records the term Proclamation and Pamphlet had been used interchangeably.
9. The English translation of the Pamphlet is found in the *FSUP*, Vol. II, *Awadh: 1857-59*, pp. 150-62.
10. His role in the risings in detail comprised in Mufti Intizam Ullah shahabi, *Company aur Baghi Ulama*, pp. 15-45.
11. Saiyid Zaheer Husain Jafri, 'Indigenous Discourse and Modern Historiography of 1857: The Case Study of Maulavi Ahmadullah Shah' in Sabyasachi Bhattacharya ed., *Rethinking 1857*, p.239.
12. Ibid.
13. The insulting tone of language that was used for the British Queen Victoria affected the sensitivity of some of the subaltern historiographers. See Rudrangshu Mukherjee, *Awadh in Revolt*, Delhi, 1984, p. 148; Gautam Bhadra, 'Four Rebels of 1857', in *Subaltern Studies*, Vol. IV, New Delhi: OUP, 1985, p. 271.
14. `*FSUI*, Vol. II, *Awadh: 1857-59*, pp. 150-62.
15. Ibid, p. 150.
16. Ibid, pp. 160-61.
17. This *Istihar* was first produced from the original document in Urdu by S.Z.H. Jafri, in 'Voices of the Vanquished: The Indigenous Discourse in the Rebels World of 1857', pp. 69-82, collected in the Souvenir (*Delhi in 1857: Studies, Images and Document*s) of the 70th Session of the Indian History Congress, held at Delhi, 15-17 May 2010, Department of History, University of Delhi.

***

सम्पादकीय सम्पर्क :
जन सेवा एवं शोध शिक्षा संस्थान
सी–23, आवास विकास कालोनी,
प्रतापगढ़–230001 (उ0प्र0) भारत
मो0– 09415627372, 08004802456
वेब साईट : unmeshjournal.com
ई–मेल : unmesh0110@gmail.com
shivendrakr.maurya@gmail.com

ISSN 2394-2207

₹ 300/-

RAJ GRAPHICS # 09415842611